ओ३म्

ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिता

पण्डित-युधिष्ठिरमीमांसकेन सम्पादिता

तस्या इदं

भारतभूषण-स्मृति-संस्करणम्

प्रकाशक

रामलाल कपूर ट्रस्ट

सोनीपत (हरियाणा)

ओ३म्

ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिता

संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्विता

पण्डित-युधिष्ठिरमीमांसकेन सम्पादिता

तस्या इदं

भारतभूषण-स्मृति-संस्करणम्

प्रकाशक

रामलाल कपूर ट्रस्ट

सोनीपत (हरियाणा)

ग्रन्थ का प्रयोजन

"यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं, वे सब निवृत्त हो जायेंगे।

जिस समय चारों वेदों का भाष्य बनकर और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा, तब सब किसी को विदित हो जायेगा कि वेद सब विद्याओं से पूर्ण हैं, उन में कुछ भी मिथ्यापन नहीं है और परमेश्वरकृत वेदविद्या के तुल्य दूसरी कोई विद्या नहीं है।"

—**स्वामी दयानन्द सरस्वती**

प्रकाशक : **रामलाल कपूर ट्रस्ट**
ग्राम रेवली, डाक० ई०सी० मुरथल,
सोनीपत-+१३१०३९ (हरियाणा)
E-mail- rlktrust@yahoo.in
Web- www.rlktrust.com
दूरभाष : ०१३०-३२९०२७६

संस्करण : पञ्चम्, ११०० प्रतियाँ
विक्रमी संवत् २०७२, सन् २०१५

मूल्य : १८०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान :
१. **रामलाल कपूर ट्रस्ट**
ग्राम रेवली, डाक० ई०सी० मुरथल,
सोनीपत-१३१०३९ (हरियाणा)
२. **रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेन्ट्स**
२५९६, नई सड़क, दिल्ली।
३. **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
नई सड़क, दिल्ली-११०००६।

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली।

ऋषि दयानन्द कृत यह महान् ग्रन्थ

श्रीमती माता भागवन्ती जी, धर्मपत्नी श्रीमान् हरिचन्द जी बत्रा ने
अपने अत्यन्त होनहार अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न
सरल, सात्त्विक, मधुरभाषी, कर्त्तव्यनिष्ठ
गानविद्या-कुशल, स्वाध्याय-शील
श्रद्धालु धर्मात्मा यज्ञ-प्रेमी
मातृ-पितृ-भक्त
ऋषि-भक्त
पुत्र

भारत भूषण

जिसे
अठारह वर्ष की अल्प आयु में ही
कराल काल ने सहसा
उठा लिया,
की

स्मृति में

प्रकाशित कराया है

श्री भारतभूषण जी का संक्षिप्त परिचय

श्री भारतभूषण का जन्म ता० १-११-३३ को लाहौर नगर में हुआ था। आपकी मातुश्री श्रीमती भागवन्ती जी और पिता श्री हरिचन्द जी बत्रा दोनों ही धर्मप्रिय, प्रभु-भक्त, सरल, सात्विक व्यक्ति हैं। इनके जीवन का प्रभाव श्री भारतभूषण जी के जीवन पर भी पड़ा।

श्री भारतभूषण जी की प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल रायकोट (पंजाब) में हुई थी। गुरुकुल के आचार्य श्री स्वामी गङ्गागिरि जी महाराज और गुरुकुल के अन्य कार्यकर्त्ता भारतभूषण जी को अलौकिक प्रतिभा के कारण इन्हें 'भावी हरदयाल' कहा करते थे। प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात् क्रमशः प्रभाकर, मैट्रिक, और इण्टर तक इनकी पढ़ाई घर पर हुई।

श्री भारतभूषण जी अपने अध्ययन काल में सभी परीक्षाओं में सदा प्रथम रहते रहे। राजकीय शिक्षा के साथ साथ आपने गायन विद्यामें भी कुशलता प्राप्त कर ली थी। रहन-सहन, खान-पान और व्यवहार में सदा आर्योचित सरलता, स्वच्छता और मधुरभाषिता थी। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के स्वाध्याय में विशेष रुचि और श्रद्धा थी। हवन-यज्ञ में विशेष प्रेम था। सदा दोनों समय यज्ञ किया करते थे। स्वर्गवास से पूर्व सामवेद पारायण यज्ञ पूरा कर लिया था और यजुर्वेद पारायण यज्ञ का २० वां अध्याय अन्तिम दिन की शाम को ही पूर्ण किया था और रात को ही आपका स्वर्गवास हुआ।

ऐसे होनहार, धर्म-परायण, सरल, शुद्ध, मेधावी, मातृ-पितृ-भक्त श्री भारतभूषण को कराल काल ने १८ वर्ष की अल्पायु में ही इस महनीय कर्मभूमि से सहसा उठा लिया और माता पिता को, जिन्हें इनके जीवन से देश, जाति और समाज की विशेष सेवा की आशा थी, निराश कर दिया।

इनके लघुभ्राता श्री सत्यप्रकाश जी, जो कि बड़े होनहार, सांसारिक व्यवहार में बहुत कुशल, दूरदर्शी, सत्यवादी, भक्ति-भावयुक्त, मधुरभाषी और मातृ-पितृ-भक्त थे, का स्वर्गवास भी १९ वर्ष की अल्पायु में ही हो गया।

आपके धर्म-निष्ठ, प्रभु-भक्त और ऋषि-भक्त माता पिता ने दोनों पुत्रों की स्मृति में ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका और संस्कार-विधि नामक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट को १० दस सहस्र रुपए प्रदान किए। जिनसे ये ग्रन्थ सदा इनकी स्मृति में छपते रहेंगे।

———

सम्पादकीय वक्तव्य[1]

ऋषि दयानन्द सरस्वती के समस्त ग्रन्थों में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का महत्त्व सब से अधिक है, क्योंकि इस ग्रन्थ में ऋषि दयानन्द ने वेद के उन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों और वेदार्थ की प्रक्रिया की व्याख्या की है, जिस पर ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य आधृत है। इतना ही नहीं, वेद के प्राचीन व्याख्यानरूप ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के तत्त्वों को वास्तविक रूप में समझने का भी यही एकमात्र साधन है।

ऋषि दयानन्द इस बात को भली प्रकार जानते थे कि जो व्यक्ति मेरे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ को नहीं पढ़ेगा, वह मेरे भाष्य को कभी भी नहीं समझ सकेगा। इसलिए उन्होंने ऋग्वेद और यजुर्वेद के भाष्यों के पांचवें अङ्क के आवरण पत्र के पृष्ठ ३, ४ पर जो विज्ञापन छपवाया था, उसमें स्पष्ट लिखा है—

जो कोई भूमिका के विना केवल वेद ही लिया चाहे सो नहीं मिल सकते, किन्तु भूमिका ५) देने से पृथक् मिल सकती है। ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १३८ (द्वि० सं०)[2]।

ऋषि की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा के अधिकारियों को, जो प्रायः ऋषि दयानन्द के सम्पूर्ण वाङ्मय से अपरिचित ही रहे हैं, इस तथ्य का बोध भला कैसे हो सकता था? उन्होंने उत्तर काल में ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य की बिक्री विना भूमिका ग्रन्थ के आरम्भ कर दी। आज भी यही स्थिति है। जो कोई ऋग्वेद भाष्य अथवा यजुर्वेद भाष्य मंगवाता है, उसे भूमिका के विना ही भेजा जाता है। इस कारण ऋषि का वेदभाष्य ग्राहकों की समझ में नहीं आता, क्योंकि उन्हें ऋषि द्वारा आदृत वेदभाष्य के मूलभूत सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान न होने का कारण यही होता है कि वेदभाष्य के साथ यह भूमिका ग्रन्थ उन्हें नहीं मिलता, जिसे पढ़ कर उन्हें उन मूलभूत सिद्धान्तों का ज्ञान हो सकता है।

चाहिए यह था कि जैसे प्रत्येक ग्रन्थ की भूमिका उस ग्रन्थ का अङ्ग होने के कारण उसके साथ छापी जाती है, उसी प्रकार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका भी ऋग्वेद भाष्य के प्रथम खण्ड में अवश्य छापी जाती[3], जिससे वेदभाष्य लेने वालों को वह अनायास ही अवश्य लेनी पड़ती। हां, प्रचारार्थ उसे अलग

---

१. प्रस्तुत द्वितीय संस्करण में प्रथम संस्करण के वक्तव्य में कतिपय स्थानों पर पाठ का संशोधन किया है। जहां जहां प्रथम संस्करण की पृष्ठ संख्या का उल्लेख किया है उन पर इस संस्करण में टिप्पणी की संख्या देकर नीचे टिप्पणी में द्वि० सं० की पृष्ठ संख्या दे दी है। टिप्पणी में 'प्रथम संस्करण' से अभिप्राय रा० ला० क० ट्रस्ट द्वारा सं० २०२४ में छपे संस्करण से है, यह ध्यान में रखें।

२. ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन के वर्त्तमान तृतीय संस्करण में भाग १, पृष्ठ २५६ पर देखें।

३. हमने ऋषि दयानन्द के पूर्व उद्धृत विज्ञापन के अनुसार ऋग्वेदभाष्य, जो श्री चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट, करनाल की ओर से छपा है, के प्रथम भाग में भूमिका जोड़ी है।

भी बेचा जा सकता है, परन्तु वेदभाष्य उससे रहित कदापि नहीं होना चाहिए। ऐसा प्रबन्ध होने से ही विद्वानों को अथवा वेद के स्वाध्याय करने वालों को ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य के समझने में सहायता मिल सकती है।

वेद भाष्य की तयारी

ऋषि दयानन्द ने जब प्राचीन ऋषि-मुनियों से आदृत वैदिक मन्तव्यों का प्रचार आरम्भ किया, तो उन्हें पदे पदे इस बात का ज्ञान हुआ कि जब तक मैं चारों वेदों का प्राचीन ऋषि-मुनियों से सम्मत यथार्थ भाष्य न बनाऊंगा, तब तक मैं अपने मूल उद्देश्य में सफल न हो सकूंगा। क्योंकि ऋषि दयानन्द द्वारा प्रसारित मन्तव्यों का खण्डन करने के लिए उस समय के विद्वान्, चाहे वे भारतीय हों, चाहे पाश्चात्त्य, सायण-महीधर आदि कृत वेदभाष्यों का ही सहारा लेते थे। सायण-महीधर आदि के भाष्य प्रायः ऐसे दूषित हैं कि जिनसे न केवल वेद ही दूषित होते हैं, अपितु वैदिक धर्म और वैदिक वाङ्मय सारा ही कलङ्कित होता है। इसलिए ऋषि दयानन्द को सायण-महीधर आदि के भाष्यों की आलोचना और प्राचीन ऋषि-मुनि सम्मत सिद्धान्तों की प्रामाणिकता दर्शाने के लिए प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा प्रोक्त शाखा-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् तथा अन्य वैदिक वाङ्मय के आधार पर वेद के वास्तविक स्वरूप का बोध कराने वाले भाष्य की रचना आवश्यक प्रतीत हुई। इसके लिए उन्होंने वि० सं० १९३१ अथवा उससे पूर्व से ही इसकी तैयारी आरम्भ की।

चतुर्वेद-विषयानुक्रम

उक्त कार्य के लिए उन्होंने सब से पूर्व चारों वेदों का गहन अनुशीलन किया। इस अनुशीलन से उन्हें चारों वेदों के सम्बन्ध में जो ज्ञान उपलब्ध हुआ, उसे उन्होंने **चतुर्वेद-विषयानुक्रम** (चतुर्वेद-विषयसूची) के रूप में संकलित किया। यही ऋषि दयानन्द द्वारा करिष्यमाण चारों वेदों के भाष्य की संक्षिप्त रूपरेखा बनी।

इस चतुर्वेद-विषयानुक्रम में चारों वेदों के प्रत्येक वर्ग, सूक्त, दशति और अध्याय आदि के प्रतिपाद्य विषयों का उल्लेख है। यह ग्रन्थ अभी तक श्रीमती परोपकारिणी सभा (अजमेर) के अधिकारियों की उपेक्षा के कारण मुद्रित नहीं हुआ।[1]

वेद-भाष्य का आरम्भ

यद्यपि ऋषि दयानन्द ने वेदभाष्य की विधिवत् रचना भाद्र शुक्ला १ वि० संवत् १९३३ (२० अगस्त १८७६) से आरम्भ की, परन्तु ऋषि दयानन्द के जीवनचरित्र से विदित होता है कि ऋषि दयानन्द ने सं० १९३१ के कार्तिक मास में वेदभाष्य के नमूने का एक अङ्क छपवाया था। श्री पं० देवेन्द्रबाबू के निर्देशानुसार इस अङ्क में ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के संस्कृतभाष्य के साथ गुजराती

---

१. हमारे बहुत प्रयत्न करने पर परोपकारिणी सभा ने सं० २०२८ में इसे प्रकाशित किया। यह संस्करण बहुत भ्रष्ट था। अतः हमने इसका पुनः हस्तलेख से मिलान करके इसे सं० २०३१ में 'दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह' में प्रकाशित किया है।

ग्रौर मराठी में भी ग्रनुवाद था (द्र० देवेन्द्रबाबू द्वारा संकलित जीवनचरित्र, पृष्ठ २६५ प्र० सं०)। इस ग्रंक का उल्लेख वि० सं० १६३२ में छपे 'ग्रार्यसमाज नो नियम' (ग्रा० स० बम्बई) तथा वेदान्तिध्वान्त-निवारण के ग्रन्त में छपे पुस्तकों के विज्ञापन में भी मिलता है।[1] इस का मूल्य एक ग्राना था। यह ग्रंक हमारे देखने में नहीं ग्राया।

ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका

ऋषि दयानन्द ने भाद्र शुक्ला १ वि० सं० १६३३ (२० ग्रगस्त १८७६) से वेदभाष्य की नियमित रूप से रचना ग्रारम्भ की, ग्रौर साक्षात् वेदभाष्य बनाने से पूर्व वेद ग्रौर उसके भाष्य के सम्बन्ध में जो ग्रावश्यक जानकारी देना ग्रपेक्षित थी, उसके लिये ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका नाम की भूमिका लिखनी ग्रारम्भ की।

इस भूमिका की पाण्डुलिपि (रफ) कापी लगभग तीन मास में पूर्ण हो गई[2], परन्तु उसके पीछे कई मास इसी भूमिका के परिवर्धन व परिष्करण में लग गए। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की महत्ता को ध्यान में रखकर ऋषि दयानन्द ने इसमें कई वार परिवर्धन वा परिष्करण किए। परोपकारिणी सभा के संग्रह में भूमिका के ६ हस्तलेख विद्यमान हैं, जो उत्तरोत्तर परिष्कृत वा परिवर्धित हुए हैं।[3]

ग्रन्तिम परिष्कृत हस्तलेख का ग्रारम्भ वि० सं० १६३३ के फाल्गुन के पूर्वार्ध में हुग्रा, ऐसा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के निम्न वचन से ज्ञात होता है—

जैसे विक्रम संवत् १६३३ फाल्गुन मास, कृष्णपक्ष, षष्ठी, शनीवार के दिन के चतुर्थ प्रहर के प्रारम्भ में यह बात हमने लिखी। ऋभाभू० पृष्ठ २८[4] (यही संस्करण)

भूमिका के मुद्रण का आरम्भ वा समाप्ति

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का प्रथम ग्रंक लाजरस प्रेस काशी में छपा था, उस पर विक्रम सं० १६३४ छपा है। उसके ग्रावरण पत्र के प्रथम पृष्ठ के नीचे जो सूचना छपी है उसमें 'वैसाख सं० १६३४ में ऋषि दयानन्द लुधियाना वा ग्रमृतसर में निवास करेंगे' ऐसा संकेत है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का मुद्रण फाल्गुन १६३३ में ग्रारम्भ हुग्रा होगा ग्रौर प्रथम ग्रङ्क चैत्र १६३४ में प्रकाशित हुग्रा होगा।

भूमिका के मुद्रण की समाप्ति वैशाख सं० १६३५ में हुई थी। इसके १४ ग्रङ्क लाजरस प्रेस काशी में छपे थे ग्रौर १५, १६ सम्मिलित ग्रङ्क निर्णयसागर प्रेस बम्बई में छपा था।

---

१. द्र० 'ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास' पृष्ठ ४००, ४०१ (द्वितीय संस्करण)

२. द्रष्टव्य हमारा 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ, पृष्ठ १२८-१३० (द्वि० सं०)।

३. द्रष्टव्य 'ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास' परिशिष्ट १, पृष्ठ ३०६--३१२ द्वि० सं० (इस परिशिष्ट में सभी हस्तलेखों का पूरा पूरा विवरण दिया गया है)।

४. यह पृष्ठ-संख्या प्रथम संस्करण की है। द्वितीय संस्करण में पृष्ठ ३० पर देखें।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के संस्करण

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के तीन प्रकाशकों के संस्करण उपलब्ध होते हैं। एक—वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा मुद्रित, दूसरा गोविन्दराम हासानन्द द्वारा प्रकाशित, तीसरा—आर्य साहित्य मण्डल अजमेर से प्रकाशित। आर्य साहित्य मण्डल का संस्करण वैदिक यन्त्रालय से मुद्रित संस्करण की प्रतिलिपि मात्र है। अतः विवेचनीय केवल दो प्रकाशकों के संस्करण ही अवशिष्ट रहते हैं।

वैदिक यन्त्रालय मुद्रित संस्करण—प्रथम संस्करण लाजरस प्रेस काशी और निर्णयसागर प्रेस बम्बई से अङ्कों के रूप में छपा था। उसके पश्चात् संस्करण २ से ९ तक वैदिक यन्त्रालय में छपे हैं। पांचवें और छठे के मध्य में शताब्दीसंस्करण छपा है। एक संस्करण वैदिक यन्त्रालय से केवल संस्कृत-भाग का भी छपा था। इस प्रकार ११ संस्करण ऋषि दयानन्द वा उनके द्वारा संस्थापित यन्त्रालय द्वारा (वि० सं० २०२४ तक) छपे हैं।

उक्त संस्करणों की विवेचना—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का जो प्रथम संस्करण छपा था, उसमें भाषा की कुछ सामान्य अशुद्धियां थीं, उनमें से कुछ का संशोधन उसके संशोधन पत्र में किया गया था। उसी के अनुसार द्वितीय संस्करण में सर्वत्र भाषा का संशोधन किया गया। अन्य अशुद्धियों को भी, जो संशोधन पत्र में दर्शाई थीं, ठीक किया गया। संस्कृत पाठ में दो चार नए संशोधन भी किए गए। पञ्चम संस्करण तक पाठ प्रायः द्वितीय संस्करण के समान छपता रहा।

शताब्दीसंस्करण—पञ्चम संस्करण के पश्चात् मथुरा की जन्मशताब्दी के अवसर पर परोपकारिणी सभा ने ऋषि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों का जो 'शताब्दीसंस्करण' छपवाया, उसके द्वितीय भाग में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका भी छापी गई। इसके सम्पादक श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय (गुरुकुल कांगड़ी) थे (यद्यपि इस संस्करण पर कहीं उनके नाम का उल्लेख नहीं)। उन्होंने इस संस्करण को प्रथम संस्करण के अनुरूप छापा। परन्तु छापते समय प्रथम संस्करण के अन्त में छपे संशोधन पत्र का ध्यान नहीं रखा। इसका फल यह हुआ कि **संस्कृत भाग के जो अपपाठ शोधन-पत्र में शुद्ध कर दिए गए थे, पुनः मूलग्रन्थ में प्रविष्ट हो गए।**

षष्ठ-सप्तम-संस्करण—षष्ठ सप्तम संस्करण शताब्दीसंस्करण के अनुसार छपे। अतः उनमें भी वे ही अपपाठ मिलते हैं, जो शताब्दीसंस्करण के सम्पादक महोदय की अनवधानता से पुनः प्रविष्ट हो गए थे।

अष्टम-संस्करण—इस संस्करण का संशोधन श्री० पं० महेन्द्र शास्त्री ने किया। इन्होंने इस संस्करण को पूर्वापेक्षया सुन्दर और परिष्कृत छापा। संस्कृत और भाषा में नए नए सन्दर्भ (पैराग्राफ) बनाए। बहुत से उद्धरणों के पते भी दिए।

नवम-संस्करण—इस संस्करण का संशोधन श्री पं० धर्मचन्द्रजी कोठारी ने किया। इसमें कई टिप्पणियां हस्तलेख के पाठ और पाठशोधन के निदर्शनार्थ दी हैं। कई स्थानों पर त्रुटित पद [ ] कोष्ठक में बढ़ाए हैं। दो तीन स्थानों पर आगे पीछे मुद्रित पाठों को यथास्थान छापा गया है। उद्धरणों के पते जो पिछले संस्करणों में बढ़ाकर पूरे किए थे, उन्हें [ ] कोष्ठक के अन्दर रखा। प्रथम

संस्करण के संशोधन पत्र के अनवलोकन से जो अपपाठ शताब्दीसंस्करण और उत्तरवर्ती संस्करणों में प्रविष्ट हो गए थे, उन्हें प्रायः दूर किया है। परन्तु कई स्थानों पर उनकी टिप्पणियां अनावश्यक हैं, कई स्थानों पर उनके व्याकरण के अपरिज्ञान की ज्ञापिका हैं। विशिष्ट स्थानों पर हमने उनका निर्देश कर दिया है (यथा पृष्ठ २५७ टि० २)[1]। पुनरपि यह संस्करण पूर्व संस्करणों की अपेक्षा अच्छा है, इस में कोई सन्देह नहीं।

गोविन्दराम हासानन्द द्वारा प्रकाशित संस्करण—इस संस्करण का सम्पादन श्री पं० सुखदेव जी विद्यावाचस्पति (गुरुकुल कांगड़ी) ने किया था। इसमें कई विशेषताएं हैं। यथा—१-नए नए सन्दर्भ बनाना, २-प्रश्नोत्तर पृथक् पृथक् छापना, ३-नीचे टिप्पणियों में अस्पष्ट स्थलों का स्पष्टीकरण करना, ४-भाषार्थ को परिमार्जित करना।

इतना सब होते हुए भी संस्कृतपाठ की अशुद्धियां प्रायः पूर्ववत् ही रहीं। भाषा का भी संशोधन पूरी तरह नहीं किया गया। हां, स्पष्टीकरण करने वाली टिप्पणियां वस्तुतः बहुत उपयोगी हैं। हमने उनकी दो टिप्पणियों को संक्षिप्त रूप में नामनिर्देशपूर्वक इस संस्करण में भी संकलित किया है।

भाषार्थ की विवेचना

ऋषि दयानन्द ने जो भी ग्रन्थ मूलतया संस्कृत में लिखे, उनके भाषानुवाद उन्होंने अपने आश्रित पण्डितों द्वारा कराए थे। इस कारण भाषा पूर्णतया संस्कृत-पाठ से सम्बद्ध अथवा उसके अनुरूप नहीं है। इसके अतिरिक्त भूमिका के भाषार्थ में दो गड़बड़ियां और हैं। एक—संस्कृत-पाठ का पूरा भाषार्थ न होना अथवा उसमें अपठित अंश का भाषानुवाद मिलना; दूसरी—सिद्धान्तविरुद्ध अथवा शास्त्रविरुद्ध ऐसी भाषा का उपलब्ध होना, जिसका मूल संस्कृत में नहीं है।

इन सब गड़बड़ियों का सर्वत्र एक ही कारण है और वह है **ऋषि दयानन्द द्वारा मूल संस्कृत भाग में परिष्कार करते जाना और भाषा का तदनुसार पूरा परिष्कार न होना**। हम इस विषय का एक ही उदाहरण देना पर्याप्त समझते हैं। देवता-प्रकरण में भाषा में लिखा है—

और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ, और मन्त्र ये मूर्तिरहित देव हैं। तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां, बिजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् भी हैं। पृष्ठ ७९ यही संस्करण[2]।

यहां 'हैं' के आगे चिह्न देकर टिप्पणी दी है—

इन्द्रियों की शक्ति रूप द्रव्य अमूर्तिमान् और गोलक मूर्तिमान् तथा विद्युत् तथा विधियज्ञ में जो जो शब्द तथा ज्ञान अमूर्तिमान् और दर्शन तथा सामग्री मूर्तिमान् जानना चाहिये।

यहां **मूल संस्कृत पाठ है—एवमेकादश रुद्रा द्वादशादित्या मनःषष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः। तथा स्तनयित्नुविधियज्ञौ सशरीराशरीरे देवते स्त इति।**

---

१. यह पृष्ठ संख्या प्रथम संस्करण की है। इस द्वितीय संस्करण में पृष्ठ २६३, टि० ३ देखें।

२. अर्थात् प्रथम संस्करण। यह पाठ इस द्वितीय संस्करण में पृष्ठ ८२ पर देखें।

संस्कृतपाठ में मन के साथ ५ ज्ञानेन्द्रियों को शरीररहित लिखा है, परन्तु भाषार्थ में ५ ज्ञानेन्द्रियों को बिजुली और विधियज्ञ के साथ मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् कहा है। सम्भवतः इसी भूल को लक्ष्य में रखकर नीचे टिप्पणी में स्पष्टीकरण करने का भी जो प्रयत्न किया है, वह भी मूल पाठ से विपरीत होने के कारण चिन्त्य है।

वस्तुतः उपरिनिर्दिष्ट जो भाषापाठ है, वह ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के चौथे हस्तलेख में पठित संस्कृत पाठ का है, जिसे ऋषि दयानन्द ने भाषानुवाद के अनन्तर ठीक कर दिया था, परन्तु भाषा-पाठ का शोधन पंडितों के ऊपर आधृत होने से ५ वीं और ६ठी कापी में भी नहीं हुआ। ऐसी ही मति उन सब भाषा पाठों की है, जो संस्कृत पाठ से विपरीत अथवा असम्बद्ध हैं।

ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि ऋषि दयानन्द के उन सभी ग्रन्थों की भाषा पूर्णतया शोध दी जाए, जिनको ऋषि दयानन्द ने मूलरूप से संस्कृत में रचा है और भाषानुवाद पण्डितों से करवाया है। जब तक यह कार्य न होगा, संस्कृत से अनभिज्ञ केवल भाषा जाननेवालों को उतना लाभ न होगा, जितना भाषार्थ से होना चाहिए।

प० सुखदेव जी का साहस—श्री पं० सुखदेव जी ने अपने संस्करण में भूमिका के भाषार्थ को ठीक करने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह पूरी तरह नहीं कर पाये।

आर्यसामाजिक विद्वानों का विरोध—आर्यसमाज में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो उक्त स्थिति को जानते हुए अथवा अनजाने ऋषि के संस्कृत ग्रन्थों की भाषा को मूल संस्कृतानुसारी करने का विरोध करते रहते हैं। परन्तु इससे लाभ कुछ नहीं है, हानि ही हो रही है।

परोपकारिणी सभा का पृष्ठपोषण करने वाले—आर्यसमाज के एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं, जिनका ऋषि दयानन्द के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा प्रकट करने के लिए एकमात्र काम है—परोपकारिणी सभा के अत्यन्त भ्रष्ट और परिवर्त्तित पाठ वाले संस्करणों का ही अनुमोदन करते रहना, तथा दूसरे प्रकाशकों के सत्प्रयत्नों की भी निन्दा करते रहना।

ऐसे महानुभावों की तब वास्तविकता प्रकट हो जाती है, जब अन्य प्रकाशकों के संस्करणों में किए गए संशोधनों वा संशोधन-प्रकारों की, जिनकी वे सदा निन्दा करते रहे, न केवल वे ही संशोधन परोपकारिणी सभा द्वारा अपने नए संस्करणों में अपना लिए गए, अपितु अंग्रेजी के पद के पद रोमन अक्षरों में कोष्ठकों में डाल दिए गए, तो उन्होंने सभा का विरोध न करने के लिए अपनी जिह्वा पर ताला लगा लिया।

प्रस्तुत संस्करण

प्रस्तुत संस्करण को तैयार करने में हमने जो परिश्रम किया है, उसका संक्षिप्त निदर्शन इस प्रकार है—

१—परोपकारिणी सभा द्वारा अद्ययावत् (सं० २०२५ तक) प्रकाशित (प्रथम तथा संस्कृत संस्करण को मिलाकर) १० संस्करणों का पाठ मिलाया है (७ वां सं० हमारे पास नहीं है)।

२—कुछ पाठ हस्तलेख के अनुसार भी शुद्ध किए हैं। राजधर्म प्रकरण पृष्ठ २५३[1] पर नवम मन्त्र और उसका संस्कृत भाष्य हस्तलेख के अनुसार बढ़ाया है। अन्य सभी संस्करणों में यह पाठ छूटा हुआ है। द्र० पृष्ठ २५३ की टि० १।[1]

३—संस्कृत भाग में लेखक प्रमाद वा मुद्रण प्रमाद से जो पाठ आगे पीछे हो गए थे, उन्हें हमने यथास्थान रख दिया है, और पूर्व मुद्रित पाठ का निर्देश हमने टिप्पणी में कर दिया है। यथा—'[2]पृष्ठ ७, टि० १; पृष्ठ २८६ टि० १; पृष्ठ २८७ टि० २, ४॥' इसी प्रकार अन्यत्र भी समझें।

४—अनेक छूटे हुए पद पदार्थ हमने संस्कृत के भाषार्थ के आधार पर [ ] कोष्ठक में पूरे किए हैं।

५—अनेक लेखक वा मुद्रक प्रमाद हमने परिमार्जित किए हैं, परन्तु संस्कृत भाग में जहां भी पाठ शोधन किया हैं, वहां पूर्व मुद्रित अपपाठ टिप्पणी में दर्शा दिए हैं। कई स्थानों पर नीचे टिप्पणी देनी रह गई थी, उनके विषय में प्रथम परिशिष्ट में टिप्पणी दे दी हैं।[3]

६—कई स्थानों पर जहां हमें पाठ कुछ भ्रष्ट प्रतीत हुआ, उनका संशोधन नीचे टिप्पणी में दर्शाया है।

७—उद्धरणों के पते भी हमने उतने ही और वैसे ही रखे हैं, जैसे प्रथम संस्करण में थे। उनका परिवर्धन वा संशोधन नीचे टिप्पणी में किया है।

८—उद्धरणों का पाठ भी प्रथम संस्करण के समान ही रखा है केवल ३, ४ स्थानों पर जहां प्रत्यक्ष अशुद्धि थी, ठीक कर दिया है। यथा पृष्ठ २४९ मन्त्र १ में **'जगन्वान्'**[4] पाठ में एक साथ दो अनुदात्त प्रत्यक्ष मुद्रण दोष था, उसे ठीक कर दिया। इसी प्रकार पृष्ठ २८२ **'सौमनस्यं दाता'** पाठ[5] को वेदानुसार 'सौमनसस्यं दाता' बनाया है। अजमेर मुद्रित संस्करण में यहां अनुदात्त से आगे स्वरित का चिह्न प्रत्यक्ष पाठभ्रंश का द्योतक है।

९—ऋषि दयानन्द की संस्कृत भाषा में अनेक ऐसे पद प्रयुक्त हैं, जिन्हें साम्प्रतिक वैयाकरण असाधु शब्द मानते हैं। हमने उन्हें वैसे ही रखा है और उन पर हमने ❀ चिह्न[6] लगा दिया है। इन

---

१. यह पृष्ठ और टिप्पणी संख्या प्रथम संस्करण की है। इस द्वितीय संस्करण में पृष्ठ २५९, टि० ३ तथा पृष्ठ २५०, टि० ५ देखें।

२. आगे दी गई पृष्ठ संख्या और टिप्पणी संख्या प्रथम संस्करण की हैं। द्वि० सं० में क्रमशः पृष्ठ ८, टि० २; पृष्ठ २९१, टि० २; पृष्ठ २९२, टि० २; पृष्ठ २९३, टि० १।

३. प्रथम संस्करण के प्रथम परिशिष्ट में दी गई टिप्पणियां इस संस्करण में यथास्थान जोड़ दी हैं।

४. इस द्वि० सं० में यह पाठ २९५ पर है, टि० १ देखें।

५. इस पाठ के लिए द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २८७, टि० १ देखें।

६. इस संस्करण में उक्त प्रकार के शब्दों पर ‡ चिह्न लगाया है।

सब की सूची हमने द्वितीय परिशिष्ट[1] में दे दी है। हम इन्हें सर्वथा साधु शब्द मानते हैं। ऐसे शब्दों की साधुता के जानने लिए हमारा 'ऋषि दयानन्द की पद प्रयोग शैली' ग्रन्थ देखना चाहिए। और इसी ग्रन्थ के द्वितीय परिशिष्ट[1] में **कुर्यावहि** पर जो लिखा है, उस पर विचार करना चाहिए।

इस प्रकार हमने संस्कृत पाठ का मूलवत् पूर्णतया सुरक्षित रखने का प्रयास किया है, क्योंकि संस्कृत पाठ ही ऋषि द्वारा स्वयं रचित होने से प्रमाणभूत है।

१०—भाषार्थ में हमने प्रधानतया वहीं संशोधन किया है, जहा भाषार्थ संस्कृत से विपरीत अथवा असम्बद्ध था। ऐसे विशिष्ट परिवर्तनों का निर्देश हमने टिप्पणी में कर दिया है। जहां कहीं वाक्य विन्यास आदि की दृष्टि से स्वल्पतम संशोधन किए है, उन्हें हमने नहीं दर्शाया है।

हमारी मान्यता तो यह है कि ऋषि के मूल संस्कृतपाठ के अनुसार नवीन यथार्थ भाषानुवाद होना चाहिए। यदि कभी अवकाश मिला तो इस प्रकार का प्रयास किया जाएगा।

विशिष्ट प्रयत्न--इस संस्करण में कई स्थानों पर अत्यन्त उपयोगी टिप्पणियां दी गई हैं, जिन से कई स्थानों पर प्रकृत विषय स्पष्ट होता है, अथवा प्रकृत स्थलों पर किए गए अथवा किए जा सकने वाले महत्त्वपूर्ण आक्षेपों का समाधान किया गया है। इस दिशा में हमारा यह विशिष्ट प्रयास है। इस प्रयास का ज्ञान हमारी टिप्पणियों का अवलोकन करने पर विज्ञ पाठकों को स्वयमेव हो जाएगा। अतः इस विषय में कुछ भी लिखना व्यर्थ है।

भूमिका पर विशिष्ट कार्य की आवश्यकता

हमारी मति में ऋषि दयानन्द का यह सर्वप्रधान ग्रन्थ है, क्योंकि यदि इस में व्याख्यात वेद-विषयक मन्तव्य ठीक हैं, तो दयानन्द का सम्पूर्ण वेदभाष्य ठीक है। यदि ये मन्तव्य अशुद्ध वा भ्रान्त हैं तो इन पर आधृत सारा वेदभाष्य ही नहीं, दयानन्द का सम्पूर्ण कार्य व्यर्थ है।

ऋषि दयानन्द के इस ग्रन्थ पर, उनके जीवन काल में अनेक व्यक्तियों ने आक्षेप किए थे, जिनका समाधान ऋषि दयानन्द ने पत्र विज्ञापन और पुस्तक रूप में किया था। उन सब का संग्रह हम इस ग्रन्थ के अन्त में करना चाहते थे, परन्तु हम ग्रन्थ की वृद्धि के भय से न कर सके। इस सभी सामग्री को हम इसी वर्ष के नवम्बर के वेदवाणी के विशेषांक में प्रकाशित कर रहे हैं।

ऋषि दयानन्द के पीछे भी अनेक व्यक्तियों ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पर आक्षेप किए और उनके उत्तर भी आर्य विद्वानों की ओर से दिए गए, पुनरपि इस ग्रन्थ की महत्ता को देखते हुए यह आवश्यक है कि इस पर प्रतिपद विवरण लिखा जाए। जिससे दयानन्द के, नहीं नहीं, प्राचीन ऋषि-मुनियों के वेदविषयक मन्तव्यों का पूर्णतया स्पष्टीकरण हो सके।

पाठकों से निवेदन

इस संस्करण के पाठकों और आलोचकों से निवेदन है कि वे हमारे ऊपर निर्दिष्ट विषयों को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ का पाठ वा आलोचना करें और परिशिष्टों को देखना भी न भूलें। तृतीय

१. प्रथम संस्करण का द्वितीय परिशिष्ट इस संस्करण में नहीं दिया।

परिशिष्ट में जो संशोधन-पत्र दिया है उसके अनुसार पाठ शोधकर पढ़ें[1]। दो स्थानों पर कुछ पाठ दृष्टि दोष से छूट गया है, उसके लिए हमें विशेष खेद है। मन्त्रों के स्वर कई स्थानों पर उड़ जाने से मुद्रण में रह गए हैं उन सब का शोधनपत्र में निर्देश इसलिए नहीं किया कि संशोधन पत्र वाले टाइप में स्वर चिह्न नहीं हैं। निदर्शनार्थ दो तीन स्थलों पर प्रयत्न से स्वर चिह्न लगाकर संशोधन दर्शाया है।

आज कल देवनागरी का जो टाइप बन रहा है, उसमें यह प्रधान दोष है कि उनमें ऊपर का रेफ, ई, ए, ऐ, ओ, औ की मात्राएं प्रायः टूट जाती हैं इसी कारण इस संस्करण में भी ये संकेत बहुत स्थानों पर मुद्रणकाल में उड़ गए हैं। इन सब का भी संशोधन में निर्देश नहीं हो सका।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का परिशिष्ट

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं कि ऋषि दयानन्द के काल में इस भूमिका पर विद्वानों ने जो आक्षेप किए थे, उनको जो उत्तर ऋषि दयानन्द ने स्वयं दिया था, उनका संग्रह भी हम यहां करना चाहते थे, परन्तु ग्रन्थ वृद्धि और मूल्य वृद्धि के भय से नहीं कर सके। उस सामग्री का संग्रह हम वेद-वाणी के नवम्बर १९६७ के विशेषाङ्क में कर रहे हैं और यह अंश पृथक् स्वतन्त्र पुस्तक रूप में भी प्रकाशित होगा। इसलिए जो महानुभाव उसे प्राप्त करना चाहें, सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं।

इस संस्करण के प्रकाशन के प्रेरक

हमें इस संस्करण के इस रूप में प्रकाशन की प्रेरणा श्रीमान् हरिचन्द जी बत्रा[2] (भिवानी) ने दी। और इसके लिए उनकी धर्मपत्नी माननीया माता श्री भागवन्ती जी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भारतभूषण की स्मृति में प्रकाशित करने के लिए ७०००) सात सहस्र रुपया प्रदान किया। हम आप दोनों के अत्यन्त आभारी हैं कि सात्त्विक प्रेरणा वा दान से हमें भी ऋषि-ऋण से कुछ न कुछ मात्रा में उऋण होने में सहयोग मिला।

इस ग्रन्थ को इस प्रकार सुन्दर और शुद्ध छापने में माडर्न प्रिंटर्स अजमेर के स्वामी श्री हरिसिंह जी चौहान वा उनके प्रेस के कार्यकर्त्ताओं ने जो सहयोग दिया है, उसके लिए मैं उन सबका धन्यवाद करता हूं। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन में श्री पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य ने जो सहायता की है, उसके लिए भी मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं।

श्रावणी पूर्णिमा सं० २०२४
अलवर गेट, अजमेर

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

---

१. प्रथम संस्करण के तृतीय परिशिष्ट में दर्शाये संशोधन इस संस्करण में यथास्थान ठीक कर दिये हैं।
२. कुछ वर्ष पूर्व आपका निधन हो गया।

द्वितीय संस्करण

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका २००० प्रतियों का प्रथम संस्करण लगभग ६ वर्ष पूर्व ही अप्राप्य हो चुका था, परन्तु कई बाधाओं के कारण इसका द्वितीय संस्करण नहीं छाप सके। अब इसे प्रकाशित कर रहे हैं।

वस्तुतः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का द्वितीय परिशोधित एवं परिबृंहित संस्करण वह है, जिसे हमने 'श्री चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट' (करनाल) द्वारा प्रकाशित ऋषि दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य के प्रथम भाग के आरम्भ में छापा है। यह संस्करण तो उसी की आफसेट से छपी प्रतिकृति मात्र है।

हमारे प्रथम संस्करण पर कुछ लेखकों ने टीका टिप्पणी की है, विशेषकर सृष्टचब्द के सम्बन्ध में हमने टिप्पणी में जो यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि ऋषि दयानन्द ने जो गणना की है उसमें ७ सन्धि कालों का योग छूट गया है। हमारा आधार ऋषि दयानन्द द्वारा स्वीकृत ज्योतिषशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त है। ऋषि दयानन्द के लेख में किसी प्रकार की भूल चाहे वह सहायक पण्डितों की हो अथवा मुद्रण की, न मानने वाले दूसरे शब्दों में ऋषि को सर्वज्ञ सिद्ध करने वाले इन व्यक्तियों में भी कल्प की १००० चतुर्युगियों में से १४ मन्वन्तर (७१ चतुर्युगी=१ मन्वन्तर) की ९९४ चतुर्युगियों से बचे ६ चतुर्युगियों के काल को सृष्टि काल के आदि में वा अन्त में अथवा आद्यन्त में उभयत्र कहां जोड़ें, इसमें भी ऐकमत्य नहीं है। कारण स्पष्ट है शास्त्रप्रमाण को तिलाञ्जलि देकर विचार करने वालों की यही गति होती है।

तथाकथित सनातन धर्म के अनुयायी श्री करपात्री जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के खण्डन में अपने विशालकाय 'वेदार्थ पारिजात' ग्रन्थ में बहुत प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ को प्रकाशित हुए लगभग ५ वर्ष हो चुके हैं परन्तु उसका प्रत्युत्तर आर्यसमाज की ओर से आज तक नहीं दिया गया, यह आर्य विद्वानों के लिए अशोभनीय है।

—युधिष्ठिर मीमांसक

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका विषयसूची

* ओ३म् *

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

ओ३म्[1] सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।[2]
तेजस्वि नावधीतमस्तु[3] मा विद्विषावहै ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१॥
तैत्तिरीयारण्यके, नवमप्रपाठके[4], प्रथमानुवाके ॥

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं,
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद् वैधर्म्यविध्वंसिनी ।
वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा‡,
तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥१॥
कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे (१९३३) भाद्रमासे सिते दले ।
प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥२॥
दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा ।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमननाऽ-
स्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः ॥३॥

---

१. यह 'ओ३म्' मन्त्र का अवयव नहीं है । आरम्भ में प्लुत ओंकार के उच्चारण का शास्त्रों में विधान होने से यह प्लुत ओंकार मन्त्र के आरम्भ में पढ़ा है ।

२. सं० ५ तक इसी प्रकार पाठ है । सं० ६-८ तक 'भुनक्तु' के पश्चात् विराम-चिह्न मिलता है । सं० ९ में 'अवतु' के पश्चात् भी विराम-चिह्न बना दिया है । मुद्रित तै० आ० में दोनों स्थानों पर चिह्न है ।

३. प्रथम सं० में आगे विराम है । मुद्रित स्वर के अनुस्वार अशुद्ध होने से उसे हमने हटा दिया है ।

४. सं० वि० के आरम्भ और उसके गृहस्थ-प्रकरण के अन्त में 'अष्टम प्रपाठक' का निर्देश है । और 'आर्याभिविनय' में 'दशम प्रपाठक' का । तै० आ० में इस का पाठ तीनों प्रपाठकों के आरम्भ में मिलता है । परन्तु ग्रन्थ के अवयवरूप में इसका मुख्य पाठ 'अष्टम प्रपाठक' में ही है । नवम और दशम प्रपाठक में यह पाठ ग्रन्थ का अवयव न होकर प्रथम अनुवाक से पूर्व शान्तिपाठ के रूप में मिलता है ।

‡ अयमपपाठ इति केचन संगिरन्ते । एवमग्रेऽपि बहव एतादृशाः प्रयोगा विद्यन्ते, यान् सांप्रतिका वैयाकरणा असाधून् मन्यन्ते । यत्र यत्रैतादृशाः प्रयोगा आगमिष्यन्ति, तेषामग्रे ‡ एतादृक् चिह्नं विधास्यते । एतादृशानां प्रयोगाणां साधुत्वपरिज्ञानाय 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट'नामा ग्रन्थो द्रष्टव्यः । अस्मिन् ग्रन्थे विपक्षिभिर्विद्वद्भिः कृतानामाक्षेपाणां यान्युत्तराणि ग्रन्थकृता स्वयं प्रदत्तानि, तेषामपि संग्रहो विद्यते ।

मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः ।
ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥४॥
संस्कृतप्राकृताभ्यां यद् भाषाभ्यामन्वितं शुभम् ।
मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ् मया ॥५॥
आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी ।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥६॥
येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः ।
दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥७॥
सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः ।
ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् ॥८॥

भाषार्थ[1]—(सह नाव०) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! आपकी कृपा रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करें[2] । (सह नौ भु०) और हम सब लोग परमप्रीति से मिलके सब से उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्तिराज्य आदि सामग्री से आनन्द को आपके अनुग्रह से सदा भोगें । (सह वी०) हे कृपानिधे ! आपके सहाय से हम लोग एक-दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें । (तेजस्वि०) और हे प्रकाशमय सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर ! आपके सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो, और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे । (मा विद्विषा०) हे प्रीति के उत्पादक ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें, किन्तु एक दूसरे के मित्र होके सदा वर्तें ।

(ओं शान्तिः०) हे भगवन् ! आपकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप—एक **'आध्यात्मिक'** जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा **'आधिभौतिक'** जो दूसरे प्राणियों से [दुःख] होता है, और तीसरा **'आधिदैविक'** जो कि मन और इन्द्रियों के विकार अशुद्धि और चञ्चलता से

१. ऋषि दयानन्द के जितने भी ग्रन्थ संस्कृत और हिन्दी दो भाषाओं में मिलते हैं, उनमें संस्कृत-भाग ऋषि दयानन्द का है । और भाषानुवाद पण्डितों द्वारा कराया हुआ है, यह ग्रन्थकार के पत्रों से सुस्पष्ट है । इन ग्रन्थों में अनेकत्र भाषापाठ संस्कृतपाठ से नहीं मिलता । अनेक स्थानों पर वह मूलभूत संस्कृत-पाठ से विपरीत भी उपलब्ध होता है । इसका प्रधान कारण ग्रन्थकार द्वारा प्रेस कापी तक संस्कृतपाठ में संशोधन कर देना, और भाषापाठ में पूर्वपाठ का अनुवाद ही बना रहना है । हमने इस ग्रन्थ के भाषापाठ को प्रायः यथावत् ही रखा है । परन्तु जहां भाषा संस्कृत से असम्बद्ध अथवा विपरीत है, वहां हमने संस्कृत-अनुसारी पाठ बना दिया है । जहां भाषा के संस्कृत से पूर्ण सामञ्जस्य न होने पर भी उसका भावार्थ आ गया है, उसे वैसे ही रहने दिया है । जहां हमने पाठ बढ़ाया है, उसे [ ] इस कोष्टक में दे दिया है । और जहां भाषा में परिवर्तन किया है, वहां पूर्व मुद्रित-पाठ नीचे टिप्पणी में दर्शा दिया है ।

२. प्रथम सं० में 'करैं, भोगैं, रहैं' आदि क्रियारूप मिलते हैं । ये पण्डितों द्वारा प्रयुक्त प्रादेशिक रूप हैं । इसी प्रकार प्रथम सं० में 'होय, जिस्से, उस्से, इस्से' आदि प्रयोग भी मिलते हैं । इनमें से कतिपय स्थलों का 'हो, जिससे, उससे, इससे' इस प्रकार संशोधन प्रथम सं० के संशोधनपत्र में दर्शाया है । इसलिए हमने 'करैं' आदि का तृतीय सं० में शोधित रूप 'करें, भोगें, रहें' आदि ही स्वीकार किया है ।

क्लेश होता है, इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिये। जिससे हम लोग सुख से इस वेदभाष्य को यथावत् बनाके सब मनुष्यों का उपकार करें। यही आपसे चाहते हैं, सो कृपा करके हम लोगों को सब दिनों के लिये सहाय कीजिये ।।१।।

(ब्रह्मानन्त०) जो ब्रह्म अनन्त आदि विशेषणों से युक्त है, जिसकी वेद-विद्या सनातन है, उसको अत्यन्त प्रेम भक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हूं ।।१।।

(कालरा०) विक्रम के संवत् १९३३ भाद्रमास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, रविवार के दिन इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया है ।।२।।

(दयाया०) सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिनका नाम 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' है, उन्होंने इस वेदभाष्य को रचा है ।।३।।

(मनुष्ये०) ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हूं ।।४।।

(संस्कृतप्रा०) सो यह वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है—एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत। इन दोनों भाषाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूं ।।५।।

(आर्याणां०) इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है। किन्तु जो ब्रह्मा से लेके व्यास-पर्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं, उनकी जो व्याख्या-रीति है, उससे युक्त ही यह वेदभाष्य[1] बनाया जायगा ।।६।।

(येनाधु०) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं, वे सब निवृत्त हो जायंगे ।।७।।

(सत्यार्थश्च०) और इस वेदभाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है, सो संसार में प्रसिद्ध हो। कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें, इसलिये यह प्रयत्न मैं करता हूं। सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छे प्रकार सिद्ध हो। यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है ।।८।।

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒ता॒नि परा॑ सुव। यद् भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ।।१।।

यजुर्वेदे अध्याये ३०। मन्त्रः ३ ।।

भाष्यम्—**हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे परमकारुणिक ! हे अनन्तविद्य ! हे विद्याविज्ञानप्रद ! (देव) हे सूर्यादिसर्वजगद्विद्याप्रकाशक ! हे सर्वानन्दप्रद ! (सवितः) हे सकलजगदुत्पादक ! (नः)[2] अस्माकम् (विश्वानि) सर्वाणि (दुरितानि) दुःखानि सर्वान् दुष्टगुणांश्च (परा सुव) दूरे गमय। (यद्भद्रम्) यत् कल्याणं सर्वदुःखरहितं सत्यविद्या-**

१. 'यह वेदभाष्य' पद प्रथम सं० के संशोधन-पत्र में हटा दिए हैं, पुनरपि उत्तर संस्करणों में वाक्य की विस्पष्टता के लिए यथापूर्व रहने दिए हैं। अतएव हमने भी इन्हें हटाना उचित नहीं समझा।

२. मन्त्र एकमेव 'नः' पदमन्ते श्रूयते, तस्यैवेहाऽप्यकर्ष कृत्वा भाष्यकारेण सम्बन्धः प्रदर्शित इति ज्ञेयम्।

प्राप्त्याऽभ्युदयनिःश्रेयससुखकरं भद्रमस्ति (तन्नः) अस्मभ्यम् (आ सुव) आ समन्ताद् उत्पादय कृपया प्रापय ।

अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय । यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति, तत् स्वकृपाकटाक्षेण हे परब्रह्मन् ! नोऽस्मभ्यं प्रापय । भवत्कृपाकटाक्षसुसहाय‡प्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि‡ । तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवेत् । अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयाऽत्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात्, तथैव भवता कार्यमित्यो३म् ।

भाषार्थ—हे सत्यस्वरूप ! हे विज्ञानमय ! हे सदानन्दस्वरूप ! हे अनन्तसामर्थ्ययुक्त ! हे परमकृपालो ! हे अनन्तविद्यामय ! हे विज्ञानविद्याप्रद ! (देव) हे परमेश्वर ! आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करनेवाले हैं[1], तथा सब आनन्दों के देने वाले हैं[1] । (सवितः) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन् ! आप सब जगत् को उत्पन्न करने वाले हैं[1]। (नः)[2] हमारे (विश्वानि) सब जो (दुरितानि) दुःख हैं उनको, और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप (परा सुव) दूर कर दीजिये । अर्थात् हमसे उनको और हमको उनसे सदा दूर रखिये । (यद्भद्रम्) और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है, जो कि सब सुखों से युक्त भोग है, उसको हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिये[3] । सो सुख दो प्रकार का है—एक, जो सत्य विद्या की प्राप्ति से[4] अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्ति राज्य इष्ट-मित्र धन पुत्र स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना, और दूसरा—जो निःश्रेयस सुख है कि जिसको मोक्ष कहते हैं, और जिसमें ये दोनों सुख होते हैं, उसी को भद्र कहते हैं । (तन्न आ सुव) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये[3] ।

और आपकी कृपा के सहाय से सब विघ्न हमसे दूर रहें । कि जिससे इस वेदभाष्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा हो । इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहे । इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपनी सामर्थ्य से ही हमको दीजिये । जिस कृपा के सामर्थ्य से हम लोग सत्यविद्या से युक्त जो आपके बनाये वेद हैं, उनके यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य का सुख से विधान करें । सो यह वेदभाष्य आपकी कृपा से सम्पूर्ण होके सब मनुष्यों का सदा उपकार करनेवाला हो । और आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदभाष्य में श्रद्धासहित अत्यन्त उत्साह हो । जिससे वेदभाष्य करने में जो हम लोगों का प्रयत्न है, सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो । इसी प्रकार से आप हमारे और

---

१. सं० १-६ तक सभी में 'हो' पाठ मिलता है । प्रथम सं० के अन्त में संशोधनपत्र में 'हैं' संशोधन दर्शाया है । अतः हमने 'है' पाठ ही स्वीकार किया है ।

२. मन्त्र में एक ही 'नः' पद अन्त में है । उसी का अपकर्ष करके भाष्यकार ने यहां भी सम्बन्ध दर्शाया है, ऐसा जानना चाहिए ।

३. अर्थात् 'कराइये' । इस ग्रन्थ की भाषा में भी संस्कृत के समान बहुत्र अन्तर्णीत ण्यर्थ देखा जाता है ।

४. वैं० यं० मु० में 'में' पाठ है ।

सब जगत् के ऊपर कृपादृष्टि करते रहें। जिससे इस बड़े सत्य काम को हम लोग सहज से सिद्ध करें ॥ १ ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥
यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं१ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥४॥

अथर्ववेदसंहितायां काण्डे १०, प्रपाठके २३, अनुवाके ४, मं० १, ३२, ३३, ३४[1] ॥

भाष्यम् - (यो भूतं च०) यो भूतभविष्यद्वर्तमानान् कालान् (सर्वं यश्चाधि०) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति, सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्ति, (स्वर्य०) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति, यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति, (तस्मै ज्ये०) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोऽस्तु नः ॥ १ ॥

(यस्य भू०) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थज्ञानसाधनं पादाविवास्ति, (अन्तरिक्षमु०) अन्तरिक्षं यस्योदरतुल्यमस्ति, यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं मूर्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै० ॥ २ ॥

(यस्य सू०) यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च पुनः पुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः, योऽग्निमास्यं मुखवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै० ॥ ३ ॥

(यस्य वातः०) वातः समष्टिर्वायुर्यस्य प्राणापानाविवास्ति, (अङ्गिरसः) 'अङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः' इति निरुक्ते (अ० ३, खं० १७) प्रकाशकाः[2] किरणाश्चक्षुषी इव भवतः, यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहारसाधिकाश्चक्रे, तस्मै ह्यनन्तविद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोऽस्तु ॥ ४ ॥

१. अथर्ववेद में उद्धरण तीन प्रकार से दिए जाते हैं—काण्ड-सूक्त-मन्त्र, काण्ड-अनुवाक-सूक्त-मन्त्र, तथा प्रपाठक-वर्ग-मन्त्र। यहां तीनों का सम्मिश्रण है, और वह भी अधूरा। '**काण्ड-सूक्त-मन्त्र**' क्रम सुगम है। ग्रन्थकार का पाठ यथावत् रहने दिया जाएगा, परन्तु पाठकों की सरलता के लिए नीचे सरल क्रम से अथर्ववेद के पते देंगे। यहां इस प्रकार समझें—'काण्ड १०, सूक्त ८, मं० १ तथा सू० ७ मन्त्र ३२,३३,३४' ॥

२. वै० य० मुद्रिते 'प्रकाशिकाः' पाठोऽशुद्धो वर्तते, यतो ह्यस्य विशेषणं 'किरणाः' नित्यपुंलिङ्गोऽस्ति।

भाषार्थ—(यो भूतं०) जो परमेश्वर एक भूतकाल—जो व्यतीत हो गया है, (च) चकार[1] से दूसरा जो वर्तमान है, (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होनेवाला है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है, उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है। (सर्वं यश्चाधितिष्ठति) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जानता, रचता, पालन, लय करता, और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है,[2] [सबका अधिष्ठाता होकर] सब कालों के ऊपर विराजमान है। (स्वर्यस्य च केवलं) जिसका सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहारसुख का भी देनेवाला है, जिसको लेशमात्र भी दुःख नहीं होता, जो आनन्दघन परमेश्वर [है], (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सबसे बड़ा, सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है, उसको हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥१॥

(यस्य भूमिः प्रमा०) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं, सो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है, तथा जिसने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है, (अन्तरिक्षमुतोदरम्) अन्तरिक्ष, जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्थानी किया है, (दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्) और जिसने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करनेवाले पदार्थों को सबके ऊपर मस्तकस्थानी किया है, अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रचके, उसमें व्यापक होके, जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सबको धारण कर रहा है, (तस्मै०) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो ॥२॥

(यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्र०) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है, जो कल्प-कल्प के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को वारंवार नये-नये रचता है, (अग्निं यश्चक्र आस्यम्) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है, (तस्मै०) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो ॥ ३ ॥

(यस्य वातः प्राणापानौ) जिसने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाईं किया है, (चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करनेवाली[3] किरण हैं, वे चक्षु की नाईं जिसने की हैं, अर्थात् उनसे ही रूप ग्रहण होता है, (दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्त०) और जिसने दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली बनाई हैं, ऐसा जो अनन्तविद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है, उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो ॥ ४ ॥

---

१. 'अनेक चकारों से' वै० य० मुद्रित पाठ है।

२. यहां से आगे वै० य० मुद्रित भाषापाठ अव्यवस्थित तथा आगे पीछे है। हमने संस्कृत के अनुसार यथास्थान रख दिया है। वै० य० मुद्रित पाठ इसप्रकार है—अर्थात् स्वामी है। (स्वर्यस्य च केवलं) जिसका सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देनेवाला है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सबसे बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है। उनको अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो। जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिसको लेशमात्र भी दुःख नहीं होता, उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥ १ ॥'

३. 'अङ्गिरसः' का यह अर्थ संस्कृत भाग में दिए गए निरुक्त के प्रमाण से किया गया है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य [1]छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

यजुः अ० २५, मं० १३ ॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिस्सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥६॥

यतोयतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥७॥ यजुः अ० ३६, मं० १७, २२ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥८॥

यजुः अ० ३४, मं० ५ ॥

भाष्यम्—(य आत्मदाः) य आत्मदा विद्याविज्ञानप्रदः, (बलदाः) यः शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः, (यस्य०) यं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांस उपासते यस्यानुशासनं च मन्यन्ते, (यस्य छाया०) यस्याश्रय एव मोक्षोऽस्ति, यस्याच्छायाऽकृपाऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारकोऽस्ति, (कस्मै०) तस्मै कस्मै प्रजापतये 'प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेम' इति शतपथब्राह्मणे (काण्डे ७, अ० ३, [ब्रा० १, कं० २०]), सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभक्तिरूपेण हविषा वयं विधेम, सततं तस्यैवोपासनं कुर्वीमहि ॥ ५ ॥

(द्यौः शान्तिः०) हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वर ! त्वद्भक्त्या त्वत्कृपया च द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी जलमोषधयो वनस्पतयो विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसो ब्रह्म वेदः सर्वं जगच्चास्मदर्थं शान्तं निरुपद्रवं सुखकारकं सर्वदाऽस्तु, अनुकूलं भवतु नः । येन वयं वेदभाष्यं सुखेन विदधीमहि । हे भगवन् ! एतया सर्वशान्त्या विद्याबुद्धिविज्ञानारोग्यसर्वोत्तमसहायैः भवान् मां सर्वथा वर्धयतु, तथा सर्वं जगच्च ॥ ६ ॥

(यतो य०) हे परमेश्वर ! यतो यतो देशात् त्वं समीहसे, जगद्रचनपालनार्थां चेष्टां करोषि, ततस्ततो देशान्नोऽस्मानभयं कुरु । यतः सर्वथा सर्वेभ्यो देशेभ्यो भयरहिता भवत्कृपया वयं भवेम । (शन्नः कु०) तथा तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मानभयं कुरु । एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मान् शं कुरु । धर्मार्थकाममोक्षादिसुखयुक्तान् स्वानुग्रहेण सद्यः संपादय ॥ ७ ॥

१. यजुर्वेद में 'यस्य छाया' मूल पाठ है । द्र० कात्यायन प्रातिशाख्य ४।२६। यजुर्वेद के कई मुद्रित संस्करणों में भी 'यस्य च्छाया' चकार सहित पाठ मिलता है, वह अशुद्ध है ।

(यस्मिन्नृ०) हे भगवन् कृपानिधे ! यस्मिन् मनसि ऋचः सामानि यजूंषि[1] च प्रतिष्ठितानि भवन्ति, यस्मिन् यथार्थमोक्षविद्या च प्रतिष्ठिता भवति,[2] कस्यां क इव ? रथनाभौ अरा इव, (यस्मिंश्चि०) यस्मिंश्च प्रजानां चित्तं स्मरणात्मकं सर्वमोतमस्ति। सूत्रे मणिगणवत् प्रोतमस्ति। तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवसंकल्पं कल्याणप्रियं सत्यार्थप्रकाशं चास्तु, येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाश्येत।

हे सर्वविद्यामय सर्वार्थविन् ! मदुपरि कृपां विधेहि, यया[3] निर्विघ्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमहि, भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विस्तारयेमहि। यं दृष्ट्वा वयं सर्वे सर्वोत्कृष्टगुणा भवेम। ईदृशीं करुणामस्माकमुपरि करोतु भवान्, एतदर्थं प्रार्थ्यते। अनया प्रार्थनयाऽस्मान् शीघ्रमेवानुगृह्णातु। यत इदं सर्वोपकारकं कृत्यं सिद्धं भवेत् ॥८॥

भाषार्थ— (य आत्मदाः०) जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देनेवाला है, जो सब विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति करानेवाला है, [जो शरीर इन्द्रिय प्राण आत्मा और मन की पुष्टि उत्साह पराक्रम और दृढ़ता का देने वाला है] जिसकी उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं, और जिसका अनुशासन जो वेदोक्त शिक्षा है, उसको अत्यन्त मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते हैं, जिसका आश्रय करना ही मोक्षसुख का कारण है, और जिसकी अकृपा ही जन्ममरण रूप दुःखों को देने वाली है। अर्थात् ईश्वर और उसका उपदेश—जो सत्यविद्या सत्यधर्म और सत्यमोक्ष हैं—उनको नहीं मानना, और जो वेद से विरुद्ध होके अपनी कपोल-कल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्तता है, उसपर ईश्वर की अकृपा होती है, वही सब दुःखों का कारण है, और जिसकी आज्ञापालन ही सब सुःखों का मूल है, (कस्मै०) जो सुखस्वरूप और सब प्रजा का पति है[4], उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्यप्रेम भक्तिरूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें। जिससे हम लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो ॥ ५ ॥

(द्यौः शान्तिः०) हे सर्वशक्तिमन् भगवन् ! आपकी भक्ति और कृपा से ही 'द्यौः' जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है, यह सब दिन हमको सुखदायक हो। तथा जो आकाश,[5]

१. अत्र मन्त्रे त्रयाणामेव वेदानां निर्देशो मन्त्राणां त्रिविधत्वमाश्रित्योक्तम्। तदुक्तं जैमिनिना—'**यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः**' (मीमांसा २।१।३५-३७) इति। तेन चतुर्ष्वपि वेदेषु ये पद्यरूपा मन्त्रास्ते ऋचः, गद्यरूपा यजूंषि, गीतिरूपाः सामान्युच्यन्ते। यद्वा यया ग्रन्थकृदग्रे 'प्रश्नोत्तर' विषये अथर्ववेदस्य त्रयाणां वेदानां पारिशेष्यत्वं वक्ष्यति, तथा तस्य त्रिष्वेवान्तर्भावो द्रष्टव्यः। तेनाथर्वणः साक्षादनुल्लेखेऽपि न तस्य वेदेभ्यो बहिष्कारोऽर्वाचीनत्वं वा विज्ञायते।

२. इत उत्तरवर्ती पाठः 'कस्यां क इव? रथनाभौ अरा इव' वै०य०मुद्रसंस्करणेषु '**मणिगणवत् प्रोतमस्ति**' पाठादनन्तरं पठित उपलभ्यते। अस्माभिर्मन्त्रपाठानुरोधाद् ग्रन्थकारकृते यजुर्वेदभाष्ये सत्यार्थप्रकाशे (समु० ७, पृष्ठ २६६ रामलाल क० ट्र० सं०) च पूर्वार्ध एवोपमासम्बन्धस्योपलम्भाच्चेहाप्यस्याभिर्यथास्थानं स्थापितः।

३. वै०य० मुद्रितेषु १-५ संस्करणेषु '**यया**' इत्येव शुद्धः पाठो दृश्यते। षष्ठसंस्करणाद् 'यथा' पाठ उपलभ्यते, सोऽशुद्धो ज्ञेयः।

४. 'कः' का अर्थ 'प्रजापति' है, यह श० ब्रा० ७।३।१।२० के उद्धरण से संस्कृत भाग में दर्शाया है।

५. वै० य० मु० पाठ 'आकाश में' है। यहां 'में' पाठ असम्बद्ध है।

पृथिवी, जल, ओषधि, बनस्पति, वट आदि वृक्ष, जो संसार के सब विद्वान्, ब्रह्म जो वेद, ये सब पदार्थ और इनसे भिन्न भी जो जगत् है, वे सब सुख देनेवाले हमको सब काल में हों, कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें, जिससे इस वेदभाष्य के काम को सुखपूर्वक हम लोग सिद्ध करें। हे भगवन्! इस सब शान्ति से हमको विद्या बुद्धि विज्ञान आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिये। तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढ़ाइये ॥ ६ ॥

(यतो य०) हे परमेश्वर ! आप जिस-जिस देश से जगत् के रचन और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं, उस-उस देश से [हमको] भय से रहित करिये । अर्थात् किसी देश से हमको किञ्चित् भी भय न हो । (शन्नः कुरु०) वैसे ही सब दिशाओं में जो आपकी प्रजा और पशु हैं, उनसे भी हमको भयरहित करें, तथा हमसे उनको सुख हो। और उनको भी हमसे भय न हो, तथा आपकी प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि हैं, उन सबसे। जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थ हैं, उनको आपके अनुग्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हों। जिससे मनुष्यजन्म के धर्मादि जो फल हैं, वे सुख से सिद्ध हों ॥ ७ ॥

(यस्मिन्नृचः) हे भगवन् कृपानिधे ! (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूꣳषि) यजुर्वेद, और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद[1] भी, ये सब जिसमें स्थित होते हैं, तथा जिसमें मोक्षविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या[2] स्थित है, जैसे रथ के पहिये के नाभिरूप बीच के भाग में आरे स्थित होते हैं अर्थात् जुड़े होते हैं, (यस्मिँश्चि०) जिसमें सब प्रजा का चित्त, जो स्मरण करने की वृत्ति है, सो सब गँठी हुई है, जैसे माला के मणिये सूत्र में गँठे हुए होते हैं। ऐसा जो मेरा मन है, सो आपकी कृपा से शुद्ध हो। तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्यधर्म का अनुष्ठान, तथा असत्य के परित्याग करने का संकल्प जो इच्छा है, इससे युक्त सदा हो। जिस मन से हम लोगों को आपके किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश हो।

हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर ! हम पर आप कृपा धारण करें। जिससे हम लोग विघ्नों से सदा अलग रहें। और सत्य अर्थ सहित इस वेदभाष्य को सम्पूर्ण बनाके आपके बनाए

---

१. महर्षि जैमिनि के मतानुसार (मी० २।१।३५-३७) चारों वेदों में तीन प्रकार के मन्त्र हैं— ऋक्=पद्यरूप, साम=गानयुक्त, और यजुः=गद्यरूप। इस प्रकार चारों वेद ऋक् यजुः साम रूप मन्त्रों के अन्तर्गत हैं। इसी भाव से ग्रन्थकार ने भी इस ग्रन्थ के 'प्रश्नोत्तर विषय' में अथर्ववेद को तीनों वेदों में प्रतिपादित विषयों का पूर्ति करनेवाला कहा है।

२. यहां से आगे वै० य० मुद्रित पाठ संस्कृत-पाठ के समान ही अस्थान में है। हमने उसे यथास्थान व्यवस्थित रूप में कर दिया है। वै० य० मुद्रित पाठ इस प्रकार है—'ब्रह्मविद्या और सत्यासत्य का प्रकाश होता है, (यस्मिश्चि०) जिसमें ······ गंठे हुए होते हैं और जैसे रथ के पहिए के बीच भाग में आरे लगे होते हैं कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते है, ऐसा जो मेरा मन'।

वेदों के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्ति है, उसको जगत् में सदा के लिये बढ़ावें। और इस भाष्य को देखके वेदों के अनुसार सत्य का अनुष्ठान करके हम सब लोग श्रेष्ठ गुणों से युक्त सदा हों। इसलिये हम लोग आपकी प्रार्थना प्रेम से सदा करते हैं। इसको आप कृपा से शीघ्र सुनें। जिससे यह जो सबका उपकार करनेवाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है, सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो ॥८॥

इतीश्वरप्रार्थनाविषयः

अथ वेदोत्पत्तिविषयः

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांᳬसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥

यजुः० अ० ३१, मं ७ ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् । सामानि यस्य
लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २ ॥

अथर्व० कां १०, प्रपा० २३, अनु० ४, मं० २० ॥[1]

भाष्यम्—(तस्माद् यज्ञात् स०) तस्माद् यज्ञात् सच्चिदानन्दादिलक्षणात् पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः, (यजुः) यजुर्वेदः, (सामानि) सामवेदः, (छन्दांᳬसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम् । 'सर्वहुतः' इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति, वेदाः सर्वहुतः, यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं[2] ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः । 'जज्ञिरे, अजायत' इति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम्[3] । तथा 'तस्माद्' इति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम्[4] । वेदानां गायत्र्यादिछन्दोन्वितत्वात् पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम् । यज्ञो वै विष्णुः । श० कां० १, अ० १, ब्रा० २, कं० १३ ।[5] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । यजुः०

---

१. अथर्व १०।७।२०॥

२. हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके (धातुपाठ ३।१) ।

३. एकार्थशब्दानां प्रयोगाद् एकस्यैव वा शब्दस्याभ्यासाद् अर्थविशेषो द्योतते । तदुक्तं निरुक्तकारेण—'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (१०।४२) । लोकेऽपि 'ग्रामो ग्रामो रमणीयः', 'देवदत्तः पचति पचति' इत्यादिभ्यो वीप्सानित्यतादयोऽर्था व्यज्यन्ते । अनेनैव नियमेनेह एकार्थकानां जज्ञिरे जज्ञिरे अजायत पदानां श्रवणादर्थविशेषो ग्रन्थकृता द्योतितः ।

४. द्रष्टव्या इहस्थैव पूर्वा टिप्पणी ।

५. वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणे 'ब्रा० २ । कं० १३' इत्यंशः [ ] कोष्ठे प्रदर्श्यते । स चिन्त्यः । यतो ह्ययमंशः प्रथमसंस्करण एव संशोधनपत्रे परिवर्धित उपलभ्यते । तत्र 'ब्रा० २' इत्यस्य स्थाने 'ब्रा० १' मुद्रणदोषो ज्ञेयः ।

अ० ५, मन्त्र १५।[1] इति सर्वजगत्कर्त्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते, नान्यत्र। वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः ॥ १ ॥

(यस्मादृचो) यस्मात् सर्वशक्तिमतः ऋचः ऋग्वेदः (अपातक्षन्) अपातक्षत् उत्पन्नोऽस्ति। यस्मात् परब्रह्मणः (यजुः) यजुर्वेदः (अपाकषन्) प्रादुर्भूतोऽस्ति। तथैव यस्मात् (सामानि) सामवेदः (अ[थर्व]ाङ्गिरसः) अथर्ववेदश्चोत्पन्नौ स्तः। एवमेव यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवन्मुख्योऽस्ति, सामानि लोमानीव सन्ति, यजुर्यस्य हृदयम्, ऋचः प्राणश्चेति[2] रूपकालङ्कारः। यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः स कतमः स्विद्देवोऽस्ति[3] ? तं त्वं ब्रूहीति प्रश्नः। अस्योत्तरम्—(स्कम्भं तं०) तं स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति। तस्मात् स्कम्भात् सर्वाधारात् परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो देवो वेदकर्त्ता नैवास्तीति मन्तव्यम् ॥ २ ॥

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥३॥

श० कां० १४, अ० ५, ब्रा० ४, कं० १० ॥[4]

अस्यायमभिप्रायः—याज्ञवल्क्योऽभिवदति—हे मैत्रेयि ! महतः आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशाद् ऋग्वेदादिवेदचतुष्टयं (निःश्वसितं) निश्वासवत् सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम्। यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति, तथैवेश्वराद् वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः ॥ [३ ॥]

---

१. इहापि वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणे 'अ० ५। मन्त्र १५' इति पाठः [ ] कोष्ठे प्रदर्श्यते। अयमपि प्रथमसंस्करण एव संशोधनपत्रे परिवर्धितत्वात्, २-८ संस्करणेषु तथैव मुद्रितत्वाच्च, नवमसंस्करणे कोष्ठकान्तर्गतो निर्देशः चिन्त्यः। नवमसंस्करणे सम्पादकेन '[ ] कोष्ठान्तर्गतः पाठोस्माभिः प्रवर्धितः' इति सूचितमादौ।

२. एतस्मिन् मन्त्रे ऋग्यजुषो रूपकविषये न किमप्युक्तम्, तथापि ग्रन्थकारेण एतयो रूपकसम्बन्ध **'पङ्क्ति यस्य सम्भारा ऋचो यस्यानूक्यम्। सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते** (अथर्व ९।६(१)। १-२) मन्त्रयोराधारेण प्रदर्शितः। अत्र यजुषो हृदयत्वं स्पष्टमुक्तं द्वितीये मन्त्रे। प्रथममन्त्रे ऋचः प्राणत्वं स्पष्टमनुक्त्वा अनूक्यत्वं निर्दर्शितम्। सायणेन अनूक्यशब्दस्यार्थः 'अस्थिसन्धिः' प्रदर्शितः। परन्त्वयमर्थः 'पङ्क्ति' शब्देन गतार्थ इति मत्वा ग्रन्थकारेण अनूक्यशब्दस्य 'अनूच्यते समवाप्यते इति' यौगिकार्थं पुरस्कृत्य प्राणरूपोऽर्थः प्रदर्शितः।

३. एतद्व्याख्यानेन प्रतीयते यद् ग्रन्थकार एतस्मिन् प्रकरणे सर्वत्र '**कतमः स्विद् देवः सः**' पाठं मनुते। अस्यैव प्रकरणस्य '**यत्र लोकांश्च०**' मन्त्र अस्मिन्नेव ग्रन्थे ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यप्रकरणे पञ्चमहायज्ञविधौ च '**अन्यो देवो०**' मन्त्रव्याख्याने उद्धृत्य व्याख्यातः। **यस्मादृचो अपातक्षन्** मन्त्रश्च सत्यार्थप्रकाशे (समु० ७)ऽपि व्याख्यातः। सर्वत्रैव ग्रन्थकारेण '**स कतमःस्विद् देवोऽस्ति**' इत्येवंरूपेणैव व्याख्यानं विहितम्। पदपाठे तु '**कतमः, स्वित्, एव, सः**' इत्येव पदविभागो दृश्यते। मन्त्र-स्वरोऽपीहैवानुकूलः।

४. इहाऽपि वै०य०मुद्रिते नवमसंस्करणे 'ब्रा० ४। कं० १०' पाठः कोष्ठके [ ] निर्दर्शितः। अयमपि सम्पादकस्य प्रमाद एव, प्रथमसंस्करण एव संशोधनेऽस्य निर्देशात्।

भाषार्थ—प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके, पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है—कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं ?

(तस्माद् यज्ञात् स०) 'सत्' जिसका कभी नाश नहीं होता है, 'चित्' जो सदा ज्ञानस्वरूप है, जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता, 'आनन्द' जो सदा सुखस्वरूप और सबको सुख देनेवाला है, इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है। उसी परब्रह्म से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद, और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्व भी, ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। [इस मंत्र में पठित **'सर्वहुतः'** पद वेदों का भी विशेषण हो सकता है, अर्थात् वेद 'सर्वहुत' हैं। क्योंकि ये सब मनुष्यों से ग्रहण[1] करने योग्य हैं।] इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों का ग्रहण करें, और वेदोक्त रीति से ही चलें। **'जज्ञिरे'** और **'अजायत'** इन दोनों क्रियाओं के अधिक[2] होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं, ऐसा जाना जाता है[3]। वैसे ही **'तस्मात्'** इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं,[4] किसी मनुष्य से नहीं। वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं, फिर **'छन्दांसि'** इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है, उसकी उत्पत्ति का प्रकाश होता है। शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'यज्ञ' शब्द से 'विष्णु' का, और 'विष्णु' शब्द से सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का ग्रहण होता है। क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है, अन्यत्र नहीं ॥१॥

(यस्मादृचो अपा०) जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (अ[थर्व]ाङ्गिरसः) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि—अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण[5] की नाईं है। (ब्रूहि कतमः

---

१. **'सर्वहुतः'** को वेदों का विशेषण मानने पर 'हुत' भाग **'हु दानादनयोः'** धातु से निष्पन्न होता है। कई आचार्यों के मत में इस धातु का आदान अर्थ भी है (द्र० माधवीया धातुवृत्ति)।

२. दोनों क्रियाओं के समानार्थक होने से एक क्रिया से कार्य चल सकता था। अतः दोनों में से एक का प्रयोग अधिक है।

३. एकार्थक शब्दों के अथवा एक ही शब्द के अभ्यास=पुनः प्रयोग से विशेष अर्थ द्योतित होता है, ऐसा निरुक्तकार का कथन है—**'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते'** (निरुक्त १०।४२)। इसी नियम से यहां वेदों की अनेक विद्याओं का द्योतन होता है।

४. द्र० इसी पृष्ठ की टि० २। यहां अभ्यास से अवधारण=निश्चयरूप अर्थ व्यक्त होता है।

५. इस मन्त्र में यजुः और ऋक् के रूपक विषय में कुछ नहीं कहा है। पुनरपि ऋषि दयानन्द ने इनके रूपकों का सम्बन्ध अथर्व ६,६ (१), १-२ के **'परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम्। सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते'** मन्त्रों के आधार पर दर्शाया है। इनमें यजुः का हृदयत्व स्पष्ट है, परन्तु ऋक् का प्राणत्व स्पष्टनिर्दिष्ट नहीं है। मन्त्र में ऋक् के साथ 'अनूक्य' शब्द का निर्देश है। सायण ने अनूक्य का अर्थ

स्विदेव सः) कि चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं, सो कौनसा देव है?[1] उसको तुम मुझसे कहो। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—(स्कम्भं तं०) जो सब जगत् का धारणकर्ता परमेश्वर है, उसका नाम 'स्कम्भ' है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो। और यह भी जानो कि उसको छोड़के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है। क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है, जो वेदों के कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़के दूसरे को परमेश्वर मानके उपासना करे॥ २॥

(एवं वा अरेऽस्य०) याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं, वह अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री का उपदेश करते हैं कि—'हे मैत्रेयी! जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है, उससे ही ऋक् यजुः साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। जैसे मनुष्य के शरीर से श्वास बाहर को आके फिर भीतर को जाता है, इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है। और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते, परन्तु उसके ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं, बीजाङ्कुरवत्। जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है, वही वृक्षरूप होके फिर भी बीज के भीतर रहता है, इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उनका नाश कभी नहीं होता। क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है। इससे इनको नित्य ही जानना'॥ ३॥

अत्र केचिदाहुः—निरवयवात् परमेश्वराच्छन्दमयो वेदः, कथमुत्पद्येतेति ?

अत्र ब्रूमः। न सर्वशक्तिमतीश्वरे शङ्केयमुपपद्यते। कुतः, मुखप्राणादिसाधनमन्तरापि तस्य कार्यं कर्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात्। अन्यच्च, यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं[2] भवति, तथेश्वरेऽपि मन्यताम्। योऽस्ति खलु सर्वशक्तिमान्, स नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्तुं गृह्णाति। यथास्मदादीनां सहायेन विना कार्यं कर्तुं सामर्थ्यं नास्ति, न चैवमीश्वरे। यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्रचितं, तदा वेदरचने का शङ्कास्ति ? कुतः, वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यतः।

भाषार्थ—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि—'ईश्वर निराकार है, उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं'?

'अस्थिसन्धि' दर्शाया है। परन्तु यह अर्थ 'पर्षि' से गतार्थ मानकर ऋषि दयानन्द ने 'अनूक्य' शब्द का 'अनूच्यते समवाप्यते इति' ऐसा यौगिक अर्थ मानकर 'प्राण' अर्थ स्वीकार किया है।

१. मन्त्र में **'कतमः स्विद् एव सः'** पाठ है। परन्तु उपर्युक्त व्याख्यान से प्रतीत होता है कि यहां ग्रन्थकार को **'कतमः स्विद् देव. सः'** पाठ अभिप्रेत है। इसी प्रकरण का **'यत्र लोकांश्च०'** मन्त्र इसी ग्रन्थ के 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य' प्रकरण के अन्त में नवग्रहपूजा प्रकरण और **पञ्चमहायज्ञविधि** के **'शन्नो देवी०'** मन्त्र के व्याख्यान में उद्धृत करके व्याख्यात है। **'यस्मादृचो अपातक्षन्०'** मन्त्र सत्यार्थप्रकाश (समु० ७) में व्याख्यात है। सर्वत्र यही व्याख्यान उपलब्ध होता है।

२. 'प्रश्नोत्तरादिरूपेण शब्दोच्चारणम्' इत्यर्थः।

इसका यह उत्तर है कि—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसमें ऐसी शङ्का करनी सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य [है।] अर्थात्[1] मुख के विना मुख का काम, और प्राणादि के विना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है। यह दोष तो हम जीव लोगों में आ सकता है कि मुखादि के विना मुखादि का कार्य नहीं कर सकते हैं। क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्यवाले हैं। और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि—मन में मुखादि अवयव नहीं हैं, तथापि जैसे उसके भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस-व्यापार में होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये। और जो सम्पूर्ण सामर्थ्यवाला है, सो किसी कार्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता। क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्यों को कर सकता है। जैसे हम लोग विना सहाय से कोई काम नहीं कर सकते, वैसा ईश्वर नहीं है। जैसे देखो कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया। तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही ? जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है, वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचन किया है। तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता ?

ननु जगद्रचने तु खल्वीश्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति, वेदरचने त्वन्यस्यान्यग्रन्थरचनवत् स्यादिति ?

अत्रोच्यते—ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यात्; न चान्यथा। नैव कश्चिदपि [तस्य] पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति, यथेदानीं किंचिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति। तद्यथा कस्यचित् सन्तानमेकान्ते रक्षयित्वाऽन्नपानादिकं युक्त्या दद्यात्, तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्याद्, यावत् तस्य मरणं न स्यात्। यथा तस्य किंचिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति, यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत् प्रवृत्तिर्भवति, तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत्। पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा ?

भाषार्थ—प्र०—जगत् के रचने में तो ईश्वर के विना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है। परन्तु जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है, वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है ?

उ०—नहीं। किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं, उनके पढ़ने के पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को हो सकता है। उसके पढ़ने और ज्ञान से विना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस समय में किसी शास्त्र को पढ़के, किसी का उपदेश सुनके, और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देखके ही मनुष्यों को ज्ञान होता है, अन्यथा कभी नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रखके उसको अन्न और जल युक्ति से देवे,

१. 'सामर्थ्य है कि मुख' ऐसा वै० य० मुद्रित पाठ है।

उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे, कि जब तक उसका मरण न हो। तब तक उसको इसी प्रकार से रक्खे, तो मनुष्यपन का भी ज्ञान नहीं हो सकता। तथा जैसे बड़े वन में [रहने वाले] मनुष्यों को विना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु पशुओं की नाईं उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है, वैसे ही वेदों के उपदेश के विना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती। फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा क्या ही कहनी है ? इससे वेदों को ईश्वर के रचित मानने से ही कल्याण है, अन्यथा नहीं।

मैवं वाच्यम्। ईश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं, तच्च सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति। नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञानं भवितुमर्हति। तदुन्नत्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव। पुनः किमर्थं मन्यते वेदोत्पादनमीश्वरेण कृतमिति ?

एवं प्राप्ते वदामहे।—नैव पूर्वोक्तायाशिक्षितायैकान्ते रक्षिताय‡ बालकाय महारण्यस्थेभ्यो मनुष्येभ्यश्चेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं किम् ? कथं नास्मदादयोऽप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमन्तरेण वेदाध्ययनेन च विना पण्डिता भवन्ति ? तस्मात् किमागतम् ? न शिक्षया विनाध्ययनेन च स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति। यथास्मदादिभिरप्यन्येषां विदुषां विद्वत्कृतानां ग्रन्थानां च सकाशादनेकविधं ज्ञानं गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते, तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां[1] मनुष्याणामपेक्षाऽवश्यं भवति। किञ्च, न सृष्टेरारम्भसमये पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदप्यासीत्। तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव। पुनः कथं कश्चिज्जनो ग्रन्थं रचयेत् ? मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात्। स्वाभाविकज्ञानमात्रेणैव विद्याप्राप्त्यनुपपत्तेश्च।

यच्चोक्तं स्वकीयं ज्ञानमुत्कृष्टमित्यादि, तदप्यसमञ्जसम्। तस्य साधनकोटौ प्रविष्टत्वात् चक्षुर्वत्[2]। यथा चक्षुर्मनःसाहित्येन विना ह्यकिञ्चित्करमस्ति, तथान्येषां विदुषामीश्वरज्ञानस्य च साहित्येन विना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिञ्चित्करमेव भवतीति।

भाषार्थ—प्र०—ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है, सो सब ग्रन्थों से उत्तम है। क्योंकि उसके विना वेदों के शब्द अर्थ और सम्बन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। और जब उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी, तब मनुष्य लोग विद्या-पुस्तकों को भी रच लेंगे। पुनः वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी ?

उ०—जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का, और दूसरा वनवासियों का भी कहा था, क्या उनको स्वाभाविक ज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है ? वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते ? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है, उसके विना किसी मनुष्य[3] को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे हम लोग वेदों को पढ़े, विद्वानों की शिक्षा

१. इतः पूर्वं 'आद्युत्पन्नानाम्' इति विशेषणमर्थस्य स्पष्टत्वाय योजनीयम्।

२. अत्रेदमनुमानम्—स्वाभाविक ज्ञानं साधनम्, तद्विना नैमित्तिकज्ञानानुत्पत्तेः, चक्षुर्वत्। यद्यद् विना नैमित्तिकं ज्ञानं नोत्पद्यते, तत्तत् साधनम्, तथा चेदम्। तस्मात् स्वाभाविकं ज्ञानं साधनम्।

३. यहां 'उसके विना सर्गारम्भ में उत्पन्न किसी मनुष्य को' ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

और उनके किये ग्रन्थों को पढ़े विना पण्डित नहीं होते, वैसे ही सृष्टि के आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता, तो आज-पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थ-विद्या नहीं होती। इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिक्षा और वेद पढ़ने के विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता। जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादिशास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं, वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा [सर्गारम्भ में] सब मनुष्यों को अवश्य है। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी, तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था। उस समय ईश्वर के किये वेदोपदेश के विना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे कर सकता? क्योंकि सब मनुष्यों को निमित्त से उत्पन्न होने वाले[1] ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है। और स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती। इसी से ईश्वर ने सब मनुष्यों के हित के लिये वेदों की उत्पत्ति की है।

और जो यह कहा था कि अपना [स्वाभाविक] ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है, सो भी अन्यथा है[2]। क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है, सो साधनकोटि में है। जैसे मन के संयोग के विना आंख से कुछ भी नहीं देख पड़ता, तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कुछ नहीं होता,[3] वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है, सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधनमात्र ही है। तथा पशुओं के समान व्यवहार का साधन भी है। परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म अर्थ काम और मोक्षविद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता।

वेदोत्पादन ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम् ?

उच्यते—वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति ? अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः। सत्यमेवमेतत्। तावद् वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं, तच्छृणुत—

ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा ? अस्ति। सा किमर्थास्ति ? स्वार्था। ईश्वरः परोपकारं न करोति किम् ? करोति। तेन किम् ? तेनेदमस्ति—विद्या स्वार्था परार्था च भवति, तस्यास्तद्विषयत्वात्। यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्यात्, तदान्यतरपक्षे सा निष्फला स्यात्। तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूतवेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता[4] सम्पादिता।

परमकारुणिको हि परमेश्वरोऽस्ति, पितृवत्। यथा पिता स्वसन्ततिं प्रति सदैव करुणां दधाति, तथेश्वरोऽपि परमकृपया सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपचक्रे। अन्यथान्धपरम्परया मनुष्याणां धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या विना परमानन्द एव न स्यात्। यथा कृपायमाणेनेश्वरेण प्रजासुखार्थं

---

१. वै० य० मुद्रित 'सहायकारी ज्ञान में' पाठ असम्बद्ध है, तथा संस्कृत से विपरीत है।

२. अर्थात् ठीक नहीं है।

३. यहां से आगे सम्पूर्ण भाषा पाठ अस्पष्ट है। यहां संस्कृत के अनुसार—'वैसे ही स्वाभाविक ज्ञान भी विद्वानों और वेदों के ज्ञान के साहाय्य के बिना अकिञ्चित्कर अर्थात् निरर्थक है' ऐसा पाठ होना चाहिए।

४. 'स्वविद्यायाः सप्रयोजनता' ऐसा स्पष्टीकरण जानना चाहिए।

कन्दमूलफलतृणादिकं रचितं, स कथं न सर्वसुखप्रकाशिकां सर्वविद्यामयीं वेदविद्यामुपदिशेत् ? किञ्च ब्रह्माण्डस्थोत्कृष्टसर्वपदार्थप्राप्त्या यावत् सुखं भवति, न तत्[1] विद्याप्राप्तसुखस्य सहस्रतमेनांशेनापि तुल्यं भवति । अतो वेदोपदेश ईश्वरेण कृत एवास्तीति निश्चयः ।

भावार्थ—प्र०—वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था ?

उ०—मैं तुमसे पूछता हूं कि वेदों के उत्पन्न नहीं करने में उसको क्या प्रयोजन था ? जो तुम यह कहो कि इसका उत्तर हम नहीं[2] जानते । ठीक है । पहले वेदों की उत्पत्ति में जो प्रयोजन है, सो आप लोग सुनें—

प्र०[3]—ईश्वर में अनन्त विद्या है वा नहीं ? उ०—है । प्र०—सो उसकी विद्या किस प्रयोजन के लिये है ? उ०—अपने ही लिये, जिससे सब पदार्थों का रचना और जानना होता है । प्र०—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूं कि ईश्वर परोपकार को करता है, वा नहीं ? उ०—ईश्वर परोपकारी है । इससे क्या आया ? इससे यह बात आती है कि विद्या जो है, सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है । क्योंकि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना । जो परमेश्वर अपनी विद्या का हम लोगों के लिये उपदेश न करे, तो विद्या से जो परोपकार करना गुण है, सो उसका नहीं रहे । इससे परमेश्वर ने अपनी वेदविद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके [अपनी विद्या की] सफलता सिद्ध करी है ।

परमेश्वर हम लोगों का माता पिता के समान है । हम सब लोग जो उसकी प्रजा हैं, उन पर नित्य कृपादृष्टि रखता है । जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता और माता सदैव करुणा को धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें, वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपादृष्टि सदैव रखता है । इससे ही वेदों का उपदेश हम लोगों के लिये किया है । जो परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता, तो धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती । उसके विना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता । जैसे परमकृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे-छोटे भी पदार्थ रचे हैं, सो ही ईश्वर सब सुखों के प्रकाश करनेवाली, सब सत्य विद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता ? क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं,

---

१. 'न तावत्' वै० य० मुद्रिते पाठः ।

२. यहां से आगे वै० य० मुद्रित पाठ इस प्रकार है—जान सकते तो ठीक है, क्योंकि वेद तो ईश्वर की नित्य विद्या है, उसकी उत्पत्ति या अनुत्पत्ति हो ही नहीं सकती । परन्तु हम जीव लोगों के लिए ईश्वर ने जो वेदों का प्रकाश किया है, सो उसकी हम पर परम कृपा है । जो वेदोत्पत्ति का प्रयोजन' । यह पाठ मूल से असम्बद्ध वा अप्राकरणिक है ।

३. यह 'प्रश्न' सिद्धान्ती का है, और अगला 'उत्तर' पूर्वपक्षी का । जहां सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से प्रश्न करता है और पूर्वपक्षी उत्तर देता है, वहां सर्वत्र इसी प्रकार समझना चाहिए ।

उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है, सो सुख विद्याप्राप्ति से होनेवाले सुख के हजारहवें[1] अंश के भी समतुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम विद्या-पदार्थ जो वेद है, उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता? इससे निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं।

ईश्वरेण लेखनीमसीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो लब्धानि ?

अत्रोच्यते—अहहह ! महतीयं शङ्का भवता कृता। विना हस्तपादाद्यवयवैः काष्ठलोष्ठादिसामग्रीसाधनैश्च यथेश्वरेण जगद्रचितं, तथा वेदा अपि रचिताः। सर्वशक्तिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं माशङ्कि। किन्तु पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पादिताः। किं तर्हि ? ज्ञानमध्ये प्रेरिताः[2]। केषाम् ? अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम्। ते तु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति ? मैवं वाच्यम्, सृष्ट्यादौ मनुष्यदेहधारिणस्ते ह्यासन्[3]। कुतः ? जडे ज्ञानकार्यासम्भवात्। यत्रार्थासम्भवो[4]ऽस्ति, तत्र लक्षणा भवति[5]। तद्यथा कश्चिदाप्तः कञ्चित्प्रति वदति—मञ्चाः क्रोशन्तीति। अत्र मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते। तथैवात्रापि विज्ञायताम्। विद्याप्रकाशसंभवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति।

अत्र प्रमाणम्—

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः॥

श० कां० ११। अ० ५॥[6]

एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः।

सत्यमेवमेतत्। परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तम्। ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते ? मैवं विज्ञायि। ज्ञानं किंप्रकारकं दत्तम् ? वेदप्रकारकम्। तदीश्वरस्य वा तेषाम् ? ईश्वरस्यैव। पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित् तैश्च ? यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः। पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति ? निश्चयकरणार्था।

---

१. यहां वै० य० मुद्रित पाठ इस प्रकार है—'विद्या प्राप्ति होने से हजारहवें'।

२. द्र०—ऋ० १०, ७१, १ '**तदेषां निहितं गुहाविः**'। गोपथब्राह्मणे (१,१,९) अपि पठ्यते—'**श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव**'। अयं पाठः सायणेनाथर्वभाष्यभूमिकायाम् (पृष्ठ ६, वि० शोध-संस्थान संस्करण) उद्धृतः। गोपथब्राह्मणे तु 'हृदये' इत्यस्य स्थाने '**क्षितये**' पठ्यते।

३. सायणाचार्येण ऋग्भाष्योपक्रमणिकायाम्—'**जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्**' इत्युक्तम्।

४. अर्थात् मुख्यार्थस्यासम्भवे।

५. तथा चाह काव्यप्रकाशे मम्मटः—**मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया** ।२।९॥ अतद्भावेऽपि तदुपचारे दश कारणान्याह भगवान् गोतमः। तद्यथा—**सहचरण-स्थान-तादर्थ्य-वृत्त-मान-धारण-सामीप्य-योग-साधनाऽऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मण-मञ्च-कट-राज-सक्तु-चन्दन-गङ्गा-शाटकाऽन्न-पुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः**। न्याय २।२।६४॥

६. शत० ११।५।८।३॥

भाषार्थ—प्र०—वेदों के रचने और वेदपुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी स्याही और दवात आदि साधन कहां से लिये ? क्योंकि उस समय में कागज़ आदि पदार्थ तो बने ही न थे ?

उ०—वाह वाह वाह जी ! आपने बड़ी शङ्का करी। आपकी बुद्धि की क्या स्तुति करें ? अच्छा आपसे मैं पूछता हूं कि हाथ पग आदि से विना, तथा काष्ठ लोह आदि सामग्री-साधनों से विना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है ? जैसे हाथ आदि अवयवों से विना उसने जगत् को रचा है, वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के विना रचा है। क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। इससे ऐसी शङ्का उसमें आपको करनी योग्य नहीं। परन्तु इसके उत्तर में इस बात को जानो कि—वेदों को पुस्तकों में लिखके सृष्टि के आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे। प्र०—तो किस प्रकार से किये थे ? उ०—ज्ञान के बीच में। प्र०—किन के ज्ञान में ? उ०—अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा के। प्र०—वे तो जड़ पदार्थ हैं ? उ०—ऐसा मत कहो। वे सृष्टि के आदि में मनुष्य-देहधारी हुये थे[1]। क्योंकि जड़ में ज्ञान के कार्य का असम्भव है। और जहां जहां असम्भव होता है, वहां वहां लक्षणा होती है। जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि—'खेतों में मञ्चान पुकारते हैं', इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि 'मञ्चान के ऊपर [बैठे] मनुष्य पुकार रहे हैं। इसी प्रकार से यहां भी जानना कि—'विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं'। इसमें 'तेभ्यः०' इत्यादि 'शतपथ ब्राह्मण' का प्रमाण लिखा है। उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे ब्रह्मादि के [ज्ञान के] बीच में वेदों का प्रकाश कराया था।

प्र०—सत्य बात है कि ईश्वर ने उनको ज्ञान दिया होगा, और उनने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा ?

उ०- ऐसा तुमको कहना उचित नहीं। क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उनको ज्ञान किस प्रकार का दिया था ? उ०—उनको वेदरूप ज्ञान दिया था। प्र०—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूं कि वह ज्ञान ईश्वर का है, वा उनका ? उ०-वह ज्ञान ईश्वर का ही है। प्र०—फिर आपसे मैं पूछता हूं कि वेद ईश्वर के बनाये हैं, वा उनके ? उ०—जिसका ज्ञान है, उसीने वेदों को बनाया। प्र०—फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं, यह शङ्का आपने क्यों की थी ? उ०—निश्चय करने और कराने के लिये।

ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पक्षपाती ? न्यायकारी। तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः, कुतो न सर्वेषामिति ?

अत्राह—अतः ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोऽपि नैवागच्छति। किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यङ् न्यायः प्रकाशितो भवति। कुतः ? न्यायेत्यस्यैव[2] नामास्ति—यो यादृशं कर्म

---

१. सायणाचार्य ने भी ऋग्वेदभाष्य की उपक्रमणिका में अग्निवायु आदि को जीवविशेष माना है—**'जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्।'**

२. प्रातिपदिकस्य स्वरूपनिर्दर्शनायाविभक्त्यन्तः प्रयोगः। एषा च प्राचां शैली। एवमन्यत्राप्यविभक्त्यन्त-प्रयोगे इदमेव कारणं विज्ञेयम्।

कुर्यात् तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात् । अत्रैवं वेदितव्यम्—तेषामेव पूर्वपुण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्तुं योग्योऽस्ति ।

किं च, ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम् ?

अत्र ब्रूमः—सर्वे जीवा स्वरूपतोऽनादयः । तेषां कर्माणि सर्वं कार्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति । एतेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते ।

भाषार्थ—प्र०—ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती ? उ०—न्यायकारी । प्र०—जब परमेश्वर न्यायकारी है, तो सब के हृदयों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया ? क्योंकि चारों के हृदय में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है ।

उ०—इससे ईश्वर में पक्षपात का लेश [भी] कदापि नहीं आता, किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्याय ही प्रकाशित होता है । क्योंकि 'न्याय' उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे, उसको वैसा ही फल दिया जाय । अब जानना चाहिये कि उन्हीं चार पुरुषों का ऐसा पूर्व पुण्य था कि उनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया ।

प्र०—वे चार पुरुष तो सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुये थे, उनका पूर्व पुण्य कहां से आया ?

उ०—सब जीव स्वरूप से अनादि हैं । जीवों के कर्म और स्थूल कार्य जगत् ये प्रवाह से अनादि हैं । इनके अनादित्व का प्रतिपादन प्रमाणपूर्वक आगे करेंगे ।[1]

किं गायत्र्यादिच्छन्दोरचनमपीश्वरेणैव कृतम् ?

इयं कुतः शङ्काभूत् ? किमीश्वरस्य गायत्र्यादिच्छन्दोरचनज्ञानं नास्ति ? अस्त्येव, तस्य सर्वविद्यावत्त्वात् । अतो निर्मूला सा शङ्कास्ति ।

चतुर्मुखेण ब्रह्मणा वेदा निरमायिषतेत्यैतिह्यम् ?

मैवं वाचयम् । ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात् । 'आप्तोपदेशः शब्दः' (न्यायशास्त्रे अ० १ [आ० १,] सू० ७) **इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात् । 'शब्द ऐतिह्यम्[2]' इत्यादि च । अस्यैवोपरि[3]—**'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्-करणमर्थस्याऽऽप्तिस्तया प्रवर्तत इत्याप्तः' **इति न्यायभाष्ये[4] वात्स्यायनोक्तेः । अतः सत्यस्यैवैतिह्य-त्वेन ग्रहणं नानृतस्य । यत् सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं नातो विपरीतमिति,**

---

१. वै० य० मुद्रित में भाषा इस प्रकार है—'जीव, जीवों के कर्म, और स्थूल कार्य जगत्, ये तीनों अनादि हैं । जीव और कारणजगत् स्वरूप से अनादि हैं, कर्म और स्थूल कार्यजगत् प्रवाह से अनादि हैं । इसकी व्याख्या प्रमाणपूर्वक आगे की जायेगी ।' यह पाठ कुछ अंश में संस्कृत से विपरीत है ।

२. द्र०—न्यायशास्त्र २।२।२।। तत्र **'शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावात्...'** इत्येवं पाठः । न्यायवार्त्तिके त्वित्थं पाठः—**'शब्द ऐतिह्यमन्तर्भवति समानलक्षणत्वात् । न शब्दलक्षणमैतिह्यान्निवर्तते'** (२।२।२) ।

३. अस्यैव 'आप्तोपदेशः शब्दः' इत्यस्यैवेत्यर्थः ।   ४. न्यायभाष्य १।१।७।।

अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात् । एवमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम् । नवीनपुराणग्रन्थानां त न्त्रग्रन्थानां च वैयर्थापत्तेश्चेति[1] ।

भावार्थ—प्र०- क्या गायत्र्यादि छन्दों का रचन ईश्वर ने ही किया है ?

उ०—यह शङ्का आपको कहां से हुई ? प्र०—मैं तुमसे पूछता हूं—क्या गायत्र्यादि छन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है ? उ०—ईश्वर को सब ज्ञान है। अच्छा तो ईश्वर के समस्त विद्यायुक्त होने से आपकी यह शङ्का भी निर्मूल है।

प्र०—चार मुख के ब्रह्माजी ने वेदों को रचा, ऐसे इतिहास को हम लोग सुनते हैं ।

उ० ऐसा मत कहो। क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है। (आप्तो०) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है, उसको 'शब्दप्रमाण' में गिनते हैं। ऐसा 'न्यायदर्शन' में गोतमाचार्य ने लिखा है। तथा शब्दप्रमाण से जो युक्त है, वही इतिहास मानने योग्य है, अन्य नहीं इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने 'आप्त' का लक्षण कहा है कि–"जो साक्षात् सब पदार्थ-विद्याओं का जानने वाला, कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है, कि जो सदा सत्यवादी, सत्यमानो और सत्यकारी है। जिसको पूर्ण विद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है, उसके कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के लिये सत्य उपदेश का करनेवाला है। और जो पृथिवी से लेके परमेश्वरपर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् साक्षात् करना और उसी के अनुसार वर्तना है, इसी का नाम 'आप्ति' है। इस आप्ति से जो युक्त [होकर व्यवहार में प्रवृत्त] हो, उसको 'आप्त' कहते हैं।" उसी के उपदेश का प्रमाण होता है, इससे विपरीत मनुष्य का नहीं, क्योंकि सत्य वृत्तान्त का ही नाम इतिहास है, अनृत का नहीं। सत्यप्रमाणयुक्त जो इतिहास है, वही सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य है, इससे विपरीत इतिहास[2] का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं। क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण ही नहीं होता। इसी प्रकार व्यास जी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिये। जो आजकल के बने ब्रह्मवैवर्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्र ग्रन्थ हैं, इनमें कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं। क्योंकि इनमें असम्भव और अप्रमाण कपोल-कल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं। और जो सत्य-ग्रन्थ शतपथब्राह्मणादि हैं उनके इतिहासों का कभी त्याग नहीं करना चाहिये।

यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतो न स्यात् ?

मैवं वादि । ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात् । 'यो वै ब्रह्माणं[3] विदधाति'

१. वैयर्थ्यापत्तेश्च तदुक्तानामितिहासादीनामपि मिथ्यात्वं ज्ञेयमिति शेषः। वैयर्थापत्तेः पदस्य साधुत्वमित्थं ज्ञेयम्—व्यर्थस्य भावो वैयर्थम्, यद्वा व्यर्थमेव वैयर्थम्, प्रज्ञादित्वाद् (५।४।३) अण्, तस्यापत्तिः, तस्याः ।

२. मिथ्या लेख इतिहास के अन्तर्गत नहीं आते, यह इस प्रकरण से स्पष्ट है। अतः ऐसे स्थानों पर पूर्वपक्षी के मतानुसार इतिहासाभासों के लिये इतिहास शब्द का व्यवहार किया, यह जानना चाहिए।

३. ग्रन्थकृता सत्यार्थप्रकाशे (समु० ७, पृष्ठ २९६, रालाकट्रसं०) अप्ययमेव पाठ उद्ध्रियते । उपनिषदि तु 'यो ब्रह्माणं' इत्येव दृश्यते ।

पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०' इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य[1] विद्यमानत्वात् । एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि[2] नासीत्, तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्त्तमानत्वात् । तद्यथा—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ १ ॥ अ० १ ।[3]

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ॥[२॥] अ० २ ।[4]

इति मनुसाक्ष्यत्वात् । अग्न्यादीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रे । अन्येषां व्यासादीनां तु का कथा ?

भाषार्थ—प्र०—जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं, उन्होंने ही वेद रचे हों, ऐसा क्यों नहीं माना जाय ?

उ०—ऐसा मत कहो, क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है । सो 'श्वेताश्वतर' आदि उपनिषदों में यह वचन है कि—'जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया,और ब्रह्मादि को सृष्टि के आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है, उसी परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं ।' इसी प्रकारऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है । क्योंकि जब मरीच्यादि[5] ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था, उस समय भी ब्रह्मादि के समीप वेद वर्तमान थे[6] । इसमें मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि—'पूर्वोक्त अग्नि वायु रवि और अङ्गिरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था ।' जब ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि[7] की तो कथा क्या ही कहनी है ?

कथं वेदः श्रुतिश्च द्वे नाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति ?

अर्थवशात् । विद ज्ञाने[8], विद सत्तायाम्,[9] विद्लृ लाभे[10], विद विचारणे[11] **एतेभ्यो 'हलश्च'[12] इति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घञ् प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते । तथा श्रु श्रवणे[13] इत्यस्माद्धातोः करणकारके 'क्तिन्'प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पद्यते । विदन्ति=जानन्ति, विद्यन्ते=भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते=लभन्ते, विन्दते=विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या**

---

१. श्वे० उ० ६।१८॥ २. मन्त्रसूक्तसंबद्धानामृषीणाम् इत्यर्थः ।

३. मनु० १।२३॥ ४. मनु० २।१५१॥

५. यहां 'मधुच्छन्दा आदि' ऐसा पाठ अधिक ठीक होगा । क्योंकि प्रश्न मन्त्र-सूक्तों के साथ सम्बद्ध मधुच्छन्दा आदि ऋषियों के विषय में ही है ।

६. वै० य० मुद्रित पाठ है—'वेदों का वर्तमान था' ।

७. वै० य० मुद्रित में 'व्यासादि और हम लोगों की' पाठ है ।

८. धातुपाठ २।५७॥ ९. धातुपाठ ४।६०॥ १०. धातुपाठ ६।१४१॥

११. धातुपाठ ७।१३॥ १२. अष्टा० ३।३।१२१॥ १३. धातुपाठ १।६७५॥

यैर्येषु वा तथा विद्वांश्च भवन्ति ते 'वेदाः'। तथाऽऽदिसृष्टिम्[1] आरभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा 'श्रुतिः'। न कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात् कदाचित् कोऽपि वेदानां रचनं दृष्टवान्। कुतः? निरवयवेश्वरात् तेषां प्रादुर्भावात्। अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम्, तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः। वेदेषु शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादर्भूताः, तस्य पूर्णविद्यावत्त्वात्। अतः किं सिद्धम्? अग्निवायुरव्यङ्गिरोमनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण[2] परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम्।

भाषार्थ—प्र० – वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं?

उ०– **अर्थभेद से।** क्योंकि एक 'विद' धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा 'विद' सत्तार्थ है, तीसरे 'विद्लृ' का लाभ अर्थ है, चौथे 'विद' का अर्थ विचार है। इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है। तथा 'श्रु' धातु श्रवण अर्थ में है। इससे करण कारक में 'क्तिन्' प्रत्यय के होने से 'श्रुति' शब्द सिद्ध होता है। 'जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़ के विद्वान होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है, और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक्संहितादि का 'वेद' नाम है।' वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त, और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं, इससे वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ा है।" क्योंकि किसी ने वेदों के बनाने वाले देहधारी को साक्षात् कभी नहीं देखा। इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं। और उनको सुनते सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं। तथा अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्तमात्र किया था, क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु इससे यह जानना कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे सब ईश्वर से ही प्रकट हैं क्योंकि वह पूर्णविद्यावाला है[3]।

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि?

अत्रोच्यते—एको वृन्दः, षण्णवतिः कोटयो,ऽष्टौ लक्षाणि, द्विपञ्चाशत्सहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्चैतावन्ति १९६०८५२९७६ वर्षाणि व्यतीतानि। सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तत[4] इति वेदितव्यम्। एतावन्त्येव वर्षाणि वर्त्तमानकल्पसृष्टेश्चेति।

१. सृष्टेरादिः—आदिसृष्टिः तस्याऽमित्यर्थः। अत्र **धर्मादिषूभयम्** (२।२।३१) इति गणसूत्रेण धर्मादीनामाकृतिगणत्वाद् आदिपदस्य पूर्वनिपातो द्रष्टव्यः। यथा **आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च** (३।४।७१) इति पाणिनीयसूत्रे 'कर्मण आदौ' इत्यर्थे 'आदिकर्मणि' पदं प्रयुज्यते। 'सृष्ट्यादौ' पदमपि ग्रन्थकारः प्रयुङ्क्ते। यथा—'एवं सृष्ट्यादावीश्वरोपदेशाऽध्यापनाभ्यां विना...' (वेदनित्यत्वप्रकरणे)।

२. द्र०—पूर्वत्र (पृष्ठ १९, टि० ३) सायणवचनम्।

३. वै० य० मुद्रित में 'ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं' ऐसा पाठ है।

४. १९३३ तमे वैक्रमाब्दे। अस्यां गणनायां प्रतिमन्वन्तरं भवाः सप्त सन्धयो न परिगणिताः। तेनात्र कृतयुगपरिमितानां (१७२८००० × ७ =) सप्तसन्धीनां १२०९६००० वर्षाणां योगे कृते शुद्धा १९७२९४८९७६

कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति ?

अत्राह—अस्यां वर्त्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्त्तमानत्वाद-स्मात् पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति । तद्यथा—स्वायम्भवः स्वारोचिष औत्तमिस्तामसो रैवतश्चाक्षुषो वैवस्वतश्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्त च, एते मिलित्वा १४ चतुर्दशैव भवन्ति । तत्रैकसप्ततिश्चतुर्युगानि[1] ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति । ते चैक-स्मिन् ब्राह्मदिने १४ चतुर्दश भुक्तभोगा भवन्ति । एकसहस्रं १००० चतुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति । ब्राह्म्या रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम् । सृष्टेर्वर्त्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति, प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति । अस्मिन् ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः, सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्त्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोऽयं कलिर्वर्त्तते । तत्रास्य वर्त्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति ४९७६ चत्वारि सहस्राणि नवशतानि षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि । सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते, यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशतमोत्तरं (१९३३) संवत्सरं वदन्ति । अत्र विषये प्रमाणम्—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ १ ॥
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु[2] कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ २ ॥
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ३ ॥
यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ४ ॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव[3] च ॥ ५ ॥

वर्षगणनोपपद्यते । तदभावेऽत्र उच्यमाना १००० परिमिता चतुर्युगसंख्या नोपपद्यते । विशेषो भाषाभागे टिप्पण्यां द्रष्टव्यः ।

१. इहोत्तरपङ्क्तौ च 'चातुर्युगानि' इति पाठ उपलभ्यते । तत्रेहत्यस्य चातुर्युगानीत्यस्य प्रथमसंस्करणान्ते मुद्रिते शोधपत्रे 'चतुर्युगानि' इत्येवं पाठः शोधितः । तदनुसारमेव चोत्तरपङ्क्तेः पाठोऽपि शोधनीयः । वै० य० मुद्रितेषु सर्वेष्वेव संस्करणेष्वयमपपाठ उपलभ्यते । यद्यस्य 'चातुर्युगानि' पदस्य साधुत्वमिष्यते चेत् प्रज्ञादित्वात् (५।४।३८) स्वार्थेऽण् कल्पनीयः ।

२. मनुस्मृतौ 'तत् कृतं' पाठ उपलभ्यते

३. मनुस्मृतौ 'तावतीं रात्रिमेव च' पाठ उपलभ्यते ।

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ६ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सृष्टिः[1] संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८ ॥ मनु० अध्याये १।[2]

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञाः क्रियन्ते । यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत् । मन्वन्तरपर्य्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिक-गुणानामपि पर्य्यावर्त्तनं किंचित् किंचिद्भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते । अत्रैवं संख्यातव्यम्—

एकं दश शतं चैव सहस्रमयुतं तथा ।
लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥ १ ॥

वृन्दः खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मं च सागरः ।
अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम् ॥ २ ॥[3]

इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते । अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्येति । 'सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि' (य० अ० १५ । मं० ६५) । 'सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि' (श० कां० ७ । अ० ५)[4] । **सर्वस्य जगतः सहस्रमिति[5] नामास्ति, कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्य कर्त्ता परमेश्वरोऽस्ति । मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वात्[6] सर्वमभिवदतीति । एवमेवाग्रेऽपि योजनीयम् । ज्योतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभिहिता-**

१. मनुस्मृतौ 'सर्गः' पाठ उपलभ्यते ।

२. मनु० १।६८-७३, ७९, ८० ॥

३. अत्र निर्दिष्टे श्लोके शब्दकल्पद्रुमकोशे वाचस्पत्याभिधाने च 'संख्या' शब्दे ब्रह्माण्डपुराणनाम्नोद्धृते उपलभ्येते । तत्र द्वितीयस्य द्वितीये पादे **'शङ्खपद्मौ च'** इत्येवं पाठो दृश्यते ।

४. शत० ७।५।२।१३॥

५. वै० य० मुद्रिते 'सर्वमिति अपपाठः । प्रकरणानुसारमिह 'सहस्रमिति' पाठो युक्तः । भाषाऽनुवादेऽपि **'सब संसार की सहस्र संज्ञा है'** पाठः **'सहस्रमिति'** पाठस्यैवोपपद्यते । उत्तरत्र सृष्टिविद्याविषये **'हिरण्यगर्भः'** इत्यस्य मन्त्रस्य व्याख्याने शातपथीयं 'सर्वं वै सहस्र०' इत्यादि प्रमाणमुपन्यस्य स्पष्टं व्याख्यायते—**सर्वमिदं जगत् सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम्** । जगतः 'सहस्र' नाम तस्य सहस्रदेवचतुर्युगैः परिमितत्वाज्ज्ञेयम् । उत्तरपङ्क्त्याऽप्ययमर्थो व्यज्यते ।

६. अयमेवार्थो ग्रन्थकारेण वेदविषयविचारनाम्नि प्रकरणे **'तत्प्रकृतीतरद्'** इत्यादि-निरुक्तोद्धरण-व्याख्याने **'सामान्यवृत्तौ वर्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति'** इत्येवं प्रतिपाद्यते । अस्यायं भावः—**वैदिकशब्दा यौगिकत्वाद्** धात्वर्थवृत्त्या सामान्यभूतमर्थं प्रतिपादयन्तो महार्थाः (बह्वर्थाः) सन्ति । तेन यथाप्रकरणं यथाबुद्धि

ऽर्य्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतम्। अद्यपर्यन्तमपि क्रियते, प्रतिदिनमुच्चार्य्यते, ज्ञायते च। अतः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकर्त्तुं योग्यास्ति, नान्येति निश्चयः। कुतो ह्यार्यैर्नित्यम्—'ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रह[रेऽप]रार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते च'[1] इत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वाद्, इतिहासस्यास्य सर्वत्रार्य्यावर्त्तदेशे वर्त्तमानत्वात्, सर्वत्रैकरसत्वात् अशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम्। अन्यद्युगव्याख्यानमग्रे करिष्यते[2], तत्र द्रष्टव्यम्।

भाषार्थ—प्र०—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं?

उ०—एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नवसौ छहत्तर अर्थात् (१९६०८५२९७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं। और यह संवत् ७७ सतहत्तरवां वर्त रहा है।

प्र०— यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पति में बीत गये हैं?

उ०—यह जो वर्तमान सृष्टि है, इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्तमान है, इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं। स्वायम्भव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६, ये छः तो बीत गये हैं, और ७ सातवां वैवस्वत वर्त्त रहा है। और सावर्णि आदि ७ सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ चौदह मन्वन्तर होते हैं। और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम 'मन्वन्तर' धरा गया है। [ऐसे १४ मन्वन्तर एक ब्राह्मदिन में होते हैं, और इतना ही परिमाण ब्राह्मी रात्रि का भी होता है।] सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख, अट्ठाईस हजार वर्षों का नाम 'सतयुग' रखा है। (१२९६०००) बारह लाख, छानवे हजार वर्षों का नाम 'त्रेता'। (८६४०००) आठ लाख, चौंसठ हजार वर्षों का नाम 'द्वापर' और (४३२०००) चार लाख बत्तीस हजार वर्षों का नाम 'कलियुग' रक्खा है। तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है। और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं, जिनका 'चतुर्युगी' नाम है। एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है। और ऐसे-ऐसे छः मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब चौरासी करोड़ तीन लाख बीस हजार वर्ष [व्यतीत] हुए। और सातवें मन्वतन्र के

च विभिन्नान् बहून् अर्थान् ब्रुवन्ति। तदुक्तं भगवता निरुक्तव्याख्यात्रा दुर्गेण—"अनुपक्षीयमाणशक्तयो हि वेदशब्दाः, यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखान् अनेकार्थान् ब्रुवन्ति" (नि० टी० १।२) इति। पुनश्चोक्तम्—"त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। नहि एतेषु अर्थस्यैयत्तावधारणमस्ति, महार्थाश्चैते दुष्परिज्ञानाश्च।......तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्—आधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः, नात्रापराधोऽस्ति" (नि० टी० २।८) इति।

१. प्रतिदिनमार्यावर्ते ब्राह्मणैः सन्ध्यादिकर्मसु पठ्यमानः संकल्प इह संक्षेपेणोदाहृतः।

२. अस्मिन् ग्रन्थेऽग्रे न क्वचिद् युगव्याख्यनमुपलभ्यते। अस्याः पङ्क्त्या भाषार्थेऽप्येवमेवोच्यते।

भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हजार नवसौ छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है, और बाकी (४२७०२४) चार लाख सत्ताईस हजार चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिये कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़ पांच लाख बत्तीस हजार नवसौ छहत्तर वर्ष तो वैवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं। और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़ एकसठ लाख सत्तासी हजार चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवां है, जिसको आर्य लोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तेतीसवां संवत् कहते हैं।

जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये है, उन एक हजार चतुर्युगियों की 'ब्राह्मदिन' संज्ञा रक्खी है, और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जाननी चाहिये। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हजार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इसको बना रखता है, इसी का नाम 'ब्राह्मदिन' रक्खा है। और हजार चतुर्युगी-पर्यन्त सृष्टि को मिटाके प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है, उसका नाम 'ब्राह्मरात्रि रक्खा है। अर्थात् सृष्टि के वर्तमान होने का नाम 'दिन' और प्रलय होने का नाम 'रात्रि' है। यह जो वर्तमान ब्राह्मदिन है, इसके (१९६०८५२९७६) एक अर्ब छानवे करोड़ आठ लाख बावन हजार नवसौ छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं।¹ और (२३३३२२७०२४) दो अर्ब तेतीस करोड़ बत्तीस लाख सत्ताईस हजार चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं¹। इनमें से अन्त का यह चौबीसवां वर्ष भोग रहा है। आगे आने वाले भोग के वर्षों में से एक-एक घटाते जाना, और गत वर्षों में क्रम से एक एक वर्ष मिलाते जाना चाहिये, जैसे आज-पर्यन्त घटाते-बढ़ाते आए हैं।

---

१. यहां वि० सं० १९३३ तक इस कल्प के भुक्त वर्षों की, और भोगे जाने वाले अगले वर्षों की जो संख्या लिखी हैं, उसमें एक भूल हो गई है। इस कारण भुक्त और भोग्य कालों की गणना अशुद्ध हो गई है। उस भूल का संशोधन इस प्रकार जानना चाहिए—

गणना करने वाले ने भुक्त और भोग्य मन्वन्तरों की वर्ष संख्याओं का ही योग किया है। इस गणना में भुक्त काल में सात सन्धियों और भोग्य वर्ष संख्या में ८ सन्धियों का काल जोड़ना रह गया है। ग्रन्थकार के मतानुसार ब्राह्मदिन में १००० सहस्र चतुर्युग होते हैं, यह स्पष्ट है। परन्तु एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युग होते हैं, ऐसे १४ मन्वन्तरों में (७१×१४=९९४) कुल ९९४ चतुर्युग ही होते हैं। यहां प्रत्यक्ष ६ चतुर्युगों की न्यूनता है। यह ६ चतुर्युग परिमित काल सूर्यसिद्धान्त आदि आर्षग्रन्थों के अनुसार एक कल्प की १५ सन्धियों का है। एक मन्वन्तर सन्धि का काल कृतयुग के (१७२८०००) वर्षों के बराबर होता है। इस (१७२८०००) सन्धिकाल में १५ का गुणा करने पर (२५९२००००) वर्ष सन्धिकाल के होते हैं। यह काल ६ चतुर्युग (एक चतुर्युग=४३२००००×६=२५९२००००) के बराबर होता हैं। इस प्रकार ७१ चतुर्युग परिमाण के १४ मन्वन्तरों की ९९४ चतुर्युग संख्या में १५ सन्धियों के ६ चतुर्युग काल को जोड़ने से १००० चतुर्युग संख्या ब्राह्मदिन की उपपन्न हो जाती है।

इस प्रकार उपरिनिर्दिष्ट व्यतीत १९६०८५२९७५ वर्षसंख्या में विगत सात सन्धियों के (एक सन्धिकाल १७२८०००×७=) १२०९६००० वर्ष जोड़ने से विगत वेदोत्पत्ति वा विगत सृष्टि का शुद्ध काल (१९६०८५२९७६+१२०९६०००=) १९७२९४८९७६ उपपन्न हो जाता है। इसी प्रकार भोग्य काल

'ब्राह्मदिन' और 'ब्राह्मरात्रि' अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्तमान और प्रलय की संज्ञा की है। इसीलिये इसका नाम ब्राह्मदिन है। इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्षी के लिये लिख चुके हैं सो देख लेना। इन श्लोकों में दैव वर्षों की गणना की है, अर्थात् चारों युगों के बारह हजार (१२०००) वर्षों की 'दैवयुग संज्ञा की है। इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में, कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती, अनेक बार सृष्टि हो चुकी है, अनेक बार होगी। सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता पालन और प्रलय करता है, और सदा ऐसे ही करेगा।

क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति वर्तमान प्रलय और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्य लोग सुख से गिन ले, इसीलिये यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बांधी है। और मन्वन्तर के परिवर्तन में सृष्टि के

कीं २३३३२२७०२४ वर्षसंख्या में भोग्य ८ सन्धियों की (१७२८०००×८=) १३८२४००० वर्ष संख्या जोड़ने ने शुद्ध भोग्य काल की (२३३३२२७०२४+१३८२४०००=) २३४७०५१०२४ वर्ष संख्या उपलब्ध होती है। इस प्रकार शुद्ध भुक्तकाल १९७२९४८९७६ में शुद्ध भोग्यकाल २३४७०५१०२४ जोड़ने से कल्प अथवा ब्राह्मदिन का ४३२०००००० शुद्ध काल बन जाता है। अन्यथा १५ सन्धियों का काल न जोड़ने पर न तो १००० चतुर्युगों की संख्या पूरी होती है और न कल्प अथवा ब्राह्मदिन की वर्षसंख्या उपपन्न होती है। इसलिए ग्रन्थकार निर्दिष्ट कालगणना में उभयत्र (भुक्त और भोग्य काल में) भुक्त ७ और भोग्य ८ सन्धियों के काल की गणना छूट गई है, यह निर्विवाद है। इस ग्रन्थ में जो सृष्टिकाल लिखा है, वही ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश समु० ८ तथा 'मेला चान्दपुर' में भी लिखा है। वहां भी इस भूल का कारण यही है कि ग्रन्थकार ने इन दोनों ग्रन्थों से पूर्व यह ग्रन्थ लिखा था। अतः उनमें इसी के अनुसार काल का निर्देश किया गया।

अनेक व्यक्ति ग्रन्थकार-निर्दिष्ट कालगणना की उपपत्ति के लिये सन्धिकाल को कल्प आद्यन्त में जोड़ने का आग्रह करते हैं, और कहते हैं कि ग्रन्थकार ने अवान्तर-प्रलय का निर्देश नहीं किया है। यह आग्रह भी शास्त्र-विरुद्ध है। ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश समु० ८ में 'जब महाप्रलय होता है, उसके पश्चात् आकाशादि क्रम अर्थात् जब आकाश वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है, अग्न्यादि क्रम······अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहां-जहां तक प्रलय होता है·········' इत्यादि लेख में महाप्रलय से अन्यत्र भी प्रलय का होना स्वीकार किया है। यह लेख मन्वन्तरों के मध्य कही गई शास्त्रीय अवान्तर प्रलय का ही बोधक है। यही बात ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के इसी प्रकरण में भी मनुस्मृति के श्लोकों के उद्धरण के पश्चात् **'मन्वन्तरपर्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तकगुणानामपि पर्यावर्त्तनं किञ्चित् किञ्चित् भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते'** लेख से भी सूचित किया है।

कई लोग वेदोत्पत्ति काल में और सृष्टिकाल में भेद करके दोनों के भिन्न कालों की उपपत्ति करते हैं। वह ठीक नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकार ने संस्कृत और भाषानुवाद दोनों में वेदोत्पत्तिकाल के बराबर ही सृष्टिकाल बीता है, ऐसा स्पष्ट कहा है। अतः दोनों की कालगणना में भेद मान कर ग्रन्थकार के भुक्त और भोग्यकाल की गणना को सिद्ध करना न केवल अनुचित ही है, अपितु ग्रन्थकार के लेख के विपरीत भी है। इत्यलमति-विस्तरेण।

नैमित्तिक गुणों का भी कुछ कुछ परिवर्तन होता है[1], इसीलिये 'मन्वन्तर' संज्ञा बांधी है। वर्तमान सृष्टि की 'कल्प' संज्ञा और प्रलय की 'विकल्प' संज्ञा की है।

और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करनी चाहिये कि (एकं दश शतं चैव०) एक (१), दश (१०), शत (१००), हजार (१०००), दश हजार (१००००), लाख (१०००००), नियुत (१००००००), करोड़ (१०००००००), अर्बुद (१००००००००), वृन्द (१०००००००००), खर्व (१००००००००००), निखर्व (१०००००००००००), शंख (१००००००००००००), पद्म (१०००००००००००००), सागर (१००००००००००००००) अन्त्य (१०००००००००००००००), मध्य (१००००००००००००००००), और परार्द्ध्य (१०००००००००००००००००), और दश दश गुणा बढ़ाकर इसी गणित से सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिषग्रन्थों में गिनती की है।‡

(सहस्रस्य प्र०) सब संसार की 'सहस्र' संज्ञा है, तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी 'सहस्र' संज्ञा की जाती है। क्योंकि यह मन्त्र सामान्य अर्थ में वर्त्तमान है। सो हे परमेश्वर! आप हजार चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करने वाले हो।

इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्य लोगों ने गिनी है। सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आजपर्यन्त दिन दिन गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणितविद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं। अर्थात् परम्परा से सुनते-सुनाते, लिखते-लिखाते और पढ़ते-पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं। यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है, और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है। क्योंकि आर्य लोग नित्यप्रति—'ओं तत् सत्' परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आजपर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए हैं। और बहीखाते की नाईं लिखते-लिखाते पढ़ते-पढ़ाते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन आया है। और जितने वर्ष वैवस्वव मनु के भोग होने को बाकी हैं, उतने ही मध्याह्न में बाकी रहे हैं। इसीलिये यह लेख है—(**श्रीब्रह्मणो द्वितीये प्रह[रेऽप]रार्द्धे०)**

यह वैवस्वत मनु का वर्त्तमान है। इसके भोग में यह (२८) अट्ठाईसवां कलियुग है। कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है। तथा वर्ष, ऋतु, अयन, मास, पक्ष, दिन, नक्षत्र, मुहूर्त, लग्न और पल आदि समय में हमने फलाना काम किया था और करते हैं। अर्थात् **जैसे विक्रम् के संवत् १९३३ फाल्गुण मास, कृष्णपक्ष षष्ठी, शनिवार के दिन चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह[2] बात हमने लिखी है।** इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्य लोग बालक से वृद्धपर्यन्त करते और जानते चले आये हैं। जैसे बहीखाते में मिति डालते हैं, वैसे ही महीना और वर्ष बढ़ाते घटाते

---

१. वै० य० मुद्रित पाठ इस प्रकार है—'और सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रतिमन्वन्तर में बदलता जाता है'। यह पाठ संस्कृत का पूरा अभिप्राय व्यक्त नहीं करता।

‡ कहीं कहीं इसी संख्या को १९ उन्नीस अङ्क पर्यन्त गिनते हैं। सो यहां भी जान लेना। द० स०

२. अर्थात् वेदोत्पत्ति की कालगणना।

चले जाते हैं ।इसी प्रकार आर्य्य लोग तिथिपत्र[1] में भी वर्ष,मास और दिन आदि लिखते चले आते हैं । और यही इतिहास आजपर्यन्त सब आर्यावर्त्त देश में एकसा वर्तमान हो रहा है[2], और सब पुस्तकों[3] में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है । किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है । इसीलिये इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता । क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके बराबर मितिवार लिखते न आते, तो इस गिनती का हिसाब ठीक ठीक आर्य्य लोगों को भी जानना कठिन होता, अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है ? और इससे यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज-पर्यन्त आर्य लोग ही बड़े बड़े विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं ।

जब जैन और मुसलमान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे, तब आर्य्य लोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया । और जो पुस्तक ज्योति-शास्त्र के बच गये हैं, उनमें और उनके अनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं, इनमें भी मिति से मिति बराबर लिखी चली आती है । इनको अन्यथा कोई नहीं कर सकता ।

यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिये [लिखा] है कि पूर्वापर काल का प्रमाण यथावत् सबको विदित रहे । और सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो । सो यह बड़ा उत्तम काम है । इसको सब लोग यथावत् जान लेवें । परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिये बिगाड़ रखा है, यह शोक की की बात है । और टके के लोभ ने भी जो इसके पुस्तक-व्यवहार को बना रखा, नष्ट न होने दिया, यह बड़े हर्ष की बात है । जो चारों युगों के चार भेद और उनके वर्षों की घट-बढ़ संख्या क्यों हुई है, इसकी व्याख्या आगे करेंगे, वहां देख लेना चाहिये । यहां इसका प्रसंग नहीं है, इसलिये नहीं लिखा ।

एतावता कथनेनैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलराद्यभिधैर्यूरोपाख्यखण्डस्थैर्मनुष्यरचितो वेदोऽस्ति, श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं, यच्चोक्तम्—चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति, तत्सर्वं भ्रममूलमस्तीति वेद्यम् । तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यान-कारिभिरप्येवमुक्तं, तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च ।

—: इति वेदोत्पत्तिविचार :—

भाषार्थ—इससे जो अध्यापक विलसन साहेब और अध्यापक मोक्षमूलर साहेब आदि यूरोप-खण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि—'वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है,' उनकी यह बात ठीक नहीं है । और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई (२९००) उनतीस सौ वर्ष, कोई (३०००) तीन हजार वर्ष, और कोई कहता है (३१००)

१. अर्थात् पञ्चाङ्ग ।

२. अर्थात् सर्वत्र देश में एकसा ही यह इतिहासरूप संकल्प का पाठ पढ़ा जाता है ।

३. समस्त पञ्चाङ्गरूपी पुस्तकों में भी यही कालगणना (जो हमने शुद्ध करके लिखी है) लिखी जाती है ।

एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं। उनकी यह भी बात झूठी है। [इसी प्रकार] 'जिन जिन ने अपनी अपनी देशभाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है, उन उन का भी व्याख्यान मिथ्या है'[1]। क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्पपठन विद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है। नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उन को नहीं होता। इससे यह जानना अवश्य चाहिये कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है। और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं, उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जैसा प्रथम लिख आये हैं, जब पर्यन्त हजार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी, तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत्, और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्त्तमान रहेंगे।[2]

इति वेदोत्पत्तिविचारः

---

१. 'जिन जिन···मिथ्या है' यह पंक्ति वै० य० मुद्रित में आगे 'इससे क्या सिद्ध हुआ कि' पाठ के पश्चात् अस्थान पर छपी है।

२. इस भाषा के लेख से यह भ्रान्ति होती है कि ग्रन्थकार प्रतिमन्वन्तर अवान्तर प्रलय नहीं मानते। परन्तु यह ध्यान रहे कि यह लेख संस्कृत भाषा में नहीं है।

रहा अवान्तर-प्रलय का प्रश्न। इस विषय में ग्रन्थकार का मत स्पष्ट है। वे महाप्रलय और अवान्तर प्रलय दोनों मानते हैं। इसके लिए सत्यार्थप्रकाश का निम्न सन्दर्भ देखना चाहिए—

"जब महाप्रलय होता है उसके पश्चात् आकाशादि क्रम, अर्थात् जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है [तब] अग्न्यादि क्रम से, और जब विद्युत् अग्नि का भी नाश नहीं होता, तब जलक्रम से सृष्टि होती है, अर्थात् जिस जिस प्रलय में जहां जहां तक प्रलय होता है, वहां वहां से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।" सत्यार्थप्रकाश समु० ८, पृष्ठ ३२४ रामलाल क० ट्र० सं०।

यहां स्पष्ट ही महाप्रलय और खण्डप्रलय का वर्णन ग्रन्थकार ने किया है। 'जहां जहां तक प्रलय होता है, वहां वहां से सृष्टि उत्पत्ति होती है' वाक्य अवान्तरप्रलय वा खण्डप्रलय का ही बोधक है। महाप्रलय में तो सम्पूर्ण स्थूल जगत् का लय हो जाता है। प्रकृति साम्यावस्था तक पहुंच जाती है। महाप्रलय और अवान्तरप्रलय में वेदोत्पत्ति की प्रकिया में शास्त्रकारों ने भेद माना है। महाप्रलय के पीछे ऋषियों के हृदय में परमेश्वर द्वारा वेद प्रेरित होते हैं, और अवान्तरप्रलय के पश्चात् सुप्तप्रबुद्ध न्याय से वेदों का प्रकाश होता है। अर्थात् मनुष्य जिस ज्ञान से युक्त रात्रि में सोता है, वह ज्ञान उसे दूसरे दिन प्रातः उठने पर भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार मन्वन्तर के अन्त में जिनको वेदों का ज्ञान था, वह ज्ञान उन्हें अगले मन्वन्तर के आरम्भ में स्वतः प्राप्त होता है। महाप्रलय की स्थिति पुनर्जन्म के सदृश होती है। जैसे पुनर्जन्म में माता पिता आदि से पुनः ज्ञान ग्रहण करना पड़ता है, वैसे ही महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि के आरम्भ में नए रूप में परमेश्वर से ज्ञान-प्राप्ति की अपेक्षा होती है

अथ वेदानां नित्यत्वविचारः

ईश्वरस्य सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव[1] भवति, तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात् ।

भाषार्थ—अब वेदों के नित्यत्व का विचार किया जाता है। सो वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं। क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है।

अत्र केचिदाहुः—न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्, घटवत्। यथा घटः कृतोऽस्ति तथा शब्दोऽपि। तस्माच्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वं स्वीकार्यम्।

मैवं मन्यताम्। शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः[2] सन्ति, ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते, ते तु कार्याश्च[3]। कुतः? यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः, तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति। तद्विद्यामयत्वाद् वेदानामनित्यत्व नैव घटते।

भाषार्थ—प्र०—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में शब्द छन्द पद और वाक्यों के योग होने से वे नित्य नहीं हो सकते। जैसे विना बनाने से घड़ा नहीं बनता, इसी प्रकार से [शब्दरूप] वेदों को भी किसी ने बनाया होगा। क्योंकि बनाने के पहले नहीं थे, और प्रलय[4] में भी न रहेंगे। इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है।

उ०—ऐसा आपको कहना उचित नहीं। क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है—एक नित्य और दूसरा कार्य। इनमें से जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं, वे सब नित्य ही होते हैं। और जो हम लोगों की कल्पना[5] से उत्पन्न होते हैं, वे कार्य होते हैं। क्योंकि जिसका ज्ञान

---

१. इह 'एव' पदमुत्तरान्वयी द्रष्टव्यम्—'नित्यत्वं भवत्येव।

२. शब्दः, तदर्थः, शब्दार्थयोः सम्बन्धश्चेत्यभिप्रायः।

३. चान्नित्याश्च। अयं भावः—अस्मद्व्यवहारे ये वैदिकाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते ते नित्याः, ये चास्माभिर्यदृच्छादिरूपेण निर्मिता अर्थविशेषेषु परिभाषिताः टि-घु-घादयः संज्ञाशब्दास्तेऽनित्याः। शब्दनित्यानित्यत्वविषये ग्रन्थकारस्येदं दर्शनमपूर्वमस्ति। अनेन नित्यानित्यवादिनां विविधमतानां समन्वयोऽञ्जसा जायते।

४. वै० य० मुद्रित 'प्रलय के अन्त में' पाठ अशुद्ध है।

५. कल्पना से अर्थात् यदृच्छा द्वारा। इससे स्पष्ट है कि संस्कृतभाषा में जो वैदिक शब्द उसी रूप से प्रयुक्त होते हैं, वे ग्रन्थकार के मत में नित्य हैं, और अन्य अनित्य।

और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है, उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है। इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होने से नित्य ही हैं। क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती।

किं च भोः ! सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्[1] कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते ?

अत्रोच्यते—इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते, तथास्मत्क्रियापक्षे[2] च, नेतरस्मिन् । अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं वयं मन्यामहे। किं च, न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते। तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात्। यथास्मिन् कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसंबन्धाः सन्ति, तथैव पूर्वमासन्नग्रे भविष्यन्ति च। कुतः ? ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च। अत एवेदमुक्तमृग्वेदे—

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'[3] इति।

अस्यायमर्थः—सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थम्। यथा पूर्वकल्पे सूर्यचन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत्, तथैव तेनास्मिन् कल्पेऽपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते। कुतः ? ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात्। एवं वेदेष्वपि स्वीकार्यम्, वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात्।

भाषार्थ—प्र०—जब सब जगत् के परमाणु अलग अलग होके कारणरूप हो जाते हैं, तब जो कार्यरूप सब स्थूल जगत् है उसका अभाव हो जाता है। उस समय वेदों के पुस्तकों का [और पठन-पठन का] भी अभाव हो जाता है। फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो ?

उ०—यह बात पुस्तक पत्र मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है, तथा हम लोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है, वेदपक्ष में नहीं घटती। क्योंकि वेद तो शब्द अर्थ और सम्बन्धस्वरूप ही हैं, मसी कागज पत्र पुस्तक और अक्षरों की बनावटरूप नहीं हैं। यह जो मसी आदि द्रव्य और लेखनादि क्रिया है, सो मनुष्यों की बनाई है, इससे यह अनित्य है। और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि पढ़ना-पढ़ाना और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते। क्योंकि वे बीजांकुर न्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्त्तमान रहते हैं। सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है, और प्रलय में जगत् के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है। इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं। [इसीलिये ऋग्वेद में कहा है– 'परमेश्वर ने सूर्य-चन्द्र को पूर्व कल्प के समान ही बनाया है। यहां सूर्य-चन्द्र ग्रहण उपलक्षणार्थ है। इसलिये] जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं, इसी प्रकार से पूर्वकल्प में थे और आगे भी होंगे। क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है, सो नित्य एक ही रस बनी रहती है। उनके एक अक्षर का भी विपरीतभाव कभी नहीं होता। सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इनमें

१. 'पठनपाठनं पुस्तकानि च तेषामभावात्' इत्येवं विग्रहो द्रष्टव्यः।

२. क्रियापक्षेऽर्थात् पठनपाठनरूपे लेखनरूपे च। ३. ऋ० १०।१९०।३॥

शब्द अर्थ सम्बन्ध पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्त्तमान है, इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है। क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है। उसकी वृद्धि क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती। इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये।

अत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते। तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलिमुनिः—

'नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषु'[1] कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति।' **इदं वचनं प्रथमाह्निकमारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येऽस्ति। तथा—**

'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।' **इदम् 'अइउण्'[2] सूत्रभाष्ये चोक्तमिति।**

अस्यायमर्थः[3]—वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति। कुतः? शब्दानां मध्ये कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजना अविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः। अपायो लोपो निवृत्तिरग्रहणम्, उपजन आगमः, विकार आदेशः, एते न विद्यन्ते येष शब्देषु तस्मान्नित्याः शब्दाः।

भाषार्थ—यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है, इसमें व्याकरणादि-शास्त्रों का प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं। इनमें से जो व्याकरणशास्त्र है, सो संस्कृत और भाषाओं के सब[4] शब्दविद्या का मुख्य मूल प्रमाण है। उसके बनाने वाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं। उनका ऐसा मत है कि—'सब शब्द नित्य हैं। क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं, वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं, और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं, उनका अभाव (=लोप) वा आगम कभी नहीं होता'।[5] इससे वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द, और वेदों से जो शब्द लोक में आये हैं वे लौकिक कहाते हैं, वे भी सब नित्य ही होते हैं। क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं। तथा इनमें लोप आगम और विकार नहीं बन सकते। इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य हैं।

ननु[6] गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपायादयो विधीयन्ते, पुनरेतत् कथं संगच्छते? इत्येवं प्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः—

---

१. महाभाष्ये **'नित्याश्च शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु'** इत्येवं पाठ उपलभ्यते। द्र०-पस्पशाह्निकेऽन्यत्र च।

२. अक्षरसमाम्नायसूत्र १।

३. अत्र 'अस्य' पदेन प्रथममुद्धरणं निर्दिश्यते। उत्तरस्योद्धरणवचनस्य त्वर्थोऽग्रे वक्ष्यते।

४. यहां **'सब भाषाओं की शब्दविद्या का'** ऐसा पाठ अधिक युक्त है।

५. यहां से आगे वै० य० मुद्रित में 'तथा कान से...शब्द कहते हैं' पाठ है। यह संस्कृत पाठानुसार आगे होना चाहिये। अतः हमने इसे आगे यथास्थान जोड़ दिया है।

६. इदं प्रकरणं पूर्वोद्धरणव्याख्यानेन सम्बद्धमिति कृत्वा पूर्वमुपन्यस्य द्वितीयोद्धरणस्य व्याख्यानमग्रे करिष्यति ग्रन्थकारः।

'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते' ॥ १ ॥

[इदं] 'दाधा घ्वदाप्'[1] इत्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम् ।

अस्यायमर्थः—सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थान आदेशा भवन्ति । अर्थाच्छब्दसंघातान्तराणां स्थानेष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते । तद्यथा—'वेदपार, गम्, ड, सुँ, भू, शप्, तिप्' इत्येतस्य वाक्यसमुदायस्य स्थाने 'वेदपारगोऽभवत्' इतीदं समुदायान्तरं प्रयुज्यते । अस्मिन् प्रयुक्तसमुदाये 'गम् ड सुँ, शप् तिप्, इत्येतेषाम् 'अम् ड् उँ, श् प् इ प्' इत्येतेऽपयन्तीति केषांचद् बुद्धिर्भवति, सा भ्रममूलैवास्ति । कुतः ? शब्दानाम् 'एकदेशविकारे च' इत्युपलक्षणात् । नैव शब्दस्यैकदेशापाय एकदेशोपजन एकदेशविकारे[2] सति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेराचार्यस्य मते शब्दानां नित्यत्वमुपपन्नं भवत्यतः । तथैवाडागमे[3], भू इत्यस्य स्थाने भो इति विकारे चैवं संगतिः कार्येति ।

(श्रोत्रोपलब्धिरिति) श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य, बुद्ध्या नितरां ग्रहीतुं योग्य उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यो यस्याकाशो देशोऽधिकरणं वर्त्तते, सः 'शब्दो' भवतीति बोध्यम् । अनेन शब्दलक्षणेनापि शब्दो नित्य एवास्तीत्यवगम्यते । कथम् ? उच्चारणश्रवणादिप्रयत्नक्रियायाः क्षणप्रध्वंसित्वात् । 'एकैकवर्णवर्तिनी वाक्' इति महाभाष्यप्रामाण्यात्[4] । प्रतिवर्णं [च] वाक्क्रिया [वि]परिणमते, अतस्तस्या एवानित्यत्वं गम्यते, न च शब्दस्येति ।

भाषार्थ—प्र०—गणपाठ, अष्टाध्यायी और महाभाष्य में अक्षरों के लोप आगम और विकार आदि कहे हैं, फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि देते हैं कि—शब्दों के समुदायों के स्थानों में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोगमात्र होता है । जैसे 'वेदपार गम् ड सुँ, भू शप् तिप्' इस पदसमुदाय वाक्य के स्थान में 'वेदपारगोऽभवत्' इस समुदायान्तर का प्रयोग किया जाता है । इसमें किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि होती है कि 'अम् ड् उँ श् प् इ प्' इनकी निवृत्ति हो जाती है । सो उनकी बुद्धि में भ्रममात्र है । क्योंकि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं । सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनि मुनिजी का है, जिनने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थ बनाये हैं । [इसी प्रकार 'अट्' के आगम और 'भू' के स्थान में 'भो' विकार के विषय में भी संगति लगा लेनी चाहिये ।] सो इस प्रकार से शब्द[5] नित्य ही होते हैं ।

[6]तथा 'कान से सुनके जिनका ग्रहण होता है, बुद्धि से जो जाने जाते हैं, जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं, और जिनका निवास का स्थान आकाश है, उनको 'शब्द' कहते

१. अष्टा० १।१।१९॥ २. वै० य० मुद्रिते 'एकदेशविकारिणि' इत्यपपाठः ।

३. वै० य० मुद्रिते 'तथैवाडागमो' इत्यपपाठः, उत्तरत्र 'विकारे च' इति सप्तमीनिर्देशात् ।

४. अ० १, पा० ४, सू० १०८ । ५. वै० य० मुद्रित 'सो मत इस प्रकार से है कि शब्द' पाठ असम्बद्ध है । ६. 'तथा...कहते हैं' पाठ वै० य० मुद्रित में पूर्व अस्थान में है । द्र०-पृ० ३५, टि० ५ ।

हैं ।' क्योंकि जो उच्चारण और श्रवणादि हम लोगों की क्रिया है, उसके क्षणभङ्ग होने से अनित्य गिनी जाती है । इससे शब्द अनित्य नहीं होते । क्योंकि यह जो हम लोगों की वाणी है, वही वर्ण-वर्ण के प्रति अन्य-अन्य होती जाती है । परन्तु शब्द तो सदा अखण्ड एकरस ही बने रहते हैं ।

ननु च भोः ! शब्दोऽप्युपरतागतो[1] भवति । उच्चारित उपागच्छति[2], अनुच्चारितोऽनागतो भवति, वाक्क्रियावत् । पुनस्तस्य कथं नित्यत्वं भवेत् ?

अत्रोच्यते—नाकाशवत्[3] पूर्वस्थितस्य शब्दस्य साधनाभावादभिव्यक्तिर्भवति, किन्तु तस्य प्राणवाक्क्रियया्ऽभिव्यक्तिश्च[4] । तद्यथा गौरित्यत्र यावद्वाग् गकारेऽस्ति, न तावदौकारे, यावदौकारे, न तावद् विसर्जनीये । एवं वाक्क्रियोच्चारणस्यापायोपजनौ भवतः, न च शब्दस्याखण्डैकरसस्य, तस्य सर्वत्रोपलब्धत्वात् । यत्र खलु वायुवाक्क्रिये न भवतस्तत्रोच्चारणश्रवणे अपि न भवतः । अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योऽस्तीत्यादिव्याकरणमतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति, किमुत वैदिकानामिति ।

भाषार्थ—प्र०—शब्द भी उच्चारण किये [जाने] के पश्चात् नष्ट हो जाता है, और उच्चारण के पूर्व सुना नहीं जाता है । जैसे उच्चारण-क्रिया अनित्य है, वैसे ही शब्द भी अनित्य हो हो सकता है । फिर शब्दों को नित्य क्यों मानते हो ?

उ०—शब्द तो आकाश की नाईं सर्वत्र एकरस भर रहे हैं, परन्तु जब उच्चारणक्रिया नहीं होती, तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते । जब प्राण और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं, तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं । जैसे 'गौः' इसके उच्चारण में जब पर्यन्त उच्चारणक्रिया गकार में रहती है, तब पर्यन्त औकार में नहीं, जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती । इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता हैं, शब्दों का नहीं । किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं । परन्तु जब पर्यन्त वायु और और वाक् इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती, तब पर्यन्त शब्दों का उच्चारण और श्रवण भी नहीं होता । इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द आकाश की नाईं नित्य ही हैं । जब व्याकरण शास्त्र के मत से सब शब्द नित्य होते हैं, तो वेदों के शब्दों की कथा तो क्या ही कहनी है ? क्योंकि वेदों के शब्द तो सब प्रकार से नित्य ही बने रहते हैं ।

एवं जैमिनिमुनिनापि शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिपादितम्—

---

१. इह 'शब्दोऽप्युपरतोऽनागतश्च भवति' इति पाठो युक्तः प्रतीयते, उत्तरवाक्ये तथैव व्याख्यातत्वात् ।

२. इह 'उच्चारितोऽपगच्छति' इत्येव साधीयान् पाठः प्रतिभाति, पूर्वत्र 'उपरतशब्दप्रयोगात् ।' पूर्वत्र वा '०प्युपागतानगतो' इत्येवं पाठः कल्पनीयः ।

३. पूर्वस्थितस्याप्याकाशस्य न कदाचिदभिव्यक्तिर्भवत्यतोऽयं दृष्टान्तो नोपपद्यते । अतोऽत्र 'यथा तमसि पूर्वावस्थितस्य द्रव्यस्य प्रदीपादिसाधनाभावेऽभिव्यक्तिर्न भवति तथैव ········' पाठोऽनुसंधेयः ।

४. '०भिव्यक्तिर्भवति' इत्येवं पाठोऽत्र युक्ततरः स्यात् ।

'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्' ॥ पूर्वमीमांसा अ० १, पा० १, सू० १८ ॥

अस्यायमर्थः—'तु' शब्देनानित्यशङ्का निवार्यते । विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योऽस्ति, कस्मात् ? दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्, शब्दस्यानित्यत्वं नैव भवति । अन्यथाऽयं गोशब्दार्थोऽस्तीत्यभिज्ञाऽनित्येन शब्देन भवितुमयोग्याऽस्ति[1] । नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् सर्वमेतत् संगतं स्यात् । अतश्चैकमेव गोशब्दं युगपदनेकेषु स्थलेष्वनेक उच्चारका उपलभन्ते, पुनः पुनस्तमेव चेति । एवं जैमिनिना शब्दनित्यत्वेऽनेके हेतवः प्रदर्शिताः ।

भाषार्थ—इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने भी शब्द को नित्य माना है–[(नित्यस्तु०)]शब्द में जो अनित्य होने की शङ्का आती है, उसका 'तु' शब्द से निवारण किया है । शब्द नित्य ही हैं, अर्थात् नाशरहित हैं । क्योंकि उच्चारणक्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है, सो अर्थ के जनाने ही के लिये है, इससे शब्द अनित्य नहीं हो सकता । जो शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है कि श्रोत्र द्वारा ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है । फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है । जो शब्द अनित्य होता, तो अर्थ का ज्ञान कौन कराता ? क्योंकि वह शब्द ही नहीं रहा, फिर अर्थ को कौन जनावे ? और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरुष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते हैं, इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण वारंवार भी होता है । इस कारण से भी शब्द नित्य है । जो शब्द अनित्य होता, तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती । सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्वमीमांसाशास्त्र में शब्द को नित्य सिद्ध किया है ।

अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह—

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' ॥ वैशेषिके अ० १ ॥[2]

अस्यायमर्थः - तद्वचनात् तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद्धर्मस्यैव कर्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवोक्तत्वाच्चाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम् ।

भाषार्थ—इसी प्रकार वैशेषिकशास्त्र में कणाद मुनि ने भी कहा है -(तद्वचना०) वेद ईश्वरोक्त हैं । इनमें सत्यविद्या और पक्षपातरहित धर्म का ही प्रतिपादन है । इससे चारों वेद नित्य हैं, ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है । क्योंकि ईश्वर नित्य है, इससे उसकी विद्या भी नित्य है ।

तथा स्वकीयन्यायशास्त्रे गोतममुनिरप्यत्राह—

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' ॥

[न्याय०] अ० २ । आ० १ । सू० ६७ ॥[3]

---

१. शब्दस्योच्चरितप्रध्वंसित्वाद् अर्थेन सह संबन्धस्य प्रतिपत्तुमशक्यत्वाद् 'अयमस्यार्थः' इत्येवं प्रत्यभिज्ञा न स्यादित्यभिप्रायः । २. वै० द० १।१।३॥ ३. न्यायदर्शन के विविध संस्करणों में सूत्रसंख्या में भेद उपलब्ध होता है । अतः निर्दिष्ट संख्या पर यदि पाठ न मिले, तो एक दो संख्या आगे पीछे ढूंढ लेना चाहिए ।

अस्यायमर्थः—तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्यम्। कुतः? आप्तप्रामाण्यात्। धर्मात्मभिः कपटछलादि[1]दोषरहितैर्दयालुभिः सत्योपदेष्टृभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतः। किंवत्? मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्। यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति, यथा चायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्तौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्भिन्नस्यापि भागस्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति, तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्यापि प्रामाण्यमङ्गीकार्यम्।

एतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम्—

'द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्। य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्। इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवद् वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति। नित्यत्वाद् वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्युक्तम्[2]'।

अस्यायमभिप्रायः—यथाप्तोपदेशस्य प्रामाण्यं भवति, तथा सर्वथाप्तेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैराप्तैः प्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वाद् वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम्। अत ईश्वरविद्यामयत्वाद् वेदानां नित्यत्वमेवोपपन्नं भवतीति दिक्।

भाषार्थ—वैसे हां न्यायशास्त्र में गोतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं—(मन्त्रायु०) वेदों को नित्य ही मानना चाहिये। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज-पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं, वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये हैं। उन आप्तों का अवश्य ही प्रमाण करना चाहिये। क्योंकि 'आप्त' लोग वे होते है, जो धर्मात्मा, कपट छलादि दोषों से रहित, सब विद्याओं से युक्त, महायोगी और सब मनुष्यों के सुख होने के लिये सत्य का उपदेश करने वाले हैं, जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता। उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है। [किस प्रकार वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये? मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान। जैसे सत्य पदार्थविद्या के प्रकाशक मन्त्र=विचार सत्य होने से प्रमाण माने जाते हैं, और जैसे] आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र के एकदेश में कहे औषध और पथ्य के सेवन करने से रोग की निवृति से सुख प्राप्त होता है, जैसे उसके एक देश के कहे के सत्य होने से उसके दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है, इसी प्रकार वेदों का भी प्रमाण करना सब मनुष्यों को उचित है। क्योंकि वेद के एकदेश में कहे अर्थ का सत्यपनविदित होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं, कि जिनका अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो, उनका भी नित्य प्रमाण अवश्य करना चाहिये। क्योंकि आप्त पुरुष का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता।

'(मन्त्रायु०) इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि—जो आप्त लोग हैं, वे वेदों के अर्थ को देखने-दिखाने और जनाने वाले हैं। जो जो उस मन्त्र के अर्थ के द्रष्टा-[प्र]वक्ता होते हैं, वे ही आयुर्वेद आदि के बनाने वाले हैं। जैसे उनका

---

१. 'छलकपटादि०' इति सुवचम्।

२. वात्स्यायन-भाष्ये '०दित्यप्युक्तम्' पाठ उपलभ्यते।

कथन आयुर्वेद में सत्य है, वैसे ही वेदों के नित्य मानने का उनका जो व्यवहार है, सो भी सत्य ही है ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि जैसे आप्तों के उपदेश का प्रमाण अवश्य होता है, वैसे ही सब आप्तों का भी जो परम आप्त, सब का गुरु परमेश्वर है, उसके किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण अवश्य ही करना चाहिये।'

अत्र विषये योगशास्त्रे पतञ्जलिमुनिरप्याह—

'स एष'[1] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' ॥

पातञ्जलयोगशास्त्रे अ० १।[2] पा० १। सू० २६॥

यः पूर्वेषां सृष्टयादावुत्पन्नामग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानाम् अस्मदादीनामिदानीन्तनानाम् अग्रे भविष्यतां च सर्वेषामेव ईश्वर एव गुरुरस्ति। गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स 'गुरुः'। स च सर्वदा नित्योऽस्ति, तत्र कालगतेरप्रचारत्वात्। न स ईश्वरो ह्यविद्यादिक्लेशैः पापकर्मभिस्तद्वासनया च कदाचिद् युक्तो भवति। यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति, तदुक्तत्वाद् वेदानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे वेद्ये इति।

भावार्थ – इस विषय में योगशास्त्र के कर्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं—(स० एष०) जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे, उनसे लेके हम लोग पर्यन्त और हमसे आगे जो होनेवाले हैं, उन सब का गुरु परमेश्वर ही है। क्योंकि वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम 'गुरु' है। सो ईश्वर नित्य ही है। क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है। और वह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उनकी वासनाओं के भोगों से अलग है। जिसमें अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है, उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है। ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये।

एवमेव स्वकीयसांख्यशास्त्रे पञ्चमाध्याये कपिलाचार्योऽप्याह—

'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्' ॥ सू० ५१ ॥[3]

अस्यायमर्थः—वेदानां निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात् स्वतःप्रामाण्यनित्यत्वे स्वीकार्य्ये इति।

भावार्थ—इसी प्रकार से सांख्यशास्त्र में कपिलाचार्य भी कहते हैं—'(निज०) परमेश्वर की

१. अनेकव्याख्याकाराणां मते 'स एषः' पदं सूत्रोत्थानिकारूपं भाष्यम्।

२. योगदर्शन में चार ही पाद हैं, अतः अध्याय का निर्देश नहीं किया जाता है।

३. अध्यायनिर्देशस्य सूत्रोत्थानिकायामुक्तत्वादिह पुनरध्यायसंख्या न निर्दिष्टा। एवं चेह अ० ५, सू० ५१ संख्या ज्ञेया।

निज अर्थात् स्वाभाविक जो विद्या-शक्ति है, उससे प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतः-प्रामाण्य सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये ।'

अस्मिन् विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णद्वैपायनो व्यासमुनिरप्याह—

'शास्त्रयोनित्वात्' ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३ ॥

अस्यायमर्थः—**'ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति [प्र]सिद्धं लोके किमु वक्तव्यमिति ।'**

इदं वचनं शङ्कराचार्येणास्य सूत्रस्योपरि स्वकीयव्याख्याने गदितम् । अतः किमागतम् ? सर्वज्ञस्येश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमर्हति ।

अन्यच्च तस्मिन्नेवाध्याये—

'अत एव च नित्यत्वम्' ॥ पा० ३ । सू० २९ ॥[1]

अस्यायमर्थः—अत ईश्वरोक्तत्वान्निःयधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतःप्रामाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नित्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम् ।

न वेदस्य प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमन्यत् प्रमाणं स्वीक्रियते । किंत्वेतत् साक्षिवद्विज्ञेयम् । वेदानां स्वतःप्रमाणत्वात्, सूर्यवत् । यथा सूर्यः स्वप्रकाशः[2] सन् संसारस्थान्महतोऽल्पांश्च पर्वतादीन् त्रसरेण्वन्तान् पदार्थान् प्रकाशयति, तथा वेदोऽपि स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम् ।

भाषार्थ—इसी प्रकार से वेदान्तशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यासजी ने भी लिखा है—(शास्त्र०) । इस सूत्र के अर्थ में शङ्कराचार्य ने भी वेदों को नित्य मानके व्याख्यान किया है कि—'ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं, वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं । सूर्य[3] के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करनेवाले हैं । उनका बनानेवाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है । क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बना सके, ऐसा सम्भव कभी नहीं हो सकता । किन्तु वेदार्थविस्तार के लिये किसी जीवविशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनाने का संभव होता है । जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है । उनमें विद्या के एक-

१. इहाप्यध्यायसंख्या सूत्रोत्थानिकायां निर्दिष्टेतिकृत्वा पुनर्न निर्दिष्टा । एवं चेह अ० १, पाद ३, सू० २९ संख्या ज्ञेया ।
२. स्वं प्रकाशयतीति स्वप्रकाशः ।
३. शाङ्करभाष्य के पाठ के अनुसार 'प्रदीप के समान' पाठ होना चाहिए ।

एक देश का प्रकाश किया है। सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं। और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं, उनको सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता। क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है। किञ्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने विचारने और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है, अन्यथा नहीं।' ऐसा शङ्कराचार्य ने भी कहा है। इससे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्य्य लोगों की साक्षी है। और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है, उसके किये वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य हैं। अन्य का बनाया ऐसा ग्रन्थ कभी नहीं हो सकता।

(अत एव०) इस सूत्र से भी यही आता है कि—'वेद नित्य हैं, और सब सज्जन लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है।' तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साक्षी के समान जानना चाहिये। क्योंकि वे अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है, अन्य का नहीं। और जैसे सूर्य स्वप्रकाशक[1] है, [और] पर्वत से लेके त्रसरेणुपर्यन्त पदार्थों का [भी] प्रकाश करता है, वैसे वेद भी स्वयंप्रकाश हैं, और सब सत्य-विद्याओं का भी प्रकाश कर रहे हैं।

अत एव स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह—

'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥' ॥ य० अ० ४०। मं० ८॥

अस्यायमभिप्रायः—यः पूर्वोक्तः सर्वव्यापकत्वादिविशेषणयुक्त ईश्वरोऽस्ति, (स पर्य्यगात्) परितः सर्वतोऽगात् गतवान् प्राप्तवानस्ति, नैवैकः परमाणुरपि तद्व्याप्त्या विनास्ति। (शुक्रम्) तद् ब्रह्म सर्वजगत्कर्तृ वीर्यवद् अनन्तबलवद् अस्ति। (अकायम्) तत् स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रय-सम्बन्धरहितम्, (अव्रणम्) नैवैतस्मिंश्छिद्रं कर्त्तुं परमाणुरपि शक्नोति, अत एव छेदरहितत्वाद-क्षतम्, (अस्नाविरम्) तन्नाडीसम्बन्धरहितत्वाद् बन्धनावरणविमुक्तम्, (शुद्धम) तदविद्यादि-दोषेभ्यः सर्वदा पृथग्वर्तमानम्, (अपापविद्धम्) नैव तत् पापयुक्तं पापकारि च कदाचिद् भवति। (कविः) सर्वज्ञः, (मनीषी) यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति। (परिभूः) सर्वेषामुपरि विराजमानः, (स्वयंभूः) यो निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः, स एव सर्वेषां पिता नह्यस्य कश्चित् जनकः, स्वसामर्थ्येन सहैव सदा [2]वर्तमानोऽस्ति। य एवंभूतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा, स सर्गादौ स्वकीयाभ्यः (शाश्वतीभ्यः) निरन्तराभ्यः (समाभ्यः) प्रजाभ्यो[2] (याथातथ्यतः) यथार्थस्वरूपेण वेदोपदेशेन (अर्थान् व्यदधात्) विधत्तवान्‡। अर्थात् यदा यदा सृष्टिं करोति

१. वै० य० मुद्रित में 'सूर्य प्रकाशस्वरूप है' पाठ है।

२. अत्र 'वर्तमानोऽस्ति, (शाश्वतीभ्यः) य एवंभूतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा (सः) सर्गादौ स्वकीयाभ्यः शाश्वतीभ्यो निरन्तराभ्यः प्रजाभ्यो०' इति पाठो वै० य० मुद्रिते दृश्यते (अष्टमसंस्करणे 'समाभ्यः' पदं कोष्ठके प्रदर्शितः), अयमपपाठः।

तदा तदा प्रजाभ्यो हितायादिसृष्टौ[1] सर्वविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रं स एव भगवानुपदिशति । अत एव नैव वेदानामनित्यत्वं केनापि मन्तव्यम्, तस्य विद्यायाः सर्वदैकरसवर्त्तमानत्वात् ।

भाषार्थ—ऐसे ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्वतःप्रमाण होने का उपदेश किया है । सो आगे लिखते हैं—

(स पर्यगात्) यह मन्त्र ईश्वर और उसके किये वेदों का प्रकाश करता है कि—जोपरमेश्वर
सर्वव्यापक आदि विशेषणयुक्त है, सो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है। उसकी व्याप्ति से एक
परमाणु भी रहित नहीं है। सो ब्रह्म (शुक्रम्) सब जगत् का करनेवाला और अनन्त विद्यादि बल
से युक्त है। (अकायम्) जो स्थूल सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों के संयोग से रहित है,
अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता। (अव्रणम्) जिसमें एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता, इसीसे
वह सर्वदा छेदरहित है। (अस्नाविरम्) वह नाड़ियों के बन्धन से अलग है। जैसा वायु और रुधिर
नाड़ियों में बंधा रहता है, ऐसा बंधन परमेश्वर में नहीं होता, (शुद्धम्) जो अविद्या अज्ञानादि क्लेश
और सब दोषों से पृथक् है, (अपापविद्धम्) सो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करनेवाला कभी नहीं
होता, क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है, (कविः) जो सब का जानने वाला है, (मनीषी)
जो सबका अन्तर्यामी है, और भूत भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को
यथावत् जानता है, (परिभूः) जो सबके ऊपर विराजमान हो रहा है, (स्वयंभूः) जो कभी उत्पन्न
नहीं होता, और उसका कारण भी कोई नहीं, किन्तु वही सबका कारण अनादि और अनन्त है।
इससे वही सबका माता पिता है और अपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्त्तमान रहता है, इत्यादि
लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है, (शाश्वतीभ्यः०) उसने सृष्टि की आदि में
अपनी प्रजा को, जो कि उसके सामर्थ्य में सदा से वर्त्तमान है, उसके सब सुखों के लिये (अर्थान्
व्यदधात्) सत्य अर्थों का उपदेश किया है। इसी प्रकार जब-जब परमेश्वर सृष्टि को रचता है,
तब-तब प्रजा के हित के लिये सृष्टि के आदि में सब विद्याओं से युक्त वेदों का भी उपदेश करता
है। और जब-जब सृष्टि का प्रलय होता है, तब-तब वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं।
इससे उनको सदैव नित्य मानना चाहिये। [क्योंकि उस परमात्मा की विद्या सदा एकरस बनी
रहती है।]

यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदा नित्याः सन्तीति निश्चयोऽस्ति, तथा युक्त्यापि । तद्यथा—

'नासत आत्मलाभो, न सत आत्महानम्, योऽस्ति स भविष्यति'[2] इति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं स्वीकार्यम् । कुतः ? यस्य मूलं नास्ति, नैव तस्य शाखादयः संभवितुमर्हन्ति, वन्ध्यापुत्र-विवाहदर्शनवत् । पुत्रो भवेच्चेत् तदा वन्ध्यात्वं न[3] सिध्येत्, स नास्ति चेत् पुनस्तस्य विवाहदर्शने[4]

१. द्रष्टव्या पूर्वत्र (पृष्ठ २४) टिप्पणी १।

२. 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'। गीता० अ० २, श्लोक १६ ॥

३. वै० य० मुद्रित नवमसंस्करणे 'न न सिद्धचेत्' इति नञ्द्वयपाठः संशोधयितृप्रमादमूलः।

४. विवाहस्तद्दर्शनं चेति द्वे क्रिये।

कथं भवतः ? एवमेवात्रापि विचारणीयम् । यदीश्वरे विद्याऽनन्ता न भवेत्, कथमुपदिशेत् ? सः नोपदिशेच्चेन्नैव कस्यापि मनुष्यस्य विद्यासम्बन्धो दर्शनं च स्याताम्, निर्मूलस्य प्ररोहाभावात् । नह्यस्मिन् जगति निर्मूलमुत्पन्नं किञ्चिद् दृश्यते ।

यस्य सर्वेषां मनुष्याणां साक्षादनुभवोऽस्ति, सोऽत्र प्रकाश्यते—यस्य प्रत्यक्षोऽनुभवस्तस्यैव संस्कारो, यस्य संस्कारस्तस्यैव स्मरणं ज्ञानं, तेनैव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतो, नान्यथेति । तद्यथा—येन संस्कृतभाषा पठ्यते, तस्याऽस्या एव संस्कारो भवति, नाऽन्यस्याः । येन देशभाषाऽधीयते, [तस्य] तस्या एव संस्कारो भवति, नातोऽन्यस्याः[1] । एवं [2]सृष्टयादावीश्वरोपदेशाऽध्यापनाभ्यां विना नैव कस्यापि विद्याया अनुभवः स्यात्, पुनः कथं संस्कारः ? तेन विना कुतः स्मरणम् ? न च स्मरणेन विना विद्याया लेशोऽपि कस्यचिद्भवितुमर्हति ।

भाषार्थ—जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य हैं, वैसे ही युक्ति से भी उनका नित्यपन सिद्ध होता है । क्योंकि 'असत् से सत् का होना अर्थात् अभाव से भाव का होना कभी नहीं हो सकता । तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सकता । जो सत् है उसी से आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है । और जो वस्तु ही नहीं है, उससे दूसरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती ।' इस न्याय से भी वेदों को नित्य ही मानना ठीक है । क्योंकि जिसका मूल नहीं होता है, उसकी डाली पत्र, पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकते । जैसे कोई कहे कि वन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने देखा, यह उसकी बात असम्भव है । क्योंकि जो उसके पुत्र होता, तो वह वन्ध्या ही क्यों होती ? और जब पुत्र ही नहीं है, तो उसका विवाह और दर्शन कैसे हो सकते हैं ? वैसे ही जब ईश्वर में अनन्तविद्या है, तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है । और जो ईश्वर में अनन्तविद्या न होती, तो वह उपदेश कैसे कर सकता ? और वह जगत् को भी कैसे रच सकता ? जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता, तो किसी मनुष्य को विद्या, जो यथार्थ ज्ञान है, सो कभी नहीं होता । क्योंकि इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढ़ना सर्वथा असम्भव है । इससे यह जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूलरूप में प्राप्त[3] होके मनुष्यों में विद्यारूप वृक्ष विस्तृत हुआ है ।

इसमें और भी युक्ति है कि जिसका सब मनुष्यों को अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान है[4] । उसी का दृष्टान्त देते हैं—देखो कि जिसका साक्षात् अनुभव होता है, उसी का ज्ञान में संस्कार होता है । संस्कार से स्मरण, स्मरण से इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं । जो संस्कृतभाषा को पढ़ता है, उसके मन में उसी का संस्कार होता है, अन्य भाषा का नहीं । और जो किसी देशभाषा को पढ़ता है, उसको [उसी] देशभाषा का संस्कार होता है, अन्य का नहीं । इसी प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता, तो किसी मनुष्य को विद्या का [अनुभव नहीं होता ।

१. वै० य० मुद्रिते 'नातोऽन्यथा' इत्यपपाठः । पूर्ववाक्यानुरोधात् भाषानुरोधाच्चास्मन्निर्दिष्टः पाठ एव साधुः ।

२. अन्यत्र ग्रन्थकारः 'आदिसृष्टौ' प्रयुङ्क्ते, तदपि साधु । द्र० — २४ पृष्ठस्था टि० १ ॥

३. वै० य० मुद्रित में 'मूल को प्राप्त' पाठ है

४. वै० य० मुद्रित में 'होता है' पाठ है ।

अनुभव के विना] संस्कार नहीं होता। जब विद्या का संस्कार न होता, तो उसका स्मरण भी नहीं होता। स्मरण से विना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी न हो सकता। इस युक्ति से क्या जाना जाता है ? कि ईश्वर के उपदेश से वेदों को सुन-पढ़के और विचारके ही मनुष्यों को विद्या का संस्कार आजपर्यन्त होता चला आया है, अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

किं च भोः ! मनुष्याणां स्वाभाविकी या प्रवृत्तिर्भवति, तत्र सुखदुःखानुभवश्च, तयोत्तरोत्तरकाले[1] क्रमानुक्रमाद् विद्यावृद्धिर्भविष्यत्येव, पुनः किमर्थमीश्वराद् वेदोत्पत्तेः स्वीकार इति ?

एवं प्राप्ते ब्रूमः—एतद् वेदोत्पत्तिप्रकरणे परिहृतम्।[2] तत्रैष निर्णयः—यथा नेदानीमन्येभ्यः पठनेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवति तस्य ज्ञानोन्नतिश्च, तथा नैवेश्वरोपदेशागमेन[3] विना कस्यापि विद्याज्ञानोन्नति[4] र्भवेत् अशिक्षितबालकवनस्थवत्[5]। यथोपदेशमन्तरा न बालकानां वनस्थानां च विद्यामनुष्यभाषाविज्ञाने अपि[6] भवतः, पुनर्विद्योत्पत्तेस्तु का कथा? तस्मादीश्वरादेव या वेदविद्याऽऽगता, सा नित्यैवास्ति, तस्य सत्यगुणवत्वात्।

यन्नित्यं वस्तु वर्त्तते, तस्य नामगुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्ति, तदाधारस्य नित्यत्वात्। नैवाधिष्ठानमन्तरा नामगुणकर्मादयो गुणाः[7] स्थितिं लभन्ते, तेषां पराश्रितत्वात्। यन्नित्यं नास्ति, न तस्यैतान्यपि नित्यानि भवन्ति। नित्यं चोत्पत्तिविनाशाभ्यामितरद्भवितुमर्हति। उत्पत्तिर्हि पृथग्भूतानां द्रव्याणां या[8] संयोगविशेषाद् भवति। तेषामुत्पन्नानां कार्यद्रव्याणां सति वियोगे विनाशश्च संघाताभावात्। अदर्शनं च विनाशः[9]। ईश्वरस्यैकरसत्वान्नैव तस्य संयोगवियोगाभ्यां संस्पर्शोऽपि भवति। अत्र कणादमुनिकृतं सूत्रं प्रमाणमस्ति—

'सदकारणवन्नित्यम्' ॥ १ ॥ वैशेषिके अ० ४।सू० १॥[10]

---

१. अत्र 'तेनोत्तरोत्तरकाले' इति पाठो युक्तः प्रतिभाति। 'तया' पदेन प्रवृत्तेः परामर्शः। न च प्रवृत्त्यैवोत्तरोत्तरकालेऽपि ज्ञानवृद्धिर्भवितुमर्हति पशुवत्। तस्मात् सुखदुःखानुभवस्य परामर्शार्थं 'तेन' पाठो युक्तः। अनुभवेन ज्ञानवृद्धिः प्रत्यक्षं दृश्यते।

२. पूर्वत्र पृष्ठ १६। ३. आगमेन = प्राप्त्या।

४. विद्या च ज्ञानोन्नतिश्चेति इतरेतरयोगे 'विद्याज्ञानोन्नती' पाठेन भाव्यम्। समाहारे च 'विद्याज्ञानोन्नति' इति नपुंसकत्वं द्रष्टव्यम्। समाहारे नपुंसकत्वाभावोऽपि क्वचिद् दृश्यते। यथा—'**ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः**' (अष्टा० १।२।२७) इति सूत्रे। ५. अत्र '**अशिक्षितबालकवनस्थपुरुषवत्**' इति पाठो ज्यायान् प्रतिभाति।

६. वै० य० मुद्रितेषु षष्ठसंस्करणपर्यन्तं शुद्धः पाठ उपलभ्यते। अष्टमनवमयोस्तु संशोधकप्रमादादज्ञानाद्वा '०भाषाविज्ञानेऽपि०' इति दुःसन्धिरपपाठः समजायत।

७. अत्र 'गुणाः' पदं प्रमादपठितमिव प्रतीयते, नामकर्मणोर्गुणत्वाभावात्। तस्मात् '०कर्मादयः स्थितिं' इति शुद्धः पाठो ज्ञेयः।

८. 'या' पदं प्रमादपठितं स्यात्, अन्वयाभावात्। यद्वा 'या संयोगविशेषात् संहतिर्भवति सोच्यते' इत्येवं पाठः कल्पनीयः, यत्तदोर्नित्यसंबन्धात्। ९. द्र०—णश अदर्शने। धातुपाठ ४।८३॥

१०. अत्र 'अ० ४, आ० १, सूत्र १' इत्येवं पाठो ज्ञेयः। प्रथमसंस्करणस्थे संशोधनपत्रे 'अ० ४. पा० ४, सू० १' इत्येवं संशोधितः पाठोऽप्यशुद्ध एव।

अस्यायमर्थः—यत्कार्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं भवति, तदनित्यमुच्यते, तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात्। यत्तु कस्यापि कार्यं नैव भवति, किन्तु सदैव कारणरूपमेव तिष्ठति, तन्नित्यं कथ्यते।

यद्यत्संयोगजन्यं तत्तत्कर्त्रपेक्षं भवति। कर्तापि संयोगजन्यश्चेत् तर्हि तस्याप्यन्यः ऽन्यः[1] कर्त्तास्तीत्यागच्छेत्। एवं पुनः पुनः प्रसङ्गादनवस्थापत्तिः। यच्च संयोगेन प्रादुर्भूतं, नैव तस्य प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगकरणे सामर्थ्यं भवितुमर्हति, तस्मात् तेषां सूक्ष्मत्वात्। यद् यस्मात् सूक्ष्मं तत्तस्यात्मा[2] भवति, स्थूले सूक्ष्मस्य प्रवेशार्हत्वात्, अयोऽग्निवत्। यथा सूक्ष्मत्वादग्निः कठिनं स्थूलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथग्भावं करोति, यथा[3] जलमपि पृथिव्याः सूक्ष्मत्वात् तत्कणान् प्रविश्य संयुक्तमेकं पिण्डं करोति, छिनत्ति च, तथा परमेश्वरः संयोगवियोगाभ्यां पृथग्भूतो विभरस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्तुमर्हति, न चान्यथा। यथा संयोगवियोगान्तर्गतत्वान्नास्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति, तथेश्वरेऽपि भवेत्।

अन्यच्च—यतः संयोगवियोगारम्भो भवति, स तस्मात् पृथग्भूतोऽस्ति, तस्य संयोगवियोगारम्भस्यादिकारणत्वात्[4]। आदिकारणस्याभावात् संयोगवियोगारम्भस्यानुत्पत्तेश्च। एवंभूतस्य सदा निर्विकारस्वरूपस्याजस्यानादेर्नित्यस्य सत्यसामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद् वेदानां प्रादुर्भावात्, तस्य ज्ञाने सदैव वर्तमानत्वात् सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चैतेषामस्तीति सिद्धम्।

--: इति वेदानां नित्यत्वविचारः :—

भाषार्थ—प्र०—मनुष्यों की स्वभाव से जो चेष्टा है, उसमें सुख और दुःख का अनुभव भी होता है। उससे उत्तर-उत्तरकाल में क्रमानुसार से विद्या की वृद्धि भी अवश्य होगी, तब वेदों को भी मनुष्य लोग रच लेंगे। फिर ईश्वर ने वेद रचे, ऐसा क्यों मानना ?

उ०—इसका समाधान वेदोत्पत्ति के प्रकरण में कर दिया है।[5] वहां[6] यही निर्णय किया है कि जैसे इस समय में अन्य विद्वानों से पढ़े विना कोई भी विद्यावान् नहीं होता, और इसके विना किसी पुरुष में ज्ञान की वृद्धि भी देखने में नहीं आती, वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरोपदेश की प्राप्ति के विना किसी मनुष्य की विद्या और ज्ञान की बढ़ती कभी नहीं हो सकती। इसमें अशिक्षित बालक और वनवासियों का दृष्टान्त दिया था कि—जैसे उस बालक और वन में रहनेवाले मनुष्य को यथावत् विद्या का ज्ञान नहीं होता, तथा अच्छी प्रकार उपदेश के विना उनको लोकव्यवहार का भी ज्ञान नहीं होता, फिर विद्या की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है। इससे क्या जानना

---

१. 'तस्याप्यन्यः' इत्येव शुद्धः पाठोऽत्र ज्ञेयः। यद्वा 'तस्याप्यन्यस्तस्याप्यन्यः' इत्येवं पाठेन भाव्यम्। मुद्रितपाठस्त्वयुक्त इव प्रतिभाति।

२. 'अतति व्याप्नोतीत्यात्मा,' व्यापक इत्यर्थः।

३. वै० य० मुद्रिते 'तथा' इत्यपपाठः, उत्तरवाक्ये 'तथा' पदप्रयोगात्।

४. वै० य० मुद्रिते '०वियोगारब्धस्यादि०' पाठ उपलभ्यते, सोऽपपाठः। प्रकृतेऽनन्वयात्, उत्तरवाक्ये च 'आरम्भ' शब्दस्यैव प्रयोगाच्च।

५. द०—पूर्वत्र पृष्ठ १६ ॥ ६. वै० य० मुद्रित में 'यहां' अपपाठ है, संस्कृत में 'तत्र' पाठ है।

चाहिये ? कि परमेश्वर के उपदेश [से] वेदविद्या [के] आने के पश्चात् ही मनुष्यों को विद्या और ज्ञान की उन्नति करनी भी सहज हुई है। क्योंकि उसके सभी गुण सत्य हैं। इससे उसकी विद्या जो वेद है, वह भी नित्य ही है।

जो नित्य वस्तु है, उसके नाम गुण और कर्म भी नित्य ही होते हैं। क्योंकि उनका आधार नित्य है। और विना आधार से नाम गुण और कर्मादि स्थिर नहीं हो सकते। क्योंकि वे द्रव्यों के आश्रय सदा रहते हैं। जो अनित्य वस्तु है, उसके नाम गुण और कर्म भी अनित्य होते हैं। सो नित्य किसको कहना ? जो उत्पत्ति और विनाश से पृथक् है। तथा 'उत्पत्ति' वह[1] कहाती है कि जो [पृथग्भूत] अनेक द्रव्यों के संयोगविशेष से स्थूल पदार्थ का उत्पन्न होना [है]। और जब वे पृथक्-पृथक् होके उन द्रव्यों के वियोग से जो कारण में उनकी परमाणुरूप अवस्था होती है, उसको 'विनाश' कहते हैं। और जो द्रव्य संयोग से स्थूल होते हैं, वे चक्षु आदि इन्द्रियों से देखने में आते हैं। फिर उन स्थूल द्रव्यों के परमाणुओं का जब वियोग हो जाता है, तब सूक्ष्म के होने से वे द्रव्य देख नहीं पड़ते, इसका नाम नाश है। क्योंकि अदर्शन को ही 'नाश' कहते हैं[2]। जो द्रव्य संयोग और वियोग से उत्पन्न और नष्ट होता है, उसी को कार्य और अनित्य कहते हैं। और जो संयोग और वियोग से अलग है, उसकी न कभी उत्पत्ति और न कभी [3]नाश होता है। ईश्वर में संयोग-वियोग नहीं होता। क्योंकि वह सदा अखण्ड एकरस ही बना रहता है। इसी से उसको 'नित्य' कहते हैं।

इसमें कणादमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है—

(सदकार[4]०) जो किसी का कार्य है, कि कारण से उत्पन्न होके विद्यमान होता है, उसको 'अनित्य' कहते हैं [क्योंकि वह उत्पत्ति से पूर्व उस रूप में नहीं था]। जैसे मट्टी से घड़ा होके वह नष्ट भी हो जाता है [अर्थात् उसका जो कारण मट्टी है तद्रूप हो जाता है]। इसी प्रकार परमेश्वर के सामर्थ्य कारण से सब जगत् उत्पन्न होके विद्यमान होता है। फिर प्रलय में स्थूलाकार नहीं रहता, किन्तु वह कारणरूप तो सदा ही बना रहता है। इससे क्या आया ? कि जो विद्यमान हो और जिसका कारण कोई भी न हो, अर्थात् स्वयं कारणरूप ही हो, उसको 'नित्य' कहते हैं।

क्योंकि जो-जो संयोग से उत्पन्न होता है, सो-सो बनानेवाले की अपेक्षा अवश्य रखता है। जैसे कर्म नियम और कार्य ये सब कर्त्ता नियन्ता और कारण की ही सदा अपेक्षा रखते[5] हैं। और जो कोई ऐसा कहे कि कर्त्ता को भी किसी ने बनाया होगा, तो उससे पूछना चाहिये—'उस कर्त्ता के कर्त्ता को किसने बनाया है'? इसी प्रकार यह अनवस्था प्रसंग अर्थात् मर्यादा-रहित होता है।

---

१. वै० य० मुद्रित में 'क्या' पाठ है।

२. नाश शब्द जिस णश (= नश) धातु से बनता है, उसका अर्थ पाणिनि ने **'अदर्शन'** ही पढ़ा है— **'णश अदर्शने'** (धातुपाठ ४।८३)।

३. वै० य० मुद्रित में 'नाश होता है। इस प्रकार का पदार्थ एक परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण है क्योंकि' अपपाठ है।

४. वै० य० मुद्रित में 'सत्कार०' अपपाठ है।

५. वै० य० मुद्रित में 'कारण को ही सदा जनाते हैं' पाठ है।

जिसकी मर्यादा नहीं है, वह व्यवस्था के योग्य नहीं ठहर सकता। और जो संयोग से उत्पन्न होता है, वह प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग करने में समर्थ ही नहीं हो सकता। इससे क्या आया? कि जो जिससे सूक्ष्म होता है वही उसका आत्मा[1] होता है, अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है। जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट होके उसके सब अवयवों में व्याप्त होता है, और जैसे जल पृथ्वी [के कणों] में प्रविष्ट होके उसके कणों के संयोग से पिण्डा करने में हेतु होता है, तथा उसका छेदन भी करता है, वैसे ही परमेश्वर सब संयोग और वियोग से पृथक्, सब में व्यापक, प्रकृति परमाणु आदि से भी अत्यन्त सूक्ष्म और चेतन है। इसी कारण से प्रकृति और परमाणु आदि द्रव्यों के संयोग करके जगत् को रच सकता है। जो ईश्वर उनसे स्थूल होता, तो उनका ग्रहण-रचन कभी नहीं कर सकता। क्योंकि जो स्थूल पदार्थ होते हैं, वे सूक्ष्म पदार्थों के नियम करने में समर्थ नहीं होते। जैसे हम लोग प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग और वियोग करने में समर्थ नहीं हैं। क्योंकि जो संयोग-वियोग के भीतर[2] है, वह उसके संयोग-वियोग करने में समर्थ नहीं हो सकता।

तथा जिससे संयोग-वियोग का आरम्भ होता है, वह संयोग और वियोग से अलग ही होता है। क्योंकि वह संयोग और वियोग के आरम्भ का कर्त्ता और आदिकरण होता है। तथा आदिकरण के अभाव से संयोग और वियोग का होना ही असम्भव है। इससे क्या जानना चाहिये? कि जो सदा निर्विकारस्वरूप अज अनादि नित्य सत्यसामर्थ्य से युक्त और अनन्त विद्यावाला ईश्वर है, उसकी विद्या से वेदों के प्रकट होने और उसके ज्ञान में वेदों के सदैव वर्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थयुक्त और नित्य सब मनुष्यों को मानना योग्य है। यह संक्षेप से वेदों के नित्य होने का विचार किया।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः



१. आत्मा=व्यापक, 'अत सातत्यगमने'। धातुपाठ १।३१॥
२. भीतर अर्थात् स्वयं संयोगवियोगवान् है।

अथ वेदविषयविचारः

अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्[1]। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति[2]। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्ति[3], ईश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्। अत्र प्रमाणानि—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्'॥

कठोपनि० वल्ली २। मं० १५॥

'तस्य वाचकः प्रणवः'॥ योगशास्त्रे अ० १।[4] पा० १। सूत्र २७॥

'ओ३म् खं ब्रह्म'॥ यजुः अ० ४०॥[5]

'ओमिति ब्रह्म'॥ तैत्तिरीयारण्यके प्र० ७। अनु० ८॥

'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ १॥

'यत्तद्दृश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं[6] परिपश्यन्ति धीराः॥ २॥[7][8] मुण्डके १। खण्डे १। मं० ५-६॥

---

१. नात्र वेदक्रमानुसारं विज्ञानादीनां क्रमोऽभिप्रेतः। यतो हि ग्रन्थकारः स्वयं प्रतिज्ञाविषये प्रश्नोत्तरविषये च ऋग्वेदे ज्ञानकाण्डम्, यजुर्वेदे कर्मकाण्डम्, सामवेद उपासनाकाण्डम्, अथर्ववेदे च विज्ञानकाण्डमस्तीति वक्ष्यति। तत्र काठकब्राह्मणमपि चतुर्णां वेदानां विषयमुपवर्णयन्नाह—

यदेनमृग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभि स्तुवन्ति, अथर्वभिर्जपन्ति। द्र०—डा० कालण्डेन सम्पादितं काठकब्राह्मणसंकलनम्। वै० वा० इतिहास, ब्राह्मण-आरण्यक भाग, पृष्ठ २६६ पर उद्धृत।

२. विज्ञानकाण्डस्य प्राधान्यं ग्रन्थकारः प्रतिज्ञाविषयेऽपि प्रतिपादयिष्यति—'एवं काण्डत्रयेण बोधान्वितस्यस्युपकारो गृह्यते तच्च विज्ञानकाण्डमिति।

३. एतस्मिन् विषय उत्तरत्र वक्ष्यते विशेषेण।

४. अध्यायस्यात्र निर्देशो व्यर्थः, तत्र पादचतुष्टयानामेव सद्भावात्।

५. मन्त्र १७।

६. उपनिषदि 'यत्तदद्रेश्य०' इत्येवं पाठः, अर्थस्तु स एव।

७. उपनिषदि 'तद् भूतयोनिं' इत्येवं पाठ उपलभ्यते।

८. अस्य व्याख्यानमत्र न कृतम्।

एषामर्थः—(सर्वे वेदाः०) यत्परमं पदं मोक्षाख्यं परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरदस्ति, तदेवौङ्कारवाच्यमस्ति। (तस्य०) तस्येश्वरस्य प्रणव ओङ्कारो वाचकोऽस्ति, वाच्यश्चेश्वरः। (ओम्०) ओमिति परमेश्वरस्य नामास्ति। तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा आमनन्ति, आसमन्तादभ्यस्यन्ति, मुख्यतया प्रतिपादयन्ति। (तपांसि०) सत्यधर्मानुष्ठानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति। (यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्यग्रहणमुपलक्षणार्थं, ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थ-संन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनन्ति, ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति। यद् ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमाना वदन्त्युपदिशन्ति च। हे नचिकेतः! अहं यमो यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि।

(तत्रापरा०) वेदेषु द्वे विद्ये वर्तेते, अपरा परा चेति। तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृति-पर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते। यया चादृश्यादिविशेषण-युक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते, सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम्।

भाषार्थ—अब वेदों के नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन-कौन विषय किस-किस प्रकार के हैं, इसका विचार किया जाता है। वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं—(१) एक 'विज्ञान' अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना, (२) दूसरा 'कर्म', (३) तीसरा 'उपासना', और (४) चौथा 'ज्ञान' है। 'विज्ञान' उसको कहते हैं कि जो कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना, और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थो के साक्षाद् बोध का होना, उनसे यथावत उपयोग का करना। इससे यह विषय इन चारों में प्रधान है[1]। सो भी दो प्रकार का है—एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान, और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना। और दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचारके उनसे कार्य सिद्ध करना। अर्थात् ईश्वर के कौन-कौन पदार्थ किस-किस प्रयोजन के लिये रचे हैं। और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है। क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य्य है।[2]

इसमें आगे कठवल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं—(सर्वे वेदाः०) परमपद अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, जिसमें परब्रह्म को प्राप्त होके सदा[3] सुख में ही रहना, जो सब आनन्दों से युक्त सब

१. इससे आगे वै० य० मुद्रित में 'क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है' पंक्ति है। यह अस्थान में होने के कारण हमने इसे इस संदर्भ के अन्त में यथास्थान रख दिया है।

२. द्र० इसी पृष्ठ की टिप्पणी १।

३. सदा का 'अर्थ मोक्ष-कालावधिपर्यन्त काल' ही समझना चाहिये। मीमांसा में '**पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति सर्वान् लोकान् जयति**' आदि में प्रयुक्त 'सर्व' पद के अर्थ पर विचार करते हुए लिखा है—'**सर्वत्वमाधिकारिकम्**' (मीमांसा १।२।१६)। सर्व का अर्थ 'कृत्स्न' नहीं है, अपितु जिसका जितना अधिकार है, तद्विषयक सर्वत्व समझना चाहिये। अर्थात् पूर्णाहुति से जितने अधिकार की प्राप्ति सम्भव है, उतना पूर्णाधिकार प्राप्त होता है। इसी प्रकार यहां भी मोक्ष का जितना काल है, वह सदा शब्द से कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए

दुःखों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है, जिसके नाम 'ओम्' आदि हैं, उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है। इसमें योगसूत्र [यजुर्वेद और तैत्तिरीय आरण्यक][1] का भी प्रमाण है—(तस्य०) परमेश्वर का ही ओंकार नाम है। (ओं खं०) तथा (ओमिति०) ओं और खं ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं। और उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं। उसकी प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है। क्योंकि जगत् का वर्णन, दृष्टान्त और उपयोगादि का करना, ये सब [उसी] परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं। तथा सत्यधर्म के अनुष्ठान, जिनको तप कहते हैं, वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये हैं। तथा ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सत्याचरणरूप जो कर्म हैं, वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिये हैं, जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश भी करते हैं। नचिकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह संवाद है कि—हे नचिकेतः! जो अवश्य प्राप्ति करने के योग्य परब्रह्म है, उसी का मैं तेरे लिये संक्षेप से उपदेश करता हूं।[2] और यहां यह भी जानना उचित है कि अलंकार-रूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिये।[2]

(तत्रापरा०) वेदों में दो विद्या हैं—एक अपरा, दूसरी परा। इनमें से अपरा यह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है। और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा[3] विद्या है।

[4][(यत्तदद्दृश्यम्०) उस ब्रह्म का ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता, हस्त से पकड़ा नहीं जा

अनेक ज्ञानविदग्ध इन शास्त्रीय नियमों के अज्ञान के कारण विवाह-प्रकरण में पठित '**इहैव स्तं मा वियौष्ट विश्वमायुर्व्यश्नुतम्**' अर्थात् कृत्स्न आयु पर्यन्त घर में ही रहना चाहिए, अर्थात् वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम अवैदिक है, ऐसा प्रचार करते हैं, वह ठीक नहीं। यहां भी 'विश्वमायुः' का अर्थ गृहस्थाश्रम के लिये नियत आयु ही अर्थ है, न कि कृत्स्न आयु।

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ वै० य० मुद्रित सं० ६ में कोष्ठक में ही परिवर्धित किया गया है।

२. 'और यहां...समझना चाहिए' वाक्य संस्कृतपाठ में नहीं है। अतः इसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

३. वैदिक मतानुसार प्राकृत जगत् का जिसे भले प्रकार ज्ञान हो जाता है, वही मुक्ति का अधिकारी होता है। इसीलिए वैदिक धर्म में ज्ञान की महती स्तुति उपलब्ध होती है। उपनिषद् में कहा है—'**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**'। यजुर्वेद में विराट्, पुरुष, प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि नामों से आधिदैविक पक्ष में प्राकृतिक महदण्ड और उससे निर्मित जगत् को जानकर ही विद्वान् मृत्यु का अतिक्रमण करता है, ऐसा कहा है—**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**॥ [यजुः ३१।१८।] यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में भी कहा है—'**विद्ययाऽमृतमश्नुते**' (मं० १४)। इसीलिए ऋषि दयानन्द ने अपरा विद्या=सृष्टिविद्या को पुष्प-स्थानीय मान कर परा विद्या को फल-स्थानीय कहा है। यहां निरुक्त १,१६ भी द्रष्टव्य है।

४. 'यत्तदद्दृश्यं' प्रमाण का अर्थ संस्कृत में भी नहीं है, सम्भव है सुगमार्थ होने से वहां अर्थ न दिया होगा। परन्तु भाषानुवाद में भी इसकी व्याख्या वै० य० मुद्रित में नहीं मिलती। अतः हमने इसका अर्थ कोष्ठक में बढ़ा दिया है।

सकता, उसका कोई गोत्र वा वर्ण नहीं, वह नेत्र और कर्ण से रहित है, उसके हाथ और पांव नहीं, वह नित्य है, व्यापक है, सर्वान्तर्यामी है, सूक्ष्म है, नाशरहित है। इस सम्पूर्ण जगत् के कारण ब्रह्म को जो ध्यान द्वारा साक्षात् करते हैं, वे धीर मनुष्य हैं।]

अन्यच्च—

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥१॥'

ऋग्वेदे अष्टके १, अध्याये २, वर्गे ७, मन्त्रः ५॥[1]

अस्यायमर्थः—यत् (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (परमम्) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं (पदम्) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति, तत् (सूरयः०) विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति। कीदृशं तत्? (आततम्) आसमन्तात् ततं विस्तृतं यद् देशकालवस्तुपरिच्छेद-रहितमस्ति, अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते, तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात्। कस्यां किमिव? (दिवीव चक्षुराततम्) दिवि मार्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति,[2] तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्तते। मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति। अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति।

एतद्विषयकं वेदान्तसूत्रं व्यासोऽप्याह—

'तत्तु समन्वयात्' ॥ अ० १। पा० १। सू० ४॥

अस्यायमर्थः—तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति। क्वचित् साक्षात् क्वचित् परम्परया च[3]। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति।

तथा यजुर्वेदे प्रमाणम्—

'यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥'

यं० अ० ८। मं ३६॥

---

१. यह मन्त्रसंख्या वर्गान्तर्गत मन्त्र की संख्या है, ऐसा जानना चाहिए। सूक्तक्रमानुसार इसका पता होगा—मं० १, सूक्त २२, मन्त्र २०॥ ऐसा ही सर्वत्र समझें। ग्रन्थकार ने अपने अनेक ग्रन्थों में अष्टक अध्याय वर्ग विभागानुसार ही ऋङ्मन्त्रों के पते दिए हैं।

२. उपमा द्विविधा ज्यायसी हीना च (द्र०—निरुक्त ३।१३-१४)। यत्र श्रेष्ठेन हीन उपमीयते सा ज्यायसी, हीनेन च श्रेष्ठ उपमीयते सा हीना। प्रकृतमन्त्रे सर्वव्यापकस्य विष्णोः पददर्शनं दिव्याततेन चक्षुषोपमीयते, यतः प्राकृतजगत्यप्यस्माकं चक्षुः कणवद वर्तते, तस्मादेषा हीनोपमा ज्ञेया।

३. एतस्य विशेषव्याख्यानं ग्रन्थकृता प्रतिज्ञाविषये करिष्यते—**'यस्य यस्य मन्त्रस्य'** इत्यारभ्य **'कार्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च'** इत्यन्तेन प्रकरणेन।

एतस्यार्थः – (यस्मात्[1]) नैव परब्रह्मणः सकाशात् (परः) उत्तमः पदार्थः (जातः)प्रादुर्भूतः प्रकटः (अन्यः) भिन्नः कश्चिदप्यस्ति। (प्रजापतिः) प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति, प्रजापालकत्वात् (य आविवेश भु० —) यः परमेश्वरः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वलोकान् (आविवेश) व्याप्तवान् अस्ति, (संरराणः) सर्वप्राणिभ्योऽत्यन्तं सुखं दत्तवान् सन् (त्रीणि ज्योतींषि) त्रीण्यग्निसूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्-प्रकाशकानि (प्रजया) ज्योतिषोऽन्यया सृष्ट्या सह तानि (सचते) समवेतानि करोति कृतवानस्ति, अतः[2] (सः) स एवेश्वरः (षोडशी) येन षोडशकला[3] जगति रचताः, ता विद्यन्ते यस्मिन् यस्य वा तस्मात् स षोडशीत्युच्यते। अतोऽयमेव परमोऽर्थो वेदितव्यः।

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' ॥

इदं माण्डूक्योपनिषद्वचनमस्ति ॥

अस्यायमर्थः—ओमित्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम्, यन्न क्षीयते कदाचिद् यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद् ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम्। अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगता वोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेऽतोऽयं प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्यम्।

किं च, नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति। 'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः' इति व्याकरणमहाभाष्यवचन[4]प्रामाण्यात्। एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति। तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्वे उपदेशाः सन्ति। यतस्तदुपदेशपुरःसरेणैव त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावत् कर्त्तव्यमिति।

भाषार्थ—और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि—(तद्वि०)। (विष्णोः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उसका (परमम्) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (पदम्) जो प्राप्ति होने के योग्य अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, उसको (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं। वह कैसा है ? सब में व्याप्त हो रहा है, और उसमें देश काल और वस्तु का भेद नहीं है। अर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं, तथा उस काल में था इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं [ऐसा भेद नहीं है।] इसी कारण से वह पद सब जगह में सबको प्राप्त होता है। क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है। इसमें यह दृष्टान्त है कि (दिवीव

१. इह 'यस्मान्न' इत्येवं प्रतीकग्रहणं युक्ततरं स्यात्।

२. वै० य० मुद्रिते '(सः) अतः स' इत्येवं पूर्वापरपाठः।

३. षोडशकलाः (प्रश्नो० ६।४) अग्रे भाषानुवादे परिगणितास्तत्र द्रष्टव्याः।

४. महाभाष्ये नैतद् वचनं साक्षात् पठ्यते। महाभाष्ये तु द्विः कृत्वाऽयमर्थो निर्दिश्यते। तद्यथा—प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाच्छेषो भविष्यति' (१।२।६९ सूत्रभाष्ये) 'प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययो भवति' (३।१।१ सूत्रभाष्ये)। वैयाकरणैस्तु 'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः' इति वचनं परिभाषारूपेण पठ्यते। एतस्याश्च मूलमुक्तभाष्यवचनमेव। तदुक्तं परिभाषेन्दुशेखरे नागेशेन—'स्पष्टा चेयं पुमान् स्त्रिया नपुंसकमनपुंसके-नेत्यनयोर्भाष्ये' इति (द्र०— परिभाषा १०६)।

चक्षुराततम्) जैसे[1] आकाश में व्याप्त सूर्य के प्रकाश में[1] नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है,[2] इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है। उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है। इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं।

इस विषय में वेदान्तशास्त्र में व्यासमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है—(तत्तु समन्वयात्)। सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है। कहीं-कहीं साक्षात्रूप और कहीं-कहीं परम्परा से[3]। इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है।

तथा इस विषय में **यजुर्वेद** का भी प्रमाण है कि—(यस्मान्न जा०)। जिस परब्रह्म से **(अन्यः)** दूसरा कोई भी (परः) उत्तम पदार्थ (जातः) प्रकट (नास्ति) अर्थात् नहीं है, **(य आविवेश भु०)** जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में व्याप्त हो रहा है, (प्रजापतिः प्र०) वही सब जगत् का पालनकर्ता और अध्यक्ष है, [तथा (सꣳरराणः) सब प्राणियों को सुख देता है,] जिसने (त्रीणि ज्योतीꣳषि) अग्नि, सूर्य और बिजली इन तीन ज्योतियों को सर्वजगत्[4] के प्रकाश होने के लिये [(प्रजया) इन ज्योतियों से अन्य सृष्टियों के साथ] (सचते) रचके संयुक्त किया है, और जिसका नाम (षोडशी) है, अर्थात् (१) ईक्षण—जो यथार्थ विचार (२) प्राण—जो कि सब विश्व का धारण करनेवाला (३) श्रद्धा—सत्य में विश्वास (४) आकाश (५) वायु (६) अग्नि (७) जल (८) पृथिवी (९) इन्द्रिय (१०) मन अर्थात् ज्ञान (११) अन्न (१२) वीर्य, अर्थात् बल और पराक्रम (१३) तप, अर्थात् धर्मानुष्ठान सत्याचार (१४) मन्त्र, अर्थात् वेदविद्या (१५) कर्म, अर्थात् सब चेष्टा (१६) नाम, अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा, ये ही सोलह कला कहाती हैं। ये सब ईश्वर ही के बीच में हैं, इससे उसको 'षोडशी' कहते हैं। इन षोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रश्नोपनिषद् के ६ छठे प्रश्न में लिखा है।[5]

---

१. वै० य० मुद्रित में 'जैसे सूर्य का प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है, और जैसे उसके प्रकाश में' पाठ मन्त्र तथा ग्रन्थकार कृत संस्कृत व्याख्यान से विरुद्ध है।

२. उपमा दो प्रकार की होती हैं एक ज्यायसी उपमा, दूसरी हीनोपमा (द्र०—निरुक्त ३।१३,१४)। जहां किसी की श्रेष्ठ वस्तु से उपमा दी जाती है वह ज्यायसी उपमा होती है, और जहां उपमेय से हीन पदार्थ द्वारा उपमा दी जाती है वह हीनोपमा कहाती है। यहां प्रकृत मन्त्र में सर्वव्यापक विष्णु के पद-दर्शन को द्युप्रकाश में विस्तृत चक्षु की व्याप्ति से उपमा दी है। अतः यह हीनोपमा है। सारा प्राकृत जगत् विष्णु के एक पाद में है (तीन पाद अमृतरूप हैं—यजुः ३१।३)। उस एकपाद् जगत् में हमारी चक्षु तो एक कणवद् है।

३. इस विषय में ग्रन्थकार ने 'प्रश्नोत्तर विषय' में विशेषरूप से प्रतिपादन किया है।

४. वै० य० मुद्रित में 'सर्वजगत्' के स्थान में 'प्रजा' पाठ है।

५. उक्त षोडशकलाओं और प्रश्नोपनिषद् में निर्दिष्ट नामों में एक नाम का अन्तर है। इनका निर्देश ग्रन्थकार ने यजुर्भाष्य ८।३६; ३२।५ तथा आर्याभिविनय प्र० २, मं० १४ में भी किया है, वहां भी कुछ अन्तर है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में षोडश कलाओं का ४।२५ तथा १।४६ में उल्लेख मिलता है। दोनों ही स्थानों का वर्णन परस्पर में तथा प्रश्नोपनिषद् के निर्देश से सर्वथा भिन्न है। इस सबका निर्देश इस प्रकार है—

[(ओमित्येतत्) ओम् यह जिसका नाम है, वह अक्षर है, उसका कभी नाश नहीं होता। वही चराचर जगत् में व्याप्त है, वही ब्रह्म है। इसी का ही वेदादि सकल शास्त्रों से व्याख्यान मुख्यतया किया जाता है।] इससे परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है, और उससे पृथक् जो यह जगत् है सो वेदों का गौण अर्थ है[1]। और इन दोनों में से प्रधान का ही ग्रहण होता है। इससे क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही की प्राप्ति कराने और प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर से उपदेशरूप वेदों के कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और

	प्रश्नोप० ६।४	यभा ८।३६	यभा ३२।५	ऋभाभूपृ० ५४	आर्या २।१४	जैउब्रा ४।२४	जैउब्रा १।४६
		इच्छा		ईक्षण	ईक्षण		
१	प्राण	प्राण	प्राण	प्राण	प्राण	सत्	भद्र
२	श्रद्धा	श्रद्धा	श्रद्धा	श्रद्धा	श्रद्धा	असत्	समाप्ति
३	ख (आकाश)	आकाश	आकाश	आकाश	आकाश	असत्	आभूति
४	वायु	वायु	वायु	वायु	वायु	सत्	संभूति
५	ज्योति	अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि	वाक्	भूत
६	आपः	आपः	जल	जल	जल	मनः	सर्व
७	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	मन	रूप
८	इन्द्रिय	इन्द्रिय	इन्द्रिय	इन्द्रिय	इन्द्रिय	वाक्	अपरिमित
९	मनः	मनः	मन.	मनः	मनः	चक्षुः	श्री
१०	अन्न	अन्न	अन्न	अन्न	अन्न	श्रोत्र	यशः
११	वीर्य	वीर्य	वीर्य	वीर्य	वीर्य	श्रोत्र	नाम
१२	तपः	तपः	तपः	तपः	तपः	चक्षुः	अग्र
१३	मन्त्र	मन्त्र	मन्त्र	मन्त्र	मन्त्र	श्रद्धा	सजात
१४	कर्म		कर्म	कर्म	कर्म	तपः	पयः
१५	लोक	लोक	लोक		लोक	तपः	महीयस्
१६	नाम	नाम	नाम	नाम	लोकों के नाम	श्रद्धा	रस

इन सब स्थानों में जैमिनि उपनिषद् की दोनों षोडश कलायें प्रश्नोपनिषद् से भिन्न हैं। यजुर्वेदभाष्य ३२।५ में षोडश कलाओं का निर्देश ठीक प्रश्नोपनिषद् के अनुसार है। यजुर्भाष्य ८।३६, ऋभाभूमिका तथा आर्याभिविनय में प्राण से पूर्व **'इच्छा'** वा **'ईक्षण'** (दोनों समानार्थक हैं) का समानरूप से निर्देश मिलता है। परन्तु इच्छा वा ईक्षण की वृद्धि हो जाने से १६ की संख्या की पूर्ति के लिए यभा ८।३६ में **'कर्म'** को छोड़ा है, और ऋभाभूमिका में **'लोक'** को, आर्याभिविनय में **'लोक लोकों के नाम'** को सम्भवतः इकट्ठा गिना है, अन्यथा एक संख्या की वृद्धि होगी। इस प्रकार यभा ८।३६ के अतिरिक्त ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में सर्वत्र कुछ-कुछ भेद उपलब्ध होता है। केन उपनिषद् में प्राण से पूर्व **'ईक्षण'** का निर्देश तो अवश्य है, परन्तु उसकी षोडश कलाओं में गणना नहीं है।

१. अर्थात् वेद का विज्ञानपरक आधिदैविक व्याख्यान आध्यात्मिक व्याख्यान की अपेक्षा गौण है, याज्ञिक व्याख्यान उससे भी गौणतर है। याज्ञिक आधिदैविक और आध्यात्मिक में पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर की श्रेष्ठता निरुक्तकार ने **याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा** (निरुक्त ११२०) में पुष्प और फल शब्दों से दर्शाई है।

परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें। यही मनुष्यदेह धारण करने के फल हैं।

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः, स सर्वः क्रियामयोऽस्ति। नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः। कुतः? बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याऽभ्यन्तरे युक्तत्वात्। स चानेकविधोऽस्ति। परंतु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः—एकः परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थोऽर्थाद् य ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्त्तते। अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मेणार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते।

स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते, अस्य खल्वनन्तसुखेन योगात्[1]। यदा चार्थकामफलसिद्ध्यवसानो लौकिकसुखाय योज्यते, तदा सोऽपरः सकाम एव भवति। अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात्[2]।

स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते, स तद्द्वारा सर्वजगत्-सुखकार्येव भवति। यं च भोजनाच्छादनयानकलाकौशलयन्त्रसामाजिकनियमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोऽधिकतया स्वसुखायैव भवति।

भाषार्थ—उनमें से दूसरा कर्मकाण्ड [का] विषय है, सो सब क्रियाप्रधान ही होता है। जिसके विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते। क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है। वह अनेक प्रकार का है, परन्तु उसके दो भेद मुख्य हैं—एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार। अर्थात् पहिले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है। प्रथम जो परम पुरुषार्थरूप कहा, उसमें परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणों का कीर्तन उपदेश और श्रवण करना, (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहयता की इच्छा करनी, (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्यभाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना। सो उपासना वेद और पातञ्जल योगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये। तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है। 'न्यायाचरण' उसको कहते हैं जो पक्षपात को छोड़के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और और असत्य का परित्याग करना। इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है, सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है। और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों की प्राप्ति होती है।

सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोक्ष अर्थात् सब दुःखों से छूटके केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना, यही निष्काम मार्ग कहाता है। क्योंकि इसमें संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती। इसी कारण से इसका फल अक्षय है। और जिसमें संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं, उसको सकाम

१. श्रेष्ठत्वमिति शेषः। २. हीनत्वमिति शेषः।

कहते हैं। इस हेतु से इसका फल नाशवान् होता है। क्योंकि सब कर्मों करके इन्द्रियभोगों को प्राप्त होके जन्म-मरण से नहीं छूट सकता।

अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध-पर्यन्त जो कर्मकाण्ड है, उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है। एक—सुगन्धगुणयुक्त, जो कस्तूरी केशरादि हैं। दूसरा—मिष्टगुणयुक्त, जो कि गुड़ और सहत आदि कहाते हैं। तीसरा—पुष्टिकारकगुणयुक्त, जो घृत दुग्ध और अन्न आदि हैं। और चौथा—रोगनाशकगुणयुक्त, जो कि सोमलतादि औषधि आदि हैं। इन चारों का परस्पर शोधन संस्कार और यथायोग्य मिलाके अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है, वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनेवाला होता है। इससे सब जगत् को सुख होता है। और जिसको भोजन-छादन, विमानादि यान, कलाकुशलता, यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं, वह अधिकांश से कर्त्ता को ही सुख देनेवाला होता है।

अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम्—

'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्' ॥

अ० ४। पा० ३। सू० १॥

'द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्' ॥

अ० ४। पा० ३। सू० ८॥

अनयोरर्थः—द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत् त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यम्। द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसंपादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः। यथा सूपादीना संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य[1] सधूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बद्ध्वा प्रचालयेच्च, तदा यः पूर्वं धूमवद्बाष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन् सर्वं सूपं सुगन्धम् एव करोति, तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति। तथैव यज्ञाद्यो बाष्पो जायते, स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति। अतश्चोक्तम्—

'यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते, यत्रैवं विद्वान् होता भवति' ॥

ऐ० ब्रा० पं० १। अ० २॥[2]

जनानां समूहो जनता, तत्सुखायैव यज्ञो भवति, यस्मिन् यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति। कुतः? तस्य परार्थत्वात्। यज्ञः परोपकारायैव भवति। अत एव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति। तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति, स एव क्रतुधर्मो बोध्यः। एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते, नान्यथेति।

भाषार्थ—इसमें पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है—(द्रव्य०) एक तो द्रव्य, दूसरा संस्कार, और तीसरा उनका यथावत् उपयोग करना, ये तीनों बात यज्ञ के कर्त्ता को अवश्य करनी चाहियें। सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि

१. अन्तर्णीतण्यर्थो द्रष्टव्यः—'प्रताप्य' इत्यर्थः। २. ऐ० ब्रा० पं० १। अ० २। खं० १॥

नें होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है। जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्धद्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपाके उनमें छोंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ानेवाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है, वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुखी करता है। इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है।

इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि—(यज्ञोऽपि त०) अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है, उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है। और संस्कार किये द्रव्यों का होम करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, वह भी आनन्द को प्राप्त होता है। क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा, उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा। इसलिये यज्ञ का अर्थवाद§ यह है कि अनर्थ दोषों को हटाके जगत् में आनन्द को बढ़ाता है। परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करनेवाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य [ज्ञात] होनी चाहिये। सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सबको उत्तम फल प्राप्त होता है। विशेष करके यज्ञकर्त्ता को, अन्यथा नहीं।

अत्र प्रमाणम्—

'अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति' ॥ श० कां० ५। अ० ३।[1]

अस्यायमभिप्रायः—अग्नेः सकाशाद् धूमवाष्पौ जायेते। यदाऽयमग्निर्वृक्षौषधिवनस्पति-जलादिपदार्थान् प्रविश्य तान् संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक् करोति, पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारेणोपर्य्याकाशं गच्छन्ति। तत्र यावान् जलरसांशस्तावतो वाष्पसंज्ञास्ति। यश्च निःस्नेहो भागः स पृथिव्यंशोऽस्ति। अत एवोभयभागयुक्तो धूम इत्युपचर्य्यते। पुनर्धूमगमनानन्तरमाकाशे जलसंचयो भवति। तस्मादभ्रं घना जायन्ते। तेभ्यो वायुदलेभ्यो[2] वृष्टिर्जायते। अतोऽग्नेरेवैता यवादयः ओषधयो जायन्ते। ताभ्योऽन्नमन्नाद् वीर्यं वीर्याच्छरीराणि भवन्तीति।

भाषार्थ—इसमें शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है कि—(अग्ने०) जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं, उनसे धुआं और भाफ उत्पन्न होते हैं। क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि [वह वृक्ष, ओषधि, वनस्पति तथा जलादि] पदार्थों में प्रवेश करके उनको भिन्न-भिन्न कर देता है। फिर वे हलके होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं। उनमें जितना जल का अंश है वह भाफ कहाता है, और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है। इन दोनों के योग का नाम धूम है।

§ इस शब्द का [विशेष] अर्थ आगे वेदसंज्ञा-प्रकरण में लिखा जायेगा। द० स०

१. शत० कां० ५। अ० ३। ब्रा० ५। कं० १७॥

२. तेभ्यो धूममिश्रितेभ्यो वायुदलेभ्य इत्यर्थः। वायुदलशब्दस्यैव 'यु'लोपे 'बादल' इत्यपभ्रंश उपपद्यते।

वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं। फिर वे परस्पर मिलके वादल होके उनसे वृष्टि, वृष्टि से [यव आदि] ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से[1] शरीर और शरीर से कर्म वनता है।

अत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषद्यप्युक्तम्—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नं[2], अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः[3], स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' ॥ आनन्दवल्ल्यां[4] प्रथमेऽनुवाके ॥

'स तपोऽतप्यत तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति विजानात्[5]। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' ।'
भृगुवल्ल्यां [प्रथमेऽनुवाके] द्वितीयेऽनुवाके [च] ॥

'अन्नं ब्रह्मे'त्युच्यते, जीवनस्य बृहद्धेतुत्वात्। शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति, नातोऽन्यथेति।

भाषार्थ—इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि—(तस्माद्वा०) परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी आदि तत्व उत्पन्न हुए हैं। और उनमें ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि उत्पत्ति जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं। यहां अन्न का नाम ब्रह्म है।[6] क्योंकि जिसका जो कार्य है वह उसी में मिलता है। वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्था[7] होती हैं, और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है, इससे अन्न को 'ब्रह्म' कहते हैं। जब होम से वायु जल और औषधि आदि शुद्ध होते हैं, तब सब जगत् को सुख, और अशुद्ध होने से सबको दुःख होता है। इससे इनकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिये।

---

१. वै० य० मुद्रित में 'अन्न से धातु, धातुओं से' पाठ है।

२. तै० उपनिषदि '**ओषधीभ्यो०**' पाठ उपलभ्यते।

३. तै० उपनिषदि '**अन्नात् पुरुषः**' पाठ उपलभ्यते। '**अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः**' इत्यपि पाठः क्वचिदुपलभ्यते। तैत्तिरीयोपनिषद् तैत्तिरीयारण्यके पठ्यते। तत्र द्र०—आनन्दाश्रम पूना संस्करण प्र० ८, अ० २, भाग २, पृष्ठ ५६३, टि० ४॥

४. '**पदेषु पदैकदेशान्**' इति न्यायेन 'आनन्दवल्ली' शब्देनेह ब्रह्मानन्दवल्ली ज्ञेया। तदुक्तम्—'**पदेषु पदैकदेशान्—देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति**'। महाभाष्य १।१।४४॥

५. तै० उपनिषदि 'स तपस्तप्त्वा......व्यजानात्' इत्येवं पाठ उपलभ्यते।

६. वै० य० मुद्रित में 'यहां ब्रह्म का नाम अन्न और अन्न का नाम ब्रह्म भी है' ऐसा पाठ है। यह तथा अगला पाठ संस्कृत अनुसारी नहीं है।

७. जायन्ते, जीवन्ति, प्रयन्ति = उत्पन्न होना, जीना, नष्ट होना रूप तीन अवस्थायें।

तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च। ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्यो निर्मितः, सुगन्धः पुष्पादिश्च। स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति। तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अभीष्टानिष्टगुणयोगात् मध्यगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात्। तज्जलवृष्टावोषध्यन्नरेतःशरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति। तन्मध्यमत्वाद् बलबुद्धिवीर्य्यपराक्रमधैर्य्यशौर्य्यादयोऽपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते। कुतः ? यस्य यादृशं कारणमस्ति, तस्य तादृशमेव कार्य्यं भवतीति दर्शनात्[1]। अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति। कुतः ? दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावात्। यतो दुर्गन्धादिविकारस्योत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य एव भवति, तस्मादस्य निवारणमपि मनुष्यैरेव करणीयमिति। यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता 'सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यं नानृतम् इति[2], यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान् भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति, तथा 'यज्ञः कर्त्तव्यः' इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति[3], तामपि यः उल्लङ्घयति सोऽपि पापीयान् सन् क्लेशवांश्च भवति।

[4]कुतः ? सर्वोपकाराकरणात्। यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति, तत्र तावानेव दुर्गन्धसमुदायो जायते। न चैवायमीश्वरसृष्टिनिमित्तो भवितुमर्हति। कुतः ? तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात्। यत्तु खलु मनुष्याः स्वसुखार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकत्र बाहुल्यं कुर्वन्ति, अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्यसुखेच्छानिमित्त एव जायते। एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्पद्यतेऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्या एव कर्तुमर्हन्ति।

[5]तेषां मध्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति। मननं विचारस्तद्योगादेव मनुष्यत्वं जायते[6]। परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्त्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात्। अतस्त एव धर्माधर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठानाननुष्ठाने च कर्तुमर्हन्ति न चान्ये। अस्मात् कारणात् सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्त्तव्य एव।

भाषार्थ—सो उनकी शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है—एक तो ईश्वर का किया हुआ, और दूसरा जीव का। उनमें से ईश्वर का किया यह है कि उसने अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर खैंचता है। और जो पुष्पादि का सुगन्ध है वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है। परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम [गुणवाले] कर देते हैं। उस जल की वृष्टि से ओषधि अन्न वीर्य और शरीरादि भी मध्यम गुणवाले हो जाते हैं।

१. 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।' वैशे० द० २।१।२४॥
२. 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ यजुः १।५॥
३. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। यजुः ३१।१६॥
४. अयं पाठः वै० य० मुद्रितेऽग्रे पठ्यते, स चानेनैव सन्दर्भेण सम्बद्ध इति कृत्वेहानीतः।
५. अयमपि पाठः वै० य० मुद्रितेऽपूर्वपाठादग्रे पठ्यते, स चाप्यनेनैव सन्दर्भेण सम्बद्ध इति कृत्वेहानीतः।
६. मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति, मनस्यमानेन सृष्टाः। निरु० ३।७॥

और उनके योग से बुद्धि बल पराक्रम,धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी मध्यम[1] ही होते हैं। क्योंकि जिसका जैसा कारण होता है, उसका वैसा ही कार्य होता है। यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टिजल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है। सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है इस कारण से उसका निवारण करना भी मनुष्यों ही को उचित है। जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है, मिथ्याभाषणादि की नहीं[2]। जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है, वह अत्यन्त पापी होता है, और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उसको क्लेश भी होता है। वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है[3], इसको जो नहीं करता, वह भी पापी होके दुःख का भागी होता है।

[4]क्योंकि सबके उपकार करनेवाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है। जहां जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं, वहां उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है। क्योंकि हस्ती आदि के समुदायों को मनुष्य अपने ही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं, इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है, सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है। इससे क्या आया? कि जब वायु और वृष्टिजल को बिगाड़नेवाला सब दुगन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है, तो उसका निवारण करना भी उनको ही योग्य है।

[4]क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं, उनमें से मनुष्य ही उत्तम हैं। इससे वे ही उपकार और अनुपकार को जानने के योग्य हैं। मनन नाम विचार का है, जिसके होने से ही 'मनुष्य' नाम होता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोगविशेष [से विज्ञानोत्पत्ति के अनुकूल अवयव] इस प्रकार रचे हैं कि जिनसे उनको ज्ञान की उत्पत्ति[5] होती है। इसी कारण स धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य होते हैं, अन्य नहीं। इससे सबके उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है।

किञ्च भोः! कस्तूर्यादीनां सुरभियुक्तानां द्रव्याणामग्नौ प्रक्षेपणेन विनाशात् कथमुपकाराय यज्ञो भवितुमर्हतीति? किं त्वीदृशैरुत्तमैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजनादिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते, पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति?

अत्रोच्यते—नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति।[6] विनाशो हि यद् दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्ये-

१. वै० य० मुद्रित में 'निकृष्ट' पाठ है। वह प्रकरण और संस्कृत पाठ के विपरीत होने से त्याज्य है।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ ६०, टि० २।

३. द्र० पूर्व पृष्ठ ६०, टि० ३॥

४. इससे पूर्व वै० य० मुद्रित में 'भाषार्थ'—पद का निर्देश है। इसके संस्कृत भाग का पूर्व सन्दर्भ से सम्बन्ध होने से हमने इसे पूर्व संस्कृत पाठ के पश्चात् छापा है। अतः यहां 'भाषार्थ' पद के अनावश्यक होने से हमने इसे हटा दिया है।

५. वै० य० मुद्रित में 'उन्नति पाठ' है।

६. 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' गीता २।१६॥

तेति[1] विज्ञायते। परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते? अष्टविधं चेति। किञ्च तत्?

अत्राहुर्गोतमाचार्या न्यायशास्त्रे—

'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' ॥१॥

'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च' ॥ २ ॥

'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' ॥ ३ ॥

'आप्तोपदेशः शब्दः' ॥ ४ ॥ अ० १। आह्निकम् १। सू० ४—७ ॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावसाधनभेदादष्टधा प्रमाणं मया मन्यत इति।

तत्र यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात् सत्यमव्यभिचारि ज्ञानमुत्पद्यते, तत् प्रत्यक्षम्। सन्निकटे[2] दर्शनान्मनुष्योऽयं नान्य इत्याद्युदाहरणम् ॥ १ ॥

यत्र लिङ्गज्ञानेन लिङ्गिनो ज्ञानं जायते तदनुमानम्। पुत्रं दृष्ट्वाऽऽसीदस्य पितेत्याद्युदाहरणम् ॥ २ ॥

उपमानं सादृश्यज्ञानम्। यथा देवदत्तोऽस्ति तथैव यज्ञदत्तोऽप्यस्तीति साधर्म्याद् उपदिशतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ३ ॥

शब्द्यते प्रत्याय्यते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः। ज्ञानेन मोक्षो भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥४॥

भाषार्थ—प्र०—सुगन्धयुक्त जो कस्तूरी आदि पदार्थ हैं, उनको अन्य द्रव्यों में मिलाके अग्नि में डालने से उनका नाश हो जाता है, फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता। किन्तु ऐसे उत्तम-उत्तम पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है। फिर यज्ञ किस लिये[3] करना चाहिये?

उ०—किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता, केवल वियोगमात्र होता है। परन्तु यह तो कहिये कि आप विनाश किसको कहते हैं? जो स्थूल होके प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े, उसको हम विनाश कहते हैं। प्र०—आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं? उ०—आठ प्रकार का। प्र०—कौन कौन सा? उ०—प्रत्यक्ष १, अनुमान २, उपमान ३, शब्द ४, ऐतिह्य ५, अर्थापत्ति ६, सम्भव ७, और अभाव ८। इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन मानते हैं।

[इस विषय में गोतमाचार्य न्यायदर्शन में कहते हैं—]

(इन्द्रियार्थ०) इनमें से 'प्रत्यक्ष' उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो। जैसे दूर से देखने में संदेह हुआ कि वह मनुष्य है वा

१. द्र०—णश (=नश) अदर्शने धातुः (धातुपाठ ४।८३)।

२. 'सन्निकृष्टे' इति शुद्धतरः पाठः स्यात्।   ३. वै० य० मुद्रित में 'यज्ञ करना किसलिए' पाठ है।

कुछ और। फिर उसके समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है अन्य नहीं। इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं ॥१॥

(अथ तत्पू०) और जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो, वह 'अनुमान' कहाता है। जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इसके माता पिता आदि हैं, वा अवश्य थे। इत्यादि उसके उदाहरण हैं ॥२॥

(प्रसिद्ध०) तीसरा 'उपमान' कि जिससे किसी का तुल्यधर्म देखके समान धर्मवाले का ज्ञान हो। जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त है, उसी प्रकार का वह यज्ञदत्त भी है, उसके पास जाके इस काम को कर ला। इस प्रकार के तुल्यधर्म से जो ज्ञान होता है, उसको 'उपमान' कहते हैं ॥३॥

(आप्तोप०) चौथा 'शब्द' प्रमाण है कि जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय करानेवाला है। जैसे 'ज्ञान से मोक्ष होता है', यह आप्तों के उपदेश शब्द प्रमाण का उदाहरण है ॥४॥

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ ५ ॥

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानामनर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ ६ ॥ अ० २। आ० २। सू० १, २ ॥

न चतुष्ट्वमिति सूत्रद्वयस्य संक्षिप्ततोऽर्थः क्रियते—

(ऐतिह्यम्) शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टं ग्राह्यम्—देवासुराः संयत्ता आसन्[1] इत्यादि ॥५॥

(अर्थापत्तिः) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः। केनचिदुक्तं सत्सु घनेषु वृष्टिर्भवतीति। किमत्र प्रसज्यते ?, असत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ६ ॥

(सम्भवः) सम्भवति येन यस्मिन् वा स सम्भवः। केनचिदुक्तं मातापितृभ्यां सन्तान जायते, सम्भवोऽस्तीति वाच्यम्। परन्तु कश्चिद् ब्रूयात्—'कुम्भकरणस्य क्रोशचतुष्टयपर्यन्तं श्मश्रुणः केशा ऊर्ध्वं स्थिता आसन्, षोडशक्रोशमूर्ध्वं नासिका च' 'असम्भवत्वान्मिथ्यैवास्तीति विज्ञायते, इत्याद्युदाहरणम् ॥ ७ ॥

(अभावः) कोऽपि ब्रूयाद्—घटमानयेति, स तत्र घटमपश्यन्नत्र घटो नास्तीत्यभावलक्षणेन यत्र घटो वर्तमानस्तस्मादनयति[2] ॥ ८ ॥ [५। ६]

इति प्रत्यक्षादीनां संक्षेपतोऽर्थः। एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते। सत्यमेवमेतत्। नैवमङ्गीकारेण विना समग्रौ व्यवहारपरमार्थौ कस्यापि सिध्येताम्।

---

१. शत० १३।३।४।१॥

२. वै० य० मुद्रिते 'आनीयते' अपपाठः, वाक्यादौ 'सः' पदस्य दर्शनात्।

[1]यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहूवेगेनाकाशे प्रतिक्षिपेत्, तस्य नाशो भवतीत्युपचर्य्यते, चक्षुषा दर्शनाभावात्। 'णश अदर्शने' अस्माद् घञ्प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिध्यति। अतो नाशो बाह्येन्द्रियाऽदर्शनमेव भवितुमर्हति। किञ्च, यदा परमाणवः पृथक् पृथक् भवन्ति, तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते, तेषामतीन्द्रियत्वात्। यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते, तदैव तद् द्रव्यं दृष्टिपथमागच्छति, स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात्। यद् द्रव्यं विभक्तं[2] विभागानर्हं भवति, तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः। ते हि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्त्तन्त एव।

भाषार्थ—(ऐतिह्यम्) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे इतिवृत्त[3] का नाम 'इतिहास' है। जैसे 'देव और असुर युद्ध करने के लिये तत्पर हुए थे'। जो यह इतिहास ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि सत्यग्रन्थों में लिखा है, उसी का ग्रहण होता है, अन्य का नहीं। यह पांचवां प्रमाण है ॥५॥

और छठा (अर्थापत्तिः) जो एक बात किसी ने कही हो, उससे विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे। जैसे किसी ने कहा कि—'बादलों के होने से वृष्टि होती है'। दूसरे ने इतने ही कहने से जान लिया कि 'बादलों के विना वृष्टि कभी नहीं हो सकती'। इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है, उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं।

सातवां (संभवः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि—'माता-पिता से सन्तानों की उत्पत्ति होती है'। तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो सम्भव है। परन्तु जो कोई ऐसा कहे कि –'रावण के भाई कुम्भकरण की मूंछ चार कोश तक आकाश में ऊपर खड़ी रहती थी। और उसकी नाक १६ सोलह कोशपर्यन्त लम्बी-चौड़ी थी,' उसकी यह बात मिथ्या समझी जायगी। क्योंकि ऐसी बात का संभव कभी नहीं हो सकता ॥७॥

और आठवां (अभावः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि—'तुम घड़ा ले आओ'। और जब उसने वहां नहीं पाया, तब वह जहां पर घड़ा था, वहां से ले आया ॥८॥

इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हूं। यहां इन आठों का अर्थ संक्षेप से किया है।$

उ०—यह बात सत्य है कि इनके विना माने सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का सिद्ध नहीं हो सकता। इससे इन आठों को हम लोग भी मानते हैं।

नाश को समझने के लिये यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मट्टी के ढेले को पीसके वायु के बीच में बल से फैंकदे। फिर जैसे वे छोटे-छोटे कण आंख से नहीं दीखते। [उसके लिये कहा जाता

$कहीं कहीं शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति संभव और अभाव को मानने से (४) चार प्रमाण रहते हैं। द० स०

१. अयं पाठो वै० य० मुद्रिते उत्तरत्र पृथग्रूपेण पठ्यते। अस्य पूर्वसन्दर्भेण सहैकवाक्यत्वादस्माभिरयमिहानीतः।

२. प्रथमसंस्करणे 'विभक्तं विभक्तमन्ते विभागानर्हं' पाठो दृश्यते। स चात्र युक्तः, परन्तु तदीयसंशोधनपत्रे 'विभक्तमन्ते' पाठो निष्काशितः।

३. वै० य० मुद्रित में 'उपदेश' पाठ है।

है कि वह नष्ट हो गया ।] क्योंकि (णश) धातु का अदर्शन ही अर्थ है । [इसी से 'घञ्' प्रत्यय होकर 'नाश' शब्द बनता है । इसलिये नाश बाह्येन्द्रिय से अदर्शन के लिये ही प्रयुक्त होता है ।] जब परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं, तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम 'नाश' है । और जब परमाणु के संयोग से द्रव्य स्थूल[1] अर्थात् बड़ा होता है, तब वह देखने में आता है । और 'परमाणु' उनको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न हो सके ।[2]

तथैवाग्नौ यद् द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्त्तत एव । न हि तस्याभावः कदाचिद् भवति । एवं यद् दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादियुक्तं द्रव्यमस्ति, तच्चाग्नौ हुतं सद् वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति । तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महान् ह्युपकारो भवति सुखं च । अतः कारणाद् यज्ञः कर्त्तव्य एवेति ।

किंच भोः ! वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणां मध्ये सुगन्धादिद्रव्यरक्षणेनैतत् सेत्स्यति, पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः ?

नैवं शक्यम् । नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाऽऽकाशं गच्छति, तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात् । तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्तोऽस्त्यवकाशाभावात् । तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्त्तमानत्वाद् आरोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति ।

भाषार्थ—वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है, उसके अणु अलग-अलग होके आकाश में रहते ही हैं । क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता । इससे वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करनेवाला अवश्य होता है । फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है । इसी कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये ।

प्र०—जो यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनामात्र ही प्रयोजन है, तो इसकी सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है । फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना ?

उ०—यह कार्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिलके रहता है । उसको छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता,

---

१. वै० य० मुद्रित में 'स्थूल द्रव्य' अपपाठ है ।

२. यहां से आगे वै० य० मुद्रित में 'परन्तु यह बात केवल एकदेशी है, क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है । जिसकी परिधि और व्यास बन सकता है उसका भी टुकड़ा हो सकता है । यहां तक कि जब पर्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्यन्त ज्ञान से बराबर कटता ही चला जाएगा ।' यह पाठ मिलता है । यह न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त के विपरीत है । प्रतीत होता है कि भाषानुवादक ने शाङ्करमत के अनुसार ये पंक्तियां अपनी ओर से डाल दीं । संस्कृत भाग में इस मत का सर्वथा अभाव है । ऋषियों में प्रामाण्यबुद्धि रखने वाले ग्रन्थकार न्याय वैशेषिक दर्शन के विपरीत निर्देश नहीं कर सकते ।

और न वह ऊपर चढ़ सकता है। क्योंकि उसमें हलकापन नहीं होता। उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता। क्योंकि खाली जगह के विना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता। फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी नहीं हो सकते।

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते, तदाऽग्निना पूर्वो वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वमापन्न उपर्याकाशं गच्छति। तस्मिन् गते सति तत्रावकाशत्वाच्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति। तेन गृहाकाशस्य पूर्णत्वाद् आरोग्यादिकं फलमपि जायते।

भाषार्थ—और जब अग्नि उस वायु को वहां[1] से हल्का करके निकाल देता है, तब वहां शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है। इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि जो होम के परमाणु[ओं से] युक्त शुद्ध वायु है, सो पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकालके, उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके, रोगों का नाश करनेवाला होता, और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त कराता है।

यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति, स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा वृष्टयाधिक्यमपि करोति। तद्द्वारौषध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धत इति निश्चीयते। एतत् खल्वग्निसंयोगरहितसुगन्धेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति। तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम्।

भाषार्थ—जो वायु सुगन्ध्यादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होम द्वारा आकाश में चढ़के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता, और उससे वृष्टि भी अधिक होती है। क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है। शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्नादि ओषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती हैं। ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति अधिक-अधिक सुख बढ़ता है। यह फल अग्नि में होम करने के विना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है। इससे होम का करना अवश्य है।

अन्यच्च, दूरस्थले केनचित् पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः क्रियते, तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति। सोऽत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव। अनेन विज्ञायते वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं च द्रव्यं गच्छतीति। तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति, पुनर्बालबुद्धीनां भ्रमो भवति—स सुगन्धो नास्तीति, परन्तु तस्य हुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्त्तमानत्वात्[2] तैर्न विज्ञायते। अन्यदपि खलु होमकरणस्य बहुविधमुत्तमं फलमस्ति, तद्विचारेण बुधैर्विज्ञेयमिति।

१. अर्थात् उस घर में से जहां होम करते हैं।

२. 'तैः' बालबुद्धिभिरज्ञैरित्यर्थः।

भाषार्थ –और भी सुगन्ध के नाश नहीं होने में कारण है कि—किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीजों का अग्नि में होम किया हो, उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है, सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहां सुगन्ध वायु है। इससे जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है। और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त सूक्ष्म होके जाता-आता है। परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है, तब उसके नाक इन्द्रिय से संयोग भी छूट जाता है। फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा। परन्तु यह उनको[1] अवश्य जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बना ही रहता है। इनसे अन्य भी होम करने के बहुत से उत्तम फल हैं, उनको बुद्धिमान् लोग विचार से जान लेंगे।

यदि होमकरणस्यैतत् फलमस्ति, तद्धोमकरणमात्रेणैव सिध्यति। पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थं क्रियते ?

अत्र ब्रूमः—एतस्यान्यदेव फलमस्ति। किम् ?, यथा हस्तेन होमो, नेत्रेण दर्शनं, त्वचा स्पर्शनं च क्रियते, तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते। तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते। होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं, तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणम्, ईश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च। अन्यच्च, सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्य्येत्युपदेशः। यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात् सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम्।

भाषार्थ—प्र०—होम करने का जो [यह] प्रयोजन है, सो तो केवल होम से ही सिद्ध होता है, फिर वहां वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है ?

उ०—उनके पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है। प्र०—वह क्या है ? उ०—जैसे हाथ से होम करते, आंख से देखते, और त्वचा से स्पर्श करते हैं,वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते है। क्योंकि उनके पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना होती है। तथा होम से जो-जो फल होते हैं उनका स्मरण भी होता है। वेदमन्त्रों के वारंवार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं [तथा वेदों की रक्षा भी होती है।] और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न हो जाय। [2]ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मो का आरम्भ करना होता है। सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र होती है। इसलिये सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित है।

कश्चिदत्राह—वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित् पाठस्तत्र क्रियेत, तदा किं दूषणमस्तीति ?

अत्रोच्यते—नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत् प्रयोजनं सिध्यति। कुतः ? ईश्वरोक्ताभावान्निरतिशयसत्यविरहाच्च। यद्धि यत्र क्वचित् सत्यं प्रसिद्धमस्ति, तत्तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। यद्यत् खल्वनृतं, तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद् बहिरिति च। अत्रार्थे मनुराह—

१. अर्थात् बालबुद्धि अज्ञानियों को। २. वै० य० मद्रित में 'क्योंकि ईश्वर की' पाठ है।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो ॥ १ ॥ अ० १ । श्लोक ३ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥ २ ॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ३ ॥

अ० १२ । श्लोक ९७, ९९ ॥

भाषार्थ—प्र०—यज्ञ में वेदमन्त्रों को छोड़के दूसरे का पाठ करें, तो क्या दोष है ?

उ०—अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता । क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रांतिरहित सत्य होता है, वैसा अन्य का नहीं । [1](और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि, आप्त पुरुषों के ग्रन्थों का बोध, और उनकी शिक्षा से वेदों को यथावत् जानके कहता है, उसका भी वचन सत्य होता है । और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक-ठीक नहीं हो सकता ।) इससे यह निश्चय है कि जहां-जहां सत्य दीखता और सुनने में आता है, वहां-वहां वेदों में से ही फैला है । और जो-जो मिथ्या है सो-सो वेद से नहीं, किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है । क्योंकि जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता । इस विषय में मनु का प्रमाण है कि—

(त्वमे०) मनुजी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयंभू जो सनातन वेद हैं, जिनमें असत्य कुछ भी नहीं, और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है, उसके अर्थ को जाननेवाले केवल आप ही हैं ॥१॥

(चातु०) अर्थात् चार वर्ण, [तीनों लोक,] चार आश्रम, भूत भविष्यत् और वर्त्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं ॥२॥ क्योंकि—

(बिभर्त्ति०) यह जो सनातन वेदशास्त्र है सो सब विद्याओं के दान से सम्पूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त कराता[2] है, इस कारण से हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं । और इसी प्रकार मानना भी चाहिये, क्योंकि सब जीवों के लिये सब सुखों का साधन यही है ॥३॥

किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः, प्रणीतादीनि पात्राणि, कुशतृणं, यज्ञशाला, ऋत्विजश्चैतत्[3] सर्वं करणीयमस्ति ?

१, इस कोष्ठान्तर्गत पाठ का मूल संस्कृत-भाग में नहीं है ।

२. वै० य० मुद्रित में 'करता' अपपाठ है ।

३. 'ऋत्विग्वरणं चैतत्' इत्येवं पाठो युक्ततरः स्यात् ।

अत्र ब्रूमः—यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत् कर्त्तव्यं, नेतरत्। तद्यथा—भूमिं खनित्वा वेदी रचनीया। तस्यां होमे कृतेऽग्नेस्तीव्रत्वाद्धुतं द्रव्यं सद्यो विभेदं प्राप्याकाशं गच्छति। तथा वेदि-दृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोणगोलश्येनाद्याकारवत्करणाद् रेखागणितमपि साध्यते। तत्र चेष्टकानां परिगणितत्वादनया गणितविद्यापि गृह्यते। एवमेवोत्तरेऽपि पदार्थाः सप्रयोजनाः सन्त्येव। परन्त्वेवं प्रणीतायां रक्षितायां पुण्यं स्याद् एवं पापमिति यदुच्यते, तत्र पापनिमित्ताभावात् सा कल्पना मिथ्यैवास्ति। किन्तु खलु यज्ञसिद्ध्यर्थं यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति, तत्तदेव ग्राह्यम्। कुतः? तैर्विना तदसिद्धेः।

भाषार्थ—प्र०—क्या यज्ञ करने के लिये पृथिवी खोद के वेदिरचन, प्रणीता, प्रोक्षणी और चमसादि पात्रों का स्थापन, दर्भ का रखना, यज्ञशाला का बनाना और ऋत्विजों का [वरण] करना, यह सब करना ही चाहिये?

उ०—करना तो चाहिये, परन्तु जो-जो युक्तिसिद्ध हैं सो-सो ही करने के योग्य हैं। क्योंकि जैसे वेदि बनाके उसमें होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न-भिन्न परमाणुरूप होके वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है, ऐसे ही वेदि में भी अग्नि तेज होने, और होम का साकल्य इधर-उधर बिखरने से रोकने के लिये वेदि अवश्य रचनी चाहिये। और वेदि के त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणित विद्या भी जानी है कि जिससे त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत् बोध हो। तथा उसमें जो ईंटों की संख्या की है, उससे गणितविद्या भी समझी जाती है।[1] इस प्रकार से कि जब इतनी लम्बी चौड़ी और गहरी वेदि हो, तो उसमें इतनी बड़ी ईंटें इतनी लगेंगी, इत्यादि वेदि के बनाने में बहुत प्रयोजन हैं। तथा सुवर्ण, चांदी वा काष्ठ के पात्र इस कारण से बनाते हैं कि उनमें जो घृतादि पदार्थ रक्खे जाते हैं वे बिगड़ते नहीं। और कुश इसलिये रखते हैं कि जिससे यज्ञशाला का मार्जन हो, और चिंवटी आदि कोई जन्तु वेदि की ओर अग्नि में न गिरने पावें। ऐसे ही यज्ञशाला बनाने का यह प्रयोजन है कि जिससे अग्नि की ज्वाला में वायु अत्यन्त न लगे, और वेदि में कोई पक्षी किंवा उनकी बीठ भी न गिरे। इसी प्रकार ऋत्विजों के विना यज्ञ का काम कभी नहीं हो सकता, इत्यादि प्रयोजन के लिये यह सब विधान यज्ञ में अवश्य करना चाहिये। इनसे भिन्न द्रव्य की शुद्धि और संस्कार आदि भी अवश्य करने चाहियें। परन्तु इस प्रकार से प्रणीतापात्र रखने से पुण्य और इस प्रकार रखने से पाप होता है, इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है।[2] किन्तु जिस प्रकार करने में यज्ञ का कार्य अच्छा बने, वही करना अवश्य है, अन्य नहीं।

यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते? याश्च वेदोक्ताः। अत्र प्रमाणानि—

अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा

---

१. यहां से आगे की भाषा पूर्व वाक्य के वैशद्यार्थ अनुवादमात्र है।

२. यहाँ पापरूप कल्पना का मिथ्यात्व दर्शाया है। इसका यह भाव नहीं कि वेदि में जो पात्र जिस स्थान पर रखने का विधान है, उसका यथोचित पालन न किया जाए।

देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ यजुः अ० १४ । मं० २० ॥

अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् । गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते, तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्द्योतकत्वात् । यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते, स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव वातः सूर्य्यश्चन्द्रमा वसवो रुद्रा आदित्या मरुतो विश्वेदेवा बृहस्पतिरिन्द्रो वरुणश्चैतेऽच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते । तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्, परमाप्तेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ।

भाषार्थ—प्र०—यज्ञ में देवता-शब्द से किसका ग्रहण होता है ?

उ० जो-जो वेद में कहे हैं, उन्हीं का ग्रहण होता है । इसमें यह यजुर्वेद का प्रमाण है कि—(अग्निर्देव०) कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं । क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द हैं, वे ही 'देवता' कहाते हैं । और इन वेदमन्त्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है । इसमें यह कारण है कि जिन-जिन मन्त्रों में अग्नि आदि शब्द हैं, उन-उन मन्त्रों का और उन-उन शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता-नामों से ग्रहण होता है । मन्त्रों का देवता नाम इसलिये है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है ।

अत्राह यास्काचार्य्यो निरुक्ते—

'कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो वेदे' ॥ निरु० अ० १ । खं० २ ॥

'अथातो दैवतम् । तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा । यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । तास्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च' ॥

निरु० अ० ७ । खं० १ ॥

अस्यार्थः—(कर्मसं०) कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च संपत्तिः संपन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते । तथा च कर्मणां संपत्तिर्मोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च, सोऽपि मन्त्रो मन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्य्यः ।

[(अथातो०)] अथेत्यनन्तरं दैवतं किम् ? उच्यते । यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते । यानि नामानि मन्त्रोक्तानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते, तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति । तद्यथा—

'अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे । देवाँ २ऽ आ सादयादिह ॥

यजुः० अ० २२ । मं १७ ॥

अत्राग्निशब्दो लिङ्गमस्ति। अतः किं विज्ञेयम्? यत्र यत्र देवतोच्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्य इति। यस्य द्रव्यस्य नामाङ्कितं यच्छन्दोऽस्ति, तदेव दैवतमिति बोध्यम्। सा एषा देवतोपपरीक्षाऽतीता आगामिनी चास्ति। अत्रोच्यते—

ऋषिरीश्वरः सर्वदृग्, यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति। किञ्च यदेवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति, स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योऽस्तीति विज्ञायते। देवताभिधा ऋचो याभिर्विद्वांसः सर्वाः सत्यविद्याः स्तुवन्ति प्रकाशयन्ति, ऋच स्तुताविति धात्वर्थयोगात्। ता श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकारका सन्ति— परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्चेति। यासां देवतानामृचां परोक्षकृतोऽर्थोऽस्ति ताः परोक्षकृताः। यासां प्रत्यक्षमर्थो दृश्यते ताः प्रत्यक्षकृता ऋचो देवताः। आध्यात्मिक्यश्चाध्यात्मं जीवात्मानं तदन्तर्यामिणं परमेश्वरं च प्रतिपादितुमर्हा या ऋचो मन्त्रास्ता आध्यात्मिक्यश्चेति। एता एव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्था सन्तीति विज्ञेयम्।

भाषार्थ—(कर्मसं) वेदमन्त्रों करके अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त सब यज्ञों की [तथा] शिल्पविद्या और उनके साधनों की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति होती, और कर्मकाण्ड[1] को लेके मोक्ष-पर्य्यन्त सुख मिलता है, इसी हेतु से उनका नाम 'देवता' है।

(अथातो०) दैवत उनको कहते हैं कि जिनके गुणों का कथन किया जाय, अर्थात् जो-जो संज्ञा जिन-जिन मन्त्रों में जिस-जिस अर्थ की होती है, उन-उन मन्त्रों का नाम वही देवता होता है। जैसे 'अग्निं दूतं०' इस मन्त्र में अग्नि शब्द चिह्न है, यहां इसी मन्त्र को अग्नि देवता जानना चाहिये। ऐसे ही जहां-जहां मन्त्रों में जिस-जिस शब्द का लेख है, वहां-वहां उस-उस [लिङ्ग] वाले मन्त्र को ही देवता समझना होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये। सो देवता शब्द से जिस-जिस गुण से जो-जो अर्थ लिये जाते हैं, सो-सो निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में अच्छी प्रकार लिखा है।

इसमें यह कारण है कि ईश्वर ने जिस-जिस अर्थ को जिस-जिस नाम से वेदों में उपदेश किया है, उस-उस नामवाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है। सो वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं। उनमें से कई एक परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के, कई एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव, परमेश्वर ([2]और सब पदार्थों के कार्य्य कारण) के प्रतिपादन करनेवाले हैं। इससे क्या आया कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं, उनके विधान करनेवाले मन्त्र ही हैं। इसी कारण से इनका नाम देवता है।

तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा—यद्दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा

---

१. यहां भाषानुवाद ठीक नहीं है। इस प्रकार चाहिये—'उन वेदमन्त्रों से कर्मों की सम्पत्ति अर्थात् मोक्षलाभ और परमेश्वर की प्राप्ति होती है, इसी हेतु से उन मन्त्रों और मन्त्रार्थों का नाम देवता है।'

२. कोष्ठान्तर्गत पाठ असम्बन्ध सा है।

तद्देवता भवन्ति, अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिकाः, नाराशंसा इति नैरुक्ताः, अपि वा सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वा, अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके—देवदेवत्यम्, अतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं, याज्ञदैवतो मन्त्र इति ॥ निरु० अ० ७ । खं० ४ ॥

(तद्येऽनादि०) **तत्तस्माद् ये खल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा अर्थान्न विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते, तेषु देवतोपपरीक्षा कास्तीत्यत्रोच्यते—यत्र विशेषो न दृश्यते तत्रैवं यज्ञो देवता, यज्ञाङ्गं वेत्येतद्देवताख्यमिति विज्ञायते। ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वरदेवताका मन्त्रा भवन्तीत्येवं याज्ञिका मन्यन्ते। अत्रैवं विकल्पोऽस्ति—नाराशंसा मनुष्यविषया इति नैरुक्ता ब्रुवन्ति। तथा या कामना सा कामदेवता भवतीति सकामा लौकिका जना जानन्ति। एवं देवताविकल्पस्य प्रायेण लोके बहुलमाचारोऽस्ति। क्वचिद्देवदेवत्यं कर्म, मातृदेवत्यं, विद्वद्देवत्यम्, अतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं चैतेऽपि पूज्याः सत्कर्त्तव्याः सन्त्यतस्तेषामुपकारकर्तृत्वमात्रमेव देवतात्वमस्तीति विज्ञायते। मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वाद् याज्ञदैवता एव सन्तीति निश्चीयते।**

भाषार्थ—जिन-जिन मन्त्रों में देवतारूप से किसी[1] विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध नहीं दीख पड़ता, वहां-वहां यज्ञ आदि को देवता जानना होता है। (अग्निमीळे०) इस मन्त्र के भाष्य[2] में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है, अर्थात् एक तो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध-पर्य्यन्त, दूसरा प्रकृति से लेके पृथिवी-पर्य्यन्त जगत् का रचनरूप तथा शिल्पविद्या, और तीसरा सत्सङ्ग आदि से जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ है, ये ही उन मन्त्रों के देवता जानने चाहियें। तथा जिनसे यह यज्ञ सिद्ध होता है, वे यज्ञाङ्ग भी मन्त्रों के देवता[3] हैं। और जो इनसे भिन्न मन्त्र हैं [वे] प्राजापत्य अर्थात् उनका परमेश्वर ही देवता है। तथा जो मन्त्र मनुष्यों का प्रतिपादन करते हैं, उनके मनुष्य देवता है। इसमें बहुत प्रकार के विकल्प हैं—कि कहीं पूर्वोक्त देवता कहाते हैं, कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं माता, कहीं पिता, कहीं विद्वान्, कहीं अतिथि और कहीं आचार्य्य देव कहाते हैं। परन्तु इसमें इतना भेद है कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं।

अत्र परिगणनम्—गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्राः, ईश्वराज्ञा, यज्ञः, यज्ञाङ्गं, प्रजापतिः परमेश्वरः, नराः, कामः, विद्वान्, अतिथिः, माता, पिता, आचार्य्यश्चेति कर्मकाण्डादीन् प्रत्येता देवताः सन्ति। परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः।

भाषार्थ—जो जो गायत्र्यादि छन्दों से युक्त वेदों के मन्त्र, उन्हीं में ईश्वर की आज्ञा यज्ञ और उनके अङ्ग अर्थात् साधन, प्रजापति जो परमेश्वर, नर जो मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि,

---

१. वै० य० मुद्रित में 'मन्त्रों में सामान्यरूप अर्थात् जहां जहां किसी' ऐसा अपपाठ है।

२. यहां ऋग्वेदभाष्य का २४ पृष्ठ का जो नमूने का अंक वि० सं० १९३३ में छपा था, उसमें व्याख्यात **'अग्निमीळे'** मन्त्र के भाष्य की ओर यह संकेत है। इस ऋग्भाष्य के लिये **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका परिशिष्ट'** नामक संग्रह देखें। इसके पृष्ठ ९ पर तीन प्रकार के यज्ञ का वर्णन है।

३. यहां वै० य० मुद्रित में 'वे भी उन यज्ञों के देवता' ऐसा अपपाठ है।

माता, पिता और आचार्य्य, ये अपने अपने दिव्यगुणों से ही देवता कहाते हैं। परन्तु यज्ञ में तो वेदों के मन्त्र और ईश्वर को ही देवता माना है।

अन्यच्च—'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्यु स्थानो भवतीति वा' ॥
निरु० अ० ७। खं० १५ ॥

'मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात्' ॥ निरु० अ० ७। खं० १२ ॥

अस्यार्थः—(देवो दानात्) यत्स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं तद्दानं भवति, (दीपनात्) दीपनं प्रकाशनम्, [(द्योतनात्)] द्योतनमुपदेशादिकं च। अत्र 'दानशब्देनेश्वरो[1] विद्वांसो मनुष्याश्च देवतासंज्ञाः सन्ति। दीपनात् सूर्य्यादयो, द्योतनान्मातृपित्राचार्य्यातिथयश्च। [(द्युस्थानः)] तथा द्यौः किरणा आदित्यरश्मयः [2]प्राणसूर्य्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स द्युस्थानः। प्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात् परमेश्वर एवात्र देवोऽस्तीति विज्ञेयम्। अत्र प्रमाणम्—

'न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' ॥
कठ० वल्ली ५। मं० १५ ॥

तत्र नैव परमेश्वरे सूर्य्यादयो भान्ति प्रकाशं कुर्वन्ति। किन्तु तमेव भान्तं प्रकाशयन्तमनु पश्चात् ते हि प्रकाशयन्ति। नैव खल्वेतेषु कश्चित् स्वातन्त्र्येण प्रकाशोऽस्तीति। अतो मुख्यो देव एकः परमेश्वर एवोपास्योऽस्तीति मन्यध्वम्।

भाषार्थ—(देवो दाना०) दान देने से देव नाम पड़ता है, और 'दान' कहते हैं अपनी चीज दूसरे के अर्थ दे देना[3]। 'दीपन' कहते हैं प्रकाश करने को। 'द्योतन' कहते हैं सत्योपदेश को। इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रक्खे हैं। तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाले होने से देव कहाते हैं। (दीपन) अर्थात् सब मूर्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्य्यादि लोकों का नाम भी देव है। [(द्योतन)] तथा माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि भी पालन विद्या और सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं। वैसे ही सूर्य्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करने वाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं। इसमें कठोपनिषद् का भी प्रमाण है कि—

'सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते, किन्तु इन सबका प्रकाश करने वाला एक वही है। क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य्य आदि सब

---

१. अत्र 'दानात् शब्देनेश्वरो०' इत्येवं पाठो द्रष्टव्यः। यथाऽग्रिमवाक्ये 'दपनात्' 'द्योतनात्' प्रतीके निर्दिष्टे तथैवेह 'दानात्' प्रतीकनिर्देशो ज्ञेयः। २. 'प्राणाः सूर्यादियो वा' इति युक्तः पाठः स्यात्।

३. यह अधूरा अनुवाद है। यहां 'दान कहते हैं किसी वस्तु के विषय में अपने स्वामीपन को छोड़ते हुए दूसरे के स्वामीपन को उत्पन्न करना' ऐसा भाषानुवाद होना चाहिए।

जगत् प्रकाशित हो रहा है।' इसमें यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करनेवाला नहीं है, इससे एक परमेश्वर ही देव है।

'नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत्[1] ॥' य० अ० ४०। मं० ४॥

अत्र देवशब्देन मनःषष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते। तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात् तान्यपि देवाः। यो देवः सा देवता, 'देवात्तल्'[2] इत्यनेन सूत्रेण स्वार्थे 'तल्' विधानात्। स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्तनं भवति। यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते। तद्यथा—अयमसिः प्रहृतः सन्नतीवच्छेदनं करोति, तीक्ष्णधारः स्वच्छो धनुर्वन्नाम्यमानोऽपि न त्रुट्यतीत्यादि गुणकथनम्, अतो विपरीतोऽसिर्नैव तत् कर्तुं समर्थो भवतीत्यसेः स्तुतिर्विज्ञेया।

भाषार्थ—(नैनद्देवा०) इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है। जो कि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन, ये छः देव कहाते हैं। क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इनसे प्रकाश होता है। और देव शब्द से स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है। जो-जो गुण जिस-जिस पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं, उन-उन गुणों का लेख, उपदेश, श्रवण और विज्ञान करना तथा मनुष्यसृष्टि के गुण-दोषों का भी लेख आदि करना, इसको 'स्तुति' कहते हैं। क्योंकि जितना-जितना जिस-जिस में गुण है, उतना-उतना उसमें देवपन है। इससे वे किसी के इष्टदेव नहीं हो सकते। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह तलवार काट करने में बहुत अच्छी और निर्मल है, इसकी धार बहुत तेज है, और यह धनुष के समान नमाने से भी नहीं टूटती, इत्यादि तलवार के गुण कथन को स्तुति कहते हैं।

तद्वदन्यत्रापि विज्ञेयम्। परन्त्वयं नियमः कर्मकाण्डं प्रत्यस्ति। उपासनाज्ञानकाण्डयोः कर्मकाण्डस्य निष्कामभागेऽपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति। कस्मात्? तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते। यश्च तस्य सकामो भागोऽस्ति तत्रेष्टविषयभोगप्राप्तये[3] परमेश्वरः प्रार्थ्यते। अतः कारणाद् भेदो भवति। परन्तु नैवेश्वरार्थत्यागः क्वापि भवतीति वेदाभिप्रायोऽस्ति।

भाषार्थ—इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना। [परन्तु यह नियम कर्मकाण्ड में ही है।] इस नियम के साथ कि केवल परमेश्वर ही उपासना और ज्ञानकाण्ड [तथा कर्मकाण्ड के निष्काम भाग] में सब का इष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने योग्य है। क्योंकि गुण वे कहाते हैं, जिनसे कर्मकाण्डादि में उपकार लेना होता है। परन्तु सकाम[4] कर्मकाण्ड में भी इष्टभोग प्राप्ति के लिये परमेश्वर [की प्रार्थना करनी होती है। उस] का त्याग नहीं होता। क्योंकि कार्य्य कारण सम्बन्ध से ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति, प्रार्थना, उपासना से पूजा करने के योग्य होता है।

१. ग्रन्थकारकृते यजुर्वेदभाष्ये 'अर्षत्' पाठो दृश्यते। अयं काण्वशाखायाः पाठः।
२. अष्टा० ५। ४। २७॥ ३. अत्र 'तत्रापीष्टविषयभोगप्राप्तये' इति युक्तः पाठो ज्ञेयः।
४. वै० य० मुद्रित में 'सर्वत्र' अपपाठ है।

अत्र प्रमाणम्—'माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। ..... कर्मजन्मान आत्मजन्मान आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्वा[1] आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य' ॥ निरु० अ० ७। खं० ४॥

(माहाभाग्याद्देव०) सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति। कुतः? आत्मनो माहाभाग्यादर्थात् सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषणवत्त्वात्। न तस्याग्रेऽन्यस्य कस्यापि देवतात्वं गण्यं भवितुमर्हति। कुतः? सर्वेषु वेदेष्वेकस्याद्वितीयस्यासहायस्य सर्वत्र व्याप्तस्यात्मन एव बहुधा बहुप्रकारैरुपासना विहितास्ति। अस्मादन्ये ये देवा उक्ता वक्ष्यन्ते च, ते सर्व एकस्यात्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति। अङ्गमङ्गं प्रत्यञ्चन्तीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकैकस्मिन् देशे प्रकाशिताः सन्ति। ते च (कर्मज०) यतः कर्मणा जायन्ते तस्मात् कर्मजन्मानो यत आत्मन ईश्वरस्य सामर्थ्याज्जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च सन्ति। अथैतेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम्। स एवाश्वा गमनहेतवः। स आयुधं विजयावहम्, इषवो बाणा दुःखनाशकाः स एवास्ति। तथा चात्मैव देवस्य देवस्य सर्वस्वमस्ति। अर्थात् सर्वेषां देवानां स एवोत्पादको धाताधिष्ठाता मङ्गलकारी वर्त्तते। नातः परं किंचिदुत्तमं वस्तु विद्यत इति बोध्यम्।

भाषार्थ—इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है कि व्यवहार के [उपयोगी] देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहियें, किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इनका जन्म और कर्म ईश्वर के सामर्थ्य से होता है। और इनका रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्व अर्थात् शीघ्र सुख-प्राप्ति का कारण, आयुध अर्थात् सब शत्रुओं के नाश करने का हेतु, और इषु अर्थात् जो बाण के समान सब दुष्टगुणों का छेदन करनेवाला शस्त्र[2] है, सो एक परमेश्वर ही है। क्योंकि परमेश्वर ने जिस-जिस में जितना-जितना दिव्यगुण रक्खा है, उतना-उतना ही उन द्रव्यों में देवपन है, अधिक नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल परमेश्वर ही उन सबका उत्पादन, धारण और मुक्ति का देनेवाला है।

अत्रान्यदपि प्रमाणम्—

'ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन् ॥ १ ॥'

ऋ० अ० ६। अ० २। व० ३५। मं० १॥[3]

---

१. निरुक्ते तु 'अश्व' इत्येकवचनान्तः पाठ उपलभ्यते।

२. यहां 'अस्त्र' पाठ युक्त है। जिनको फेंककर शत्रुओं को मारा जाये अस्त्र कहाते हैं, और जिन्हें हाथ में पकड़कर शत्रुओं को मारा जाये वे शस्त्र कहाते हैं।

३. ऋ० मं० ८। सू० २८। मं० १॥

'त्रयस्त्रिꣳशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ।। २ ।।'

य० अ० १४ । मं० ३१ ।।

'यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ।। ३ ।।
यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ।। ४ ।।'

अथर्व० कां० १० । प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० २३,२७ ।।[1]

'स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ।।५।।

कतमे वसव इति ? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः । एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते, तद्यदिदꣳ सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति ।। ६ ।।

कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ।। ७ ।।

कतम आदित्या इति ? द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः । एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति, तद्यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति[2] तस्मादादित्या इति ।। ८ ।।

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति ? स्तनयित्नुरेवेन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति । कतम स्तनयित्नुरित्यशनिरिति । कतमो यज्ञ इति ? पशव इति ।। ९ ।।

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति । कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति । कतमोऽध्यर्ध इति ? योऽयं पवत इति ।। १० ।।

तदाहुः । यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति ? यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति । कतम एको देव इति ? स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ।। ११ ।।'

श० कां० १४ । अ० ६ ।[3]

---

१. अथर्व० १० । ७ । २३, २७ ।।

२. वै० य० मुद्रिते शतपथे 'तद्यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति' इत्येतावान् पाठस्त्रुटितो वर्तते ।

३. शत० १४ । ६ । ९ । ३—७, ९, १० ।।

अर्थसामर्थः—वेदमन्त्राणामेवार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकाशित इति द्रष्टव्यम्। शाकल्यं प्रति याज्ञवल्क्योक्तिः—त्रयस्त्रिंशदेव देवाः सन्ति। अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः प्रजापतिश्चेति।

तत्र (वसवः)—अग्निः, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यः, द्यौः, चन्द्रमाः, नक्षत्राणि च। एतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति। आदित्यः सूर्य्यलोकः, तस्य प्रकाशोऽस्ति द्यौः सूर्य्यसन्निधौ पृथिव्यादिषु वा। अग्निलोकोऽस्त्यग्निरेव। कुत एते वसवः इति? यद्यस्मादेतेष्वष्टस्वेवेदं सर्वं सम्पूर्णं वसु वस्तुजातं हितं धृतमस्ति। किंच सर्वेषां वासाधिकरणानीम एव लोका सन्ति। हि यतश्चेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य जगतो वासहेतवस्तस्मात् कारणादग्न्यादयो वसुसंज्ञका सन्तीति बोद्धव्यम्।

(एकादश रुद्राः)—ये पुरुषेऽस्मिन् देहे प्राणः, अपानः, व्यानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्मः, कृकलः, देवदत्तः, धनञ्जयश्च इमे दश प्राणाः; एकादशम आत्मा, सर्वे मिलित्वैकादश रुद्रा भवन्ति। कुत एते रुद्रा इत्यत्राह—यदा यस्मिन् कालेऽस्मान्मरणधर्मकाच्छरीरादुत्क्रामन्तो निःसरन्तः सन्तोऽथेत्यनन्तरं मृतकसम्बन्धिनो जनांस्ते रोदयन्ति। यतो जना रुदन्ति,[1] तस्मात् कारणादेते रुद्राः सन्तीति विज्ञेयम्।

(द्वादशादित्याः) चैत्राद्याः फाल्गुनान्ता द्वादश मासा आदित्या विज्ञेयाः। कुतः? हि यत एते सर्वं जगदाददाना अर्थादासमन्ताद् गृह्णन्तः प्रतिक्षणमुत्पन्नस्य वस्तुन आयुषः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति गच्छन्ति, चक्रवद् भ्रमणेनोत्तरोत्तरं जातस्य वस्तुनोऽवयवशिथिलतां परिणामेन प्रापयन्ति। तस्मात् कारणान्मासानामादित्यसंज्ञा कृतास्ति।

इन्द्रः परमैश्वर्य्ययोगात् स्तनयित्नुरशनिर्विद्युदिति। प्रजापतिर्यज्ञः पशवः इति। प्रजायाः पालनहेतुत्वात् पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणकी संज्ञा कृतास्ति। एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद् देवा भवन्ति। देवो दानादित्यादिनिरुक्त्या[2] ह्येतेषु व्यावहारिकमेव देवत्वं योजनीयम्[3]।

त्रयो लोकास्त्रयो देवाः, के त इत्यत्राह निरुक्तकारः—

'धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति' ॥निरु० अ० ६। खं० २८॥

'त्रयो लोका एत एव। वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः॥'
श० कां १४। अ० ४॥[4]

एतेऽपि त्रयो देवा ज्ञातव्याः। द्वौ देवावन्नं प्राणश्चेति। अध्यर्धो ब्रह्माण्डस्थः सूत्रात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद् वायुर्देवः। किमेते सर्व एवोपास्याः सन्तीत्यत्राह—

१. 'यतो जनान् रोदयन्ति' इति शुद्धः पाठो ज्ञेयः।
२. द्र० निरुक्त ७। १५॥
३. नौपासनिकमिति शेषः।
४. शत० १४। ४। ३। ११॥

नैव, किन्तु (स ब्रह्म०) यत्सर्वजगत्कर्त्तृ सर्वशक्तिमत् सर्वस्येष्टं सर्वोपास्यं सर्वाधारं सर्वव्यापकं सर्वकारणम् अनादि सच्चिदानन्दस्वरूपम् अजं न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति, स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योऽस्तीति मन्यध्वम्। ये वेदोक्तमार्गपरायणा आर्य्यास्ते सर्वदैतस्यैवोपासनं चक्रुः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। अस्माद् भिन्नस्येष्टकरणेनोपासनेन चानार्य्यत्वमेव मनुष्येषु सिध्यतीति निश्चयः। अत्र प्रमाणम्—

'आत्मेत्येवोपासीत ॥ स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ योऽन्यां देवतामुपास्ते, न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानाम् ॥'

श० कां० १४। अ० ४॥[1]

अनेनार्य्येतिहासेन विज्ञायते न परमेश्वरं विहायान्यस्योपासका आर्य्या ह्यासन्निति।

भाषार्थ—अब आगे देवता-विषय में तेतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं। जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद-मन्त्रों का व्याख्यान लिखा है—(त्रयस्त्रिंशत्०) अर्थात् व्यवहार के ये (३३) तेतीस देवता हैं—(८) आठ वसु, (११) ग्यारह रुद्र, (१२) बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति।

उनमें से आठ वसु ये हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र। [आदित्य का अर्थ सूर्यलोक, और उसका प्रकाश द्यौः कहाता है।] इनका 'वसु' नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में वसते हैं, और ये ही सबके निवास करने के स्थान हैं।

ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं—जो शरीर में दश प्राण हैं, अर्थात् प्राण अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्याहरवां जीवात्मा है। क्योंकि जब वे इस शरीर से निकल जाते हैं तब मरण होने से उसके सम्बन्धी लोग रोते हैं। वे निकलते हुए उनको रुलाते हैं, इससे इनका नाम 'रुद्र' है।

इसी प्रकार आदित्य [चैत्र से लेकर फाल्गुन पर्यन्त] बारह महीनों को कहते हैं। क्योंकि वे सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सबकी आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं, इसी से इनका नाम 'आदित्य' है।

ऐसे ही 'इन्द्र' नाम बिजुली का है। क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य हेतु है। और 'यज्ञ' को प्रजापति इसलिये कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा प्रजा का पालन होता है। तथा पशुओं की यज्ञसंज्ञा होने का यह कारण है कि उनसे भी प्रजा का जीवन होता है। ये सब मिलके अपने-अपनें दिव्य गुणों से तैंतीस देव कहाते हैं।

---

१. शत० १४। ४। २। १८, १९, २२। यहां प्रतिकण्डिका उद्धृत पाठ के आगे हमने दो दो विराम चिह्न दे दिये हैं। अन्तिम उदाहरण में '०मुपास्ते' के आगे **अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति'** इतना पाठ ग्रन्थकार ने छोड़ दिया है अथवा लेखन में छूट गया है यह सन्दिग्ध है।

और तीन देव—स्थान, नाम और जन्म को कहते हैं। दो देव—अन्न और प्राण को कहते हैं। अध्यर्धदेव अर्थात् जिससे सबका धारण और वृद्धि होती है, जो सूत्रात्मा वायु सब जगत् में भर रहा है, उसको अध्यर्धदेव कहते हैं।

प्र०—क्या ये चालीस[1] देव भी सब मनुष्यों को उपासना के योग्य हैं ?

उ०—इनमें से कोई भी उपासना के योग्य नहीं है, किन्तु व्यवहारमात्र की सिद्धि के लिये ये सब देव हैं। और सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्म ही है। इसमें यह प्रमाण है—(स ब्रह्म०) जो सब जगत् का कर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, सबका इष्ट, सबको उपासना के योग्य, सबका धारण करनेवाला, सबमें व्यापक और सबका कारण है, जिसका आदि अन्त नहीं, और जो सच्चिदानन्द स्वरूप है, जिसका जन्म कभी नहीं होता, और जो कभी अन्याय नहीं करता इत्यादि विशेषणों से वेदादिशास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया है, उसी को इष्टदेव मानना चाहिये। और जो कोई इससे भिन्न देव मानता है, उसको अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी कहना चाहिये। क्योंकि—

(आत्मेत्ये०[2]) इसमें आर्यों का इतिहास शतपथ ब्राह्मण में है कि परमेश्वर जो सबका आत्मा है, सब मनुष्यों को उसी की उपासना करनी उचित है। [(स योऽन्य०)] इसमें जो कोई कहे कि परमेश्वर को छोड़के दूसरे में भी ईश्वर-बुद्धि से प्रेमभक्ति करनी चाहिये, तो उससे कहे कि सदा दुःखी होके रोदन करेगा। क्योंकि जो ईश्वर की उपासना करता है वह सदा आनन्द में ही रहता है। [(योऽन्यां०)] जो दूसरे में ईश्वर-बुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता, इसलिये वह विद्वानों के बीच में पशु अर्थात् गधा के समान है। इससे यह निश्चय हुआ कि आर्य लोग सब दिन से एक ईश्वर ही की उपासना करते आये हैं।

अतः फलितार्थोऽयं जातः—देवशब्दे दिवुधातोर्ये [3]दशार्थास्ते संगता भवन्तीति। तद्यथा—क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहारः, द्युतिः, स्तुतिः, मोदः, मदः, स्वप्नः, कान्तिः, गतिश्चेति। एषामुभयत्र समानार्थत्वात्। परन्त्वन्याः सर्वा देवताः परमेश्वरप्रकाश्याः सन्ति। स च स्वयंप्रकाशोऽस्ति। तत्र क्रीडनं क्रीडा, दुष्टान् विजेतुमिच्छा विजिगीषा, व्यवह्रियन्ते यस्मिन् व्यवहरणं [वा] व्यवहारः, स्वप्नो निद्रा, मदो ग्लेपनं दीनता, एते मुख्यतया लौकिकव्यवहारवृत्तयो भवन्ति। तत्सिद्धिहेतवोऽग्न्यादयो देवताः सन्ति। अत्रापि नैव सर्वथा परमेश्वरस्य त्यागो भवति, तस्य सर्वत्रानुसङ्गतया‡ सर्वोत्पादकाधारकत्वात्। तथा द्युतिर्द्योतनं प्रकाशनं, स्तुतिर्गुणेषु गुणकथनं

---

१. वसु आदि ३३, लोक ३, अन्न और प्राण २, वायु अध्यर्ध १—३९ देव होते हैं। और यज्ञ के प्रजापति तथा पशु दो अर्थों की एक यज्ञरूप से गणना करके ४० संख्या बनती है। संस्कृत पाठ में ४० संख्या का उल्लेख नहीं है। आगे इसी देवता-प्रकरण के अन्त में (पृष्ठ ८१) मूर्तिमान् और मूर्तिरहित देवों की गणना के प्रसंग में ४० संख्या अन्य प्रकार से गिनाई है, सो वहां देखें।

२. वै० य० मुद्रित सं० ८ तक 'आत्मेत्ये०' पाठ है, सं० ९ में 'ओमित्ये०' भ्रष्ट पाठ छपा है।

३. धातुपाठे (४।१) पाणिनिना निर्दिशिताः। धातुपाठ उक्ता धात्वर्थाः पाणिनीया एव, न तु भीमसेन-प्रोक्ताः (यथाऽर्वाचीना ब्रुवते)। द्र० क्षीरतरङ्गिण्या अस्मदीय उपोद्घातः (पृष्ठ ६-११) अस्मदीये च 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' नाम्नि ग्रन्थ एकविंशोऽध्यायः।

स्थापनं च, मोदो हर्षः प्रसन्नता, कान्तिः, शोभा, गतिर्ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। एते परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथावत् संगच्छन्ते। अतोऽन्यत्र तत्सत्तया गौण्या वृत्त्या वर्त्तन्ते। एवं गौणमुख्याभ्यां हेतुभ्यामुभयत्र देवतात्वं सम्यक् प्रतीयते।

भाषार्थ—इससे यह सिद्ध हुआ कि 'दिवु' धातु के जो दश अर्थ हैं, वे व्यवहार और परमार्थ इन दोनों अर्थ में यथावत् घटते हैं। क्योंकि इनके दोनों अर्थ की योजना वेदों में अच्छी प्रकार से की है। इनमें इतना भेद है कि पूर्वोक्त वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है। इससे वही एक सब का पूज्यदेव है। और 'दिवु' धातु के दश अर्थ ये हैं कि—एक क्रीड़ा जो खेलना, दूसरा विजिगीषा जो शत्रुओं को जीतने की इच्छा होना, तीसरा व्यवहार जो कि दो प्रकार का है एक बाहर और दूसरा भीतर का, चौथा निद्रा और पांचवां मद। ये पांच अर्थ मुख्य करके व्यवहार[1] में ही घटते हैं। क्योंकि अग्नि आदि ही पदार्थ व्यवहारसिद्धि के हेतु हैं। परन्तु परमेश्वर का त्याग इसमें भी सर्वथा नहीं होता। क्योंकि वे देव उसी की व्यापकता और रचना से दिव्य गुण वाले हुए हैं। तथा द्युति जो प्रकाश करना, स्तुति जो गुणों का कीर्तन करना, मोद [जो] प्रसन्नता, कान्ति जो शोभा, गति जो ज्ञान गमन और प्राप्ति है, ये पांच अर्थ परमेश्वर में मुख्य करके वर्त्तते हैं। क्योंकि इनसे भिन्न अर्थों में जितने-जितने जिन-जिन में गुण हैं उतना-उतना ही उनमें देवतापन लिया जाता है। परमेश्वर में तो सर्वशक्तिमत्त्वादि सब गुण अनन्त हैं। इससे पूज्यदेव एक वही है। [इस प्रकार गौण और मुख्य वृत्ति रूप हेतुओं से व्यवहार और परमार्थ दोनों विषयों में देवतापन भले प्रकार जाना जाता है।]

अत्र केचिदाहुः—वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानाद् वेदाः संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते?

अत्रोच्यते—मैवं भ्रमि। ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रक्षितत्वात्। यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रक्षितास्ति, अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोऽस्ति। अत्र कश्चिद् ब्रूयान्नेत्रेण सूर्य्यादिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं न दर्शयतीति, यथा तस्य व्यर्थयं शङ्कास्ति तथा [पूजाविषयेऽपि ज्ञेया। यतः] पूजनं, पूजा, सत्कारः, प्रियाचरणं, अनुकूलाचरणं चेत्यादय पर्य्याया भवन्ति। इयं पूजा चक्षुषोऽपि सर्वैर्जनैः क्रियते। एवमग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्या-क्रियोपयोगित्वं चास्ति, तावद्देवतात्वमप्यस्तु, नात्र काचित् क्षतिरस्ति। कुतः? वेदेषु यत्र यत्रो-पासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणात्।

भाषार्थ—प्र०—इस विषय में कोई-कोई मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वेदों के प्रतिपादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि उनमें जड़ और चेतन की पूजा लिखी है। इससे वेदों में संदेह सहित कथन मालूम पड़ता है।

१. अर्थात् लौकिक व्यवहार में।

उः—ऐसा भ्रम मत करो। क्योंकि ईश्वर ने सब पदार्थों के बीच में स्वतन्त्र गुण रक्खे हैं। जैसे उसने आंख में देखने का सामर्थ्य रक्खा है, तो उससे दीखता है, यह लोक में व्यवहार है। इसमें कोई पुरुष ऐसा कहे कि ईश्वर नेत्र और सूर्य के विना रूप को क्यों नहीं दिखलाता है? जैसे यह शङ्का उसकी व्यर्थ है, वैसे ही पूजा-विषय में भी जानना। क्योंकि जो दूसरे का सत्कार प्रियाचरण अर्थात् उसके अनुकूल काम करना है,इसी का 'नाम 'पूजा' है। सो सब मनुष्यों को करनी उचित है'[1]। इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना-जितना अर्थ का प्रकाश, दिव्यगुण, क्रिया-सिद्धि और उपकार लेने का सम्भव है, उतना-उतना उनमें देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती। क्योंकि वेदों में जहां-जहां उपासना-व्यवहार लिया जाता है, वहां-वहां एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण किया है।

तत्रापि मतद्वयं [2]विग्रहवत्यविग्रहवद्देवताभेदात्। तच्चोभयं पूर्वं प्रतिपादितम्। अन्यच्च—

'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव'॥

[तै० आ०] प्रपा० ७। अनु० ११॥

'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि'॥

[तै० आ०] प्रपा० ७। अनु० १॥

इति सर्वमनुष्योपास्याः पञ्च देवतास्तैत्तिरीयोपनिषद्युक्ताः[3]। यथात्र मातापितरावाचार्य्योऽतिथिश्चेति सशरीरा देवताः सन्ति, एवं सर्वथा निश्शरीरं ब्रह्मास्ति।

भाषार्थ—इस देवता-विषय में दो प्रकार का भेद है। एक-मूर्तिमान् और दूसरा-अमूर्तिमान्। जैसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये चार तो मूर्तिमान् देवता हैं। और पांचवां परब्रह्म अमूर्तिमान् है, अर्थात् उसकी किसी प्रकार की मूर्ति नहीं है। इस प्रकार से पांच देव की पूजा में यह दो प्रकार का भेद जानना उचित है।

तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्वग्निपृथिव्यादित्यचन्द्रमोनक्षत्राणि चेति पञ्च वसवो विग्रहवत्यः सन्ति। एवमेकादश रुद्रा द्वादशादित्या मनःषष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः। तथा स्तनयित्नुर्विधियज्ञौ च सशरीराशरीरे देवते स्त इति[4]। एवं सशरीर-

---

१. यहां इस प्रकार भाषानुवाद होना चाहिए—'नाम पूजा है। यह (=अनुकूल आचरणरूप) पूजा तो आंख की भी सब लोग करते हैं।'

२. अत्रेत्थं समासो ज्ञेयः—विग्रहवती चाविग्रहवती च विग्रहवत्यविग्रहवत्यौ। विग्रहवत्यविग्रहवत्यौ च ते देवते च विग्रहवत्यविग्रहवद्देवते। '**पुंवत्कर्मधारय०**'(अष्टा० ६।३।४०)इत्यादिना पुंवद्भावः। ततः षष्ठीसमासः।

३. तै० उप० शिक्षावल्ली अनु० ११ और १। तै० उ० तैत्तिरीय आरण्यक के अन्तर्गत है, अतः मूल पाठ में उभयत्र तै० आ० के पते लिखे हैं।

४. पूर्व पृष्ठ ७८,७९ पर निर्दिष्ट ४०देवताओं की गणना यहां इस प्रकार की है—५ वसु(अग्नि पृथिवी आदित्य चन्द्रमा नक्षत्र), ११ रुद्र, १२ आदित्य, ६ इन्द्रियां मन सहित, ४ वायु अन्तरिक्ष द्यौः मन्त्र, २ स्तनयित्नु विधियज्ञ=४० देवता।

निश्शरीरभेदेन देवताद्वयं भवति। तत्रैतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते। इत्थमेव मातृपित्राचार्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्वं चैतावन्मात्रं च। परमेश्वरस्तु खल्विष्टोपयोगित्वेनैवोपास्योऽस्ति। नातो वेदेषु ह्यपरा काचिद्देवता पूज्योपास्यत्वेन विहितास्तीति निश्चीयताम्।

भाषार्थ—इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ वसुओं में से अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच मूर्तिमान् देव हैं। और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु द्यौ और मन्त्र ये मूर्तिरहित देव हैं। तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां[1] बिजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्तिमान् और और अमूर्तिमान् भी हैं$। इससे साकार और निराकार भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताओं में जाननी चाहिये। इनमें से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में, तथा माता, पिता, आचार्य और अतिथियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करनामात्र ही देवपन है। और ऐसे ही मन और इन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ करने में होता है। परन्तु सब मनुष्यों को उपासना करने योग्य एक परमेश्वर ही देव है।

अत इदानीन्तनाः केचिदार्य्या यूरोपखण्डवासिनश्च भौतिकदेवतानामेव पूजनं वदेष्वस्तीत्यूचुर्वदन्ति च, तदलीकतरमस्ति। तथा यूरोपखण्डवासिनो बहव एवं वदन्ति—पुरा ह्यार्य्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन्, पुनस्ताः संपूज्यं संपूज्य च बहुकालान्तरे परमात्मानं पूज्यं विदुरिति। तदप्यसत्। तेषां सृष्ट्यारम्भमारभ्यानेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादिभिर्नामभिर्वेदोक्तरीत्येश्वरस्यैवोपासनानुष्ठानाचारागमात्।

भाषार्थ—प्र०—कितने ही आजकल के आर्य और यूरोपदेशवासी अर्थात् अंगरेज आदि लोग इसमें ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है। वे लोग यह भी कहते हैं कि पहिले आर्य्य लोग भूतों की पूजा करते थे, फिर [उन्हें] पूजते-पूजते बहुत काल पीछे उन्होने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था।

---

१. यह भाषानुवाद और नीचे की टिप्पणी दोनों संस्कृतपाठ के विपरीत हैं। संस्कृतपाठ में मन-सहित ६ इन्द्रियों को शरीररहित लिखा है। परन्तु भाषानुवाद में स्तनयित्नु तथा विधियज्ञ के साथ पांच इन्द्रियों को भी गिना है। नीचे की टिप्पणी संस्कृतपाठ से विपरीत भाषानुवाद की पुष्टिरूप में है। उपरि-निर्दिष्ट भाषानुवाद का मूल संस्कृतपाठ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के चतुर्थ हस्तलेख में विद्यमान है। परन्तु ग्रन्थकार ने उसे काटकर वर्तमान संस्कृतपाठ बनाया है (द्र०—ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ९८, ९९)। यहां संस्कृतपाठ में शोधन हो जाने पर भी पांचवें और छठे (भूमिका के ६ हस्तलेख हैं, वे उत्तरोत्तर परिवर्धित हैं) हस्तलेख में भी भाषा का शोधन नहीं हुआ, और नीचे की टिप्पणी भी उसी प्रकार अछूती रह गई। विद्वानों को इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये।

$इन्द्रियों की शक्तिरूप द्रव्य अमूर्तिमान्, और गोलक मूर्तिमान्। तथा विद्युत् और विधियज्ञ में जो-जो शब्द तथा ज्ञान अमूर्तिमान्, और दर्शन तथा सामग्री मूर्तिमान् जानना चाहिये। (वै० य० मुद्रित)

उ०—यह उनका कहना मिथ्या है। क्योंकि आर्य्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज पर्य्यन्त इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि नामों करके वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, उनमें से थोड़े से यहां भी लिखते हैं—

अत्र प्रमाणानि—

(**अग्निमी०**) **अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने**[1] **हि** 'इन्द्रं मित्रम्०'[2] **ऋग्मन्त्रोऽयम्। अस्योपरि** 'इममेवाग्निं महान्तमात्मानम्'[3] **इत्यादि निरुक्तं च लिखितं, [तत्] तत्र द्रष्टव्यम्। तथा** 'तदेवाग्निस्तदादित्य०'[4] **इति यजुर्मन्त्रश्च।**

'तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये' ॥१॥

ऋ० अ० १। अ० ६। व० १५। मं० ५॥[5]

'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥२॥'

ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १॥[6]

इत्यादयो नव[7] **मन्त्रा एतद्विषयाः सन्ति।**

'प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥३॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥४॥

---

१. संकेतोऽयं ग्रन्थकर्तुः स्वीयग्भाष्यस्य निदर्शनाङ्कं (नमूने का अंक) प्रति वर्तते। अस्य निदर्शनाङ्कस्य मुद्रणं १९३३ वैक्रमाब्देऽभूत्। अस्या भूमिकायाश्च १९३४ वैक्रमाब्दस्य चैत्रे मासे मुद्रणं प्रारब्धम्। तत्र निदर्शनाङ्क एव **'इन्द्रं मित्रम्'** इति ऋक्, **'इममेवाग्निम्'** इति निरुक्तम्, **'तदेवाग्निः'** इति यजुर्मन्त्रश्चोद्धृतः। इदं निदर्शनात्मकं भाष्यम् 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट' नाम्नि ग्रन्थे सुसम्पादनपुरःसरं प्रकाशितम्। द्र० पृष्ठ ३।

२. ऋ० १। १६४। ४६॥ ३. निरुक्त ७। १८॥ यजु० ३२। १॥

५. ऋ० मं० १। सू० ८९। मं० ५॥ ६. ऋ० मं० १०। सू० १२१। मं० १॥

७. इत आरभ्य तृतीयवर्गस्थाः पञ्च, चतुर्थवर्गस्थाश्च चत्वारः, अर्थात् दशममण्डलस्य १२१ स्यादिमा नव मन्त्राः। अथवोपरिनिर्दिष्टमन्त्रातिरिक्ता नव मन्त्रा ज्ञेयाः। तथा सति सूक्तस्य दशमो संगृह्यते।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥५॥'

य० अ० ३२ । मं० ९,१०,११ ॥

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥६॥'

य० अ० ३१ । मं० १८ ॥

'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥७॥' य० अ० ४० । मं० ५ ॥

'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्'[1] इत्यादि च ॥

'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः ।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ२ आविवेश ॥८॥

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥९॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥१०॥'

य० अ० १७ । मं० १७, १८, १९ ॥

इत्यादयो मन्त्रा यजुषि बहवः सन्ति ॥ तथा सामवेदस्योत्तरार्चिके त्रिकम्[2] ११—

'अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ ११ ॥

१. यजु० ४० । ८ ॥ २. उत्तरार्चिके प्रथमप्रपाठके प्रथमार्धे एकादशं त्रिकम् ॥ यह ध्यान रहे कि सामवेद के उत्तरार्चिक में अर्धप्रपाठकान्तर्गत त्रिकरूप अवान्तर भाग का निर्देश होता है, जैसे ऋग्वेद में वर्ग वा सूक्त का । 'त्रिक' शब्द का मूल अर्थ है जिसमें तीन ऋचाएं हों । परन्तु सामवेद में यह रूढ संज्ञा होने से यह आवश्यक नहीं कि त्रिक में सर्वत्र तीन ऋचाएं ही हों । दो वा तीन से अधिक ऋचाएं भी त्रिक में देखी जाती हैं । साममन्त्रों पर स्वरनिर्देश भी हमने किया है ।

१ २र ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २र
न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ १२ ॥' इत्यादयश्च ।

'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ १३ ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ १४ ॥'

इत्यन्ताः सप्त[1] मन्त्रा ऋग्वेदे ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० १७ । मं० १,७ ॥[2]

'यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद् बभूव ॥ १५ ॥'

'यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता । यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातास्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १६ ॥'

अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । मं० ८ ।१२ ॥[3]

इत्यादयोऽथर्ववेदेऽपि बहवो मन्त्राः सन्ति । एतेषां मन्त्राणां मध्यात् केषांचिदर्थः पूर्वं प्रकाशितः, केषांचिदग्रे[4] विधास्यतेऽत्राप्रसङ्गान्नोच्यते ।

'अणोरणीयान्महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रमादान्महिमानमात्मनः ॥ १ ॥[5]
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥ २ ॥[6]
यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ३ ॥[7]
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ४ ॥[8]

१. 'नासद्' इत्यारभ्य 'इयम्' इत्यन्ताः सप्तेत्यर्थः । २. ऋ० मं० १० । सू० १२९ । मं० १-७॥
३. अथर्व १० । ७ । ८, १२ ॥ ४. सृष्टिविद्याविषयादिषु वेदभाष्ये चेति भावः ।
५. कठो० २ । २० ॥ ६. 'कठो० ३ । १५ ॥ अत्र वै०य० मुद्रिते 'तं मृत्यु०' इति प्रामादिकः पाठः ।
७. कठो० ४ । १० ॥ ८. कठो० ५ । १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ५ ॥'[1]

इति कठवल्ल्युपनिषदि ।

'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र ह्यक्षरात् परतः परः ॥ ६ ॥'[2]
यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥' इति मुण्डकोपनिषदि[3] ।

'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं[4] प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ८ ॥' इति माण्डूक्योपनिषदि[5] ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम् ।
परमे व्योमन्त्सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह[6] विपश्चितेति ॥९॥'

इति तैत्तिरीयोपनिषदि[7] ।

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् । भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति ॥ यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ॥ १० ॥' इति छान्दोग्योपनिषदि[8] ।

वेदोक्तेशानादिविशेषणप्रतिपादितोऽणोरणीयानित्याद्युपनिषदुक्तविशेषणप्रतिपादितश्च यः परमेश्वरोऽस्ति, स एवाऽऽर्य्यैः सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं यथावद् विदित्वोपासितोऽस्तीति मन्यध्वम् । एवं परब्रह्मविषयप्रकाशकेषु प्रमाणेषु सत्सु यद्वृद्धमोक्षमूलरैरुक्तमार्य्याणां पूर्वमीश्वरज्ञानं नासीत् पुनः क्रमाज्जातमिति, न तच्छिष्टग्रहणार्हमस्तीति विजानीमः ।

भाषार्थ—(इन्द्रं मित्रम्०) इसमें चारों वेद, शतपथ आदि चारों ब्राह्मण, निरुक्त और छः शास्त्र आदि के अनेक प्रमाण हैं कि जिस सद्वस्तु ब्रह्म के इन्द्र, ईशान, अग्नि आदि वेदोक्त नाम हैं, और 'अणोरणीयान्' इत्यादि उपनिषदों के विशेषणों से जिसका प्रतिपादन किया है, उसी की

१. कठो० ५ । १३ ॥
२. मुण्डक २ । खं० १ । मं० २ ॥
३. मु० २ । खं० २ । मं० ७ ॥
४. उपनिषदि 'मेकात्मप्रत्ययसारं' पाठ उपलभ्यते ।
५ माण्डूक्यो० मं० ७ ॥
६. उपनिषदि 'कामान् सह ब्रह्मणा' इत्येवं पाठ उपलभ्यते ।
७. तैत्ति० ब्रह्मा० १ ॥
८. छा० उ० प्रपा० ७ । खं २३, २४ ॥

उपासना आर्य्य लोग सदा से करते आये हैं। इन मन्त्रों मे से जिनका अर्थ भूमिका में नहीं किया है, उनका आगे वेदभाष्य में किया जायगा। और कोई-कोई आर्य्य लोग किंवा यूरोप आदि देशों में रहने-वाले [मोक्षमूलर आदि] लोग[1] कहते हैं कि प्राचीन आर्य्य लोग अनेक देवताओं और भूतों की पूजा करते थे, यह उनका कहना व्यर्थ है। क्योंकि वेदों और उनके प्राचीन व्याख्यानों में अग्नि आदि नामों से उपासना के लिये एक परमेश्वर का ही ग्रहण किया है, जिसकी उपासना आर्य्य लोग करते थे। इससे पूर्वोक्त शंका किसी प्रकार से नहीं आ सकती।

[2]किंच—'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पति०'[3] **एतन्मन्त्रव्याख्यानावसरेऽयं मन्त्रोऽर्वाचीनोऽस्ति छन्दस इति शारमण्यदेशोत्पन्नैर्भट्टमोक्षमूलरैः स्वकीयसंस्कृतसाहित्याख्ये ग्रन्थ एतद्विषये यदुक्तं, तन्न संगच्छते। यच्च वेदानां द्वौ भागावेकश्छन्दो द्वितीयो मन्त्रश्च। तत्र यत्सामान्यार्थाभिधानं परबुद्धिप्रेरणाजन्य[4] स्वकल्पनया रचनाभावं,[5] यथा ह्यज्ञानिनो मुखाद् अकस्मान्निस्सरेद् ईदृशं यद्वचनं तच्छन्द[6] इति विज्ञेयम्। तस्योत्पत्तिसमय एकत्रिंशच्छतानि वर्षाण्यधिकादधिकानि व्यतीतानि। तथैकोनत्रिंशच्छतानि वर्षाणि मन्त्रोत्पत्तौ चेत्यनुमानं तेषामस्ति। तत्र तैरुक्तानि प्रमाणानि—'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत'[7] इत्यादीनि ज्ञातव्यानि।**

तदिदमप्यन्यथास्ति। कुतः? हिरण्यगर्भशब्दस्यार्थज्ञानाभावात्। अत्र प्रमाणानि—

'ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतꣳ हिरण्यम्॥' श० कां ६। अ० ७॥[8]

'केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति। काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा। केशीदं ज्योतिरुच्यते॥' निरु० अ० १२। खं० २५।[9] [, २६]॥

'यशो वै हिरण्यम्॥' ऐ० पं० ७। अ० ३॥[10]

'ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मज्योतिः॥' श० कां० १४। अ० ७॥[11]

'ज्योतिरिन्द्राग्नी॥' श०कां० १०। अ० ४॥[12]

---

१. वै० य० मुद्रित में 'अंगरेज' पद है। यह अपपाठ है। मोक्षमूलर जर्मन देश का था। अग्रिम सन्दर्भ में उसे 'शार्मण्य-देशोत्पन्न' स्पष्ट कहा है।

२. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'भाष्यम्' पदं दृश्यते। तच्चिन्त्यम्, मन्त्रादीनां व्याख्यानाभावात्। एवमग्रेऽपि क्वचिद् 'भाष्यम्' इत्येवमस्थाने निर्दिश्यते।

३. ऋ० १०।१२१।१॥

४. 'प्रेरणा-अजन्यम्' इत्येवं सन्धिच्छेदो ज्ञेयः।

५. छन्दःपदस्य स्वातन्त्र्यवाचकत्वात् तत्र कल्पनापूर्विका रचना न विद्यते। मन्त्रास्तु मननात् ज्ञानपूर्वकं विनिर्मिताः, अतस्तत्र पुरुषस्य कल्पनया रचना भवति।

६. एतद्विपरीतं या स्वकल्पनया मननपूर्विका रचना सा मन्त्रपदवाच्येति ज्ञेया।

७. ऋ० १।१।२॥

८. शत० ६।७।१।२॥

९. निरुक्त १२।२५,२६। **'केशीदं ज्योतिरुच्यते'** यह मन्त्रभाग है।

१०. ऐ० ब्रा० ७।३।६॥

११. शत० १४।७।१।६।

१२. शत० १०।४।१।६॥

एषामर्थः—[हिरण्यं] ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः स्वरूपं यस्य स हिरण्यगर्भः। एवं च ज्योतिर्हिरण्यं प्रकाशो ज्योतिरमृतं मोक्षो ज्योतिरादित्यादयः केशाः प्रकाशका लोकाश्च, यशः सत्कीर्तिर्धन्यवादश्च, ज्योतिरात्मा जीवश्च, ज्योतिरिन्द्रः सूर्य्योऽग्निश्चैतत् सर्वं हिरण्याख्यं गर्भे सामर्थ्ये यस्य स हिरण्यगर्भः परमेश्वरः।

अतो हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगाद् वेदानामुत्तमत्वं सनात[न]त्वं तु निश्चीयते न नवीनत्वं च। अस्मात् कारणाद् यत्तैरुक्तम् हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगान्मन्त्रभागस्य नवीनत्वं तु द्योतितं भवति, किन्त्वस्य प्राचीनवत्वे[3] किमपि प्रमाणं नोपलभामह इति, तद् भ्रममूलमेव विज्ञेयम्। यच्चोक्तं मन्त्रभागनवीनत्वे 'अग्नि पूर्वेभिः' [4]इत्यादिकारणम्, तदपि तादृशमेव। कुतः? ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात्। ईश्वरो हि त्रीन् कालान् जानाति। भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्मन्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चर्षिभि[5]रहमेवेड्यो बभूव[6] भवामि भविष्यामि चेति विदित्वेदमुक्तमित्यदोषः। अन्यच्च—ये वेदादिशास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वाऽध्यापयन्ति ते प्राचीनाः, ये चाधीयते ते नवीनाः। तैर्ऋषिभिरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्त्यतश्च।

भाषार्थ—इसी विषय में डाक्तर मोक्षमूलर साहेब ने अपने बनाये 'संस्कृत-साहित्य' ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि—'आर्य्य लोगों को क्रम से अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था। और वेदों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु उनके नवीन होने में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं।' इसमें एक तो 'हिरण्यगर्भ' शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मन्त्रभाग दो सौ वर्ष पीछे बना है। और दूसरा यह है कि वेदों में दो भाग हैं—एक तो छन्द, और दूसरा मन्त्र। उनमें से छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है, और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ मालूम [नहीं][5] पड़ता है, कि जिसकी उत्पत्ति बनानेवाले [को किसी] की प्रेरणा से नहीं हुई[8]। और उसमें कथन इस प्रकार का है, जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकला हो। उसकी उत्पत्ति में (३१००) इकतीस सौ वर्ष व्यतीत हुए हैं, और मन्त्रभाग की उत्पत्ति में (२९००) वर्ष हुए हैं। उसमें (अग्निः पूर्वेभिः०[7]) इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है।

---

१. 'प्राचीनत्वे' इति तु सुवचम्। २. ऋ० १।८।२॥

३. एतद्विषयेऽग्र उक्तानि ग्रन्थकर्तुर्ऋग्भाष्ये 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः' (१।१।२) इति मन्त्रव्याख्याने चोद्धृतानि प्रमाणानि द्रष्टव्यानि। ४. वै० य० मुद्रिते सं० १–५ 'बभूवे' पाठः।

५. यहां 'नहीं' पद का निर्देश आवश्यक है। इसके विना 'छन्दः' पद का मोक्षमूलर कृत अर्थ स्पष्ट नहीं होता। उसका कथन है कि जो रचना न तो अन्य की प्रेरणा से की गई हो और न स्वबुद्धि से, वह छन्द कही जाती है। यही बात आगे अज्ञानी के मुख से अचानक निकले वचन के दृष्टान्त से स्पष्ट की है। यह भूल भाषानुवादकों की है। उन्होंने संस्कृतपाठ 'परबुद्धिप्रेरणाजन्यं' में 'अजन्यं' ऐसा सन्धिच्छेद नहीं समझा। पं० सुखदेवजी विद्यालंकार ने भी अपने संस्करण में इस भूल को नहीं सुधारा।

६. वै० य० मुद्रित में 'नहीं हो सकती' अपपाठ है।

७. इस छन्दोरचना के विपरीत जो रचना पर प्रेरणा से वा स्वमननपूर्वक की गई हो वह मन्त्र पदवाच्य है, ऐसा मोक्षमूलर का कहना है।

सो उनका यह कहना ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि उन्होंने (हिरण्यगर्भः०)[1] और (अग्निः पूर्वेभिः०[2]) इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यथावत् नहीं जाना है। तथा मालूम होता है कि उनको 'हिरण्यगर्भ' शब्द नवीन जान पड़ा होगा। इस विचार से कि 'हिरण्य'नाम है सोने का,वह सृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है, अर्थात् मनुष्यों की उन्नति, राजा और प्रजा के प्रबन्ध होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है। सो यह बात भी उनकी ठीक नहीं हो सकती। क्योंकि इस शब्द का अर्थ यह है कि [हिरण्य नाम है ज्योति का,] ज्योति कहते हैं विज्ञान को, सो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है; ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिसके; और ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादि लोक जिसके गर्भ में हैं; तथा ज्योति जो जीवात्मा जिसके गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है; तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिसके स्वरूप में है। इसी प्रकार ज्योति इन्द्र अर्थात् सूर्य वायु और अग्नि ये सब जिसके सामर्थ्य में हैं, ऐसा जो एक परमेश्वर है, उसी को 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं।

इस हिरण्यगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तमपन और सनातनपन तो यथावत् सिद्ध होता है, परन्तु इससे उनका नवीनपन सिद्ध कभी नहीं हो सकता। इससे डाक्तर मोक्षमूलर साहेब का कहना, जो वेदों के नवीन होने के विषय में है, सो सत्य नहीं है। और जो उन्होंने (अग्नि पूर्वेभिः०[2]) इसका प्रमाण वेदों के नवीन होने में दिया है, सो भी अन्यथा है। क्योंकि इस मन्त्र में वेदों के कर्ता त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानके कहा है कि वेदों को पढ़के जो विद्वान् हो चुके हैं वा जो पढ़ते हैं, वे प्राचीन और नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें। तथा ऋषि नाम [मन्त्रद्रष्टा मनुष्य,] मन्त्र, प्राण और तर्क का भी है,[3] इनसे ही मेरी स्तुति करनी योग्य है। इसी अपेक्षा से ईश्वर ने इस मन्त्र का प्रयोग किया है। इससे वेदों का सनातनपन और उत्तमपन तो सिद्ध होता है, किन्तु उन हेतुओं से वेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। इसी हेतु से डाक्तर मोक्षमूलर साहेब का कहना ठीक नहीं।

[4]**अत्र निरुक्तेऽपि प्रमाणम्—**

'तत्प्रकृतीतरद्वर्त्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या, नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्य्यवित्सु[5] तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात्

---

१. ऋ० १०।१२१।१॥ २. ऋ० १।१।२॥

३. ऋषि शब्द के इन अर्थों के लिये आगे उल्लिखित और ऋग्भाष्य १।१।२ में उद्धृत प्रमाण देखने चाहियें। ४. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रिते 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

५. कैयट (म० प्रदीप ५।२।१०) हरदत्त (पद० ५।२।१०) भट्टोजिदीक्षित (सि० कौ० ५।२।१०) प्रभृतयः परमप्रामाणिकस्य तत्रभवतो यास्काचार्यस्य **'पारोवर्यवित्'** प्रयोगमपशब्दं ब्रुवन्तो न लज्जन्ते। महाभाष्यकारस्तु **'शिष्टपरिज्ञानार्था अष्टाध्यायी'** (६।३।११८) इति वदन् 'अष्टाध्यायीतोऽनिर्दिष्टसाधूनां' शिष्टप्रयोगाणां प्रामाण्यं स्वीकरोति। विशेषस्तु **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकापरिशिष्ट'**नाम्नि ग्रन्थे 'स्वामी दयानन्दप्रयुक्त-पद-प्रयोग-मीमांसा' प्रकरणे द्रष्टव्यः।

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढं तस्माद्यदेव किं चानूचानोभ्यूहत्यार्षं तद्भवति ॥'
निरु० अ० १३ । खं० १२ ॥

अस्यार्थः—(तत्प्रकृति०) तस्य मन्त्रसमूहस्य पदशब्दाक्षरसमुदायानामितरत परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्तौ वर्त्तमानानां[1] मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति । कोऽयं खल्वस्य मन्त्रस्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहो बुद्धावाभिमुख्येनोहो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्त्तव्यः । नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक्-पृथक् मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः । किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः । किंच नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्याविदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति । न यावद्वा पारोवर्य्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयोविद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति, न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति ।

अत्रेतिहासमाह—पुरस्तात् कदाचिन्मनुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्टृषूत्क्रामत्स्वतीतेषु सत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन्नपृच्छन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्यः सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबोधार्थं चैतं तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्यतीत्युत्तरमुक्तवन्तः । कथंभूतं तं तर्कं ? मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्, मन्त्रार्थविज्ञानकारकम् । अतः किं सिद्धम् ? यः कश्चिदनूचानो विद्यापारगः पुरुषोऽभ्यूहति, वेदार्थमभ्यूहते प्रकाशयते, तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम् । किंच यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्षमनृतं भवति । नैतत्[2] केनाप्यादर्त्तव्यमिति । कुतः ? तस्यानर्थयुक्तत्वात् । तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति ।

अतः पूर्वेभिः प्राक्तनैः प्रथमोत्पन्नैस्तर्कैर्ऋषिभिस्तथा नूतनैर्वर्त्तमानस्थैश्चोतापि भविष्यद्भिश्च त्रिकालस्थैरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्ति । नैवास्माद्भिन्नः कश्चित् पदार्थः कस्यापि मनुष्यस्येड्यः स्तोतव्य उपास्योऽस्तीति निश्चयः । एवम् 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' इत्यस्य मन्त्रस्यार्थसंगतेनैव वेदेष्वर्वाचीनाख्यः कश्चिद् दोषो भवितुमर्हतीति ।

भाषार्थ—[3]इसमें विचारना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् विना विचारे उनके अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं । क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त हैं, अर्थात् उनमें जितने मन्त्र और पद हैं, वे सब सम्पूर्ण सत्यविद्याओं के प्रकाश करनेवाले हैं । [4]और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है । क्योंकि उनके शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते हैं[4] । इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है, जैसा कि यास्कमुनि ने कहा है—(तत्प्रकृतीत०) इत्यादि । वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों के पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदाङ्गों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा

१. द्र०—पूर्वत्र २६ पृष्ठस्थ टि० ६॥ २. 'नैव' तत्' इति सुगमः पाठः ।
३. यह सारा भाषार्थ संस्कृतपाठ से भिन्न है ।
४. 'और ईश्वर ने ···· रखते हैं' इसका मूल संस्कृत में नहीं है ।

आदि शास्त्रों, और शास्त्रान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके सङ्ग से-पक्षपात छोड़के आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखें, तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता। इसलिये सब आर्य्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है, वही मनुष्यों के लिये 'ऋषि' है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो सायणाचार्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोगों के झूठे व्याख्यानों को देखके आजकल के आर्य्यावर्त्त और यूरोपदेश के निवासी लोग जो वेदों के ऊपर अपनी-अपनी देशभाषाओं में व्याख्यान करते हैं। वे ठीक-ठीक नहीं हैं। और उन अनर्थयुक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को अत्यन्त दुःख प्राप्त होता है। इससे बुद्धिमानों को उन व्याख्यानों का प्रमाण करना योग्य नहीं। 'तर्क' का नाम ऋषि होने से सब आर्य लोगों का सिद्धान्त है कि सब कालों में अग्नि जो परमेश्वर है, वही उपासना करने के योग्य है।

अन्यच्च — 'प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः' ॥ ऐ० पं० २। अ० ४ ॥[1]

पूर्वेभिः पूर्वकालावस्थास्थैः कारणस्थैः प्राणैः कार्य्यद्रव्यस्थैर्नूतनैश्चर्षिभिः सहैव समाधियोगेन सर्वैर्विद्वद्भिरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्त्यनेन श्रेयो भवतीति मन्तव्यम्।

भाषार्थ—जगत् के कारण प्रकृति में जो प्राण हैं. उनको 'प्राचीन', और उसके कार्य्य में जो प्राण हैं उनको 'नवीन' कहते हैं। इसलिये सब विद्वानों को उन्हीं [प्राणरूप] ऋषियों के साथ योगाभ्यास से अग्निनामक परमेश्वर की ही स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी योग्य है। इतने से ही समझना चाहिये कि भट्ट मोक्षमूलर साहेब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक-ठीक नहीं जाना है।

[2]यच्चोक्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोऽस्तीति, तदप्यसंगतम्। कुतः? छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्य्यायवाचकत्वात्। तत्र छन्दोऽनेकार्थवाचकमस्ति—वैदिकानां गायत्र्यादिवृत्तानां लौकिकानामार्य्यादीनां च वाचकम्, क्वचित् स्वातन्त्र्यस्यापि। अत्राहुर्यास्काचार्य्याः—

'मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात् स्तोमः स्तवनाद् यजुर्यजतेः सामसंमितमृचा ॥'

निरु० अ० ७। खं० १२ ॥

[3]अस्यायमभिप्रायः—'मत्रि गुप्तपरिभाषणे'[4] अस्माद् 'हलश्च' इति सूत्रेण[5] 'घञ्' प्रत्यये कृते

---

१. ऐ० ब्रा० २।४।३॥ २. इतः पूर्वमपि वै० य० मुद्रिते 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

३. इत आरभ्य 'मन्त्रा गृह्यन्ते' इत्यन्तः सन्दर्भो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'एता वै देवताश्छन्दांसि' इत्युद्धरणात् परं पठ्यते। स चास्थान इति कृत्वाऽस्माभिर्योग्ये स्थाने स्थापितः। अस्थानत्वं चास्य 'अस्य' इत्येकवचनान्तप्रयोगात्, '**मन्त्रा मननात्**' इत्यादिनिरुक्तोद्धरणे प्रथमं पठितस्य 'मन्त्र'शब्दस्य व्याख्यानरूपत्वाच्च स्पष्टमेव। ४. धातु० १०।१४६॥ वै० य० मुद्रितेषु १-८ संस्करणेष्वयमेव पाठः। नवमसंस्करणे तु 'परि' शब्दः पृथक्कृतः। प्रतीयते केषुचिद् धातुपाठेषु 'गुप्तभाषणे' इत्येवोपलभ्य'परि'शब्दोऽपाकृतः स्यात्तत्सम्पादकेन। ५. अष्टा० ३।३।१२१॥

मन्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते। गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन् वर्त्तते स मन्त्रो वेद । तदवयवानामनेकार्थानामपि मन्त्रसंज्ञा भवति, तेषां तदर्थवत्त्वात्। तथा 'मन ज्ञाने'[1] **अस्माद्धातोः** 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' **इत्युणादिसूत्रेण**[2] **'ष्ट्रन्' प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दो व्युत्पद्यते। मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन यस्मिन् वा स मन्त्रो वेदः। तदवयवा** 'अग्निमीडे पुरोहितम्'[3] **इत्यादयो मन्त्रा गृह्यन्ते।**

अविद्यादिदुःखानां निवारणात् सुखैराच्छादनाच्छन्दो वेदः। तथा 'चन्देरादेश्च छः' **इत्यौणादिकं सूत्रम्,**[4] 'चदि आह्लादने दीप्तौ च'[5] **इत्यस्माद्धातोरसुन्प्रत्यये परे चकारस्य छकारादेशे च कृते 'छन्दस्' इति शब्दो भवति। वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेमनुष्य आह्लादी भवति, सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः।**

'छन्दाꣳसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धम् ॥'

श० कां० ८। अ० २ ॥[6]

'एता वै देवताश्छन्दाꣳसि ॥' श० कां० ८। अ० ३ ॥[7]

यानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि तदन्विता मन्त्राः सर्वार्थद्योतकत्वाद् देवताशब्देन गृह्यन्ते। अतश्च छन्दांस्येव देवाः वयोनाधाः सर्वक्रियाविद्यानिबन्धनास्तैश्छन्दोभिरेव वेदैर्वेदमन्त्रैश्चेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादि चेश्वरेण नद्धं बद्धं कृतमिति विज्ञेयम्। येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृता आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति तस्माच्छन्दांसि वेदा, मननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ। एवं—

'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' । इति मनुस्मृतौ ।[8]

'इत्यपि निगमो भवति' । इति निरुक्ते ।[9]

श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च, निगमो वेदो मन्त्रश्चेति पर्य्यायौ स्तः। श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुतिर्वेदो मन्त्राश्च श्रुतयः। तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति।

भाषार्थ—[10]जैसे 'छन्द' और 'मन्त्र' ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिताभाग के नाम हैं, वैसे ही 'निगम' और 'श्रुति' भी वेदों के नाम हैं। भेद होने का कारण केवल अर्थ ही है। वेदों का नाम 'छन्द' इसलिये रक्खा है कि वे स्वतन्त्र प्रमाण और सत्यविद्याओं से परिपूर्ण हैं। तथा उनका 'मन्त्र' नाम इसलिये है कि उनसे सत्यविद्याओं का ज्ञान होता है। और 'श्रुति' इसलिये कहते हैं कि उनके पढ़ने अभ्यास करने और सुनने से सब सत्यविद्याओं को मनुष्य लोग जान सकते हैं।

१. धातु० ४।६५॥ २. उणादि० ४।१५६॥
३. ऋग्वेदस्यादिमो मन्त्रः। ४. उणादि० ४।२१६॥ ५. धातु० १।५६॥
६. शत० ८।२।२।८॥ ७. शत० ८।३।३।६॥ ८. मनु० २।१०॥
९. यथा २।१३; ३।५,२० इत्यादिषु बहुत्र । अत्रेदमपि विज्ञेयम्—यास्को 'निगम'पदस्य प्रयोगं मन्त्रोद्धरणप्रसङ्ग एव करोति, ब्राह्मणोद्धरणप्रसङ्गे तु **'इति विज्ञायते'** इत्येवं निर्दिशति ।
१०. यह भाषार्थ अत्यन्त संक्षिप्त अभिप्रायमात्र द्योतक है ।

ऐसे ही जिस करके सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उसको 'निगम' कहते हैं। इससे यह चारों शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थ के वाची हैं, ऐसा ही जानना चाहिये।

[1]तथा व्याकरणेऽपि—

'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः ॥ १॥'

अष्टाध्याय्याम् अ० २। पा० ४। सू० ८०॥

'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥२॥' अ० ३। पा० ४। सू० ६॥

'वा षपूर्वस्य निगमे ॥३॥' अ० ६। पा० ४। सू० ९॥

अत्रापि च्छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति। एवं छन्दआदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते।

भाषार्थ—वैसे ही अष्टाध्यायी व्याकरण में भी छन्द मन्त्र और निगम ये तीनों नाम वेदों ही के हैं। इसलिये जो लोग इनमें भेद मानते हैं, उनका वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं।

॥ इति वेदविषय-विचारः ॥



१. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

अथ वेदसंज्ञाविचारः

अथ कोऽयं वेदो नाम ? मन्त्रभाग[1]संहितेत्याह । किञ्च 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति कात्यायनो[2]क्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति ?

मैवं वाच्यम् । न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति । कुतः ? पुराणेतिहाससंज्ञत्वाद्[3] वेदव्याख्यानाद् ऋषिभिरुक्तत्वाद् अनीश्वरोक्तत्वात् कात्यायनभिन्नै[4]र्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात् मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति ।

भाषार्थ—प्र०—वेद किनका नाम है ? उ०—मन्त्र-संहिताओं का । प्र०—जो कात्यायन ऋषि ने कहा है कि 'मन्त्र और ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद है,' फिर ब्राह्मणभाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं ?

---

१. अत्र अन्यत्र च **'भाग'** पदनिर्देशः पूर्वपक्षिणो मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वं स्वीकर्तुर्मतेन, न स्वमतेनेति विज्ञेयम् । यद्वा व्याख्येयव्याख्यानयोरौपचारिकमेकत्वं स्वीकृत्य भागपदप्रयोगो विज्ञेयः ।

२. कात्यायननाम्ना प्रसिद्धे वाजसनेयप्रातिशाख्यस्य परिशिष्टरूपे **प्रतिज्ञापरिशिष्टे** सूत्रमिदं दृश्यते । प्रतिज्ञापरिशिष्टनामकमेकमन्यदपि परिशिष्टम् अष्टादशसु श्रौतपरिशिष्टेषूपलभ्यते । तत्र नैतद् वचनं श्रूयते एवं च प्रतिज्ञापरिशिष्टनाम्नी द्वे परिशिष्टे स्तः ।

३. प्राचीनेष्वार्षग्रन्थेषु पुराणेतिहासकल्पगाथानाराशंस्यादिभिर्नामभिर्ब्राह्मणान्युच्यन्ते । तथा चाहुर्बृहदारण्यकोपनिषदो (२।४।१०) व्याख्याने **शंकराचार्याः—'किं तन्निश्वसितमिव ततो जातमित्युच्यते—यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरश्चतुर्विधं मन्त्रजातम्, इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः 'उर्वशी हाप्सराः'** इत्यादि ब्राह्मणमेव । ...'' (इत्थमेव पुराणविद्योपनिषच्छ्लोकसूत्रानुव्याख्यानव्याख्यानपदानां विवरणेऽपि ब्राह्मणवचनान्येवोद्धृतानि) । एतदेव चानुसृत्य **सायणाचार्येण** तैत्तिरीयारण्यकव्याख्यान (८।२, पूना सं० पृष्ठ ५६३) उक्तम्—''**ब्राह्मणं चाष्टधाभिन्नम् । तद्भेदास्तु वाजसनेयिभिराम्नायन्ते—'इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि'** (बृ० उ० २।४।१०) इति ।'' (अग्रे च सायणेन प्रकृतारण्यकग्रन्थत एव इतिहासादीनामुदाहरणानि प्रदत्तानि) ।

४. प्रतिज्ञापरिशिष्टं कात्यायनर्षिप्रोक्तमित्यननुमतमपि ग्रन्थकारस्य दुर्जनतोषन्यायेन प्रतिज्ञापरिशिष्टस्य कात्यायनप्रोक्तत्वं स्वीकृत्येदं वचनमिति ज्ञेयम् ।

अत्रेदं विशेषतो ज्ञेयम्—**'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** इति वचनं सर्वेष्वपि समुपलभ्यमानेषु कृष्णयजुषः श्रौतसूत्रेषु परिभाषाप्रकरणे पठ्यते । आपस्तम्बादिकल्पसूत्रवचनानि ग्रन्थकृताऽसकृत् स्वीयग्रन्थेषूद्धृतानि । तस्माद् ग्रन्थकारेण कृष्णयजुषः श्रौतसूत्राणि नैव दृष्टानीति न शक्यते वक्तुम् । तथा सत्यपि, यदत्र ग्रन्थकारः 'कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्' इति ब्रवीति, तेन तस्यात्र कश्चिद् विशिष्टोऽभिप्रायः

उ०—ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते। क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नराशंसी भी है[1]। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं, किन्तु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं। एक कात्यायन को छोडके किसी अन्य ऋषि[2] ने उनके वेद होने में साक्षी नहीं दी है। और वे देह-धारी पुरुषों के बनाये हैं। इन हेतुओं से ब्राह्मणग्रन्थों को वेदसंज्ञा नहीं हो सकती। और मन्त्र-संहिताओं का 'वेद' नाम इसलिये है कि ईश्वररचित और सब विद्याओं का मूल हैं।

सूच्यते। स च 'मन्त्ररूपाणाम् ऋग्यजुःसामाथर्वसंहितानां श्रौतसूत्रप्रवक्तृषु कात्यायनभिन्नैरन्यैर्ऋक्सामाथर्वश्रौत-कारैर्ऋषिभिरेतादृशस्य वचनस्यानुक्तत्वाद्' इत्येवं ज्ञेयः। अत्र चेदमपि ध्येयम्—कात्यायननाम्ना प्रसिद्धमुक्त-वचनमपि न तस्य श्रौतसूत्रे दृश्यते, न श्रौतपरिशिष्टेषु। कृष्णयजुषः सर्वासु शाखारूपासु संहितासु मन्त्रब्राह्मणयोः सम्मिश्रणं प्रत्यक्षमिति हेतोस्तत्सूत्रकाराणां परिभाषाप्रकरणे तादृश्याः पारिभाषिक्या वेदसंज्ञायाः करणं न दोषावहम्। पारिभाषिकी संज्ञा च स्वस्मिन् ग्रन्थ एव प्रवर्तते, न ततोऽन्यत्रेति सर्वसम्मतो राद्धान्तः। तेन कृष्णयजुषः श्रौतसूत्रेषूक्ता ब्राह्मणानां पारिभाषिकी वेदसंज्ञा न सामान्यरूपेण ब्राह्मणानां वेदत्वबोधनाय समर्था। अत एवापस्तम्बश्रौतव्याख्यात्रा धूर्तस्वामिना '**केचिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्**', हरदत्तेन च '**केचिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम्**' इत्युक्तम्। अयं च विषयोऽस्माभिः स्वीये '**वेद-संज्ञा-मीमांसा**' ग्रन्थे विस्तरेण वर्णितः। अत एतद्विषये विशेषजिज्ञासुभिः स ग्रन्थोऽवश्यं द्रष्टव्यः (अयं रामलालकपूरट्रस्टत उपलभ्यते)।

१. इतिहास पुराण आदि नाम ब्राह्मणग्रन्थों के हैं, इस विषय में **शंकराचार्य** और **सायणाचार्य** के वचन हमने ऊपर (पृष्ट ९४ टि० ३) में दर्शा दिए हैं। अतः पुनः यहां नहीं लिखते।

२. 'शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य' से संबद्ध 'प्रतिज्ञापरिशिष्ट' में मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहा है। यह परिशिष्ट कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध है। ऋषि दयानन्द ने दुर्जनतोषन्याय से उस ग्रन्थ को कात्यायनकृत मानकर यह पङ्क्ति लिखी है। वस्तुतः वे उसे कात्यायनकृत नहीं मानते। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 'प्रतिज्ञापरिशिष्ट' के नाम से एक अन्य परिशिष्ट भी मिलता है, जिसका 'कात्यायन-श्रौत-सूत्र' के साथ संबन्ध है।

यहां यह भी जानना चाहिए कि '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' वचन कृष्णयजुःशाखाओं के सभी श्रौत-सूत्रों में उपलब्ध होता है। ऋषि दयानन्द ने आपस्तम्ब कल्प के अनेक वचन अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं। अतः उन्होंने कृष्णयजुः के श्रौतसूत्र नहीं देखे यह कल्पना नहीं की जा सकती (अनेक पौराणिक पण्डित ऐसा कहते हैं)। इसलिए ऋषि दयानन्द के 'एक कात्यायन को छोड़कर किसी अन्य ऋषि ने' कथन से विशेष अभिप्राय सूचित होता है। वह इस प्रकार है—'कृष्णयजुः की शाखारूप संहिताओं में मन्त्र और ब्राह्मण का सम्मिश्रण प्रत्यक्ष होने से उन शाखाओं के सूत्रकारों ने अपने श्रौतसूत्र के परिभाषा-प्रकरण में मन्त्र ब्राह्मण की पारिभाषिक वेदसंज्ञा कही है। पारिभाषिक संज्ञायें उसी ग्रन्थ के लिए प्रमाण होती हैं, जिनमें वह संज्ञा पढ़ी गई है, यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। इसलिए इस सूत्र से कही गई पारिभाषिक वेद-संज्ञा सामान्यरूप से ब्राह्मणग्रन्थों की वेद-संज्ञा का विधान नहीं कर सकती। आपस्तम्ब श्रौत के उक्त परिभाषासूत्र की व्याख्या में **धूर्तस्वामी और हरदत्त** दोनों ने स्पष्ट लिखा है—'**कई आचार्य मन्त्रों की ही वेद संज्ञा मानते हैं**'। इस विषय पर हमने अपने '**वेदसंज्ञामीमांसा**' ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है। विशेष जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे इस ग्रन्थ को अवश्य देखें।

[1]यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति, न चैवं मन्त्रभागे[2]।

किंच भोः !

'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम् ॥१॥' यजुः० अ० ३ । मं० ६२ ॥

इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते । अनेनेतिहासादिविषये मन्त्रब्राह्मणयोस्तुल्यता दृश्यते, पुनर्ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा कुतो न मन्यते ?

मैवं भ्रमि । नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणो मनुष्यस्य नाम्नी स्तः । अत्र प्रमाणम्—

'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः ॥'
श० कां० ८ । अ० १ ॥[3]

'कश्यपो वै कूर्मः' । 'प्राणो वै कूर्मः ।' श० कां० ७ । अ० ५ ॥[4]

अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञास्ति । शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः ।

अनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते । तद्यथा—हे जगदीश्वर! भवत्कृपया नोऽस्माकं जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च (त्र्यायुषम्) त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत् तावदायुरस्तु । चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणां, प्राणो मनआदीनां च । (यद्देवेषु त्र्यायुषम्) अत्र प्रमाणम्—'विद्वाꣳसो हि देवाः ।' श० कां० ३ । अ० ७[5] अनेन विदुषां देवसंज्ञास्ति । देवेषु विद्वत्सु यावद् विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति (तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्) तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवेत्, येन सुखयुक्ता वयं तावदायुर्भुञ्जीमहि । अनेनान्यदप्युपदिश्यते—ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्मनुष्यैरेतत् त्रिगुणमायुः कर्तुं [6]शक्यमस्तीति गम्यते ।

अतोऽर्थाभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं[7] वेदेषु प्रकाश्यते । अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम् ।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु इतः पूर्वं पठ्यमानं 'भाष्यम्' पदं व्यर्थम्, कस्यचिद् वचनस्य व्याख्यानाभावात् ।

२. अत्रापि भागपदव्यवहारः पूर्वपक्षिणो मतेन, एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र द्रष्टव्यम् ।

३. शत० ८।१।२।३॥ ४. शत० ७।५।१।५,७॥ ५. शत० ३।७।३।१०॥

६. तदुक्तं भगवताऽग्निवेशेन—ब्रह्मचर्यमायुष्याणाम् [प्रधानम्] । चरक सूत्र अ० २५ खण्ड ३८ ॥

७. सामान्यार्थमिति भावः ।

भाषार्थ—[जैसे ब्राह्मणग्रन्थों में मनुष्यों के नामलेखपूर्वक लौकिक इतिहास हैं, वैसे मन्त्रभाग में नहीं हैं।][1]

प्र०—[2]जैसे ऐतरेय[3] आदि ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी और जनक आदि के इतिहास लिखे हैं, वैसे ही[2] (त्र्यायुषं जमदग्नेः०[4]) इत्यादि वेदों में भी पाये जाते हैं। इससे मन्त्र और ब्राह्मणभाग ये दोनों बराबर होते हैं। फिर ब्राह्मणग्रन्थों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो?

उ०—ऐसा भ्रम मत करो। क्योंकि 'जमदग्नि' और 'कश्यप' ये नाम [यहां] देहधारी मनुष्यों के नहीं हैं। इसका प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि—'चक्षु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है।' इस कारण से यहां [उपलक्षणरूप से] प्राण से अन्तःकरण और आंख से सब इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् जिनसे जगत् के सब जीव बाहर और भीतर देखते हैं।

(त्र्यायुषं ज०) सो इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि—'हे जगदीश्वर! आप के अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण और आंख आदि सब इन्द्रियों की (३००) तीन सौ वर्ष तक उमर बनी रहे। (यद्देवेषु०) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है, (तन्नो अस्तु०) वैसी ही हम लोगों की भी हो'। तथा '**त्र्यायुषं जमदग्नेः०**' इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों[5] से त्रिगुण चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् (४००) चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों में सत्य अर्थ के वाचक शब्दों से सत्यविद्याओं का प्रकाश किया है, लौकिक इतिहासों का नहीं। इससे जो सायणाचार्यादि लोगों ने अपनी-अपनी बनाई टीकाओं में वेदों में जहां-तहां इतिहास वर्णन किये हैं, वे सब मिथ्या हैं।

[6]तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति, न ब्रह्मवैवर्तश्रीमद्भागवतादीनां चेति निश्चीयते।

किंच भोः! ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र क्वचिद् ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु 'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः'[7] **इत्यादीनि वचनानि दृश्यन्ते, एषां मूलमथर्ववेदेऽप्यस्ति—**

---

१. कोष्ठगत यह पङ्क्ति वै० य० मुद्रित सं० ८ में परिवर्धित है, यह आवश्यक भी है।

२. 'जैसे ...... वैसे ही' पङ्क्ति संस्कृत पाठ में नहीं है, परन्तु विषय की स्पष्टता के लिये उपयोगी है।

३. यहां 'शतपथ' होना चाहिए। क्योंकि आगे निर्दिष्ट सभी इतिहास शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत है। उपलक्षणार्थ ऐतरेय पाठ मानने पर उसमें निर्दिष्ट 'कवष ऐलूष' आदि के इतिहास द्रष्टव्य हैं।

४. यजुः ३। ६२॥

५. चरक संहिता सूत्र० अ० २५, खं० ३८ में 'ब्रह्मचर्य को आयुष्यवर्धकों में प्रधान' बताया है—'**ब्रह्मचर्यमायुष्याणां [प्रधानम्]**'।

६. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

७. तै० आ० २।९॥ तुलना कार्या—आश्व० गृह्य ३।३।१॥

'स बृ॒ह॒तीं दिश॒मनु॒ व्य॑चलत् । तमि॑तिहा॒सश्च॑ पु॒रा॒णं च॒ गाथा॑श्च नाराशं॒सीश्चा॑नु॒व्य॑चलन् । इ॒ति॒हा॒सस्य॑ च॒ वै स पु॒रा॒णस्य॑ च॒ गाथा॑नां च नाराशं॒सीनां॑ च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ।।' अथर्व कां० १५ । प्रपा० ३० । अनु० १ । मं० ४ ।।[1]

अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसंज्ञया कुतो न गृह्यन्ते ?

मैवं वाचि । एतैः[2] प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते, न श्रीमद्भागवतादीनामिति । कुतः, **ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात्**[3] । तत्र—

'देवासुराः संयत्ता आसन्[4] ।' इत्यादयः 'इतिहासा' ग्राह्याः ।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।।' छान्दोग्योपनि०[5] प्रपा० ६ ।।[6]

'आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत् ।।'[7]

इत्यैतरेयारण्यकोपनि० अ० १ । खं० १ ।।

'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास ।।' श० कां० ११ । अ० १ ।।[8]

'इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत् ।।'[9] इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव 'पुराणानि' ग्राह्याणि ।

---

१. अथर्व १५ । ६ । १०-१२ ।।

२. प्रकारे बहुवचनम् । तेन 'यद् ब्राह्मणानीतिहासान्' सदृशवचनप्रमाणैरित्यर्थो विज्ञेयः । न त्वत्रोक्ताथर्वमन्त्रोऽप्यन्तर्भावनीयः (एतद्विषयेऽग्रिमा टिप्पणी द्रष्टव्या) ।

३. इतिहासपुराणादिशब्दैर्ब्राह्मणान्तर्गता एव विशिष्टा भागा उच्यन्त, इत्यस्मिन् विषये शंकराचार्यसायणाचार्ययोर्वचनानि पूर्वम् (पृष्ठ ९४, टि० ३) उद्धृतानि । यत्त्वत्राथर्ववेदस्य प्रमाणमुपन्यस्तं न तत्रेतिहासादिशब्दैर्ब्राह्मणवचनानां ग्रहणं शक्यं विज्ञातुम् । कुतः, तेषां मन्त्रापेक्षया परकालत्वात् । अत एतस्मिन् मन्त्रे निर्दिष्टैरितिहासादिपदैः तत्तल्लक्षणयुता मन्त्रा एव ग्राह्याः । यथा—'इति ह आस' इत्येवं भूतकालक्रियया युता 'हिरण्यगर्भः **समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्** (ऋ० १०।१२१।१) इत्यादयो मन्त्रा इतिहासपदवाच्याः, **नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्** (ऋ० १०।१२९।१) इत्येवमादयः सृष्टिविषयका मन्त्राः पुराणपदवाच्याः । इत्यमेव गाथानाराशंसीपदवाच्या विशिष्टा मन्त्रा अत्र ग्रहीतुं योग्याः सन्ति । इदमत्र सामान्येन ज्ञेयम्—इतिहास-पुराण-गाथा-कल्प-नाराशंस्यादीनि पदानि प्राधान्येन तादृशीनां रचनाविशेषाणां वाचकान्येव । तेन मन्त्रेष्विमानि पदानि तत्तल्लक्षणयुतान् मन्त्रानभिदधति, ब्राह्मणेषु ब्राह्मणवचनान्, लौकिकेतिहासादिषु लौकिकेतिहासादीन् ।

४. तै० सं० १ । ५ । १ । १ ।। अत्रापि मन्त्रव्यतिरिक्तो भागो ब्राह्मणमुच्यते ।

५. उपनिषदां ब्राह्मणेष्वन्तर्भावः ।

६. छा० उ० ६ । २। १।।

७. ऐ० आर० ४।१।१।। तत्र '**इदमेक एवाग्र**' पाठः ।

८. शत० ११।१।६।१।।

९. तुलना कार्या—'**नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्** ।' बृ० उ० १।२।१।।

कल्पा—मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाशकाः । तद्यथा—'इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्टयै तदाह, यदाहेषे त्वेत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह ।' 'सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूताः ।।' श० कां० १ । अ० ७ ।।[1] इत्यादयो ग्राह्याः ।

'गाथाः'[2] – याज्ञवल्क्यजनकसंवादो यथा शतपथब्राह्मणे गार्गीमैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तर-कथनयुक्ताः सन्तीति ।

'नाराशंस्यश्च'—अत्राहुर्यास्काचार्याः—'नराशंसो यज्ञ इति काथक्यो[3] नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपूणिर्नरैः प्रशस्यो भवति ।।' निरु० अ० ८ । खं० ६ ।। नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ताद्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्याः, नातोऽन्या इति ।

किंच तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद् ब्राह्मणानीति संज्ञीपदमितिहासादि-स्तेषां संज्ञेति । तद्यथा—'ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसी-श्चेति' ।[4]

भाषार्थ—और इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों का ही 'इतिहासादि' नाम जानना चाहिये, श्रीमद्भागवतादि का नहीं ।

प्र०—जहां जहां ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों में (यद् ब्राह्मणा०) इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी इत्यादि शब्द देखने में आते हैं, तथा अथर्ववेद में भी इतिहास पुराणादि नामों का लेख है, इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों से भिन्न ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीमद्भागवतादि[5] का ग्रहण इतिहास पुराणादि नामों से क्यों नहीं करते हो ?

उ०—इनके ग्रहण में कोई भी प्रमाण नहीं है । क्योंकि उनमें मतों के परस्पर विरोध औ[र] लड़ाई आदि की असम्भव मिथ्या कथा अपने-अपने मत के अनुसार लोगों ने लिख रक्खी हैं। इससे इतिहास और पुराणादि नामों से इनका ग्रहण करना किसी मनुष्य को उचित नहीं। [ब्राह्मणग्रन्थों में इतिहासादि का अन्तर्भाव होने से उनका ही इतिहास पुराणादि नामों से ग्रहण होता है ।[6] वहां—]

---

१. शत० १।७।१।२,४।।

२. एवं पाठो युक्ततरः प्रतिभाति—गाथाः संवादरूपाः । यथा शतपथे याज्ञवल्क्यजनकसंवादो गार्गी-मैत्रेयादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'कथक्यो' इत्यपपाठः ।

४. अनुपलब्धमूलमिदम् ।

५. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'श्रीमद्भागवत महाभारतादि' पाठ है । यह अपपाठ है, क्योंकि संस्कृत में 'महाभारत' पद नहीं है । और महाभारत प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ है, ब्रह्मवैवर्त आदि के समान अप्रमाण अनार्ष ग्रन्थ नहीं है ।

६. इतिहास पुराण आदि से ब्राह्मण अन्तर्गत विशिष्ट भागों का ही ग्रहण होता है, यह हम पूर्व (पृ० ९४ टि० ३ में) शंकराचार्य और सायणाचार्य के मत से भी दर्शा चुके हैं ।

जो ब्राह्मणग्रन्थों में (देवासुराः संयत्ता आसन्) अर्थात् 'देव विद्वान् और असुर मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे' इत्यादि कथाओं का नाम 'इतिहास' है।

(सदेव सो०) अर्थात् जिसमें जगत् की [पूर्व अवस्था] उत्पत्ति आदि का वर्णन है, उस ब्राह्मण भाग का नाम 'पुराण' है।

(इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्टयै०) जो वेदमन्त्रों के अर्थ, अर्थात् जिनमें द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है, उनका नाम 'कल्प' है।

इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि की [प्रश्नोत्तर रूप] कथाओं का नाम 'गाथा' है।

और जिनमें नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर धर्म आदि पदार्थविद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है, उनको 'नाराशंसी' कहते हैं।

(ब्राह्मणानीतिहासान्०) इस वचन में 'ब्राह्मणानि' संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा है। अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा नाराशंसी है। सो ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में जो-जो जैसी-जैसी कथा लिखी हैं, उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये, अन्य का नहीं।

[1]अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये—

[सू०—]'वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥१॥' अ० २। आ० १। सू० ६०॥[2]

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—'**प्रमाणं शब्दो यथा लोके, [3]विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः।**'

अयमभिप्रायः—ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव, न वैदिका इति। तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते—

सू०—'**विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥२॥** अ० २। आ० १। सू० ६१॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—'**त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि, विधि-**

---

१. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

२. विभिन्नेषु संस्करणेषु सूत्रसंख्यायां भेद उपलभ्यते। तत्र यथानिर्दिष्टसंख्यायामुद्धरणं नोपलभ्यते चेत् पूर्वापरसंख्या अनुसन्धेयाः।

३. '**विभागश्च**' इत्यादिवाक्यमुत्तरसूत्रस्योत्थानिकारूपं ग्रन्थकृतेहैव पठित्वा व्याख्यातम्। एतच्चाग्रे व्याख्याने 'तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते' इतिवाक्येनोत्तरसूत्रस्योपस्थापनस्य दर्शनाद् विज्ञायते। इत्थमेव चाग्रे द्वितीयसूत्रस्य वात्स्यायनभाष्योद्धरणस्यान्ते '**तत्र**' पदमपि तृतीयस्य सूत्रस्योत्थानिकारूपमेवेति ज्ञेयम्।

वचनान्यर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति । 'तत्र'—

सू०—'विधिर्विधायकः ॥३॥' अ० २ । आ० १ । सू० ६२ ॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—'यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः । विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा, यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादि ।' ब्राह्मणवाक्यानामिति शेषः[1] ।

सू०—'स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥४॥' अ० २ । आ० १ । सू० ६३ ॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—"विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा 'स्तुतिः' संप्रत्ययार्थं[2] स्तूयमानं श्रद्दधीतेति प्रवर्त्तिका च । फलश्रवणात् प्रवर्त्तते— सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जयतीत्येवमादि । अनिष्टफलवादो 'निन्दा' वर्जनार्थं[3] निन्दितं न समाचरेदिति । स एष वा प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतत्ययमे[वै]तज्जीर्यते वा इत्येवमादि । अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः 'परकृतिः' । हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति, अथ पृषदाज्यम् । तदु ह चरकाध्वर्य्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति । अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधतीत्येवमादि । ऐतिह्यसमाचरितो विधिः 'पुराकल्पः' इति । तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा [4]बहिःपवमानं साम स्तोममस्तौषन् योनेर्यज्ञं प्रतनवामहा इत्येवमादि । कथं परकृतिपुराकल्पौ अर्थवादा इति ? स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसंबन्धाद् विध्याश्रयस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवाद इति ।"

भाषार्थ—ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहासादि संज्ञा होने में और भी प्रमाण है—जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों में भी हैं ।[5] उनमें से एक—विधिवाक्य है, जैसे—'देवदत्तो ग्रामं गच्छेत् सुखार्थम्' सुख के लिये देवदत्त ग्राम को जाय । इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में

१. अत्र पूर्व १०० पृष्ठस्था टिप्पणी ३ द्रष्टव्या ।

२. क्वचित् 'सम्प्रत्ययार्था' इति पाठान्तरमुपलभ्यते । ग्रन्थकारनिर्दिष्टस्तु पाठस्तदानींतने कलकत्तामुद्रिते वात्स्यायनभाष्य उपलभ्यते ।

३. इहापि क्वचित् 'वर्जनार्था' इति पाठान्तरमुपलभ्यते उपर्युद्धृतः पाठः कलकत्तामुद्रिते ग्रन्थ उपलभ्यते ।

४. वै० य० मुद्रितसंस्करणे 'हविः' इत्यपपाठो मुद्रणप्रमादजो वर्णविपर्ययात्मकः । अत्र 'बहिष्पवमानं' इति षकारवान् पाठो युक्तो ज्ञेयः, सामविशेषस्य तथैव संज्ञादर्शनात् ।

५. यह अनुवाद अशुद्ध है । इस प्रकार होना चाहिए—'ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा न होने में अन्य भी प्रमाण है । न्यायदर्शन में कहा है—ब्राह्मण ग्रन्थों के शब्द लौकिक ही हैं, न कि वैदिक । उनका तीन प्रकार का विभाग देखा जाता है' ।

भी है—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' जिसको सुख की इच्छा हो वह अग्निहोत्रादि यज्ञों को करे। दूसरा—[1]अर्थवाद है, जो कि चार प्रकार का होता है। एक—(स्तुति) अर्थात् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना, जिससे मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम काम करने और गुणों के ग्रहण करने में ही हो। दूसरी—(निन्दा) अर्थात् बुरे काम करने में दोषों का दिखलाना, जिससे उनको कोई न करे। तीसरा—(परकृतिः) जैसे इस चोर ने बुरा काम किया, इससे उसको दण्ड मिला, और साहूकार ने अच्छा काम किया, इससे उसको प्रतिष्ठा और उन्नति हुई। चौथा—(पुराकल्प) अर्थात् जो बात पहले हो चुकी हो, जैसे जनक की सभा में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्य आदि ने इकट्ठे होके आपस में प्रश्नोत्तर रीति से संवाद किया था, इत्यादि इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं।

[2]सू०—'विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥५॥' अ० २। आ० १। सू० ६४॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—'विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः।'

सू०—'न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात् ॥६॥'

अ० २। आ० २। सू० १॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—'न चत्वार्य्येव प्रमाणानि। किं तर्हि? ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रामाणानि। इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारंपर्य्यमैतिह्यम्।'[3]

अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते, नान्यदिति।

भाषार्थ—[4]इसका तीसरा भाग 'अनुवाद' है, अर्थात् जिसका पूर्व विधान करके उसी का स्मरण और कथन करना। सो भी दो प्रकार का है—एक - शब्द का, और दूसरा—अर्थ का। जैसे 'वह विद्या को पढ़े' यह 'शब्दानुवाद' है। 'विद्या पढ़ने से ही ज्ञान होता है,' इसको 'अर्थानुवाद' कहते हैं। [5]इससे इसमें समझ लेना चाहिये कि जिस शब्द और अर्थ का दूसरी बार उच्चारण और विचार हो, इसको अनुवाद कहते हैं। सो ब्राह्मणपुस्तकों में लिखा है।

[6](जिसकी प्रतिज्ञा उसी में हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन को घटाना हो। जैसे

१. यहां से आगे का भाषानुवाद भी ठीक नहीं है। वात्स्यायन-भाष्य के उदाहरणों का निर्देश न करके लौकिक उदाहरणमात्र दिये हैं।

२. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

३. अस्य भाषार्थो नोपलभ्यते।

४. प्रकृत भाषार्थ भी संस्कृतपाठ का यथावत् नहीं है।

५. 'इससे……लिखा है' पाठ वै० य० मुद्रित में भाषा के अगले सन्दर्भ से आगे था, परन्तु इसका इस प्रकरण से सम्बन्ध होने से हम यहां ले आये हैं।

६. यह कोष्ठान्तर्गत सन्दर्भ यहां अप्रासङ्गिक है। संस्कृतपाठ में इसका किसी प्रकार का संकेत भी नहीं है। तथा 'न चतुष्ट्वम्' सूत्र और उसके भाष्य का भाषानुवाद भी नहीं है।

परमेश्वर नित्य है, यह 'प्रतिज्ञा' है। विनाशरहित होने से, यह 'हेतु' है। आकाश के समान है, इसको 'उदाहरण' कहते हैं। जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी है, इसको 'उपनय' कहते हैं। और इन चारों का क्रम से उच्चारण करके पक्ष में यथावत् योजना करने को 'निगमन' कहते हैं। जैसे—परमेश्वर नित्य है, विनाशरहित होने से, आकाश के समान, जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी।)

इस हेतु से भी ब्राह्मणपुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये। क्योंकि इनमें इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पांच प्रकार की कथा सब ठीक-ठीक लिखी हैं। और भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिये। क्योंकि उनमें मिथ्या कथा बहुत सी लिखी हैं।

[1]**अन्यच्च—ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति, नैव वेदाख्यानीति। कुतः, 'इषे त्वोर्जे त्वेति'** श० कां० १। अ० ७॥ [2]**इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि[3] धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात्।**

भाषार्थ—ब्राह्मणग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती। क्योंकि '**इषे त्वोर्जे त्वेति०**' इस प्रकार से उनमें मन्त्रों की प्रतीक धर-धरके वेदों का व्याख्यान किया है। और मन्त्रभाग संहिताओं में ब्राह्मणग्रन्थों की एक भी प्रतीक कहीं नहीं देखने में आती[4] इससे जो ईश्वरोक्त मूलमन्त्र अर्थात् चार संहिता हैं, वे ही वेद हैं, ब्राह्मणग्रन्थ नहीं।

अन्यच्च महाभाष्येऽपि—

केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावत्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि—शन्नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्जे त्वा।

---

१. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः। २. शत० १।७।१।२॥

३. क्वचिद् शुक्लयजुःसंहितायामपि प्रतीकानि पठ्यन्ते। तानि न संहिताया भागभूतानि, अपितु कर्मकाण्डस्य सौकर्याय तत्र तत्र पठितानि। अयं चाभिप्रायो ग्रन्थकृता एवं स्पष्टीकृतः—'**अत्र लोकं ता इन्द्रम्' द्वादशाध्यायस्थानां त्रयाणां मन्त्राणां प्रतीकानि सूत्रव्याख्यानं दृष्ट्वा केनचिदुद्धृतानि** (यजुर्भाष्ये १३।५८)। एवमेव १४।१०,२२,३१ याजुषमन्त्राणां भाष्येऽप्युक्तम्। विशेषस्त्वत्र वेदवाण्याः '**वेदविषयकभ्रान्तिनिवारणाङ्के**' (वर्ष २४ अङ्क १) '**यजुर्वेद की मूलसंहिता**' नाम्न्यस्मदीये लेखे द्रष्टव्यः।

४. यजुर्वेद में क्वचित् उपलभ्यमान प्रतीकनिर्देश मूल यजुर्वेद के अंग नहीं हैं, यह ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद-भाष्य में कई स्थानों पर कहा है। यथा—(१) '**अत्र 'लोकं ता इन्द्रम्' द्वादशाध्यायस्थानां त्रयाणां मन्त्राणां प्रतीकानि सूत्रव्याख्यानं दृष्ट्वा केनचिदुद्धृतानि। शतपथेऽव्याख्यातत्वान्न गृह्यन्ते।** यजुर्भाष्य १३।५८॥ (२) इसी प्रकार अन्यत्र १४। १०, २२, ३१ मन्त्रों के भाष्य में भी कहा है। (३) अ० ३०। २७ की टिप्पणी में लिखा है—'इस मन्त्र के आगे '**महा०**' '**कदा०**' '**कदा०**' ये तीन मन्त्रप्रतीकें पूर्व अ० ७। ४०; ८। २, ३ के क्रम से तीन मन्त्रों की किसी कारणविशेष के लिये लिखी हैं।' (४) अ० ३४ में भी इसी प्रकार उल्लेख मिलता है। विशेष देखिए वेदवाणी वर्ष २४ अङ्क १ में '**यजुर्वेद की 'मूलसंहिता'**' शीर्षक हमारा लेख।

अग्निमीळे पुरोहितम् । अग्न आ याहि वीतय इति ॥[1]

यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टाभूत् तर्हि तेषामप्युदाहरणमदात् । अत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि । किन्तु यानि 'गौरश्वः' इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वेव[2] घटन्ते । कुतः, तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात् ।

'द्वितीया ब्राह्मणे ॥१॥' अ० २ । पा० ३ । सू० ६०॥

'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥२॥' अ० २ । पा० ३ । सू० ६२ ॥

'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ॥३॥' अ० ४ । पा० ३ । सू० १०५ ॥

इत्यष्टाध्याय्यां सूत्राणि

अत्रापि पाणिन्याचार्य्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादनं कृतम् । तद्यथा—पुराणैः प्राचीनैर्ब्रह्मादृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः[3] सन्ति, अत एवैतेषां पुराणेतिहाससंज्ञा कृतास्ति । यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टा भवेत् तर्हि 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' इत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात्[4] । कुतः, 'द्वितीया ब्राह्मणे' इति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात् । अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति । अतः किं सिद्धम् ? ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति । अत्र प्रमाणम्—

'ब्रह्म वै ब्राह्मणः, क्षत्रं राजन्यः ॥' श० कां १३ । अ० १ ॥[5]

'समानार्थावेतौ [वृषशब्दो वृषन्शब्दश्च][6] ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च ॥'

इति व्याकरणमहाभाष्ये । अ० ५ । पा० १ । आ० १ ॥[7]

चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि ।

अन्यच्च—कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात् सहचारोपाधिं[8] मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा [तस्य] संमतेति विज्ञायते[9], एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः, एवं तेनानुक्तत्वाद्, अतोऽन्यै-

१. महा० १। १। आ० १॥

२. एवशब्दोऽप्यर्थे ।

३. द्रष्टव्यं 'तस्य व्याख्यान इति च' इति पाणिनीये सूत्रे (४।३।६६) पुंस्त्वे प्रयोगः ।

४. पाठोऽयं व्यस्तः प्रतिभाति । ब्राह्मणशब्दानुवृत्तौ छन्दोग्रहणं मन्त्रार्थमुपपद्यते । सति च सार्थके ज्ञापकं न भवति । तेनात्र "यद्यत्र मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽभीष्टा भवेत् तर्हि वेदपर्य्यायं छन्दपदं 'द्वितीया ब्राह्मणे' इत्यत्रैव 'द्वितीया छन्दसि' रूपेण पठेत् । तदेवं ब्राह्मणग्रहणं व्यर्थं सज्ज्ञापयति न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञास्तीति ।" इत्येवं पाठेन भाव्यम् । ५. शत० १३।१।५।३॥ ६. प्रथमसंस्करणे मुद्रितोऽप्ययं पाठः संशोधनपत्रे निष्काशितः, पुनरपि महाभाष्ये सत्त्वात् वाक्यान्ते समुच्चयार्थकस्य चकारस्य पाठाच्चास्माभिः पुनः पठितः ।

७. महा० अ० ५, पाद १, सूत्र ७ ॥

८. व्याख्येयव्याख्यानरूपसाहचर्योपाधिं मत्वेति भावः ।

९. अत्र 'विज्ञायेत' इति युक्तः पाठो भवेत् । तथा सति वाक्यविन्यासोऽप्यञ्जसोपपद्यते । भाषानुवादेनाप्ययमेव पाठः समर्थ्यते

ऋषिभिरगृहीतत्वात्, [1]अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हतीति। **इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम्।**

भाषार्थ—ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं होने में व्याकरण महाभाष्य का भी प्रमाण है, जिसने लोक और वेदों के भिन्न-भिन्न उदाहरण दिये हैं। जैसे '**गौरश्वः०**' इत्यादि लोक के, और '**शन्नो देवीरभिष्टये**' इत्यादि वेदों के हैं। किन्तु वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया। और '**गौरश्वः**' इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं, वे सब ब्राह्मणपुस्तकों में भी घटते हैं।[2] क्योंकि उनमें ऐसा[3] ही पाठ है। इसी कारण से ब्राह्मण-पुस्तकों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती।

और कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेदसंज्ञा होने में वचन है, सो सहचार उपाधि-लक्षणा से किया हो, तो भी नहीं बन सकता। क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'उस लकड़ी को भोजन करा दो,' और दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकती, किन्तु जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उसको भोजन कराना चाहिये। इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता। क्योंकि [कात्यायन ने सहचार उपाधि का निर्देश नहीं किया, तथा] इसमें अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि 'ब्रह्म' नाम ब्राह्मण का है। सो ब्रह्मादि जो वेदों के जाननेवाले महर्षि लोग थे, उन्हीं के बनाये हुए ऐतेरेय, शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान हैं। इसी कारण से उनके किये ग्रन्थों का नाम 'ब्राह्मण' हुआ है। इससे निश्चय हुआ कि मन्त्रभाग की ही वेदसंज्ञा है, ब्राह्मणग्रन्थों की नहीं।

[4]किञ्च भोः! ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत् प्रामाण्यं कर्त्तव्यमाहोस्विन्नेति?

अत्र ब्रूमः— नैतेषां वेदवत् प्रामाण्यं कर्तुं योग्यमस्ति। कुतः? ईश्वरोक्ताभावात्, तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति। परन्तु सन्ति तानि परतःप्रमाणयोग्यान्येवेति।

भाषार्थ—प्र०—हम यह पूछते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों का भी वेदों के समान प्रमाण करना उचित है वा नहीं?

उ०—ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता। क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं$॥

इति वेदसंज्ञा-विचारः

१. 'सहचारोपाधिनाऽपि' इत्यर्थः।

२. वै० य० मुद्रित में 'पुस्तकों के हैं' अपपाठ है।

३. क्रमनिर्देश की व्यवस्था से रहित।

४. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

$ इसमें इतना भेद है कि जो ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं वेद से विरुद्ध हो, उसका प्रमाण करना किसी को न चाहिये। और ब्राह्मणग्रन्थों से विरोध आवे, तो भी वेदों का प्रमाण होता है॥ द. स.

अथ ब्रह्मविद्याविषयः

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ।

अत्रोच्यते—सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः । तत्रादिमा[1] ब्रह्मविद्या संक्षेपतः प्रकाश्यते—

'तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियंजि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम् ।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द् वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥१॥'

ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० १५ । मं० ५ ॥[2]

'तद्विष्णोः॑ पर॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सू॒रयः॑ । दि॒वी॑व॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥२॥'

ऋ० अ० १ । अ० २ । व० ७ । मं० ५ ॥[3]

अनयोरर्थः—(तमीशानम्) ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्त्ता, (जगतस्तस्थुषस्पतिं) जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिः स्वामी, (धियंजिन्वम्) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्त्ता, (अवसे हूमहे वयम्) तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः । (पूषा) पुष्टिकर्त्ता (नः) स एवास्माकं पुष्टिकारकोऽस्ति । (यथा वेदसामसद् वृधे) हे परमेश्वर ! यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे वर्धनाय भवानस्ति, तथैव कृपया (रक्षिताऽसत्[4]) रक्षकोऽप्यस्तु । एवं (पायुरदब्धः स्वस्तये) अस्माकं रक्षणे स्वस्तये सर्वसुखाय (अदब्धः) अनलसः सन् पालनकर्त्ता सदैवास्तु ॥१॥

तद्विष्णोरिति मन्त्रस्यार्थो वेदविषयप्रकरणे विज्ञानकाण्डे गदितस्तत्र द्रष्टव्यः[5] ॥२॥

भाषार्थ—प्र०—वेदों में सब विद्या हैं, वा नहीं ?

उ०—सब हैं । क्योंकि जितनी सत्यविद्या संसार में हैं, वे सब वेदों से ही निकली हैं । उनमें से पहिले ब्रह्मविद्या संक्षेप से लिखते हैं—

(तमीशानम्) जो सब जगत् का बनानेवाला है, (जगतस्तस्थुषस्पतिं) अर्थात् जगत् जो चेतन और तस्थुष जो जड़, इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करनेवाला है, (धियंजिन्वम्) जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्ति करनेवाला है, उसकी (अवसे हूमहे

---

१. आदिमा प्रथमा मुख्येत्यर्थः । सर्ववेदानां ब्रह्मण्येव तात्पर्यात् । एतच्च पूर्वं वेदविषय-विचारप्रकरणे विस्तरेण प्रतिपादितम् । २. ऋ० १।८९।५॥ ३. ऋ० १।२२।२०॥

४. पूर्वचरणे पठितस्य 'असत्' शब्दस्यानुषङ्गरूप इह पाठो ज्ञेयः । ५. पूर्वत्र ५२ तमे पृष्ठे द्रष्टव्यः ।

अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं। (पूषा नः) क्योंकि वह
वयम्) हम लोग आह्वान अर्थात् अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं। (यथा वेदसामसद् वृधे) हे परमेश्वर! जैसे आप अपनी
हमको सब सुखों से पुष्ट करनेवाला है। (यथा वेदसामसद् वृधे) हे परमेश्वर! जैसे आप अपनी
कृपा से हमारे सब पदार्थों और सुखों को बढ़ानेवाले हैं, वैसे ही (रक्षिता) सब की रक्षा भी
करें। (पायुरदब्धः स्वस्तये) जैसे आप हमारे रक्षक हैं, वैसे ही सब सुख भी दीजिये ॥१॥

(तद्विष्णो०) इस मन्त्र का अर्थ वेदविषयप्रकरण के विज्ञानकाण्ड में अच्छी प्रकार लिख दिया है, वहां देख लेना[1] ॥२॥

'परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥३॥
य० अ० ३२ । मं० ११ ॥

भाष्यम्—(परीत्य भू०) यः परमेश्वरो भूतान्याकाशादीनि परीत्य सर्वतोऽभिव्याप्य, सूर्य्यादींल्लोकान् परीत्य, पूर्वादिदिशः परीत्य, आग्नेयादिप्रदिशश्च परीत्य, परितः सर्वतः इत्वा प्राप्य विदित्वा च, (उपस्थाय प्र०) यः स्वसामर्थ्यस्याप्यात्मास्ति, यश्च प्रथमानि सूक्ष्मभूतानि[2] जनयति, तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वसामर्थ्येनान्तःकरणेनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा विदित्वा च (अभिसंविवेश)[3] आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोक्षाख्यं सुखमनुभवतीति ॥३॥

भावार्थ—(परीत्य भू०) जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा (परीत्य लोकान्) सूर्य्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है, (परीत्य सर्वाः०) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है, अर्थात् जिस की व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है, (ऋतस्या०) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है, (प्रथमजाम्) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करनेवाला है, उस आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है, वही उसको प्राप्त होके (अभि०) सदा मोक्षसुख को भोगता है ॥३॥

'महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥४॥
अथर्व० कां० १० । प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० ३८ ॥[4]

भाष्यम्—(महद्यक्षम्) यन्महत् सर्वेभ्यो महत्तरं यक्षं सर्वमनुष्यैः पूज्यम्, (भुवनस्य) सर्वसंसारस्य (मध्ये) परिपूर्णम्, (तपसि क्रान्तम्) विज्ञाने वृद्धम्, (सलिलस्य) अन्तरिक्षस्य कारणरूपेण कार्यस्य प्रलयानन्तरं (पृष्ठे) पश्चात् स्थितमस्ति, तदेव ब्रह्म विज्ञेयम्। (तस्मिञ्छ्रय०)

१. पूर्व पृष्ठ ५३ पर देखें। २. पञ्चतन्मात्रारूपाणीत्यर्थः। ३. वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु ( ) कोष्ठनिर्देशो नास्ति, व्याख्येयमन्त्रपदत्वादस्माभिरुभयतः कोष्ठनिर्देशः कृतः। ४. अथर्व १०।७।३८॥

तस्मिन् ब्रह्मणि ये के चापि देवास्त्रयस्त्रिंशद् वस्वादयस्ते सर्वे तदाधारेणैव तिष्ठन्ति। कस्य का इव ? (वृक्षस्य स्कन्धः०) वृक्षस्य स्कन्धे परितः सर्वतो लग्नाः शाखा इव ॥४॥

भाषार्थ—(महद्यक्षम्) ब्रह्म जो महत् अर्थात् सबसे बड़ा और सबका पूज्य है, (भुवनस्य मध्ये) जो सब लोकों के बीच में विराजमान और उपासना करने के योग्य है, (तपसि क्रान्तम्) जो विज्ञानादि गुणों में सबसे बड़ा है, (सलिलस्य पृष्ठे) सलिल जो अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है, उसका भी आधार और उसमें व्यापक, तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहने-वाला है, (तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवाः) जिसके आश्रय से वसु आदि पूर्वोक्त तैंतीस देव ठहरे हैं, (वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः) जैसे कि पृथिवी से वृक्ष का प्रथम अंकुर निकलके और वही स्थूल होके सब डालियों का आधार होता है, इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड का आधार वही एक परमेश्वर है ॥४॥

[1]'न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥५॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥६॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥७॥
[2][स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणिति यच्च न ॥]
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥८॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥९॥'

अथर्व० कां० १३। अनु० ४। मं० १६-१८,२०,२१॥[3]

भाष्यम्—(न द्वितीयो०) एतैर्मन्त्रैरिदं विज्ञायते परमेश्वर एक एवास्तीति। नैवातो भिन्नः कश्चिदपि द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः ॥ ५ ॥ पञ्चमः षष्ठः सप्तमः ॥ ६ ॥ अष्टमो नवमो दशमश्चे-श्वरो विद्यते ॥ ७ ॥

यतो नवभिर्नकारैर्द्वित्वसंख्यामारभ्य शून्यपर्यन्तेनैकमीश्वरं[4] विधायास्माद् भिन्नेश्वर-भावस्यातिशयतया निषेधो वेदेषु कृतोऽस्त्यतो द्वितीयस्योपासनमत्यन्तं निषिध्यते।

[5]सर्वान् अन्तर्यामितया प्राप्तः सन् जडं चेतनं च द्विविधं सर्वं जगत् स एव पश्यति, नास्य कश्चिद् द्रष्टास्ति। न चायं कस्यापि दृश्यो भवितुमर्हति।

---

१. इतः पूर्वं वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः। मन्त्रपाठारम्भे 'भाष्यम्' पदस्यासम्बधात्।

२. अयं मन्त्रोऽत्र लेखकप्रमादान्मुद्रणप्रमादाद् वा नष्टः। अस्य व्याख्यानं यथास्थानमुपलभ्यते।

३. अथर्व० १३। ४। १६-१८, २०, २१॥

४. प्रतिमन्त्रं 'य एतं देवमेकवृतं वेद' इत्यस्य पाठादेकेश्वरविधानं कृतमिति ग्रन्थकाराभिप्रायः।

५. इदं यस्य व्याख्यानं स मन्त्रो मन्त्रपाठे नष्टः। व्याख्या-दर्शनात् स मन्त्रोऽस्माभिर्यथास्थानं निर्दिष्टः।

येनेदं जगद् व्याप्तं तमेव परमेश्वरमिदं सकलं जगदपि (निगतम्) निश्चितं प्राप्तमस्ति,
व्यापकाद् व्याप्यस्य संयोगसंबन्धत्वात्। (सहः) यतः सर्वं सहते तस्मात् स एवैष सहोऽस्ति। स
खल्वेक एव वर्त्तते, न कश्चिद् द्वितीयस्तदधिकस्तत्तुल्यो वास्ति, एकशब्दस्य त्रिर्ग्रहणात्। अतः
सजातीयविजातीयस्वगतभेदराहित्यमीश्वरे वर्त्तत एव, द्वितीयेश्वरस्यात्यन्तनिषेधात्। कस्मात्?
एकवृदेक एवेत्युक्तत्वात् स एष एक एकवृत्, एकेन चेतनमात्रेण वस्तुनैव वर्तते। पुनरेक एवासहायः
सन् य इदं सकलं जगद् रचयित्वा धारयतीत्यादिविशेषणयुक्तोऽस्ति, तस्य सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥८॥

अस्मिन् सर्वशक्तिमति परमात्मनि सर्वे देवाः पूर्वोक्ता वस्वादय एकवृत एकाधिकरणा एव
भवन्ति, अर्थात् प्रलयानन्तरमपि तत्सामर्थ्यं प्राप्यैककारणवृत्तयो भवन्ति ॥९॥

एवंविधाश्चान्येऽपि ब्रह्मविद्याप्रतिपादकाः 'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायम्'[1] इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु
बहवः सन्ति। ग्रन्थाधिक्यभिया नात्र लिख्यन्ते। किन्तु यत्र यत्र वेदेषु ते मन्त्राः सन्ति, तत्तद्भाष्य-
करणावसरे तत्र तत्रार्थान् उदाहरिष्याम इति।

भाषार्थ—(न द्वितीयो न०) इन सब मन्त्रों से यह निश्चय होता है कि परमेश्वर एक ही
है, उससे भिन्न कोई न दूसरा, न तीसरा, न कोई चौथा परमेश्वर है ॥५॥ (न पञ्चमो न०) न
पांचवां, न छठा, और न कोई सातवां ईश्वर है ॥६॥ (नाष्टमो न०) न आठवां, न नवमा,
और न कोई दशमा ईश्वर है ॥७॥[2]

इन मन्त्रों में जो दो से लेके दश पर्य्यन्त अन्य ईश्वर होने का निषेध किया है, सो इस
अभिप्राय से है कि सब संख्या का मूल एक (१) अङ्क ही है। इसी को दो, तीन, चार, पांच, छः,
सात, आठ और नव वार गणने से २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ और ९ नव अङ्क बनते हैं। और एक
पर शून्य देने से १० का अङ्क होता है। उनसे एक ईश्वर का निश्चय कराके वेदों में दूसरे ईश्वर के
होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है।

[3][वही ब्रह्म सबको अन्तर्यामिता से प्राप्त होकर जड़ और चेतन दोनों प्रकार के सबजगत्
को देखता है, उसका द्रष्टा कोई नहीं है। और न यह किसी का दृश्य हो सकता है ॥]

(तमिदं०) किन्तु वह सदा एक अद्वितीय ही है। उससे भिन्न दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं।
अर्थात् उसके एकपने में भी भेद नहीं, और वह शून्य भी नहीं। किन्तु जो सच्चिदानन्दादि
लक्षणयुक्त, एकरस परमात्मा है, वही सदा से सब जगत् में परिपूर्ण होके, पृथिवी आदि सब लोकों
को रचके, अपने सामर्थ्य से धारण कर रहा है। तथा वह अपने काम में किसी का सहाय नहीं
लेता। क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है ॥८॥

१. यजुः ४०। ८॥ मन्त्रोऽयं पूर्वं ४२ तमे पृष्ठे व्याख्यातः।

२. वै० य० मुद्रित में यहां से आगे '(तमिदं)...... कोई भी नहीं' पाठ है। यह अस्थान में सम्बद्ध
है। संस्कृत पाठ में इस मन्त्र के व्याख्यान से पूर्व जो 'यतो नवभि......' पङ्क्ति है, उसका भाषार्थ 'इन मन्त्रों में
...... निषेध ही लिखा है।' उसे '(तमिदं०)...... कोई भी नहीं' से पूर्व होना चाहिये। अत एव हमने इसे
यथास्थान रख दिया है। ३. यह भाषार्थ यहां छूट गया है। संस्कृत में विद्यमान है।

(सर्वे अस्मिन्०) उसी परमात्मा के सामर्थ्य में वसु आदि सब देव, अर्थात् पृथिवी आदि लोक ठहर रहे हैं और प्रलय में भी उसके सामर्थ्य में लय होके उसी में कारणरूप से बने रहते हैं ॥ [६ ॥]

इस प्रकार के मन्त्र वेदों में बहुत हैं। यहां उन सबके लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं। क्योंकि [वेदभाष्य करते समय] जहां-जहां वे मन्त्र आवेंगे, वहां-वहां उनका अर्थ कर दिया जायगा ॥

इति ब्रह्मविद्याविषयविचारः



अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाश्यते

'सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥१॥

ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४९। मं० २॥'

भाष्यम्—(संगच्छध्वं०) ईश्वरोऽभिवदति—हे मनुष्या ! मयोक्तं न्याय्यं पक्षपातरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं धर्मं यूयं संगच्छध्वं सम्यक् प्राप्नुत, अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं विहाय परस्परं संगता भवत। येन युष्माकमुत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत, सर्वदुःखनाशश्च भवेत्। (सं वद०) संगता भूत्वा परस्परं जल्पवितण्डादिविरुद्धवादं विहाय संप्रीत्या प्रश्नोत्तरविधानेन संवादं कुरुत। यतो युष्मासु सम्यक् सत्यविद्याद्युत्तमगुणाः सदा वर्धेरन्। (सं वो मनांसि जानताम्) यूयं जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत, जानतां वो युष्माकं मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुत, अर्थाद् येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम्। युष्माभिर्धर्म एव सेवनीयो नाधर्मश्चेति। अत्र दृष्टान्त उच्यते—(देवा भागं यथा०) यथा पूर्वे संजानाना ये सम्यग् ज्ञानवन्तो देवा विद्वांस आप्ताः पक्षपातरहिता ईश्वरधर्मोपदेशप्रियाश्चासन्, युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्त्तन्ते, किंवा ये मृतास्ते यथाभागं भजनीयं सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं मदुक्तं धर्मं चोपासते, तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयः। यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत् ॥१॥

भाषार्थ—अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है—

(संगच्छध्वं) देखो, परमेश्वर हम सभों के लिये धर्म का उपदेश करता है, कि हे मनुष्य लोगो ! जो पक्षपातरहित, न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसी को ग्रहण करो, उससे विपरीत कभी मत चलो। किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़के परस्पर सम्मति में रहो, जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय, और किसी प्रकार का दुःख न हो। (संवदध्वं०) तुम लोग विरुद्धवाद को छोड़के परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना-पढ़ाना, प्रश्न-उत्तर सहित संवाद करो, जिसमे तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढ़ती रहे। (सं वो मनांसि जानताम्) तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो, जिससे तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे, जिससे तुम लोग ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहो। और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये, अधर्म का नहीं। (देवा भागं य०) जैसे पक्षपातरहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं, उसी प्रकार से तुम भी करो।

---

१. ऋ० १०। १९१। २॥

क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा, और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य-असत्य का यथावत् बोध होता है, अन्यथा नहीं ॥१॥

'स॒मा॒नो मन्त्र॒: समि॑तिः समा॒नी स॑मा॒नं मन॑: स॒ह चि॒त्तमे॑षाम् ।
स॒मा॒नं मन्त्र॑म॒भि म॑न्त्रये वः समा॒नेन॑ वो ह॒विषा॑ जुहोमि ॥२॥'

ऋ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४९ । मं० ३ ॥[1]

भाष्यम्—(समानो मन्त्रः) हे मानवा ! वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवी-पर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हति । तद्यथा राज्ञो मन्त्री सत्यासत्यविवेककर्त्तेत्यर्थः । सोऽपि सत्यज्ञानफलः, सर्वोपकारकः, समानस्तुल्योऽर्थाद् विरोधरहित एव भवतु । यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा संदिग्ध-पदार्थानां विचारः कर्त्तव्यो भवेत्, तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुः, तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यद्यत् सर्वमनुष्यहितकारकं सद्गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात्, तत्तत् सर्वं ज्ञात्वैकत्र कृत्वा नित्यं समाचरत । यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तमं सुखं वर्धेत । तथा (समितिः समानी) समितिः सामाजिकनियमव्यवस्था, अर्थाद् या न्यायप्रचाराढ्या, सर्वमनुष्याणां मान्या ज्ञानप्रदा, ब्रह्मचर्यविद्याभ्यासशुभगुणसाधिका, शिष्टसभ्या राज्यप्रबन्धाद्याह्लादिता परमार्थव्यवहारशोधिका, बुद्धिशरीरबलारोग्यवर्धिनी शुभमर्य्यादापि समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्र-[2] दानसुखवर्धनायैकरसैव कार्य्येति । (समानं मनः०) मनः संकल्पविकल्पात्मकं, संकल्पोऽभिलाषेच्छेत्यादि, विकल्पोऽप्रीतिर्द्वेष इत्यादि । शुभगुणान् प्रति संकल्पः, अशुभगुणान् प्रति विकल्पश्च रक्षणीयः । एतद्धर्मकं युष्माकं मनः समानमन्योन्यमविरुद्धस्वभावमेवास्तु । यच्चित्तं पूर्वपरानुभूतं[3] स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात् सर्वप्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत् सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्य्यम् । (सह) युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम् । (एषाम्) ये ह्येषां सर्वजीवानां सङ्गे स्वात्मवद् वर्त्तन्ते, तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातॄणा-मुपर्य्यहं कृपालुर्भूत्वा (अभिमन्त्रये वः) युष्मान् पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञापयामि । इत्थमेव सर्वैः कर्त्तव्यमिति, येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचित् सत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत् । (समानेन वो०) हविर्दानं ग्रहणं च, तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्य्यम् । तेन समानेनैव हविषा वो=युष्मान् जुहोमि=सत्यधर्मेण सहैवाहं सदा नियोजयामि । अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति ॥२॥

भाषार्थ—(समानो मन्त्रः) हे मनुष्य लोगो ! जो तुम्हारा मन्त्र, अर्थात् सत्य असत्य का विचार है वह समान हो, उसमें किसी प्रकार का विरोध न हो । और जब-जब तुम लोग मिलके विचार करो, तब-तब सबके वचनों को अलग-अलग सुनके जो-जो धर्मयुक्त और जिसमें सब का

[1] ऋ० १०।१९१।३॥

[2] अत्र '०स्वातन्त्र्यदान०' इत्येवं '०स्वतन्त्रतादान०' इत्येवं वा साधुतरं स्यात् । अथवा विनापि भावप्रत्ययं भावप्रधाननिर्देशो ज्ञेयः ।

[3] 'पूर्वपरानुभूतस्मरणात्मकं' इत्येवं समस्तः पाठो युक्तः स्यात् ।

हित हो, सो-सो सब में से अलग करके, उसी का प्रचार करो, जिससे तुम सभों का बराबर सुख
बढ़ता जाय। (समितिः समानी) और जिसमें सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य
आदि आश्रम, अच्छे-अच्छे काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना,
और जिससे बुद्धि, शरीर, बल, पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों, ऐसी
जो उत्तम मर्य्यादा है, सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो, जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम
सिद्ध होते जायं। (समानं मनः सह चित्तम्) हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा मन भी आपस में विरोध-
रहित, अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य
पुरुषार्थवाला हो। शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को 'संकल्प' और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा
को 'विकल्प' कहते हैं, जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है, उसका नाम 'मन' है। उससे सदा
पुरुषार्थ करो, जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो। तथा 'चित्त' उसको कहते हैं, कि
जिससे सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो, वह भी तुम्हारा एक सा
हो। 'सह' जो तुम्हारा मन और चित्त है, ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें।
(एषाम्) इस प्रकार से जो मनुष्य सबका उपकार करने और सुख देनेवाले हैं, मैं उन्हीं पर सदा
कृपा करता हूं। (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः) अर्थात् मैं उनके लिये आशीर्वाद और आज्ञा देता
हूं कि सब मनुष्य मेरी इस आज्ञा के अनुकूल चलें, जिससे उनका सत्य धर्म बढ़े और असत्य का
नाश हो। (समानेन वो हविषा जुहोमि) हे मनुष्य लोगो ! जब-जब कोई पदार्थ किसी को दिया
चाहो अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो, तब-तब धर्म से युक्त ही करो। उससे विरुद्ध व्यवहार
को मत करो। और यह बात निश्चय करके जान लो कि मैं सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे
साथ सत्य का संयोग करता हूं। इसलिये कि तुम लोग इसी को धर्म मानके सदा करते रहो, और
इससे भिन्न को धर्म कभी मत मानो ।।२।।

'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।३।।'
ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४९। मं० ४।।'

भाष्यम्—अस्यायमभिप्रायः—हे मानवा ! वो युष्माकं यत्सर्वं सामर्थ्यमस्ति तद्धर्मसंबन्धे
परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति।

(समानी व०) आकूतिरध्यवसाय उत्साह आप्तरीतिर्वा सापि वो युष्माकं परस्परोपकार-
करणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु। यथा मदुपदिष्टस्यास्य धर्मस्य विलोपो न स्यात् तथैव
कार्य्यम्। (समाना हृदयानि वः) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान्मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि निर्वैराय
समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु। (समानमस्तु वो मनः) अत्र प्रमाणम्—'कामः संकल्पो विचिकित्सा
श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजा-
नाति ।।' श० कां० १४। अ० ४ ।।[२] मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम्। शुभगुणानामिच्छा

१. ऋ० १।१९१।४।।

२. शत० १४।४।३।९।।

'कामः', तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा 'संकल्पः'। पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छा[रूपः] संशयो 'विचिकित्सा'। ईश्वरसत्यधर्मादिगुणानामुपर्य्यत्यन्तं विश्वासः 'श्रद्धा'। अनीश्वरवादाधर्माद्युपरि सर्वथा ह्यनिश्चयो'ऽश्रद्धा'। सुखदुःखप्राप्त्यापीश्वरधर्माद्युपरि सदैवनिश्चयरक्षणं 'धृतिः'। अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्य्यमित्यधैर्य्यम् 'अधृतिः'। सत्यधर्मानाचरणेऽसत्याचरणे मनसः संकोचो घृणा 'ह्रीः'। शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति धारणावती वृत्तिः 'धीः'। असत्याचरणादीश्वराज्ञाभङ्गात् पापाचरणाद् ईश्वरो नः सर्वत्र पश्यतीत्यादि [मत्वा भय]वृत्तिः 'भीः'—एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु। (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्या! वो युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वसति सम्यक् सुखोन्नतिः स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः। सर्वान् सुखिनो दृष्ट्वा चित्त आह्लादः कार्य्यः। नैव कञ्चिदपि दुःखितं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्त्तव्यम्, किन्तु यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्य्यमिति ॥३॥

भाषार्थ—(समानी व आकूतिः) ईश्वर इस मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है, उसको धर्म के साथ मिलाके सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो। निश्चय उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को 'आकूति' कहते हैं। हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो, जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो। और सदा वैसा ही प्रयत्न करते रहो कि जिससे (समाना हृदयानि वः) तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहें। (समानस्तु वो मनः) मनः शब्द का अनेक वार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायं—(कामः) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना, इसका नाम 'काम' है। (संकल्पः)—जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है उसको 'संकल्प' कहते हैं। (विचिकित्सा)—जो-जो काम करना हो उस-उस को प्रथम शङ्का कर-कर के ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है, उसका नाम 'विचिकित्सा' है। (श्रद्धा)—जो ईश्वर और सत्यधर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है, उसको 'श्रद्धा' जानना। (अश्रद्धा)—अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने, और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम 'अश्रद्धा' समझना चाहिये। (धृतिः)—जो सुखः-दुःख, हानि-लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना, उसका नाम 'धृति' है। (अधृतिः)—बुरे कामों में दृढ़ न होने को 'अधृति' कहते हैं। (ह्रीः)—अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है, उसको 'ह्रीः' कहते हैं। (धीः)—जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करनेवाली वृत्ति है उसको 'धीः' कहते हैं। (भीः)—जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उससे उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना, अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जानकर उससे सदा डरना, कि मैं जो पाप करूंगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा [इस को 'भी' कहते हैं।]—इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम 'मन' है। इसको सब प्रकार से सबके सुख के लिये युक्त करो। (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्मसेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो, और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में

में एक से दूसरे को सुख बढ़े, ऐसा काम सब दिन करते रहो। किसी को दुःखी देखके अपने मन में सुख मत मानो, किन्तु सबको सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो। जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें, वैसा ही यत्न करते रहो ॥३॥

'दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥४॥' य० अ० १९। मं० ७७॥

भाष्यम् - (दृष्ट्वा०) अस्यायमभिप्रायः—प्रजापतिः परमेश्वरो धर्ममुपदिशति—सर्वैर्मनुष्यैः सर्वथा सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीयाऽसत्ये चाश्रद्धेति।

(प्रजापतिः) परमेश्वरः (सत्यानृते) धर्माधर्मौ (रूपे) प्रसिद्धाप्रसिद्धलक्षणौ दृष्ट्वा (व्याकरोत्) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति। कथमित्यत्राह—(अश्रद्धाम०) सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्येऽधर्मेऽन्यायेऽश्रद्धामदधात्, अर्थादधर्मेऽश्रद्धां कर्तुमाज्ञापयति। तथैव वेदशास्त्रप्रतिपादिते सत्ये, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षिते, पक्षपातरहिते न्याय्ये धर्मे प्रजापतिः सर्वज्ञ ईश्वरः श्रद्धां चादधात्। एवं सर्वैर्मनुष्यैः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च सदैव कार्य्यमिति ॥४॥

भाषार्थ—(दृष्ट्वा०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है, वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं।

(प्रजापतिः) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है, सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है, जिनके प्रकट और गुप्त लक्षण हैं$ (व्याकरोत्) उनको ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक-ठीक विचार से देखके सत्य और झूठ को अलग-अलग किया है। सो इस प्रकार से हैं कि (अश्रद्धाम०) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में अश्रद्धा अर्थात् प्रीति कभी मत करो। वैसा ही (श्रद्धां स०) सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त, और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो, वा की जाय, वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है, उसके आचरण में सब दिन प्रीति रक्खो। और जो-जो तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है, उस-उस में अपने आत्मा प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो ॥४॥

'दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥५॥
य० अ० ३६। मं० १८॥

$ जितना धर्म अधर्म का लक्षण बाहर की चेष्टा के साथ सम्बन्ध रखता है वह प्रकट, और जितना आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है वह गुप्त कहाता है ॥ द० स०

भाष्यम्—(दृते दृꣳह०) अस्यायमभिप्रायः—सर्वे मनुष्याः सर्वथा सर्वदा सर्वैः सह सौहार्द्देनैव वर्त्तेरन्निति। सर्वैरीश्वरोक्तोऽयं धर्मः स्वी.कार्य्यः, ईश्वरः प्रार्थनीयश्च, यतो धर्मनिष्ठा स्यात्। तद्यथा—

हे (दृते) सर्वदुःखविनाशकेश्वर! मदुपरि कृपां विधेहि, यतोऽहं सत्यधर्मं यथावद् विजानीयाम्। पक्षपातरहितस्य सुहृदश्चक्षुषा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि (मा) मां सदा समीक्षन्ताम् अर्थान्मम मित्राणि भवन्तु, इतीच्छाविशिष्टं मां (दृꣳह) दृंह, सत्यसुखैः शुभगुणैश्च सह सदा वर्धय। (मित्रस्याहं०) एवमहमपि मित्रस्य चक्षुषा स्वात्मवत् प्रेमबुद्ध्या (सर्वाणि भूतानि समीक्षे) सम्यक् पश्यामि। (मित्रस्य च०) इत्थमेव मित्रस्य चक्षुषा निर्वैरा भूत्वा वयमन्योऽन्यं समीक्षामहे, सुखसंपादनार्थं सदा वर्त्तामहे। इतीश्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वैर्मनुष्यैरेक एव मन्तव्यः ॥५॥

भाषार्थ—(दृते दृꣳह०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्तें। और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है, उसी को ग्रहण करें। और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें,कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो।

(दृते०) हे सब दुःखों के नाश करनेवाले परमेश्वर! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्तें। (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझको अपना मित्र जानके बन्धु के समान वर्त्तें। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृꣳह) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये। (मित्रस्याहं०) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं, और हानि-लाभ, सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं। (मित्रस्य च०) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रखें, और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है, यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है ॥५॥

अग्ने॑ व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छ॑केयं तन्मे॑ राध्यताम्।
इदमहमनृ॑तात् सत्यमुपैमि ॥६॥ य० अ० १। मं ५॥

भाष्यम्—(अग्ने व्र०) अस्यायमभिप्रायः—सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्य सहायेच्छा सदा कार्येति। नैव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं तस्यानुष्ठानपूर्त्तिश्च भवतः।

हे अग्ने व्रतपते! सत्यपते! (व्रतम्) सत्यधर्मं चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि। अत्र प्रमाणम्—सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। श० कां १। अ० १॥[1] **सत्याचरणाद् देवा असत्याचरणान्मनुष्याश्च भवन्ति, अतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुरिति। (तच्छकेयम्) यथा तत् सत्याचरणं धर्मं कर्तुमहं शकेयं समर्थो भवेयम्, (तन्मे राध्यताम्) तत्**

१. शत० १।१।१।४,५॥

सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यतां कृपया सम्यक् सिद्धं क्रियताम् । किंच तद् व्रतमित्यत्राह—(इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि) यत् सत्यधर्मस्यैवाचरणमनृतादसत्याचरणादधर्मात् पृथग्भूतं तदेवोपैमि प्राप्नोमीति । अस्यैव धर्मस्यानुष्ठानमीश्वरप्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्त्तव्यम्, नापुरुषार्थिनं मनुष्यमीश्वरोऽनुगृह्णाति । यथा चक्षुष्मन्तं दर्शयति नान्धं च, एवमेव धर्मं कर्तुमिच्छन्तं पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं प्रत्येवेश्वरः कृपालुर्भवति नान्यं प्रति चेति । कुतः ? जीवे तत्सिद्धिं कर्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रक्षितत्वात्, तदुपयोगकरणाच्च[1] । येन पदार्थेन यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्यस्तावान् स्वेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कार्य्येति ॥६॥

भाषार्थ (अग्ने व्र०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें, क्योंकि उसके सहाय के विना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उसका अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सकता ।

हे सत्यपते परमेश्वर ! (व्रतम्) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूं, उसकी सिद्धि आपकी कृपा से ही हो सकती है । इसी मन्त्र का अर्थ शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि—"जो मनुष्य सत्य के आचरणरूप व्रत को करते हैं वे 'देव' कहाते हैं, और जो असत्य का आचरण करते हैं उनको 'मनुष्य' कहते हैं ।" इससे मैं उस सत्यव्रत का आचरण किया चाहता हूं । (तच्छकेयम्) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूं । (तन्मे राध्यताम्) उस अनुष्ठान की सिद्धि करनेवाले एक आप ही हो । सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये । (इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि) सो यह व्रत है कि जिसको मैं निश्चय से चाहता हूं । उन सब असत्य कार्यों से छूटके सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूं ।

परन्तु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है, उतना पुरुषार्थ अवश्य करें । उसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये । क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये । जैसे कोई मनुष्य आंखवाले पुरुष को ही किसी चीज को दिखला सकता है, अंधे को नहीं, इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है, उस पर ईश्वर भी कृपा करता है, अन्य पर नहीं । क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं । जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है, तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है, अन्य पर नहीं । क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और उनके[2] फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं ॥६॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥७॥ य० अ० १९ । मं० ३० ॥

---

१. वै० य० मुद्रिते 'तदुपयोगाकरणाच्च' इत्यपपाठः । २. वै० य० मुद्रित में 'पापों के' अपपाठ है ।

भाष्यम्—(व्रतेन दी०) अस्याभिप्रायः—यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते, सत्यं चिकीर्षति, तदैव सत्यं विजानाति, तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयम् नासत्ये चेति ।

यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति, तदा दीक्षामुत्तमाधिकारं प्राप्नोति । (दीक्षयाप्नोति द०) यदा दीक्षितः सन्नुत्तमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति, तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति, साऽस्य दक्षिणा भवति । तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति । (दक्षिणा श्र०) सा दक्षिणा यदा ब्रह्मचर्य्यादिसत्यव्रतैः सत्काराढ्या स्वस्यान्येषां च भवति, [तदा] तदाचरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति । कुतः ? सत्याचरणमेव सत्कारकारकमस्त्यतः । (श्रद्धया०) यदोत्तरोत्तरं श्रद्धा वर्धते[1], तदा तया श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं चाप्यते प्राप्यते, नान्यथेति । अतः किमागतम् ? सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादिपुरुषार्थो वर्धयितव्यः ॥७॥

भाषार्थ—(व्रतेन दी०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि--जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है, तभी सत्य को जानता है। उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये, असत्य में नहीं।

(व्रतेन०) जो मनुष्य सत्य के आचरण का दृढ़ता से करता है, तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है। (दीक्षयाप्नोति०) जब मनुष्य उत्तमगुणों से युक्त होता है, तब सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्म आदि शुभगुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। (दक्षिणा श्र०) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है। क्योंकि सत्यधर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार करानेवाला है। (श्रद्धया०) फिर सत्य के आचरण में जितनी-जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है, उतना-उतना ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ, कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायं, जिससे सत्यधर्म की यथावत् प्राप्ति हो ॥७॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तऋते श्रिता ॥८॥[2]
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥९॥

अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । मं० १,२ ॥[3]

भाष्यम्—(श्रमेण तपसा०) अभिप्रायः—श्रमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि प्रकाश्यन्त इति ।

---

१. अत्र 'वर्धते' इति युक्तः पाठः स्यात् ।

२. प्रथमसंस्करणे इत आरभ्यैकसंख्या सर्वत्राधिका दृश्यते । तत्र कारणं मृग्यम् । उत्तरत्र राजप्रजाधर्मप्रकरणेऽपीत्थमेवैकस्याः संख्याया भेद उपलभ्यते । तत्र तु हस्तलेखे लिखितस्य सव्याख्यस्य मन्त्रस्य मुद्रणजन्यप्रमादेन त्यागात् भेद उपपन्नः । ३. अथर्व १२ । ५ । १, २ ॥ ग्रन्थकारेणाथर्ववेदस्य सर्वे पाठा रार्थह्विटनीभ्यां संशोधितात् संस्करणाद् उद्धृता इति ज्ञेयम् ।

श्रमः प्रयत्नः पुरुषार्थ उद्यम इत्यादि, तपो धर्मानुष्ठानम् । तेन श्रमेणैव तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा[1] रचिताः । अतः (ब्रह्मणा०) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः । (ऋते श्रिता०) ऋते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिता[1] ऋतं सेवमानाश्च सदैव भवन्तु ॥८॥

(सत्येनावृ०) वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेनाव्यभिचारिणा सत्येनावृता[1] युक्ताः सर्वे मनुष्याः सन्तु । (श्रिया प्रावृ०) श्रिया शुभगुणाचरणोज्ज्वलया चक्रवर्त्तिराज्यसेवमानया प्रकृष्टया लक्ष्म्याऽऽवृता[1] युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु । (यशसा०) उत्कृष्टगुणग्रहणं सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतो वृता[1] युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च स्युः ॥९॥

भाषार्थ—(श्रमेण तपसा०) इन मन्त्रों के अभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को (श्रमेण०) इत्यादि धर्म के लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये ।

क्योंकि ईश्वर ने (श्रम०) जो परम प्रयत्न का करना, और (तप:०) जो धर्म का आचरण करना है, इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है । इस कारण से (ब्रह्मणा) ब्रह्म जो वेदविद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने-अपने ज्ञान को बढ़ावें । (ऋते श्रिता) सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म, सत्यविद्या और धर्माचरण इत्यादि शुभ गुणों का सेवन करें ॥८॥

(सत्येनावृता) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों । (श्रिया प्रावृता) हे मनुष्य लोगो ! तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके, चक्रवर्तिराज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके, अतिश्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त होके, शोभारूप श्री को सिद्ध करके, उसको[2] चारों ओर पहिनके शोभित हो । (यशसा परी०) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये ॥९॥

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥१०॥
ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥११॥

अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । मं० ३,७॥[3]

भाष्यम्—(स्वधया परि०) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः[4] स्युः । (श्रद्धया प०) सत्यमेव विश्वासमूलमस्ति नासदिति, तया सत्योपरि दृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वत ऊढाः[4] प्राप्तवन्तः सन्तु । (दीक्षया गुप्ता)

---

१. ग्रन्थकारमतेऽनयोर्मन्त्रयोः 'सृष्टाः श्रिताः आवृताः प्रावृताः परीवृताः' इत्येतानि पदानि बहुवचनान्तानि, तथैव व्याख्यानात् । संहिता-पदपाठानुसारं तु आबन्ताः । संस्कारविधावप्ययं ग्रन्थकार इत्थमेव मेने (द्र०—पृष्ठ २२६,२२७, रामलालकपूरट्रस्ट सं० ३) ।

२. 'उससे चारों ओर से आच्छादित होके शोभित होवो' पाठ अधिक युक्त है ।

३. अथर्व १२ । ५ । ३, ७ ॥

४. अस्मिन्नपि मन्त्रे ग्रन्थकारमते 'परिहिताः, पर्यूढाः, गुप्ताः, प्रतिष्ठिताः' इत्येतानि पदानि बहुवचनान्तानि । तथैव स संस्कारविधावपि व्याख्यायाति (द्र०—पृष्ठ २२७, सं०३) ।

सद्भिराप्तैर्विद्वद्भिः कृतसत्योपदेशया दीक्षया गुप्ता रक्षिता[२], सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः। (यज्ञे प्रतिष्ठिता[२]) यज्ञो वै विष्णुः[३] व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रिया-कुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः[१] प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु। (लोको निधनम्) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत् तावत् सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्त्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमिती-श्वरोपदेशः ॥१०॥

अन्यच्च—(ओजश्च) न्यायपालनान्वितः पराक्रमः, (तेजश्च) प्रगल्भता धृष्टता निर्भयता निर्दीनता सत्ये व्यवहारे कर्त्तव्या। (सहश्च) सुखदुःखहानिलाभादिक्लेशप्रदवर्त्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं, तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं[४] सर्वैः सदा कर्त्तव्यम्। (बलं च) ब्रह्म-चर्य्यादिसुनियमाचरणेन शरीरबुद्ध्यादिरोगनिराकरणं, दृढाङ्गतानिश्चलबुद्धित्वसम्पादनं, भीषणा-दिकर्मयुक्तं[५] बलं च कार्य्यमिति। (वाक् च) विद्याशिक्षासत्यमधुरभाषणादिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्य्येति। (इन्द्रियं च) मनआदीनि वाग्भिन्नानि षड्ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणामु-पलक्षणेन कर्मेन्द्रियाणि च, सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद् व्यतिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि। (श्रीश्च) सम्राड्राज्यश्रीः परमपुरुषार्थेन कार्य्येति। (धर्मश्च) अयमेव वेदोक्तो न्याय्यः पक्षपात-रहितः सत्याचरणयुक्तः सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः। अस्यैवेयं पूर्वा परा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम् ॥११॥

भाषार्थ—(स्वधया परिहिता) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही पदार्थों का धारण करें। इस अमृतरूप व्यवहार से सदा युक्त हों। (श्रद्धया पर्य्यूढा) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों। क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल, तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं। (दीक्षया गुप्ता) विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हों, और मनुष्य आदि प्राणियों की रक्षा में परम पुरुषार्थ करें। (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञ जो सबमें व्यापक अर्थात् परमेश्वर, अथवा सब संसार का उपकार करनेवाला अश्वमेधादि यज्ञ, अथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध करके उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें। (लोको नि०) जब तक तुम लोग जीते रहो, तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो, किन्तु इसमें आलस्य कभी मत करो। ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है ॥१०॥

(ओजश्च) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम, (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना, (सहश्च) सुख-दुःख हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि

---

१. द्रष्टव्या पूर्वपृष्ठस्था चतुर्था टिप्पणी।

२. पूर्वत्र (दीक्षया गुप्ता) इत्यत्राकारान्तपाठदर्शनादिहापि तथैव युक्तः प्रतिभाति, तत्र वा सविसर्गः पाठः प्रकल्पनीयः।

३. शत० १३।१।८।८॥ कौ० ब्रा० ४।२॥

४. 'सहनं च' इत्येवं युक्तः स्यात्। द्र०—उत्तरत्र 'बलं च कार्यम्' पाठः।

५. भीषणं भयजनकमात्रमिहाभिप्रेतम्, न तु हिंसादिरूपं क्रूरं कर्म।

छोड़के सत्यधर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, (बलं च) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना, (वाक् च) सत्य विद्या की शिक्षा, सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना, (इन्द्रियं च) जो मन पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं, उनको पाप कर्मों से रोकके सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना, (श्रीश्च) चक्रवर्तिराज्य की सामग्री को सिद्ध करना, (धर्मश्च) जो वेदोक्त न्याय से युक्त होके पक्षपात को छोड़के सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है, तथा जो सबका उपकार करनेवाला, और जिसका फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है उसी को 'धर्म', और उससे उलटा करने को 'अधर्म' कहते हैं। उसी धर्म की यह सब व्याख्या है कि जो **'संगच्छध्वं०'**[1] इस मन्त्र से लेके **'यतोऽभ्युदय०'**[2] इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं, वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं ॥११॥

ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॑ रा॒ष्ट्रं च॒ विश॑श्च॒ त्विषि॑श्च॒ यश॑श्च॒ वर्च॑श्च॒ द्रवि॑णं च ॥१२॥
आयु॑श्च रू॒पं च॒ नाम॑ च की॒र्तिश्च॑ प्रा॒णश्चा॑पा॒नश्च॒ चक्षु॑श्च॒ श्रोत्रं॑ च ॥१३॥
पय॑श्च॒ रस॒श्चान्नं॑ चा॒न्नाद्यं॑ च ऋ॒तं च॑ स॒त्यं चे॒ष्टं च॑ पू॒र्तं च॑ प्र॒जा च॑ प॒शव॑श्च ॥१४॥
अथर्व कां० १२। अनु० ५। मं० ८-१०॥[3]

इत्याद्यनेकमन्त्रप्रमाणैर्धर्मो[4] **वेदेष्वीश्वरेणैव सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति।**

भाष्यम्—(ब्रह्म च) ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुणप्रचारकरणत्वं च ब्राह्मणलक्षणं, तच्च सदैव वर्धयितव्यम् (क्षत्रं च) क्षत्रियोपलक्षणं विद्याचातुर्य्यशौर्यधैर्यवीरपुरुषान्वितं च सदैवोन्नेयम्, (राष्ट्रं च) सत्पुरुषसभया सुनियमैः सर्वसुखाढ्यं शुभगुणान्वितं च राज्यं सदैव कार्य्यम्, (विशश्च) वैश्यादिप्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोले ह्यव्याहतगतिसंपादनेन[5] **व्यापाराद् धनवृद्ध्यर्थं संरक्षणं च कार्य्यम्, (त्विषिश्च) दीप्तिः शुभगुणानां प्रकाशः, सत्यगुणकामना च शुद्धा प्रचारणीयेति, (यशश्च) धर्मान्विताऽनुत्तमा कीर्तिः संस्थापनीया, (वर्चश्च) सद्विद्याप्रचारः सम्यगध्ययनाध्यापनप्रबन्धः कर्म सदा कार्य्यम्, (द्रविणं च) अप्राप्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्छा कार्य्या, प्राप्तस्य संरक्षणं, रक्षितस्य वृद्धिर्वृद्धस्य सत्कर्मसु व्ययश्च योजनीयः**[6]**। एतच्चतुर्विधपुरुषार्थेन धनधान्योन्नतिसुखे सदैव कार्य्ये ॥१२॥**

(आयुश्च) वीर्य्यादिरक्षणेन भोजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्य्यसुसेवनेनायुर्बलं कार्य्यम्, (रूपं च) निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सौन्दर्य्यादिगुणयुक्तं स्वरूपं रक्षणीयम्, (नाम च)

---

१. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ १११।
२. एतत्प्रकरणान्ते सूत्रमिदं व्याख्यास्यते।
३. अथर्व० १२।५।८-१०॥
४. 'धर्मोपदेशो०' इति प्रथमसंस्करणे मुद्रितस्तत्रैव च संशोधनपत्रेऽपमृष्टः पाठो शताब्दीसंस्करणे षष्ठसप्तमाष्टमसंस्करणेषु च पुनर्निवेशितः।
५. विशामव्याहतगतिः सम्पादनाय राष्ट्रस्य बलवती शक्तिरपेक्षते, तदैव विशां संरक्षणं सम्भवति, न शक्तिराहित्ये।
६. अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः। रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ मनु० ७।९९॥

सत्कर्मानुष्ठानेन नामप्रसिद्धिः कार्य्या, यतोऽन्यस्यापि सत्कर्मसूत्साहवृद्धिः स्यात्, (कीर्तिश्च) सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुपदेशार्थं कीर्त्तनं, स्वसत्कीर्त्तिमत्त्वं च सदैव कार्य्यम्, (प्राणश्चापानश्च) प्राणायामरीत्या प्राणापानयोः शुद्धिबले कार्य्ये। शरीराद् बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स 'प्राणः', बाह्याद् देशाच्छरीरं प्रविशति स 'वायुरपानः'[1], शुद्धदेशनिवासादिनैनयोः प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां [च] बुद्धिः शारीरबलं च संपादनीयम्, (चक्षुश्च श्रोत्रं च) चाक्षुषं प्रत्यक्षं, श्रौत्रं शब्दजन्यं, चाद् अनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथावद् वेदितव्यानि, तैः सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्य्यम् ॥१३॥

(पयश्च रसश्च) पयो जलादिकं, रसो दुग्धघृतादिश्चैतौ वैद्यकरीत्या सम्यक् शोधयित्वा भोक्तव्यौ, (अन्नं चान्नाद्यं च) अन्नमोदनादिकम्, अन्नाद्यं भोक्तुमर्हं शुद्धं संस्कृतमन्नं संपाद्यैव भोक्तव्यम्, (ऋतं च सत्यं च) ऋतं ब्रह्म सर्वदैवोपासनीयम्, सत्यं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा सत्यमेव वक्तव्यं मन्तव्यं च, (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं यज्ञानुष्ठानं च, पूर्त्तं तु यत्पूर्य्यं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक् पुरुषार्थेनैव सर्ववस्तुसंभारैश्चोभयानुष्ठानपूर्त्तिः कार्येति, (प्रजा च पशवश्च) प्रजा सन्तानादिका राज्यं च सुशिक्षाविद्यासुखान्विता, हस्त्यश्वादयः पशवश्च सम्यक् शिक्षान्विताः[2]। बहुभिश्चकारैरन्येऽपि शुभगुणा अत्र ग्राह्याः ॥१४॥

भाषार्थ—(ब्रह्म च) सबसे उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करनेवालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना, उनसे विद्या का प्रचार कराना। और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें। (क्षत्रं च) अर्थात् सब कामों में चतुरता, शूरवीरपन, धीरज, वीरपुरुषों से युक्त सेना का रखना, दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना, इत्यादि गुणों के बढ़ानेवाले पुरुषों को क्षत्रियवर्ण का अधिकार देना। (राष्ट्रञ्च) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना, और उत्तम गुणसहित होके सब कामों को सदा सिद्ध करना चाहिये। (विशश्च) वैश्य आदि वर्णों को व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने-आने का प्रबन्ध करना, और उनकी अच्छी रीति से रक्षा करनी अवश्य है, जिससे धनादि पदार्थों की संसार में बढ़ती हो। (त्विषिश्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये। (यशश्च) उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्ति को बढ़ाना उचित है। (वर्चश्च) सत्यविद्याओं के प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने-पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिये। (द्रविणं च) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रक्षा यथावत् करनी चाहिये, रक्षा किये पदार्थों की सदा बढ़ती करना, और सत्यविद्या के प्रचार आदि कामों में बढ़े हुए धनादि पदार्थों का खरच यथावत् करना चाहिये।[3] इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढ़ाके सुख को सदा बढ़ाते जाओ ॥१२॥

---

१. प्राणापानयोरयमेवार्थः प्राचीनः। तथाहि—**योऽयमूर्ध्वमाक्रामत्येष वाव स प्राण, अथ योऽयमवाङ् संक्रामत्येष वाव सोऽपानः**। मैत्रायणीय आरण्यक २।६॥ तथा सायणोऽप्यथर्वभाष्ये (१८।२।४६) स्पष्टमाह—**मुखनासिकाभ्यां बहिर्निस्सरन् वायुः प्राणः, अन्तर्गच्छन्नपानः**। आधुनिकास्तु विपर्ययं संगिरन्ते।

२. 'कार्याः' इति शेषः। ३. द्र०—मनु ७।९९ श्लोक पूर्व पृष्ठ १२१ टि० ६ में निर्दिष्ट।

(आयुश्च) वीर्य आदि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना, तथा युक्तिपूर्वक ही भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ। (रूपं च) अत्यन्त विषय-सेवन[1] से पृथक् रहके और शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना। (नाम च) उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये, जिससे अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो। (कीर्तिश्च) श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो, जिससे तुम्हारा भी यश बढ़े। (प्राणश्चापानश्च) जो वायु भीतर से बाहर आता है उसको 'प्राण'[2] के और जो बाहर से भीतर जाता है, उसको 'अपान'[2] कहते हैं। योगाभ्यास, शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकालके रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ाके बुद्धि आदि को बढ़ाओ। (चक्षुश्च श्रोत्रं च) [चाक्षुष और श्रौत्र शब्दजन्य] प्रत्यक्ष [और मन्त्र में पठित चकार से] अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य अर्थापत्ति, संभव और अभाव, इन आठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो॥१३॥

(पयश्च रसश्च) जो पय अर्थात् दूध जल आदि, और जो रस अर्थात् शक्कर ओषधि और घी आदि हैं, इनको वैद्यकशास्त्रों की रीति से यथावत् शोधके भोजन आदि करते रहो। (अन्नं चान्नाद्यं च) वैद्यकशास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये। (ऋतं च सत्यं च) ऋत नाम जो ब्रह्म है, उसी की सदा उपासना करनी, जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना, और सत्य को ही मानना चाहिये। (इष्टं च पूर्तं च) इष्ट जो ब्रह्म है उसीकी उपासना, और जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देनेवाला है, उस इष्ट की सिद्ध करने की पूर्ति, और जिस-जिस उत्तम कामों के आरम्भ को यथावत् पूर्ण करने के लिये जो-जो अवश्य हों सो-सो सामग्री पूर्ण करनी चाहिये। (प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने संतान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें, और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है। इन मन्त्रों में [3]अनेक चकारों का यह भी प्रयोजन है कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लक्षणों का ग्रहण करें॥१४॥

अत्र धर्मविषये तैत्तिरीयशाखाया अन्यदपि प्रमाणम्—

'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्याय-

---

१. वै० य० मुद्रित में 'विषय सेवा' पाठ है। २. प्राण और अपान का यही अर्थ प्राचीन वाङ्मय-सम्मत है। ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र यही अर्थ लिखा है (द्र०—स० प्र० रालाकट्रसं० पृष्ठ ८८ टि० १)। इस अर्थ में मैत्रायणीय आरण्यक और सायणाचार्य के प्रमाण पूर्व पृष्ठ १२२ टि० १ में देखें।

३. वै० य० मुद्रित में 'मन्त्रों में और भी अनेक प्रयोजन हैं,' अपपाठ है। द्र०—संस्कृतपाठ।

प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥१॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति— सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ [१ ॥] देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि॥ २ ॥ नो इतराणि। [1]एके चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्॥ [३ ॥] ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः[2], युक्ता आयुक्ता[3]ः, अलूक्षा धर्मकामा स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः। [4]अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता [3]आयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्त्तेरन्, तथा तेषु वर्त्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥४॥

तैत्तिरीय आरण्यके प्रपा० ७। अनु० ६, ११॥

भाष्यम्—(एतेषामभिप्रायः)—सर्वैर्मनुष्यैरेतानि वक्ष्यमाणानि धर्मलक्षणानि सदैव सेव्यानीति।

---

१. शताब्दीसंस्करणपर्यन्तमयमेव पाठ उपलभ्यते। तदनन्तरं 'ये के' इत्येवं पाठः परिवर्तितः। तैत्तिरीयारण्यके 'ये के' इति पाठ उपलभ्यते। सत्यार्थप्रकाशे (समु० ३, पृष्ठ ७६, रालाकट्रसं०) 'ये के' इत्येव पाठः। संस्कारविधौ तु **'एके'** इत्येव दृश्यते (द्र०—पृष्ठ १४० रालाकट्रसं० ३)।

२. सत्यार्थप्रकाशे 'समदर्शिनो' पाठ उपलभ्यते (द्र०—समु० ३, पृष्ठ ७६, रालाकट्रसं०)। इहाप्यस्य व्याख्यायां **'पक्षपातरहिताभ्यां'** इति वचनं **'समदर्शिनः'** पाठस्यैवानुज्ञायते, सत्यार्थप्रकाशेऽपि तथैव व्याख्यानदर्शनात्।

३. प्रथमसंस्करणे **'अयुक्ताः'** इत्येवं मुद्रितोऽपपाठस्तदन्त एव मुद्रिते शोधपत्रे संशोधितः, परन्तु वै० य० मुद्रितेषु पञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमसंस्करणेषु 'अयुक्ताः' इत्येवोपलभ्यते। शताब्दीसंस्करणे नवमे च "बङ्गीयशियाटिक-सोसाइटी-मुद्रित-तैत्तिरीये 'आयुक्तः' इति पाठः" इत्थं टिप्पणी पठ्यते। परन्त्वत्र **'योगिनाम्, अधर्मात् पृथग्भूतानाम्'** व्याख्यानं **'युक्ता अयुक्ताः'** पाठस्यैवोपलभ्यते (सत्यार्थप्रकाशेऽपि, पृष्ठ ७८) **'योगी अयोगी'** इत्येव व्याख्यानं दृश्यते। एताभ्यां ग्रन्थकारपरिगृहीतः पाठः 'युक्ता अयुक्ता' इत्येवानुमीयते।

४. 'अथाभ्याख्यातेषु……तेषु वर्तेथाः' वाक्यमिह नैव व्याख्यायते, सत्यार्थप्रकाशे त्विदं नैव पठ्यते।

(ऋतं च०) यथार्थस्वरूपं वा ज्ञानं, (सत्यं च०) सत्यस्याचरणं च, (तपश्च०) ज्ञानधर्मयोऋर्तादिधर्मलक्षणानां यथावदनुष्ठानम्, (दमश्च०) अधर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः कार्या, (शमश्च०) नैव मनसापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्येति, (अग्नयश्च०) वेदादिशास्त्रेभ्योऽग्न्यादिपदार्थेभ्यश्च पारमार्थिकव्यावहारिकविद्योपकारकरणम्, (अग्निहोत्रं च०) [1]नित्यहोममारभ्याश्वमेधपर्यन्तेन यज्ञेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसंपादनं कार्यम्, (अतिथयश्च०) पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां संगसेवाभ्यां सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च कार्यम्, (मानुषं च०) मनुष्यसम्बन्धिराज्यविद्यादिवित्तं सम्यक् सिद्धं कर्त्तव्यम्, (प्रजा च०) धर्मेणैव प्रजामुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्यासुशिक्षयान्विता कार्या, (प्रजनश्च०) वीर्यवृद्धिः पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्त्तव्यम्, (प्रजातिश्च०) गर्भरक्षा जन्मसमये संरक्षणं सन्तानशरीरबुद्धिवर्धनं च कर्त्तव्यम्। (सत्यमिति०) मनुष्यः सदा सत्यवक्तैव भवेदिति [सत्यवचसो] राथीतराचार्यस्य मतमस्ति। (तप इति) यादृतादिसेवनेनैव सत्यविद्याधर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति [तपोनित्यस्य] पौरुशिष्टेराचार्यस्य मतमस्ति। परन्तु [2]नाकस्य मौद्गल्यस्येदं मतमस्ति—स्वाध्यायो वेदविद्याध्ययनं, प्रवचनं तदध्यापनं चेत्युभयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्मास्ति। इदमेव मनुष्येषु परमं तपोऽस्ति, नातः परमुत्तमं धर्मलक्षणं किंचिद्विद्यत इति ॥१॥

(वेदमनूच्या०) आचार्यः शिष्याय वेदानध्याप्य धर्ममुपदिशति—हे शिष्य! त्वया सदैव सत्यमेव वक्तव्यं,सत्यभाषणादिलक्षणो धर्मश्च सेवनीयः। शास्त्राध्ययनाध्यापने कदापि नैव त्याज्ये। आचार्यसेवा प्रजोत्पत्तिश्च, सत्यधर्मकुशलतैश्वर्यसंवर्धनसेवने सदैव कर्त्तव्ये [॥ १ ॥] देवा विद्वांसः पितरो ज्ञानिनश्च,तेभ्यो ज्ञानग्रहणं,तेषां सेवनं च सदैव सदैव कार्यम्। एवं मातृपित्राचार्य्यातिथीनां सेवनं चैतत् सर्वं संप्रीत्या कर्त्तव्यम्, नैतत् कदापि प्रमादात् त्याज्यमिति। वक्ष्यमाणरीत्या मात्रादय उपदिशेयुः—भो पुत्रा! यान्युत्तमानि कर्म्माणि वयं कुर्मस्तान्येव युष्माभिराचरितव्यानि। यानि तु पापात्मकानि कानिचिदस्माभिः क्रियन्ते तानि कदापि नैवाचरणीयानि ॥[२॥]

येऽस्माकं मध्ये विद्वांसो ब्रह्मविदः स्युस्तत्संगस्तदुक्तविश्वासश्च सदैव कर्त्तव्यो नेतरेषाम्। मनुष्यैर्विद्यादिपदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या[3] श्रिया लज्जया भयेन प्रतिज्ञया च सदैव कर्त्तव्यम्, अर्थात् प्रतिग्रहाद् दानमतीव श्रेयस्करमिति। भोः शिष्य! तव कस्मिंश्चिद् कर्मण्याचरणे च संशयो भवेत् ॥[३॥] तदा ब्रह्मविदां पक्षपातरहितानां योगिनामधर्मात् पृथग्भूतानां विद्यादिगुणैः स्निग्धानां धर्मकामानां विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्यं, तेषामेवाचरणं च। यादृशेन मार्गेण ते

१. अर्थान्नैत्यिकादग्निहोत्रादारभ्य।

२. वै० य० मुद्रिते 'नाकोमौद्गल्यस्य' इत्यपपाठः। यतः आरण्यके 'नाको मौद्गल्यः' इति नैकं पदम्, द्वयाद्युदात्तत्वदर्शनात्।

३. सायणेन 'अश्रद्धया देयम्' इत्यत्र 'अदेयम्' इत्येवं विच्छिद्य 'अश्रद्धया तु किञ्चिदप्यदेयम्' इत्येवं व्याख्यातम्। तत् स्वरदोषाच्चिन्त्यम। 'देयम्' इत्यन्तोदात्तः पठ्यते, 'अदेयम्' पाठे तु आद्युदात्तस्वरः स्यात् (द्र०—अष्टा० ६।२।२)। वस्तुतः 'अश्रद्धया देयम्' इत्यादीनां दानप्रशंसायामेव तात्पर्यम्। एतदेव चात्र ग्रन्थकर्त्ताऽपि 'अर्थात् प्रतिग्रहाद्०' इत्याद्युत्तरवाक्येन स्पष्टयति।

विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्तव्यम्। अयमेव युष्माकं हृदय आदेश उपदेशो हि स्थाप्यते। इयमेव वेदानामुपनिषदस्ति। ईदृशमेवानुशासनं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम्। ईदृगाचरणपुरःसरमेव परमश्रद्धया सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति ॥ [४] ॥

भाषार्थ—तैत्तिरीयशाखा में और भी धर्म का विषय है, सो आगे लिखते हैं—

(ऋतं च०) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें। उसके साथ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना भी बराबर करते जायं। (सत्यं च०) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक-ठीक परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो, वैसा ही बोलो और उसी को मानो। उसके साथ पढ़ना-पढ़ाना भी कभी न छोड़ो। (तपश्च०) विद्याग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित रहो। (दमश्च०) अपनी आंख आदि इन्द्रियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ाके सदा धर्म में चलाओ। (शमश्च०) अपने आत्मा और मन को सदा धर्मसेवन में ही स्थिर रक्खो। (अग्नयश्च०) वेदादिशास्त्रों[1] और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध करो, तथा अनेक प्रकार से शिल्पविद्या की उन्नति करो। (अग्निहोत्रं च०) वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध-पर्य्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो। (अतिथयश्च०) जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी सत्यकारी पूर्ण विद्वान् सबका सुख चाहनेवाले हों, उन सत्पुरुषों के संग से करने के योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो। (मानुषं च०) सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक-ठीक प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढ़ाके रक्षा करके और अच्छे कामों में खर्च करके, उनसे धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो। (प्रजा च०) अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन, शिक्षा से विद्वान् करके, सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो। (प्रजनश्च०) जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उसको 'पुत्रेष्टि' कहते हैं, उसमें श्रेष्ठ भोजन और औषध-सेवन सदा करते रहो, तथा ठीक-ठीक गर्भ की रक्षा भी करो। (प्रजातिश्च०) पुत्र और कन्याओं के जन्म-समय में स्त्री और बालकों की रक्षा युक्तिपूर्वक करो।

ऋत से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह लक्षण होते हैं, उन सबके साथ स्वाध्याय जो पढ़ना और प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है, सो इसलिये है कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्षण हैं वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्यविद्या को पढ़ें, और तभी सदा सुख में रहेंगे। क्योंकि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है। इसलिये सब धर्मलक्षणों के साथ स्वाध्याय और प्रवचन का ग्रहण किया है। सो इनका त्याग कभी न करना चाहिये। (सत्यमिति०) हे मनुष्य लोगो! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो। (तप इति०) धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्या ग्रहण करो, अर्थात् विद्या का जो पढ़ना-पढ़ाना है, यही सबसे उत्तम है ॥१॥

(वेदमनूच्या०) जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देनेवाला है, वह विद्या पढ़ने के समय और जबतक न पढ़ चुकें तबतक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि—

१. वै० य० मुद्रित में 'तीनों वेद' पाठ है, वह संस्कृतानुसारी नहीं है।

हे पुत्रो वा शिष्य लोगो ! तुम सदा सत्य ही बोला करो। और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो। इसमें आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो। और युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो। तथा सत्यधर्म को कभी मत छोड़ो। कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके, भूति अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते जाओ, और पढ़ने-पढ़ाने में कभी आलस्य मत करो ॥१॥

(देवपितृ०) देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और संग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। माता-पिता, आचार्य अर्थात् विद्या के देनेवाले, और अतिथि जो सत्य उपदेश के करनेवाले विद्वान् पुरुष हैं, उन की सेवा में आलस्य कभी मत करो। ऐसे ही सत्यभाषणादि शुभ गुणों और कर्मों ही का सदा सेवन करो। किन्तु मिथ्याभाषणादि को कभी मत करो। माता-पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि—हे पुत्रो वा शिष्य लोगो ! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं, तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो, किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं ॥[२ ॥]

जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जाननेवाले धर्मात्मा मनुष्य हैं, उन्हीं के वचनों में विश्वास करो, और उनको प्रीति वा अप्रीति से श्री वा लज्जा से भय अथवा प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो, तथा विद्यादान सदा करते जाओ। और जब तुमको किसी बात में संदेह हो [॥३॥]

तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित धर्मात्मा मनुष्यों से पूछके शङ्कानिवारण सदा करते रहो। वे लोग जिस-जिस प्रकार से जिस-जिस धर्म-काम में चलते होवें, वैसे ही तुम भी चलो। यही आदेश, अर्थात् अविद्या को हटाके उसके स्थान में विद्या का, और अधर्म को हटाके धर्म का स्थापन करना है। इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं। इसी प्रकार शुभ लक्षणों को ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो ॥[४॥]

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो[1] दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ तैत्ति० आरण्यक प्रपा० १० । अनु० ८ ॥

भाष्यम्—इदानीं तपसो लक्षणमुच्यते—(ऋतं०) यत्तत्त्वं ब्रह्मण एवोपासनं यथार्थज्ञानं च, (सत्यं०) सत्यकथनं सत्यमाचरणं च, (श्रुतं०) सर्वविद्याश्रवणं श्रावणं च, (शान्तं०) अधर्मात् पृथक्कृत्य मनसो धर्मे संस्थापनं मनःशान्तिः, (दमस्त०) इन्द्रियाणां धर्म एव प्रवर्त्तनमधर्मान्निवर्त्तनं च, (शमस्त०) मनसोऽपि निग्रहश्चाधर्माद् धर्मे प्रवर्त्तनं च, (दानं त०) तथा सत्यविद्यादिदानं सदा कर्त्तव्यम्, (यज्ञस्त०) पूर्वोक्तं यज्ञानुष्ठानं च, एतत सर्वं तपश्शब्देन गृह्यते नान्यदिति। अन्यच्च (भूर्भु०) हे मनुष्य ! सर्वलोकव्यापकं यद् ब्रह्मास्ति तदेव त्वमुपास्वेदमेव तपो मन्यध्वं नातो विपरीतमिति ॥

१. तैत्तिरीयारण्यकस्य दशमप्रपाठकस्य द्विविधः पाठ उपलभ्यते। अयं च द्विविधोऽपि पाठः पूनासंस्करणे मुद्रितः। तत्रान्ते मुद्रिते **'दमस्तपश्शमस्तपो'** इति पाठ उपलभ्यते। पूर्वपाठेऽपि टिप्पण्यां पाठान्तरत्वेन स्वीक्रियते। सकारविधावप्ययमेव पाठो दृश्यते (द्र०—पृष्ठ १४०, रामलाल कपूर ट्रस्ट सं० ३)।

भाषार्थ[1]—(ऋतं तपः) 'तप' इसको कहते हैं कि जो 'ऋत' अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने, 'श्रुत' अर्थात् सब विद्याओं को सुनने, 'शान्त' अर्थात् उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वभाव के धारने में सदा प्रवृत्त रहो। तथा पूर्वोक्त दम, शम, दान, यज्ञ और प्रेम भक्ति से तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है, उसको भी 'तप' कहते हैं। ऋत आदि का अर्थ प्रथम[2] कर दिया है ॥

सत्यं परं परꣳ सत्यꣳ सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन, सताꣳ हि सत्यं, तस्मात् सत्ये रमन्ते। तप इति तपो नानशनात् परं, यद्धि परं तपस्तद् दुर्धर्षं तद् दुराधर्षं, तस्मात् तपसि रमन्ते। दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद् दमे रमन्ते। शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे रमन्ते। दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशꣳसन्ति, दानान्नातिदुष्करं, तस्माद् दाने रमन्ते। धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं, धर्मान्नातिदुश्चरं, तस्माद्धर्मे रमन्ते। प्रजन इति भूयाꣳसस्तस्माद् भूयिष्ठाः प्रजायन्ते, तस्माद् भूयिष्ठाः प्रजनने रमन्ते। अग्नय इत्याह तस्मादग्नय आधातव्याः। अग्निहोत्रमित्याह तस्मादग्निहोत्रे रमन्ते। यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगतास्तस्माद् यज्ञे रमन्ते। मानसमिति विद्वाꣳसस्तस्माद् विद्वाꣳस एव मानसे रमन्ते। न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यवराणि तपाꣳसि, न्यास एवात्यरेचयत्। य एवं वेदेत्युपनिषत्।

प्राजापत्यो हाऽऽरुणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार, किं भगवन्तः परमं वदन्तीति तस्मै प्रोवाच—सत्येन वायुरावाति, सत्येनाऽऽदित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् सत्यं परमं वदन्ति। तपसा देवा देवतामग्र आयन्, तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान् प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् तपः परमं वदन्ति। दमेन दान्ताः किल्बिषमवधून्वन्ति, दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्, दमो भूतानां दुराधर्षं, दमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद् दमं[3] परमं वदन्ति। शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति, शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दञ्छमो भूतानां दुराधर्षं, शमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माच्छमं[4] परमं वदन्ति। दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा, लोके दातारꣳ सर्वभूतान्युपजीवन्ति, दानेनारातीरपानुदन्त, दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद् दानं परमं वदन्ति। धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं

---

१. वै० यं० मुद्रिते 'भाष्यार्थ' इत्यपपाठः। २. अर्थात् '**ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च**' इत्यादि की व्याख्या में (द्र० पृष्ठ १२५, १२६)। ३. तैत्तिरीयारण्यके '**तस्माद्दमः**' इत्येवं पाठ उपलभ्यते।
४. तैत्तिरीयारण्यके '**तस्माच्छमः**' इत्येवं पाठ उपलभ्यते।

प्रतिष्ठितं, तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति । प्रजननं वै प्रतिष्ठा लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितृणामनृणो भवति तदेव तस्य अनृणं, तस्मात् प्रजननं परमं वदन्ति ।

अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था गार्हपत्य ऋक् पृथिवी रथन्तरमन्वाहार्यपचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्यमाहवनीयः साम सुवर्गो लोको बृहत्, तस्मादग्नीन् परमं वदन्ति । अग्निहोत्रं सायंप्रातर्गृहाणां निष्कृतिः स्विष्टं सुहुतं यज्ञक्रतूनां प्रापणं[1] सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोत्रं परमं वदन्ति । यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवं गता यज्ञेनासुरानपानुदन्त यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति । मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रं मानसेन मनसा साधु पश्यति मानसा ऋषयः प्रजा असृजन्त मानसे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मान्मानसं परमं वदन्ति ।

तैत्ति० आरण्यके प्रपा० १० । अनु० ६२, ६३ ।।

भाष्यम्—(सत्यं प०) सत्यभाषणात् सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किंचिन्नास्त्येव । कुतः? सत्येनैव नित्यं[2] मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्य पुनस्तस्मान्नैव कदापि च्युतिर्भवति[3] । सत्यपुरुषाणामपि सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति । तस्मात् कारणात् सर्वैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणीयमिति । तपस्तु ऋतादिधर्मलक्षणानुष्ठानमेव ग्राह्यम् । एवं सम्यग्ब्रह्मचर्यसेवनेन विद्याग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते । एवमेव दानादिष्वर्थगतिः कार्या । विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः । एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति, सत्येनादित्यः प्रकाशितो भवति, सत्येनैव मनुष्याणां प्रतिष्ठा जायते नान्यथेति । मानसा ऋषयः प्राणाः विज्ञानादयश्चेति ।।

[**भाषार्थ**]—(सत्यं परं०) अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिसका ऋत भी नाम है । सत्यभाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है । क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है । सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है । जिससे छूटके वे दुःख में कभी[4] नहीं गिरते । इसलिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना

---

१. तैत्तिरीयारण्यके '**प्रापणं**' इत्येवं पाठ उपलभ्यते । यद्वेह यकारपकारयोर्लेखनसादृश्यमूलकोऽपपाठ एव स्यात् । २. नित्यशब्दोऽयं सापेक्षं नित्यत्वं ब्रवीति, न पारमार्थिकम् । यथा—'**नित्या द्यौः, नित्या पृथिवी**' (महाभाष्य अ० १ । पा० १ । आ० १) ।

३. अस्यायं भावः—यावान् मोक्षस्य कालस्तन्मध्ये नैव कदापि च्युतिर्भवति । **न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते** (छां०उप० ८।१५) ; **यद् गत्वा न निवर्तन्ते** (गीता १५।६) इत्यादिवचनानामप्यत्रैव तात्पर्यम् । अन्यथाऽन्यैः श्रुतिस्मृतिसूत्रवचनैर्विरोध आपद्येत । एतस्मिन् विषये विशेषो ग्रन्थकारकृते सत्यार्थप्रकाशस्य नवमसमुल्लासे द्रष्टव्यः । इहापि ग्रन्थकारः सृष्टिविद्याविषये '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त०**' मन्त्रव्याख्याने '**न च तस्माद् ब्रह्मणश्शतवर्षसंख्यातात् कालात् [पुरा] कदाचित् पुनरावर्तन्ते**' इत्येवं वक्ष्यति ।

४. 'कभी नहीं गिरते' शब्द मोक्षकाल की अवधि=३६००० वार सृष्ट्युत्पत्तिप्रलयपरिमितकाल को लक्ष्य में रखकर कहे गये हैं । '**न च पुनरावर्तते**' इत्यादि उपनिषद्-वचनों का भी इसी में तात्पर्य है । इस

चाहिये। (तप इति०) जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण [न][1] करना, जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं, जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है, तदपि विद्वान् मनुष्य को करना सब सुगम है। इससे तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है। (दम इति०) जितेन्द्रिय होके जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है, उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये। (दानमिति०) दान की स्तुति सब लोग करते हैं। और जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है. जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं। इससे दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये।

(धर्म इति०) जो धर्मलक्षण प्रथम कह आये हैं और जो आगे कहेंगे, वे सब इसी धर्म के हैं। क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है, उसीको 'धर्म' कहते हैं। यही धर्म का स्वरूप और सबसे उत्तम धर्म है। सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्तना चाहिये। (प्रजन इति०) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है, जिसमें बहुत मनुष्य रमण करते हैं, इससे जन्म को 'प्रजन' कहते हैं। (अग्नय इत्याह०) वेदादि शास्त्रों[2] और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्पविद्या सिद्ध करनी उचित है। (अग्निहोत्रं च०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये। (मानसमिति०)जो विचार करनेवाले मनुष्य हैं वे ही 'विद्वान्' होते हैं, इससे विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं। क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं।[3] इससे मन का बल और उसकी शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है। (न्यास इति०) ब्रह्मा बनके अर्थात् चारों वेद को जानके, ससारी व्यवहारों को छोड़के, न्यास अर्थात् संन्यास आश्रम करके जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और सत्यविद्या से लाभ पहुंचाना है, यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण जानके करना उचित है।

(सत्येन वा०) सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है, उससे सब लोगों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति का सुख भी मिलता है, तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है। (तपसा देवा०) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके, सब काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीतके, पापों से छूटके, धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं, इससे तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं। (दमेन०) दम से मनुष्य पापों से अलग होके और ब्रह्मचर्य आश्रम का सेवन करके विद्या

विषय में अधिक विचार ग्रन्थकार ने स० प्र० समु० ९ में किया है, वहां देखना चाहिए। इस ग्रन्थ में भी सृष्टिविद्याविषय में 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' मन्त्र के व्याख्यान में भी ग्रन्थकार लिखेंगे—'ब्रह्म के १०० वर्ष परिमित काल से पूर्व पुनः संसार में नहीं आते' (द्र०—संस्कृतपाठ, भाषानुवाद में नहीं है)। ब्रह्म के १०० वर्ष= ३६ सहस्रवार सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय काल मोक्ष का है। द्र०—स० प्र० समु० ९।

१. यहां 'न' पद छूटा है, यह वाक्यविन्यास से ही स्पष्ट है।

२. वै० य० मुद्रित में 'तीन वेद' पाठ है। यहां पूर्व पृष्ठ १२६, टि० १ देखनी चाहिये।

३. यहां से आगे वै० य० मुद्रित में 'वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं' पाठ है। यह न संस्कृत के अनुकूल है, और न प्रकृत ही से सम्बद्ध है।

को प्राप्त होता है, इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है। (शमेन०) शम का लक्षण यह है कि जिससे मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं, इससे यह भी धर्म का लक्षण है। (दानेन०) दान से ही यज्ञ, अर्थात् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है, और दान से ही शत्रुओं को भी जीतकर अपना मित्र कर लेते हैं, इससे दान भी धर्म का लक्षण है। (धर्मो वि०) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है, धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं। जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इसलिये सबसे उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये। (प्रजननं०) जिससे मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है, और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थात बदले का पूरा करना होता है, इससे प्रजन[न] भी धर्म का हेतु है। क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति भी नहीं हो, तो धर्म को ही कौन करे? इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो।

(अग्नयो वै०) अर्थात् जिससे तुम लोग साङ्गोपाङ्ग तीनों वेदों[1] को पढ़ो, क्योंकि विद्वानों के ज्ञानमार्ग को प्राप्त होके पृथिवी आकाश और स्वर्ग ये तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती हैं, इससे इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं। (अग्निहोत्रं०) प्रातः और सन्ध्या काल में[2] [अग्निहोत्र द्वारा] वायु तथा वृष्टिजल को दुर्गन्ध से छुड़ाके सुगन्धित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है, इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (यज्ञ इति०) यज्ञ[3] से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते, और शत्रुओं को जीतके अपना मित्र कर लेते हैं, इससे यज्ञ[4] को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (मानसं वै०) मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जानके नित्य[5] सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्य का ज्ञान होता है, और उसमें जो विज्ञान [और प्राण] आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं, उनमें परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी-अपनी सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं।[6] अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इससे मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है, यह[7] भी धर्म का उत्तम लक्षण और साधन है। इससे मन के पवित्र होने से सब धर्मकार्य

---

१. यहां 'चारों वेदों को पढ़ो' पाठ होना चाहिए। तै० आ० में 'त्रयीविद्या' शब्द है। त्रयीविद्या अथवा 'त्रयी' कहने से चारों वेदों का ग्रहण होता है। यह पूर्व (पृष्ठ ६, टि० १) कहा जा चुका है।

२. वै० य० मुद्रित में 'प्रातःकाल में सन्ध्या और वायु' अपपाठ है।

३. वै० य० मुद्रित में 'विद्या से' अपपाठ है।

४. वै० य० मुद्रित में 'इससे विद्या और अध्वर्यु आदि यज्ञ' अपपाठ है।

५. द्र०—पूर्व पृष्ठ १२६, टि० ४। यहां नित्य शब्द अन्य अल्पकाल स्थित रहनेवाले सुख की अपेक्षा अधिक काल तक रहनेवाले सुख के लिए प्रयुक्त हुआ है। न्याय की परिभाषा में यह 'साक्षेप नित्यत्व' कहाता है। 'नित्या द्यौः नित्या पृथिवी' (महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १) आदि प्रयोगों में अल्पकालस्थायी अन्य पदार्थों की अपेक्षा द्युलोक और पृथिवी लोक को चिरस्थायी होने के कारण नित्य कहा है। इसी प्रकार यहां भी समझें।

६. यहां पाठ अस्पष्ट है।

७. वै० य० मुद्रित में 'ये भी धर्म के······साधन हैं' अपपाठ है।

सिद्ध होते हैं। ये सब धर्म के ही लक्षण हैं। इनमें से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥१॥
सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥२॥

मुण्डकोपनिषदि मु० ३। खं० १। मं० ५,६॥

भाष्यम्—अनयोरर्थः—(सत्येन लभ्य०) सत्येन सत्यधर्माचरणेनैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्ययं मन्त्रः सुगमार्थः॥ १॥

(सत्यमेव०) सत्यमाचरितमेव जयते, तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति, अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च। तथा सत्यधर्मेणैव देवयानो विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोऽस्ति, सोऽपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति। येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणाप्तकामा ऋषयस्तत्राक्रमन्ति गच्छन्ति यत्र सत्यस्य धर्मस्य परमं निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्त्तते। तत्प्राप्य नित्यानन्दमोक्षप्राप्ता[1] भवन्ति, नान्यथेति। अत एव सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्त्तव्य इति॥[२॥]

भाषार्थ—(सत्येन लभ्यस्तपसा०) अर्थात् जो सत्य आचरणरूप धर्म का अनुष्ठान, ठीक-ठीक विज्ञान और ब्रह्मचर्य करते हैं, इन्हीं शुभगुणों से सबका आत्मा परमेश्वर जाना जाता है। जिसको निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग देखते हैं। सो सबके आत्माओं का भी आत्मा प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है। उसी की आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिये॥१॥

(सत्यमेव जय०) जो सत्य का आचरण करनेवाला है, वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है। और जो मिथ्या आचरण और झूठे कामों का करनेवाला है, वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त होता है। विद्वानों का जो मार्ग है, सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है। जिस मार्ग से आप्तकाम, धर्मात्मा विद्वान् लोग चलके सत्यसुख को प्राप्त होते हैं, जहां ब्रह्म ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है। सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्य धर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है॥२॥

अन्यच्च—

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' ॥१॥ पू० मी० अ० १। पा० १। सू० २॥

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' ॥२॥ वैशेषिके अ० १। पा० १। सू० २॥

---

१. द्र०—पूर्वत्र पृ० १२९, टि० २, ३॥

अनयोरर्थः—(चोदना०) वेदद्वारा या सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तयैव सत्यधर्मो लक्ष्यते। योऽनर्थाद् अधर्माचरणाद् बहिरस्त्यतो धर्माख्यां लब्ध्वाऽर्थो भवति। यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सोऽनर्थरूपत्वाद् अधर्मोऽयमिति ज्ञात्वा सर्वैर्मनुष्यैस्त्याज्य इति ॥१॥

(यतोऽभ्यु०) यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च, स एव धर्मो विज्ञेयः, अतो विपरीतो ह्यधर्मश्च। इदमपि वेदानामेव व्याख्यानमस्ति[1] ॥२॥

इत्यनेकमन्त्रप्रमाणसाक्ष्यादि[भिर्] धर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेण सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति, एक एवायं सर्वेषां धर्मोऽस्ति, नैव चास्माद् द्वितीयोऽस्तीति वेदितव्यम्।

—: इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः समाप्तः :—

भाषार्थ—(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है, वही 'धर्म', और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है, वह 'अधर्म' कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है, वही मनुष्यों में मनुष्यपन है ॥१॥

(यतोऽभ्यु०) जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है। यह भी वेदों की व्याख्या है ॥२॥

इत्यादि अनेक मन्त्रों के प्रमाणों और ऋषिमुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उपदेश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है। इससे विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं, दो नहीं। जो कोई इसमें भेद करे, तो उसको अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये।

❦ इति वेदोक्तधर्म-विषयः संक्षेपतः ❦



---

१. शाखाब्राह्मणारण्यकोपनिषदो वेदव्याख्यानार्थमेव प्रवृत्ता इति सार्वजनीनो राद्धान्तः। अङ्गोपाङ्गान्यपि परम्परया वेदव्याख्यानार्थं प्रवृत्तानीति तत्रभवान् ग्रन्थकारो मनुते। अत एव स 'भाष्यकरणशङ्कासमाधानादि-विषये' वक्ष्यति—'यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षड् शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि' इति।

अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० १७ ॥[1]

भाष्यम्—एतेषामभिप्रायार्थः—यदिदं सकलं जगद् दृश्यते, तत् परमेश्वरेणैव सम्यग् रचयित्वा संरक्ष्य प्रलयावसरे वियोज्य च विनाश्यते । पुनः पुनरेवमेव सदा क्रियत इति ।

(नासदासी०) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत् तदाऽसत् सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि

१. मन्त्र १-७ । नैवेह मन्त्रसंख्याया अतीव प्रयोजनम्, सप्तदशे वर्गे सप्तानामेव मन्त्राणां भावात् । मण्डलक्रमानुसारं १०।१२९।१-७ संख्या ज्ञेया ।

नासीत्[1]। कुतः? तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात्[2]। (नो सदासीत्तदानीं) तस्मिन्काले सत् प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं सत्सञ्ज्ञकं यज्जगत्कारणं, तदपि नो आसीन्नावर्त्तत[3]। (नासीद्र०) परमाणवोऽपि नासन्[3]। (नो व्योमापरो यत्) व्योमाकाशम्[4] अपरं यस्मिन् विराडाख्ये, सोऽपि नो आसीत्। किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव[5] तदानीं समवर्त्तत। (किमावरीवः०) यत्प्रातः कुहकस्यावर्षाकाले[6] धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति, यथा नैतज्जलेन पृथिव्यावरणं भवति नदीप्रवाहादिकं च चलति, अत एवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति? नेत्याह। किंत्वावरीव आवरकमाच्छादकं भवति? नैव कदाचित्, तस्यातीवाल्पत्वात्। तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यास्ति। तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्मणि किं गहनं गभीरमधिकं भवति? नेत्याह। अतस्तद्ब्रह्मणः कदाचिन्नैवावरकं भवति। कुतः? जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद् ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च ॥१॥

न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्वं सुगमार्थम्, एषामर्थं भाष्ये वक्ष्यामि ॥[२–६॥]

(इयं विसृष्टिः) यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिर्विविधा सृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदस्ति। तां स एव दधे धारयति रचयति, यदि वा विनाशयति, यदि वा न रचयति। योऽस्य सर्वस्याध्यक्षः स्वामी, (परमे व्योमन्) तस्मिन् परमाकाशात्मनि परमे प्रकृष्टे व्योमवद् व्यापके परमेश्वर एवेदानीमपि सर्वा सृष्टिर्वर्त्तते। प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना च भवति। (सोऽध्यक्षः) स सर्वाध्यक्षः परमेश्वरोऽस्ति। (अङ्ग वेद) हे अङ्ग मित्र जीव! तं यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति। यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद, वा निश्चयार्थे, स परमं सुखमपि नाप्नोति ॥७॥

भाषार्थ—(नासदासीत्) जब यह कार्य-सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी। उस

---

१. अस्मिन् सूक्ते त्रिष्वपि जगत्कारणेषु ब्रह्मणः प्राधान्यमुच्यते, तस्य सर्वाध्यक्षत्वात्। नान्ययोः सत्तायाः प्रतिषेधेऽस्य सूक्तस्य तात्पर्यम्। एतच्च जैमिनीयदर्शनस्य प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादस्य षोडशाधिकरणन्यायेन स्पष्टम्। तत्र हि 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' (तै० सं० ५।२।९) इत्यादिवचनानां विचारं प्रस्तुत्य 'गोऽश्वान् प्रशंसयितुमन्येषां निन्दा' इति भाष्यकृता सिद्धान्तितम्। अत एवेह ग्रन्थकृताऽपि 'तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात्' इति तन्निषेधे कारणमुक्तम्। इदं च कारणं उत्तरत्राप्यनुषञ्जनीयम्।

२. कारणमिदमुत्तरप्रतिषेधेष्वपि योजनीयम्। ३. इहापि 'तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात्' इत्यनुषञ्जनीयम्। ४. पूर्वत्र 'असद्' पदव्याख्याने 'शून्यमाकाशमपि नासीत्' इत्युक्तमिहापि 'व्योमाकाशमपरम्' इत्युक्तम्। उभयत्राकाशाभावस्योक्तत्वात् पुनरुक्तिदोष-परिहाराय पूर्वत्र शून्यमाकाशमित्यत्र आकाशपदमवकाशपरम्, इह चाकाशं भूतपरं व्याख्येयम्।

५. नह्यत्र 'एव' पदमन्यकारणानां व्यावृत्त्यर्थं प्रवृत्तम्, अपितु परब्रह्मरूपकारणस्य प्राधान्यं द्योतयितुमुपात्तम्। एतच्च 'अतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकम्' पदानामिहोपादानात् प्रतीयते। इह च सामर्थ्य-शब्देन सर्वशक्तिमतः शक्तिरेवोच्यते।

६. वै० य० मुद्रितेषु ६,७,८ संस्करणेषु शताब्दीसंस्करणे च 'कुहकस्य वर्षाकाले' इत्यपपाठः। पं० सुखदेवेनाप्येषाऽशुद्धिर्नापमृष्टा।

समय असत् शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता, सो भी नहीं था। क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था[1]। (नो सदासीत्तदानीं) उस काल में 'सत्' अर्थात् सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिलाके जो 'प्रधान' कहाता है, वह भी नहीं था। (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे। तथा (नो व्यो०) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है, सो भी नहीं था[2]। (किमा०) जो यह वर्तमान जगत् है, वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाक सकता, और उससे अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता, जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढाक सकता है, उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता, और न वह कभी गहरा वा उथला हो सकता है। इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है, और जो यह उसका बनाया जगत् है, सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है ॥१॥

(न मृत्यु०) जब जगत् नहीं था, तब मृत्यु भी नहीं था। क्योंकि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न होके वर्त्तमान हो, पुनः उसका और शरीर आदि का वियोग हो, तब मृत्यु कहावे। सो शरीर आदि पदार्थ उत्पन्न[3] ही नहीं हुए थे।

'न मृत्यु०' इत्यादि पांच[4] मन्त्र सुगमार्थ हैं। इसलिये इनकी व्याख्या भी यहां नहीं करते, किन्तु वेदभाष्य में करेंगे ॥[२—६॥]

(इयं विसृष्टिः०) जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वही इस जगत् को धारण करता, नाश करता और मालिक भी है। हे मित्र लोगो! जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है, वही परमेश्वर को प्राप्त होता है। और जो उसको नहीं जानता, वही दुःख में पड़ता है। जो आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत्

---

१. 'व्यवहार नहीं था' इस कारण का सम्बन्ध आगे भी प्रकृति और परमाणुओं के अभाव-बोधक **वाक्यों के साथ जोड़ें।**

इस सारे सूक्त में जगत् की उत्पत्ति के प्रधान कारणों में से परब्रह्मरूप निमित्त कारण की प्रधानता दर्शाई है। यह प्रधानता इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र '**इयं विसृष्टिर्यत आबभूव**' से स्पष्ट है। अनेक व्याख्याकार इस सूक्त में **सत् असत्** आदि के निषेध से यह दर्शाना चाहते हैं कि यह सारा जगत् ईश्वर से ही उत्पन्न हुआ है, प्रकृति आदि जगत् का उपादान कारण नहीं हैं। वस्तुतः यह विचारधारा शास्त्र-विपरीत है। मीमांसा दर्शन (१।४ अ० १२) के '**प्रशंसा**' सूत्र में '**अयज्ञो वा एष असामा**'; '**अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्य; पशवो गोअश्वाः**' आदि वाक्यों पर विचार करते हुए सिद्धान्त किया है कि विधेय 'सामयुक्त यज्ञ' की प्रशंसा के लिए सामरहित यज्ञ की निन्दा=हीनता दर्शाई है। इसी प्रकार प्रकृत सूक्त में '**नासदासीन्नो सदासीत्**', इत्यादि में सत् असत् के अभाव का निर्देश **परब्रह्म** की जगदुत्पादक शक्ति की प्रशंसा वा प्रधानत्व द्योतन के लिए है, न कि सत् प्रकृति आदि के सर्वथा निषेध करने के लिए। मीमांसकों का न्याय है—**नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्ततेऽपितु विधेयं स्तोतुम्**'। इसी प्रकार यहां भी समझें—'**नहि सदादिप्रतिषेधस्तान् प्रतिषेद्धुं प्रवृत्तः, अपितु परब्रह्म प्रशंसयितुम्, तस्य प्रधानत्वं द्योतयितुं वा।**'

२. यह भाषा संस्कृतानुसारी नहीं हैं।

३. 'उत्पन्न' पद वै० य० मुद्रित सं० १-८ तक है, सं० ९ में नष्ट हुआ है।

४. 'पांच' पद वै० य० मुद्रित सं० ९ में नहीं है, १-८ तक मिलता है।

निवास करता है। और जब प्रलय होता है, तब भी सब जगत् कारणरूप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है, और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है ॥७॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १॥[1]

भाष्यम्—(हिरण्यगर्भः०) अग्रे सृष्टेः प्राग्घिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्यास्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्त्तत। स पृथिवीमारभ्य द्युपर्य्यन्तं सकलं जगद् रचयित्वा (दाधार) धारितवानस्ति। तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेमेति ॥१॥

भाषार्थ—(हिरण्यगर्भः०) हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है, वही एक सृष्टि के पहिले वर्त्तमान था। जो इस सब जगत् का स्वामी है, और वही पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को रचके धारण कर रहा है। इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की ही हम लोग उपासना करें, अन्य की नहीं ॥१॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिꣳ सर्वतं स्पृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥१॥ य० अ० ३१। मं० १॥

भाष्यम्—(सहस्रशीर्षा०) अत्र मन्त्रे पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति, सहस्रशीर्षेत्यादीनि विशेषणानि च। अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि—

'पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन् ॥' निरु० अ० १। खं० १३॥

(पुरि०) पुरि[2] संसारे शेते सर्वमभिव्याप्य वर्त्तते, स पुरुषः परमेश्वरः।

"पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य—'यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित्[3]। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण[4] सर्वम्' इत्यपि निगमो भवति ॥" निरु० अ० २। खं० ३॥

(पुरुषः) पुरि सर्वस्मिन् संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्त्तत इति। (पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात् स पुरुषः। (अन्तरिति०) यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति सः पुरुषः। तमन्तरपुरुषमन्तर्यामिनं परमेश्वर-

१. ऋ० १०।१२१।१॥
२. 'पुरि' पदं नै० य० मुद्रितेषु १–६ संस्करणेषु विद्यते।
३. निरुक्ते तै० आरण्यके (१०।१०) च 'कश्चित्' पाठ उपलभ्यते।
४. निरुक्ते तै० आरण्यके (१०।१०) च 'पुरुषेण' पाठ उपलभ्यते।

मभिप्रेत्येयमृक् प्रवृत्तास्ति—(यस्मात् पर०) यस्मात् पूर्णात् परमेश्वरात् पुरुषाख्यात् परं प्रकृष्ट-मुत्तमं किंचिदपि वस्तु नास्त्येव पूर्वं वा, (नापरमस्ति) यस्मादपरमर्वाचीनं तत्तुल्यमुत्तमं वा किंचिदपि वस्तु नास्त्येव। तथा यस्मादणीयः सूक्ष्मं, ज्यायः स्थूल महद् वा किंचिदपि द्रव्यं न भूतं, न भवति, नैव च भविष्यतीत्यत्रेयम्। य[1] स्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां[2] कुर्वन् सन् स्थिरोऽस्ति। क इव ? (वृक्ष इव) यथा वृक्षः शाखापत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति, तथैव पृथिवी-सूर्यादिकं सर्वं जगद् धारयन् परमेश्वरोऽभिव्याप्य स्थितोऽस्तीति। यश्चैकोऽद्वितीयोऽस्ति, नास्य कश्चित् सजातीयो विजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोऽस्तीति। तेन पुरिषेण पुरुषेण परमात्मना यत इदं सर्वं जगत् पूर्णं कृतमस्ति, तस्मात् पुरुषः परमेश्वर एवोच्यते। इत्ययं मन्त्रो निगमो निगमनं परं प्रमाणं[3] भवतीति वेदितव्यम्।

'सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासी'त्यादि ॥ श० कां ७। अ० ५ ॥[4]

(सर्वं०) सर्वमिदं जगत् सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम्[5]।

(सहस्रशी०) सहस्राण्यसंख्यातान्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन् पूर्णे पुरुषे परमात्मनि स सहस्रशीर्षा पुरुषः, (सहस्राक्षः स०) अस्मदादीनां सहस्राण्यक्षीणि यस्मिन्[6], एवमेव सहस्राण्य-संख्याताः पादाश्च यस्मिन् वर्त्तन्ते स सहस्राक्षः सहस्रपाच्च। (स भूमिं सर्वत स्पृत्वा) स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेभ्यो, भूमिरिति भूतानामुपलक्षणं, भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत् स्पृत्वाभिव्याप्य वर्त्तते। (अत्य०) दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदययो[7]रुपलक्षणम्। अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणं भवति। पञ्च स्थूलभूतानि, पञ्च सूक्ष्माणि चैतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति। अन्यच्च, पञ्च प्राणाः सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तः-करणं दशमो जीवश्च। एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते। एतत् त्रयं स्पृत्वा व्याप्यात्यतिष्ठत्। एतस्मात् त्रयाद् बहिरपि व्याप्तः सन्नवस्थितः। अर्थाद् बहिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽवतिष्ठत इति वेद्यम् ॥ [१॥]

भाषार्थ—(सहस्रशी०) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उसके विशेषण हैं। 'पुरुष' उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है। 'पुर्' कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को, उसमें जो सर्वत्र व्याप्त, और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है। इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत-भाष्य में लिखा है, सो देख लेना।

---

१. वै० य० मुद्रिते प्रथमे संस्करणे **'यस्तब्धो'** इत्येवं सांहतिकः पाठः। सं० २–८ 'यः स्तब्धो' इत्येवं पाठः। **'खर्परे शरि वा लोपो वक्तव्यः'** (महा० ८।३।३६) इति वार्तिकेन विसर्गलोपोऽत्र ज्ञेयः।

२. सर्वान् लोकान् स्वस्वकक्षायां भ्रामयन्नित्यर्थः।

३. पुरुषशब्दार्थ इति शेषः।

४. शत० ७।५।२।१३॥

५. अयं विषयः सप्रमाणं पूर्वत्र (पृष्ठ ८६) निर्दिशितः।

६. वै० य० मुद्रितेषु १–६ संस्करणेषु **'सहस्राण्यक्षीण्यस्मिन्'** पाठः। सहस्रशीर्षा सहस्रपात् पदयो-र्व्याख्याने **'यस्मिन्'** पददर्शनादस्माभिस्स एव स्वीकृतः।

७. शताब्दीसंस्करणं विहाय सर्वेषु वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु **'ब्रह्माण्डहृदयोर०'** इत्यपपाठः।

'सहस्र' नाम है सपूर्ण जगत् का, और असंख्यात का भी नाम है। सो जिसके बीच में सब जगत् के असख्यात शिर आंख और पग ठहर रहे हैं, उसको 'सहस्रशीर्षा' 'सहस्राक्ष' और 'सहस्रपात्' भी कहते हैं, क्योंकि वह अनन्त है। जैसे आकाश के बीच में सबपदार्थ रहते और आकाश सबसे अलग रहता है, अर्थात् किसी के साथ बंधता नहीं है, इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो। (स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वा) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है। (अत्यतिष्ठद्०) 'दशाङ्गुल' शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है। अङ्गुलि शब्द अङ्ग का अवयववाची है, [सो अवयव के उपलक्षण से नपे हुए जगत् का यहां ग्रहण होता है]। पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिलके जगत् के दश अवयव होते हैं। तथा पांच प्राण, मन बुद्धि चित्त और अहकार ये चार, और दशमा जीव और शरीर में जो हृदयदेश है, सो भी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है। जो इन तीनों में व्यापक होके इनके चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है, इससे वह 'पुरुष' कहाता है। क्योंकि जो उस [तीनों प्रकार के] दशाङ्गुल स्थान का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है, वही सब जगत् का बनानेवाला है ॥१॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥

भाष्यम्—(पुरुष एवे०) एतद्विशेषणयुक्तः पुरुषः परमेश्वरः। (यद् भूतम्) यज्जगदुत्पन्नमभूत् यद् भाव्यमुत्पत्स्यमानं चकाराद् वर्त्तमानं च, तत् त्रिकालस्थं सर्वं विश्वं पुरुष एव कृतवानस्ति, नान्यः। नैवातो हि परः कश्चिज्जगद्रचयितास्तीति निश्चेतव्यम्। उतापि स एवेशान ईषणशीलः, सर्वस्येश्वरोऽमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी दातास्ति। नैवैतद्दाने[1] कस्याप्यन्यस्य सामर्थ्यमस्तीति। पुरुषो यद्यस्मादन्नेन[2] पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोऽस्ति, तस्मात् स्वयमजः सन् सर्वं जनयति, स्वसामर्थ्यादिकारणात् कार्यं जगदुत्पादयति। नास्यादिकारणं किञ्चिदस्ति। किञ्च, सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुष एवास्तीति वेद्यम् ॥२॥

भाषार्थ—(पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है, सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा, और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है। उससे भिन्न कोई दूसरा जगत् रचनेवाला नहीं है। क्योंकि वह (ईशानः) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है। (अमृत०) [अमृत]जो मोक्ष है उसका देनेवाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं। सो परमेश्वर (अन्ने०) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है, और इससे अलग भी है। क्योंकि उसमें जन्म आदि व्यवहार नहीं है। और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है, और आप कभी जन्म नहीं लेता। [इस का आदि कारण कोई नहीं है। और भी, सबका आदि निमित्त कारण पुरुष ही है, ऐसा जानना चाहिये] ॥२॥

---

१. वै० य० मुद्रितयोरष्टमनवमयोः संस्करणयोः 'नैवेतद्दाने' इत्यपपाठः।

२. 'यद् यस्मादनेन' इति वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणेऽपपाठः।

एतावा॑नस्य महि॒मातो॒ ज्याया॑ँश्च॒ पूरु॑षः ।
पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि ॥३॥

भाष्यम्—(एतावानस्य०) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोऽस्ति, तावान्महिमा वेदितव्यः । एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते ? अत्र ब्रूते—(अतो ज्यायांश्च पूरुषः) नैतावन्मात्र एव महिमेति । किं तर्हि ? अतोऽप्य-ऽधिकतमो महिमानन्तस्तस्यास्तीति गम्यते । अत्राह—(पादोऽस्य) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा०) विश्वानि प्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पाद ऽस्ति, एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते । (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्षसुखमस्ति, तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगद्[1] अस्ति । प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति, प्रकाशकं च तस्मात्त्रि-गुणमिति । स्वयं च मोक्षस्वरूपः, सर्वाधिष्ठाता, सर्वोपास्यः, सर्वानन्दः, सर्वप्रकाशकोऽस्ति ॥३॥

भाषार्थ—(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है, सो सब इस पुरुष का ही महिमा है । प्र०—जब उसके महिमा का परिमाण है, तो अन्त भी होगा ? उ०—(अतो ज्यायांश्च पूरुष:) उस पुरुष का अनन्त महिमा है । क्योंकि (पादोऽस्य विश्वा भूतानि) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है, सो इस पुरुष के एकदेश में वसता है । (त्रिपादस्यामृतं दिवि) और जो प्रकाशगुणवाला जगत् है, सो उससे तिगुना है । तथा मोक्षसुख भी उसी [पुरुष के द्योतनात्मक] ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है, और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला है ॥३॥

त्रि॒पादू॒र्ध्व उदै॒त्पुरु॑षः॒ पादो॑ऽस्ये॒हाभ॑वत्॒ पुनः॑ ।
ततो॒ विष्व॒ङ् व्य॑क्रामत्॒ साशनानश॒ने अ॒भि ॥४॥

भाष्यम्—(त्रिपादू०) अयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य [2]त्रिपादुपलक्षितस्य सकाशाद् ऊर्ध्व-मुपरिभागेऽर्थात् पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः । [2]एकपादुपलक्षितं यत्पूर्वोक्तं जगदस्ति, तस्मादपीहास्मिन् संसारे स पुरुषः पृथगभवत् व्यतिरिक्त एवास्ति । स च त्रिपात् संसार एकपाच्च मिलित्वा सर्वश्च-तुष्पाद्भवति । अयं सर्वः संसार इहास्मिन् परमात्मन्येव वर्त्तते, पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्यकारणे प्रलीनश्च भवति । तत्रापि स पुरुषोऽविद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरणज्वरादिदुःखाद् ऊर्ध्वः परः(उदैत्) उदितः प्रकाशितो वर्त्तते । (ततो वि०) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते । किंच तत् ? (साशनानशने०) यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्त्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादिसहितं जगत्,

१. 'त्रिपादज्जगद्' इति वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणेऽपपाठः ।

२. वै० य० मुद्रिते प्रथमसंस्करणे 'त्रिपादोपलक्षितस्य', 'एकपादोपलक्षितं' पाठयोः संशोधनपत्रे 'त्रिपादुप०' 'एकपादुप०' संशोधनं विहितम् । तदनुसारं पञ्चमसंस्करणपर्यन्तं शुद्धः पाठो मुद्रितः । तदनु शताब्दी-संस्करणसंशोधकेन विश्वनाथवेदोपाध्यायेन प्रथमसंस्करणस्य संशोधनपत्रमदृष्ट्वैव तत्र मुद्रितोऽपपाठः पुनर्निवेशितः । तदनुसारमेव षष्ठसप्तमाष्टमसंस्करणेष्वशुद्धः पाठ उपलभ्यते ।

द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिंस्तत् पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद् वर्त्तते, तदुभयं तस्मात् पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते। यतः स पुरुष एतद् द्विविधं जगत् विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतयाऽञ्चति, तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (अभिव्यक्रामत्) सर्वतो व्याप्तवानस्ति ॥४॥

भाषार्थ—(त्रिपादूर्ध्व उदैत् पु०) पुरुष जो परमेश्वर है, सो पूर्वोक्त त्रिपाद् जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है, तथा सदा प्रकाशस्वरूप, सबके भीतर व्यापक, और सबसे अलग भी है। (पादोऽस्येहाभवत् पुनः) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किंचित्मात्र देश में है। और जो इस संसार के चार पाद होते हैं, वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं। इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है, और पुरुष तो जन्म-विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है। (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। (साशनान०) सो दो प्रकार का है—एक चेतन, जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करनेवाला[1] जीव-संयुक्त है। और दूसरा अनशन, अर्थात्[2] जो जड़, भोजन के लिये चेष्टा न करनेवाला जीव-सम्बन्धरहित पृथिव्यादिक जड़ जगत् है, वह दोनों प्रकार का जगत् उस पुरुष के अनन्त सामर्थ्य से ही उत्पन्न होता है[2]। सो पुरुष सर्वहितकारक होके उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है। वह पुरुष इसका बनानेवाला, संसार में सर्वत्र व्यापक होके, धारण करके देख रहा, और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है ॥४॥

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ऽअधि॒ पूरु॑षः ।
स जा॒तोऽअत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥५॥

भाष्यम्—(ततो विराडजायत) ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः सूर्य्यचन्द्रनेत्रो वायुप्राणः पृथिवीपाद इत्याद्यलङ्कारलक्षणलक्षितो[3] हि सर्वशरीराणां समष्टिदेहो, विविधैः पदार्थै राजमानः सन् विराड् अजायतोत्पन्नोऽस्ति। (विराजो अधिपूरुषः) तस्माद् विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः, सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः, पृथक् पृथक् अजायतोत्पन्नोऽभूत्। (स जातो अ०) स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते, नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति। परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोऽस्ति। (पश्चाद् भूमिमथो पुरः) पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात स जीवोऽपि देहं धारितवानस्ति। स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोऽस्ति ॥५॥

---

१. वै० य० मद्रित में 'चेष्टा करता और जीव' पाठ है।

२. वै० य० मुद्रित में 'अर्थात् जो जड़ भोजन के लिये बना है, क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है, और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता। परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामग्री है, कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है' पाठ है। यह भ्रष्ट अनुवाद है।

३. द्रष्टव्यं पूर्वत्र पञ्चमषष्ठयोः पृष्ठयोः 'यस्य भूमिः प्रमा' इत्यादयो मन्त्राः तेषामर्थाश्च।

भाषार्थ—(ततो विराडजायत) विराट्, जिसका ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है[1], जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिसको मूलप्रकृति कहते हैं, जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य्य-चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है, इत्यादि लक्षणवाला जो यह[2] समष्टि देह है, सो 'विराट्' कहाता है। वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके प्रकाशमान हो रहा है। (विराजो अधि०) उस विराट्[3] के पश्चात् ब्रह्माण्ड के तत्त्वरूप अवयवों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ है। जिसमें सब जीव वास करते हैं, और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, (स जातो अत्यरिच्यत) सो विराट् परमेश्वर से अलग, और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है। (पश्चाद् भूमिमथो पुरः) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ॥५॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥६॥

भाष्यम्—(तस्माद्य०) अस्यार्थो वेदोत्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः[4]। तस्मात् परमेश्वरात् (संभृतं पृषदाज्यम्) 'पृषु सेचने' धातुः, पर्षन्ति सिञ्चन्ति क्षुन्निवृत्त्यादिकारकमन्नादि वस्तु यस्मिंस्तत् पृषत्, आज्यं घृतं मधु दुग्धादिकं च। पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम्$, आज्यमिति व्यञ्जनोपलक्षणम्। यावद् वस्तु जगति वर्त्तते तावत् सर्वं पुरुषात् परमेश्वरसामर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम्। तत्सर्वमीश्वरेण, स्वल्पं स्वल्पं जीवैश्च सम्यग्धारितमस्ति। अतः सर्वैरनन्यचित्तेनायं परमेश्वर एवोपास्यो नान्यश्चेति। (पशूंस्तांश्चक्रे०) य आरण्या वनस्थाः पशवो, ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान् सर्वान् स एव चक्रे कृतवानस्ति। स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसहचरितान् पक्षिणश्चक्रे। चकारादन्यान् सूक्ष्मदेहधारिणः कीटपतङ्गादीनपि कृतवानस्ति ॥६॥

भाषार्थ—(तस्माद्यज्ञात् स०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्तिप्रकरण में कुछ[5] कर दिया है। पूर्वोक्त पुरुष से ही (संभृतं पृषदाज्यम्) सब भोजन वस्त्र अन्न जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य

$पृषदिति क्वचिदन्त्येष्टिसामग्र्या अपि नामास्ति। (द० स०) अत्र 'पृषदाज्यम्' इत्यपेक्ष्यते। अन्त्येष्ट्यां पृषदाज्यस्य विधानात्। तत्र दधिमिश्रितमाज्यं पृषदाज्यमित्युच्यते। तदुक्तमाश्वलायनगृह्येऽन्त्येष्टि-प्रकरणे 'दधन्यत्र सर्पिरानयन्त्येतत् पित्र्यं पृषदाज्यम्' (४।१।१६)। सूत्रमिदं ग्रन्थकृताऽपि संस्कारविधावन्त्येष्टि-प्रकरण उद्धृतम्। पृषदाज्यं हविरन्त्येष्ट्या अन्यत्रापि श्रौतेष्टिषु प्रयुज्यते।

१. इस अलंकार के लिये पूर्व पृष्ठ ५, ६ में 'यस्य भूमिः' आदि मन्त्र और उनके अर्थ देखने चाहिएं।

२. वै० य० मुद्रित में 'यह आकाश है' अपपाठ है।

३. वै० य० मुद्रित में 'विराट् के तत्त्वों के पूर्व भागों से सब' अपपाठ है।

४. पूर्व ११ एकादशे पृष्ठे 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः०' इति मन्त्रव्याख्याने यज्ञसर्वहुत्पदयोरर्थ उक्तः।

५. इस मन्त्र में आये यज्ञ और सर्वहुत् शब्दों का अर्थ पूर्व पृष्ठ १३ में 'तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः' मन्त्र के व्याख्यान में कर दिया है।

लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है। क्योंकि उसीके सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए, और उन्हीं से सबका जीवन भी होता है। इससे सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उसको छोड़के किसी दूसरे की उपासना न करें। (पशूंस्तांश्चक्रे०) ग्राम और वन के सब पशुओं को भी उसीने उत्पन्न किया है, तथा सब पक्षियों को भी बनाया है। और भी सूक्ष्मदेहधारी कीट पतङ्ग आदि सब जीवों के देह भी उसीने उत्पन्न किये हैं ॥६॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽ ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥७॥

भाष्यम् अस्यार्थ उक्तो वेदोत्पत्तिप्रकरणे[1] ॥७॥

भाषार्थ—(तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति[2]विषय में कर दिया है ॥७॥

तस्मादश्वाऽ अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाताऽ अजावयः ॥८॥

भाष्यम्—(तस्मादश्वा०) तस्मात् परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरङ्गा अजायन्त। ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावाद् एषामुत्तमगुणवत्त्वप्रकाशनार्थो[3]ऽयमारम्भः। (ये के चोभयादतः) उभयतो दन्ता येषां त उभयादतः, ये केचिदुभयादत उष्ट्रगर्दभादयस्तेऽप्यजायन्त। (गावो ह ज०) तथा तस्माद् पुरुषसामर्थ्यादेव गावो धेनवः किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि। (तस्माज्जाता अजा०) एवमेव चाजाश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम् ॥८॥

भाषार्थ—(तस्मादश्वा अजायन्त) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजुली[4] आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। (ये के चोभयादतः) जिनके मुख में दोनों ओर दांत होते हैं, उन पशुओं को 'उभयादत' कहते हैं, वे ऊंट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं। (गावो ह ज०) उसी से गोजाति अर्थात् गाय पृथिवी किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं। (तस्माज्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं ॥८॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवाऽ अयजन्त साध्याऽ ऋषयश्च ये ॥९॥

---

१. पूर्व ११ एकादशे पृष्ठे। २. पूर्व पृष्ठ १३ पर।

३. ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेनेत्यर्थः। अत एव ब्राह्मणे पठ्यते—'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' (तै० सं० ५।२।९)। अत्र 'गोऽश्वान् प्रशंसयितुमन्येषां निन्दा' इति मीमांसका मन्यन्ते (मी० अ० १, पा० ४, अधि० १६)।

४. यह 'अश्व' का अर्थ है। देखो 'गावः' का अर्थ भी।

भाष्यम्—(तं यज्ञं ब०) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं, जगत्कर्तारं, पुरुषं पूर्णं, यज्ञं सर्वपूज्यं परमेश्वरं बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे प्रौक्षन् प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण, (तेन देवा०) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः, साध्या ज्ञानिनः, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च, ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त। अनेन किं सिद्धम्? सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्य्युरित्यर्थः ॥९॥

भाषार्थ—(तं यज्ञं बर्हि०) जो सबसे प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बनानेवाला है, और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभक्ति सत्य आचरण करके पूजन करता है, वही उत्तम मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सबके लिये है। (तेन देवा अयजन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से (देवाः) जो विद्वान्, (साध्याः) जो ज्ञानी लोग, (ऋषयश्च ये) ऋषि लोग जो वेदमन्त्रों के अर्थ जाननेवाले, और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं, वे ही सुखी होते है। क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उसका स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये। और दुष्टकर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं ॥९॥

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥१०॥

भाष्यम्—(यत्पुरुषं व्य०) यद्यस्मादेतं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं कतिधा कियत्प्रकारैः (व्यकल्पयन्) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः, (व्यदधु) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनादधुरर्थादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। (मुखं कि०) अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत्? (किं बाहू) बलवीर्य्यादिगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत्? (किमूरू) व्यापारादिमध्यमैर्गुणैः किमुत्पन्नमासीत्? (पादा उच्येते) पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्तते? ॥१०॥

अस्योत्तरमाह—

भाषार्थ—(यत्पुरुषं०) 'पुरुष' उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है। (कतिधा व्य०) जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि उसमें चित्र विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है। अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं। (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है? (किं बाहू) बल वीर्य्य शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है? (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किस की उत्पत्ति हुई है? (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किसकी उत्पत्ति होता है? ॥१०॥

इन चारों प्रश्नों के उत्तर ये हैं कि—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रोऽअजायत ॥११॥'

भाष्यम्—(ब्राह्मणोऽस्य०) अस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो मुख्यगुणाः सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्माणि च सन्ति, ते यो ब्राह्मण आसीद् उत्पन्नो भवतीति। (बाहू राजन्यः कृतः) बलवीर्यादिलक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो भवति। (ऊरू तदस्य०) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशाद् उत्पन्नो भवतीति वेद्यम्। (पद्भ्याꣳ शूद्रो०) पद्भ्यां 'पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम्। अस्योपरि प्रमाणानि वर्णाश्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः।' अष्टाध्या० अ० ३। पा० ४। सू० ६ इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयो लकारा विधीयन्ते ॥११॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मण वर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है। (बाहू राजन्यः कृतः) और ईश्वर ने बल पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है। (ऊरू तदस्य०) खेती व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यमगुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है। (पद्भ्याꣳ शूद्रो०) जैसे पग सब से नीच अङ्ग है, वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है। इस विषय के प्रमाण वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे॥ ११ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्य्यो अजायत ।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥१२॥

भाष्यम्—(चन्द्रमा मनसो०) तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीलात् सामर्थ्याच्चन्द्रमा जात उत्पन्नोऽस्ति, तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात् सूर्य्यो अजायत उत्पन्नोऽस्ति। (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्राकाशमयादाकाशो नभ उत्पन्नमस्ति, वायुमयाद् वायुरुत्पन्नोऽस्ति प्राणश्च, सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति। मुखान्मुख्यज्योतिर्मयाद् अग्निरजायतोत्पन्नोऽस्ति ॥१२॥

भाषार्थ—(चन्द्रमा०) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा, और तेजस्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है। (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश, और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है। तथा सब इन्द्रियां भी अपने-अपने कारण से उत्पन्न हुई हैं। और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है॥ १२ ॥

---

१. पाठोऽत्र व्यस्तः प्रतिभाति। कदाचिदत्र 'पादेन्द्रियवन्नीचेभ्योऽर्थाज्जडत्वादिगुणेभ्यः' इति साधुपाठः स्यात्।

नाभ्या॑ऽ आसीद॒न्तरि॑क्ष॒ꣳ शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्त्तत ।
प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॑त् तथा॑ लो॒काँ२ऽ अ॑कल्पयन् ॥१३॥

भाष्यम्—(नाभ्या०) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात् सामर्थ्याद् अन्तरिक्षमुत्पन्नमासीत् । एवं (शीर्ष्णः) शिरोवदुत्तमसामर्थ्यात् प्रकाशमयात् (द्यौः) सूर्य्यादिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्त्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्त्तते । (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवीकारणमयात् सामर्थ्यात परमेश्वरेण भूमिर्धरणिरुत्पादितास्ति जलं च । (दिशः श्रो०) शब्दाकाशकारणमयात् तेन दिश उत्पादिताः सन्ति । (तथा लोकाँ२ऽ अकल्पयन्) तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात् सामर्थ्यादन्यान् सर्वान् लोकांस्तत्रस्थान् स्थावरजङ्गमान् पदार्थानकल्पयत् परमेश्वर उत्पादितवानस्ति ॥१३॥

भावार्थ—(नाभ्या आसीदन्त०) इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष, अर्थात् जो भूमि और सूर्य्य आदि लोकों के बीच में पोल है, सो भी नियत किया हुआ है । (शीर्ष्णो द्यौः०) और जिसके सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश करनेवाले सूर्य्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं । (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है, तथा जल को भी उसके कारण से उत्पन्न किया है । (दिशः श्रोत्रात्) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है । (तथा लोकाँ २ऽ अकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उनमें वसनेवाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है । १३ ॥

यत् पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत ।
व॒स॒न्तो॑ऽस्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्मऽ इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥१४॥

भाष्यम्—(यत्पुरुषेण०) देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यद् यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च । इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यावयवाख्या सामग्र्युच्यते—(वसन्तो०) अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा ब्रह्माण्डमयस्य[1] वसन्त आज्यं घृतवदस्ति । (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मर्त्तुरिध्म इन्धनान्यग्निर्वास्ति । (शरद्धविः) शरदृतुः पुरोडाशादिवद्धविर्हवनीयमस्ति ॥१४॥

---

१. ब्रह्मरूपिणा यजमानेन सम्पाद्यमानस्य ब्रह्माण्डमयस्य यज्ञस्यैव मुख्यरूपेण वेदेषु यज्ञपदेन व्यवहारो वर्तते । एतच्चैतन्मन्त्रेणैव स्पष्टम् । नहि वसन्ताद्या ऋतवो द्रव्यमयस्य यज्ञस्य आज्यादिसाधनानि संभवन्ति । अग्निहोत्रादारभ्याश्वमेधान्ता ये द्रव्ययज्ञा ऋषिभिर्विहितास्ते ब्रह्माण्डमयस्य यज्ञस्यैव व्याख्यानरूपाः सन्ति । तेन यथा भूगोलखगोलज्ञाने तयोर्विविधप्रकारकाणि चित्राणि साधनरूपेणोपयुज्यन्ते, तथैव ब्रह्माण्डयज्ञस्य ज्ञाने अग्निहोत्रादयो द्रव्ययज्ञा साधनभावं गच्छन्ति । एष एवार्थो यास्काचार्येण 'याज्ञदैवते पुष्पफले' इत्यादिना प्रदर्शितः (नि० १ । २०) । ब्रह्माण्डज्ञानं चाध्यात्मज्ञाने साधनभावमुपगच्छति । तदुक्तम् 'देवताध्यात्मे वा [पुष्पफले] । (निरु० १। २०) । यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे इति विदुषां लोकोक्तिरप्यत्र प्रमाणम् (अध्यात्मार्थे शरीरमप्यन्तर्गत इति प्राचां मतम्) । अत एव आधिदैविकार्थे 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (यजुः ३१ । १८) [तम्=विराट्-पुरुषं ब्रह्माण्डम्] इति मन्त्रः प्रवृत्तः ।

भाषार्थ—(यत्पुरुषेण०) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं, उनको भी ईश्वर ने अपने-अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है। और वे ईश्वर के दिये पदार्थों का ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं। और जो ब्रह्माण्ड का रचन पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है, उसी जगत् को बनाने की सामग्री कहते हैं—(वसन्तो०) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ[1] है, इसमें वसन्त ऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के सामान है। (ग्रीष्म इध्मः०) ग्रीष्म ऋतु जो ज्येष्ठ और आषाढ़ इन्धन है। श्रवण और भाद्रपद वर्षा ऋतु, आश्विन और कार्तिक शरद ऋतु, मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु, और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती है, यह इस यज्ञ में आहुति है। सो यहां रूपकालङ्कार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये ॥ १४ ॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥१५॥

भाष्यम्—(सप्तास्या०) अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति। परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः। अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त सप्त परिधयो भवन्ति—समुद्र एकः, तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः, मेघमण्डलं तत्रस्थो वायुस्तृतीयः, वृष्टिजलं[2] चतुर्थः, तदुपरिवायुः पञ्चमः, अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयः षष्ठः, सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च। एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति, तस्मात् ते परिधयो विज्ञेयाः। (त्रिः सप्त समिधः कृताः) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति। प्रकृतिर्महत्, बुद्ध्याद्यन्तःकरणं, जीवश्चैषैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात्। दशेन्द्रियाणि—श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ, हस्तौ, पायुः, उपस्थं चेति। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः। पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशम् इति पञ्चभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति। एवं सर्वा[3] मिलित्वैकविंशतिर्भवन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य समिधः कारणानि विज्ञेयानि। एतेषामवयवरूपाणि तु तत्त्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम्। (देवा य०) तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसः (अबध्नन्) ध्यानेन बध्नन्ति। तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव बध्नन्ति, नैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥१५॥

भाषार्थ—(सप्तास्या०) ईश्वर ने एक-एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधि ऊपर-ऊपर रची हैं। जो गोल चीज के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण होता है, उसको 'परिधि' कहते हैं। सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं, ईश्वर ने उन एक-एक के ऊपर सात-सात आवरण बनाये।

---

१. वेद में इसी ब्रह्माण्डरूप यज्ञ का व्याख्यान है। अग्निहोत्रादि द्रव्ययज्ञ उसके ज्ञान में साधनभूत हैं। जैसे भूगोल खगोल के ज्ञान में विविध प्रकार के चित्र साधन होते हैं। यह साध्यसाधनभाव यास्काचार्य ने निरुक्त १ । २० में दर्शाया है।

२. सन्दिग्धमिवेदं पदम्। अत्र हि मेघमण्डलादप्युपरितनं सूक्ष्मं जलमभिप्रेतं स्यात्। तथा सति 'सूक्ष्मं जलं' पाठो द्रष्टव्यः।

३. सामग्रीपदापेक्षया स्त्रीत्वं ज्ञेयम्।

एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टिजल,[1] और पांचमा वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं, सातमा सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहाते हैं। (त्रिः सप्त समिधः०) और इस ब्रह्माण्ड की सामग्री २१ इक्कीस प्रकार की कहाती है। जिसमें से एक प्रकृति, बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके हैं। क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है। दूसरा श्रोत्र, तीसरी त्वचा, चौथा नेत्र, पांचमी जिह्वा, छठी नासिका, सातमी वाक्, आठमा पग, नवमा हाथ, दशमी गुदा, ग्यारहमा उपस्थ, जिसको लिङ्ग इन्द्रिय कहते हैं, बारहमा शब्द, तेरहमा स्पर्श, चौदहमा रूप, पन्द्रहमा रस, सोलहमा गन्ध, सत्रहमी पृथिवी, अठारहमा जल, उन्नीसमा अग्नि, बीसमा वायु, इक्कीसमा आकाश, ये इक्कीस समिधा कहाती हैं। (देवा य०) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचनेवाला, सब का देखनेवाला और पूज्य है, उसको विद्वान् लोग सुनके और उसीके उपदेश से उसीके कर्म और गुणों का कथन प्रकाश और ध्यान करते हैं। उसको छोड़के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना। और उसीके ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ़ बांधने से कल्याण जानते हैं॥ १५॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥१६॥

भाष्यम्—(यज्ञेन यज्ञम०) ये विद्वांसो यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं यज्ञेन तत्स्तुति-प्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन तमेवायजन्त, यजन्ते यक्ष्यन्ति च। तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्व-कर्मभ्य आदौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यान्यासन्। न च तैः पूर्वं कृतैर्विना केनापि किंचित् कर्म कर्त्तव्य-मिति। (ते ह ना०) त ईश्वरोपासका, हेति प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरहितम् परमेश्वरं मोक्षं च, महिमानः पूज्याः सन्तः सचन्त समवेता भवन्ति। कीदृशं तत्? (यत्र पूर्वे साध्याः०) साध्याः साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति। न तस्माद् ब्रह्मणश्शतवर्षसंख्यातात् कालात् [पुरा] कदाचित् पुनरावर्तन्त[2] इति, किन्तु तमेव सम-सेवन्त।

अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाग्निमयजन्त देवाः, अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्तेति[3] च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्, ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त, यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः, द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः॥' निरु० अ० १२। खं० ४१॥

---

१. यहां 'वृष्टिजल' पाठ सन्दिग्ध है। हमारे विचार मे यहां मेघमण्डल से ऊपर के अत्यन्त सूक्ष्म जलों का निर्देश होना चाहिये। क्योंकि वृष्टिजल तो मेघमण्डलस्थ जल से भी स्थूल हैं।

२. अनेन 'नित्यं मोक्षसुखम्' पृष्ठ (१२९), 'नित्यानन्दमोक्षप्राप्ताः' (पृष्ठ १३२), 'नित्यसुखाय' (राजप्रजाधर्मविषये 'कोऽसि०' पञ्चममन्त्रव्याख्याने) इत्येवमादिषु प्रयोगेषु नित्यशब्दः सापेक्षं नित्यत्वं ब्रवीति न पारमार्थिकमित्युक्तेन ग्रन्थकृद्वचनेन स्पष्टं द्योत्यते। अत्र १२९ पृष्ठस्था, २ टि० द्रष्टव्या।

३. तुलना कार्या—**'अग्निः पशुरासीत्, तेनायजन्त।'** तै० सं० ५। ७। २६॥ऐ० ब्रा० १।३।५॥

अग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्निं परमेश्वरमयजन्त । अग्निः पशुरासीत्तमेव देवा आलभन्त । सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौतिकाग्निनापि यज्ञं देवा समसेवन्तेति वा। साध्याः साधनवन्तो यत्र पूर्वे पूर्वंभूता मोक्षाख्यानन्दे पदे सन्ति। तमभिप्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति। द्युस्थानः प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः। यद्वा सूर्य्यप्राणस्थानः विज्ञानकिरणास्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्त्तत इति ।।१६।।

भाषार्थ—(यज्ञेन यज्ञम०) विद्वानों को 'देव' कहते हैं, और वे सबके पूज्य होते हैं। क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति प्रार्थना उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते हैं। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करके शुभ कर्मों का आरम्भ करें। (ते ह नाकं०) जो-जो ईश्वर की उपासना करनेवाले लोग हैं, वे-वे सब दुःखों से छूटके सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं। (यत्र पूर्वे सा०) जहां विद्वान् लोग परम पुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त[1] होके आनन्द में रहते हैं, उसी को 'मोक्ष' कहते हैं। क्योंकि उससे ब्रह्मा के सौ वर्ष पूर्व संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते। इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं। उनको अज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता ।। १६ ।।

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ।।१७।।

भाष्यम्—(अद्भ्यः संभृतः०) तेन पुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्यो रसः संभृतः संगृह्य तेन पृथिवी रचिता । एवमग्निरसेनाग्नेः सकाशादाप उत्पादिताः । अग्निश्च वायोः सकाशाद्, वायुराकाशाद् उत्पादितः। आकाशः प्रकृतेः, प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच्च । विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणमस्य स विश्वकर्मा, तस्य परमेश्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग् जगत् समवर्त्तत वर्त्तमानमासीत्। तदानीं सर्वमिदं जगत कारणभूतमेव, नेदृशमिति। तस्य सामर्थ्यस्यांशान् गृहीत्वा त्वष्टा रचनकर्त्तेदं सकलं जगद विदधत् पुनश्चेदं विश्वं रूपवत्त्वमेति। तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च रूपवत्त्वं भवति। (आजानमग्रे) वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवान्, वेदरूपामाज्ञां दत्तवान् मनुष्याय—धर्मयुक्तेनैव सकामेन कर्मणा कर्मदेवत्वयुक्तं शरीरं धृत्वा विषयेन्द्रियसंयोगजन्यमिष्टं सुखं भवतु[2], तथा निष्कामेन विज्ञानपरमं मोक्षाख्यं चेति ।।१७।।

भाषार्थ—(अद्भ्यः संभृतः०) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल से

१. वै० य० मुद्रित में 'होके नित्य आनन्द में रहते हैं, उसी को मोक्ष कहते हैं, क्योंकि उससे निवृत्त होके संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते' पाठ है, यह संस्कृत से विपरीत है।

२. अन्तर्णीतण्यर्थेन सकर्मकत्वमिह ज्ञेयम् । यद्वा—'सुखमनुभवतु' इत्येवं पाठः कल्पनीयः ।

सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और [1]अग्नि के परमाणुओं को मिलाके पृथिवी रची है। इसी प्रकार अग्नि के परमाणुओं के साथ जल के परमाणुओं को मिलाके जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिलाके अग्नि को, वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है। वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है, जो कि सब तत्वों के ठहरने का स्थान है। ईश्वर ने प्रकृति से लेके घास-पर्यन्त जगत् को रचा है। इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उसका नाम 'विश्वकर्मा' है। जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से वर्तमान था। (तस्य०) जब-जब ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्य्यरूप जगत् को रचता है, तब तब कार्य्यजगत रूपगुणवाला होके स्थूल बनके देखने में आता है। (तन्मर्त्यस्य देवत्वमा०) जब परमेश्वर ने मनुष्यशरीर आदि को रचा है, तब मनुष्य भी दिव्य कर्म करके 'देव' कहाते हैं। और जब ईश्वर की उपासना से विद्या विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं, तब भी मनुष्यों का नाम 'देव' होता है। क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम हैं। इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है, वह संसार में उत्तम सुख पाता है। और जो परमेश्वर ही की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है, वह उत्तम 'देव' होता है ॥ १७ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१८॥

भाष्यम्—(वेदाहमेतं पु०) किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छ्यते? तदुत्तरमाह—यतः पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टं सर्वेभ्यो महान्तं वृद्धतममादित्यवर्णं स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं, तमसोऽज्ञानाविद्यान्धकारात् परस्तात् पृथग् वर्त्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः। नैव तमविदित्वा कश्चिज्ज्ञानी भवितुमर्हतीति। कुतः? (तमेव विदित्वा०) मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वाऽतिमृत्युं मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति, नवातोऽन्यथेति। एवकारात् तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित् कदाचित् कार्य्येति गम्यते। कथमिदं विज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्य्येति? (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इति वचनात्। अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिकसुखायाऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते। किन्तु तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गोऽस्तो भिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः। अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः ॥१८॥

भाषार्थ— (वेदाहमेतं०) प्र०—किस पदार्थ को जानके मनुष्य ज्ञानी होता है? उ०—उस पूर्वोक्त लक्षणसहित परमेश्वर ही को यथावत् जानके ठीक-ठीक ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं। जो सब से बड़ा, सबका प्रकाश करनेवाला, और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूं। उसको जाने विना कोई मनुष्य यथावत्

१. वै० य० मुद्रित में यहां से आगे की ४, ५ पङ्क्तियां संस्कृतपाठ से विपरीत हैं।

ज्ञानवान् नहीं हो सकता । क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जानके और प्राप्त होके जन्म-मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूटके परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है, अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता । इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है । उससे भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये । क्योंकि मोक्ष का देनेवाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है । इसमें यह प्रमाण है कि (नान्यः पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना ही है । क्योंकि इसके विना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता ॥१८॥

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽ अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते ।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९॥

भाष्यम्—(प्रजापति०) स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी जीवस्यान्यस्य च जडस्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः सन्नित्यं चरति । तत्सामर्थ्यादिदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते । (तस्य योनिं०) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं धीरा ध्यानवन्तः (परिपश्यन्ति) परितः सर्वतः प्रेक्षन्ते । (तस्मिन् ह तस्थुर्भु०) यस्मिन् भुवनानि विश्वानि सर्वाणि सर्वे लोकास्तस्थुः स्थितिं चक्रिरे । हेति निश्चयार्थे, तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्थुः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः ॥१९॥

भावार्थ—(प्रजापति०) जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है, वही जड और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है । (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण सत्य का आचरण और सत्यविद्या है, उसको विद्वान् लोग ध्यान से देखके परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं । (तस्मिन् ह त०) जिस में ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं, उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके, जन्म-मरण आदि आने-जाने से छूटके, आनन्द में सदा[1] रहते हैं ॥ १९ ॥

यो देवेभ्यऽ आतपति यो देवानां पुरोहितः ।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥२०॥

भाष्यम्—(यो देवेभ्य०) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातपति आसमन्तात् तदन्तःकरणे प्रकाशयति, नान्येभ्यश्च । यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो

१. 'सदा' से अभिप्राय यहां ब्रह्म के १०० वर्ष काल की अवधि है । द्र०—इसी प्रकरण के सोहलवें मन्त्र की संस्कृतव्याख्या (पृष्ठ १४८) ।

दधाति। (पूर्वो यो देवेभ्यो जातः) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेव वर्त्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोऽस्ति, (नमो रुचाय०) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोऽस्तु। यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्मि[1]र्ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्त्तमानोऽस्ति, तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोऽस्तु ॥२०॥

भाषार्थ—(यो देवेभ्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है, अर्थात् उनके आत्माओं में प्रकाश को कर देता, और वही उनका पुरोहित अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करनेवाला है, इससे वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते[2]। (पूर्वो यो देवेभ्यो जातः) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है, (नमो रुचाय०) उस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में रुचि करानेवाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो। और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को यथावत् पढ़के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मानके सत्यभाव से प्रेम प्रीति करके सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, उसको भी हम लोग नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाऽ अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात् तस्य देवाऽ असन् वशे ॥२१॥

भाष्यम्—(रुचं ब्राह्मं०) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वांसोऽन्येषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च। (यस्त्वैवं०) यस्त्वैवममुना प्रकारेण तद् ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात्, (तु) पश्चात् तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन भवन्ति नान्यस्येति ॥२१॥

भाषार्थ—(रुचं ब्राह्मं०) जो ब्रह्म का ज्ञान है, वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि का बढ़ानेवाला है। जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उनको आनन्दित कर देते हैं। (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है, उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं, अन्य के नहीं ॥ २१ ॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुं मऽइषाण सर्वलोकं मऽइषाण ॥२२॥ य० अध्याय ३१ ॥

भाष्यम्—(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर! ते तव (श्रीः) सर्वा शोभा (लक्ष्मीः) शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत् सेवमाने स्तः। तथाहोरात्रे द्वे ते तव पार्श्वे पार्श्ववत् स्तः। ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षावयववद् वर्त्तेते सूर्य्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा, तथैव नक्षत्राणि तवैव

१. ब्रह्मन्शब्दात् छान्दसत्वात् अपत्यार्थे इञ्। २. द्र०—पूर्व पृष्ठ की टि० १।

सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति, तत्त्वयि रूपवदस्ति। अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तवैव व्यात्तं विकाशितं मुखमिव वर्त्तेते। यथैव यत्किंचित् सौन्दर्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्त्तते, तदपि रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः। हे विराडधिकरणेश्वर! मे ममामुं परलोकं मोक्षाख्यं पदं कृपाकटाक्षेण (इष्णन्) इच्छन् सन् (इषाण) स्वेच्छया निष्पादय। तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया त्वमिषाणेच्छ, स्वाराज्यं सिद्धं कुरु। एवमेव सर्वाः शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे मदर्थमिषाण। हे भगवन्! पुरुष! पूर्णपरमेश्वर! सर्वशक्तिमन्! कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्यं देहि। दुष्टान् अशुभदोषांश्च विनाशय। सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजनं मां भवान् करोत्विति। अत्र प्रमाणानि—

'श्रीर्हि पशवः ॥' श० कां० १। अ० ८॥[1]

'श्रीर्वै सोमः ॥' श० कां० ४। अ० १॥[2]

'श्रीर्वै राष्ट्रम्। श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ॥' श० कां० १३। अ० २॥[3]

'लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा लप्स्य[मा]नाद्वा लाञ्छनाद्वा लषतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणो[4] लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः। शिप्रे इत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥'

निरु० अ० ४। खं० १०॥

अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसंगतिरस्तीति बोध्यम्॥२२॥ इति पुरुषसूक्त[5]व्याख्या समाप्ता॥

भावार्थ—(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर! जो आपकी अनन्त शोभारूप श्री, और जो अनन्त शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है, वे दोनों स्त्री के समान हैं। अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है, इसी प्रकार आपकी सेवा आपही को प्राप्त होती है। क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रखा है। परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ, ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं। सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उसके विषय में यह पत्नी शब्द रूपकालङ्कार से वर्णन किया है। वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं। तथा सूर्य्य और चन्द्रमा भी दोनों आपके बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं। और जितने ये नक्षत्र हैं, वे आपके रूपस्थानी हैं। और द्यौः जो सूर्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजुली, ये दोनों मुखस्थानी हैं। तथा ओठ के तुल्य और जैसा खुला मुख होता है, इसी प्रकार पृथिवी और सूर्य्यलोक के बीच में जो पोल है, सो मुख के सदृश है। (इष्णन्०) हे परमेश्वर! आपकी दया से (अमुम्) परलोक जो मोक्षसुख है, उसको हम लोग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो। तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का

---

१. शत० १।८।१।३६॥ २. शत० ४।१।३।६॥

३. शत० १३।२।६।२, ३॥ ४. इतोऽग्रे निरुक्ते 'लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो' इत्यधिकः पाठः।

५. यजुर्वेदे 'अध्यायाः' सन्ति। सूक्तप्रयोगस्तु नास्माकं विदितः। तस्मादयं विचारार्ह इव प्रतिभाति। अथवा यौगिकोऽयं सूक्तशब्दः स्यात्, न पारिभाषिक इत्येवं समाधेयः।

अधिकारी जैसे होऊं, वैसी कृपा और इस जगत् में मुझको सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये। यह आप से हमारी प्रार्थना है, सो आप कृपा से पूरी कीजिये ॥ २२ ॥ इति पुरुषसूक्त[1]-व्याख्या समाप्ता ॥

यत् प॑र॒मम॑व॒मं यच्च॑ मध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः ससृ॒जे वि॒श्वरू॑पम् ।
किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि॑श॒त् किय॒त्तद् ब॑भूव ॥

अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । मं० ८ ॥[2]

दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॑ गन्धर्वाप्स॒रस॑श्च ये ।
उच्छि॑ष्टाज्जज्ञि॒रे सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑ ॥ २ ॥

अथर्व० कां ११ । प्रपा० २४ । अनु० ४ । मं० २७ ॥[3]

भाष्यम्—(यत्परमं) यत्परमं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत्, यच्च (अवमम्) निकृष्टं तृण-मृत्तिका क्षुद्रकृमिकीटादिकं चास्ति, (यच्च म०) यन्मनुष्यदेहाद्याकाशपर्य्यन्तं मध्यमं च, तत् त्रिविधं सर्वं जगत् प्रजापतिरेव (ससृजे वि०) स्वसामर्थ्यरूपकारणादुत्पादितवानस्ति, योऽस्य जगतो विविधं रूपं सृष्टवानस्ति। (कियता०) एतस्मिंस्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमेश्वरः कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, न चैतत् परमेश्वरे। (यन्न०) यत् त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत्कियद् बभूव ? तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षयाल्पमेवास्तीति ॥१॥

(देवाः०) देवा विद्वांसः सूर्य्यादयो लोकाश्च, पितरो ज्ञानिनः, मनुष्या मननशीलाः, गन्धर्वा गानविद्याविदः सूर्यादयो वा, अप्सरस एतेषां स्त्रियश्च, ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्त्तन्ते, [(उच्छिष्टा०)] ते सर्वं उच्छिष्टात् सर्वस्मादूर्ध्वं शिष्टात् परमेश्वरात्तत्सामर्थ्याच्च जज्ञिरे जाताः सन्ति। ये (दिवि देवा दिविश्रितः) दिवि देवाः सूर्य्यादयो लोका ये च दिविश्रिता[4]श्चन्द्रपृथिव्यादयो लोकास्तेऽपि सर्वे तस्मादेवोत्पन्ना इति ॥२॥

इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बहवः सन्ति।

—: इति संक्षेपतः सृष्टिविद्याविषयः समाप्तः :—

भाषार्थ—(यत्परम०) जो उत्तम मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है, उस सबको परमेश्वर ने ही रचा है। उसने इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है। और एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है। और इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं, वे

१. यजुर्वेद में अध्याय शब्द का व्यवहार होता है। यहां जो 'सूक्त' शब्द का व्यवहार है, वह विचारार्ह है। अथवा इसे पारिभाषिक न मानकर यौगिक मानना चाहिये। २. अथर्व० १० । ७ । ८ ॥

३. अथर्व० ११ । ७ । २७ ॥ वै० य० मुद्रितेषु केषुचित्संस्करणेषु मन्त्रपाठे 'दिविश्रिताः' इत्यपपाठः।

४. मन्त्रे 'दिविश्रितः' क्विबन्तो बहुवचनान्तः, इह व्याख्याने क्तान्तः इति भेदः।

भी कुछ-कुछ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं। वह परमेश्वर सबको रचता है, और आप रचना में कभी नहीं आता ॥ १ ॥

(देवाः) विद्वान् अर्थात् पण्डित लोग और सूर्य्यलोक भी, (पितरः) अर्थात् यथार्थविद्या को जाननेवाले, (मनुष्याः) अर्थात् विचार करनेवाले, (गन्धर्वाः) अर्थात् गानविद्या के जाननेवाले, सूर्य्यादि लोक, और (अप्सरसः) अर्थात् इन सब की स्त्रियां, ये सब लोग और दूसरे लोग भी (उच्छि०) उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं। (दिवि देवाः) अर्थात् जो प्रकाश करनेवाले और प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादि लोक, और (दिविश्रितः[1]) अर्थात् चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाश-रहित लोक, वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं ॥२॥

वेदों में इस प्रकार के सृष्टि[विद्या के] विधान करनेवाले मन्त्र बहुत हैं। परन्तु ग्रन्थ अधिक न हो जाय, इसलिये सृष्टिविषय संक्षेप से लिखा है।

इति सृष्टिविद्याविषयः

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'दिविश्रिताः' यह अपपाठ है। मन्त्र और संस्कृत-व्याख्या में 'दिविश्रितः' ऐसा शुद्ध ही पाठ है।

अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथेदं विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति ? अत्रोच्यते— वेदादिशास्त्रोक्त-रीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव । तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम्—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ।।१।। य० अ० ३ । मं० ६ ।।

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—'आयं गौ'[1]रित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्ये-वेति विज्ञेयम् ।

(आयं गौः०) अयं गौः[1] पृथिवीगोलः[2] सूर्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदा-क्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथान्येऽपि । तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती, तथा (स्वः) सूर्यं पितरमग्निमयं च पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन् सन् सूर्य्यस्य परितो याति । एवमेव सूर्य्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं च, तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं प्रति चेति योजनीयम् । अत्र प्रमाणानि—

गौः, ग्मा, ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं यास्ककृते निघण्टौ[3] ।

तथा च—स्वः, पृश्निः, नाक इति षट्सु साधारणनामसु ।।[4] पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तं निरुक्ते[5] ।

---

१. मन्त्रे 'अयं गौः' इति पुंल्लिङ्गप्रयोगात् पृथिव्याः परिभ्रमणे नास्य मन्त्रस्य प्रमाणं सम्भवतीति यत्कैश्चिद् उच्यते, तन्न, तस्य लोकशब्दापेक्षया प्रयुक्तत्वात् । एतदेव च चाभिप्रेत्य ग्रन्थकृताऽपि विशेषतः '**पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येव**' इत्यादावुक्तम् । अपि च—अस्य मन्त्रस्य सूर्यः सर्पराज्ञी (द्र०—बृहद्देवता ८ । ८९-९०)च देवते । सर्पराज्ञीदेवतापक्षेऽस्य मन्त्रस्य पृथिव्येव देवता । तदुक्तमेनं मन्त्रमधिकृत्य शतपथे—**इयं वै पृथिवी सर्पराज्ञी** (२ । २ । ४ । ३० ; ४ । ६ । ९ । १७) इति । अनेन पृथिवीदेवताकोऽयं मन्त्र इति स्पष्टम् । अस्मिन् पक्षे 'अयम्' इत्यत्र लिङ्गव्यत्ययो द्रष्टव्यः । यद्वा—'**सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्**' इतिवद् मन्त्रेष्वपि लिङ्गवचनविभक्त्यादीन्यतन्त्राणि ज्ञेयानि ।

२. **पृथिवीलोकः** इति साधुतरः पाठः स्यात्, उत्तरत्र सूर्यादिभिः सहापि लोकशब्दस्य प्रयोगात् ।

३. निघण्टु १ । १ ।। यास्कीयनिरुक्तस्य व्याख्येयरूपो निघण्टुरपि यास्कप्रोक्त एवेति ग्रन्थकारस्य मतम् । साम्प्रतिका बहवो विद्वांसो निघण्टुमिमं यास्कप्रोक्तं न मन्यन्ते । एतेषां मतस्य निराकरणं पण्डितभगवद्दत्तेन '**वैदिक वाङ्मय का इतिहास**' ग्रन्थस्य '**वेदों के भाष्यकार**' नाम्नि भागे विस्तरेण कृतम् (पृष्ठ १८१-१९५), तत्त्रैव द्रष्टव्यम् ।

४. निघण्टु १ । ४ ।।

५. पृश्निरन्तरिक्षस्य नामेति निरुक्ते न क्वचित् साक्षात् पठ्यते, तथापि पूर्वोद्धृतस्य निघण्टुपाठस्य व्याख्याने (२ । १३, १४) स्वरादय आदित्यस्य दिवश्च साधारणनामानीत्युक्तम् यास्केन । तत्र 'दिव' शब्दे-

'गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति ॥'
निरु० अ० २ । खं० ५ ॥

'गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे, अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधि दूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति ॥' निरु० अ० २ । खं० १४ ॥

'सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोऽपि गौरुच्यते ॥'
निरु० अ० २ । खं० ६ ॥[1]

'स्वरादित्यो भवति ॥' निरु० अ० २ । खं० १४ ॥

गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी । 'अद्भ्यः पृथिवी' इति तैत्तिरीयोपनिषदि[2] । यस्माद् यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति । तथा स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वाद् आदित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते । यद् दूरं गता, दूरंदूरं सूर्य्याद् गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ॥१॥

भाषार्थ—अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा जाता है । इसमें यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य्य आदि सब लोक घूमते हैं । इस विषय में यह प्रमाण है—

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी, सूर्य्य, चन्द्रमादि लोकों का । वे सब अपनी-अपनी परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में सदा घूमते रहते हैं । परन्तु जो जल है, सो पृथिवी की माता के समान है । क्योंकि पृथिवी जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है । और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है । और सूर्य्य उसके पिता के समान है, इससे सूर्य्य के चारों ओर घूमती है । इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता, तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता, उनके प्रति वे घूमते हैं । इसी प्रकार से सब लोक अपनी-अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं ।

इस विषय का संस्कृत में निघण्टु और निरुक्त का प्रमाण लिखा है, उसको देख लेना । इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है, उसके आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है । तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण भ्रमण और पालन कर रहा है ॥ १ ॥

नान्तरिक्षं गृह्यते इति भगवद्दयानन्दस्य मतम् । तथैव च भगवता स्ववेदभाष्ये बहुत्र पृश्निशब्दस्यान्तरिक्षरूपोऽर्थो व्याख्यातः । निघण्टौ स्वरादिभ्यः साधारणनामभ्यः (१।४) प्राक् अन्तरिक्षनामानि पठ्यन्ते । तस्माद् आदित्येन सह साधारणनामत्वेन 'दिव' शब्देन अन्तरिक्षस्यापि ग्रहणं सम्भवति ।

१. वै० य० मुद्रितेषु १-५ संस्करणेषु 'खं० ९' इत्यपपाठः । अग्रेऽयं पाठः संशोधितः ।

२. ब्रह्मा० वल्ली अनु० १ ॥

या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥२॥

ऋ० अ० ८ । अ० २ । व० १० । मं० १ ॥[1]

भाष्यम्—(या गौर्वर्त्तनिं[2]) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती पर्य्येति विवस्वतेऽर्थात् सूर्यस्य‡ परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति । (निष्कृत) कथंभूतं मार्गम् ? तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण निष्कृतं निष्पादितम् । (पयो दुहाना) अवारतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती, तथा (व्रतनीः) व्रत स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती, (सा प्र०) दाशुषे दानकर्त्र, श्रेष्ठकर्मकारिणे, देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति । किं कुर्वती ? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्त्तत इति ॥२॥

भावार्थ—(या गौर्व०) जिस-जिस का नाम 'गौ' कह आये हैं, सो-सो लोक अपने-अपने मार्ग में घूमता, और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य्य के चारों ओर घूमती है । अर्थात् परमेश्वर ने जिस-जिसके घूमने के लिये जो-जो मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चिय किया है, उस-उस मार्ग में सब लोक घूमते हैं । (पयो दुहाना०) वह गौ अनेक प्रकार के रस फल-फूल तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है । तथा अपने-अपने घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते-घूमते नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं । (सा प्रब्रुवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है, उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टान्त है । और जो विद्वान् लोग हैं उनको उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती, और पृथिवी सूर्य्य वायु और चन्द्रमादि गौ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी हैं ॥ २ ॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।
तस्मै त इन्दो[3] हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥३॥

ऋ० अ० ६ । अ० ४ । व० १३ । मं० ३ ॥[4]

भाष्यम्—(त्वं सोम०) अस्याभिप्रायः—अस्मिन् मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति ।

१. ऋ० १० । ६५ । ६ ॥

२. अयं मन्त्रः प्राधान्येन पृथिवीभ्रमणमाचष्टे, 'या गौः' इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् । इयं पृथिवी सूर्यस्य परितो भ्रमति, न सूर्योऽस्याः परित इत्यस्यार्थस्य निर्देश आचार्यवर्यैः श्रीपण्डितब्रह्मदत्तजिज्ञासुभिः स्वकीये यजुर्वेदभाष्यविवरणे 'आयं गौः०' (३।६) मन्त्रव्याख्याने विस्तरेण विहितः । स तत्रैव द्रष्टव्यः ।

३. प्रथमसंस्करणान्ते शोधितोऽपि वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु केषुचित् 'इन्द्रो' इत्यपपाठ उपलभ्यते ।

४. ऋ० ८ । ४८ । १३ ॥

अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत् पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनु भ्रमति। कदाचित् सूर्य्यपृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन् सन्नागच्छतीत्यर्थः। अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि।

तथा 'द्यावापृथिवी एजेते'[1] इति मन्त्रवर्णार्था[द्] द्यौः सूर्य्यः, पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः[2]। अर्थात् स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम् ॥३॥

—: इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः संक्षेपतः :—

भाषार्थ—(त्वं सोम०) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है। कभी-कभी सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आ जाता है। इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे।

तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करनेवाले सूर्य आदि लोक, और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं, वे सब अपनी-अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं॥ ३ ॥

इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. सर्वप्रमाणजातमभिलक्ष्येति शेषः।

अथाकर्षणानुकर्षणविषयः

यदा ते हर्य्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे ।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ १ ॥

ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ३ ॥[1]

भाष्यम्—(यदा ते०) अस्याभिप्रायः—सूर्य्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्ति, ईश्वरेण सह सूर्य्यादिलोकानां चेति ।

हे इन्द्रेश्वर वा वायो सूर्य्य ! (यदा) यस्मिन् काले (ते हरी) आकर्षणप्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणावश्वौ किरणौ वा (हर्यता)[2] हर्य्यतौ प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां (आदित्) तदनन्तरं (दिवेदिवे) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च (ते) तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वान् लोकानाकर्षणेन (येमिरे) नियमेन धारयन्ति । अतः कारणात् सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति ॥१॥

भाषार्थ—(यदा ते०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य्य का आकर्षण, और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है ।

(यदा ते०) हे इन्द्र परमेश्वर ! आपके अनन्त बल और पराक्रम गुणों से सब संसार का धारण आकर्षण और पालन होता है । आपके ही सब गुण सूर्य्यादि लोकों को धारण करते हैं । इस कारण से सब लोक अपनी-अपनी कक्षा और स्थान से इधर-उधर चलायमान नहीं होते ।

दूसरा अर्थ—इन्द्र जो वायु सूर्य है, इसमें ईश्वर के रचे आकर्षण प्रकाश और बल आदि बड़े-बड़े गुण हैं । उनसे सब लोकों का दिन-दिन और क्षण-क्षण के प्रति धारण आकर्षण और प्रकाश होता है । इस हेतु से सब लोक अपनी-अपनी ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर-उधर विचल भी नहीं सकते ॥ १ ॥

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे ।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ २ ॥

ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ४ ॥[3]

---

१. ऋ० ८ । १२ । २८ ॥ २. वै० य० मुद्रितेष्वाष्टमसंस्करणं पठ्यमानमपि 'हर्यता' पदं नवमसंस्करणे कस्माद्धेतोः पृथक् कृतमिति न ज्ञायते । मन्त्रपदत्वादस्योभयतः ( ) संकेतोऽस्माभिः कृतः ।

३. ऋ० ८ । १२ । २९ ॥

भाष्यम्—(यदा ते मारुती०) अस्याभिप्रायः—अत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणविद्यास्तीति। हे पूर्वोक्तेन्द्र ! यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुभ्यं येमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्नुवन्ति, तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते। तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे आकर्षणनियमं प्राप्तवन्ति सन्ति। अत एव सर्वाणि भुवनानि यथाकक्षं भ्रमन्ति वसन्ति च ॥२॥

भाषार्थ—(यदा ते मारुती०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षणविद्या है। हे परमेश्वर ! आपकी जो प्रजा, उत्पत्ति स्थिति और प्रलयधर्मवाली और जिसमें वायु प्रधान है, वह आपके आकर्षणादि नियमों से तथा सूर्यलोक के आकर्षण करके भी स्थिर हो रही है। जब इन प्रजाओं को आपके गुण नियम में रखते हैं, तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी-अपनी कक्षा में घूमते और स्थान में वस रहे हैं ॥ २ ॥

यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः ।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ ३ ॥

ऋ० अ० ६। अ० १। व० ६। मं० ५ ॥[1]

भाष्यम्—(यदा सूर्यं०) अभिप्रायः—अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः। हे परमेश्वरामुं सूर्य्यं भवान् रचितवानस्ति। यद्दिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमयं वर्त्तते, तेन त्वं सूर्य्यादिलोकानधारयो धारितवानसि। (आदित्ते) तदनन्तरं (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्य्यादयो लोका अपि (येमिरे) तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति। अर्थाद् यथा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति, तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्त्तन्त इति ॥३॥

भाषार्थ—(यदा सूर्यं०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है। हे परमेश्वर ! जब उन सूर्यादि लोकों को आपने रचा, और आपके ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं, और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उनका धारण कर रहे हो, इसी कारण से सूर्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं। इन सूर्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है ॥ ३ ॥

व्यस्तभ्नाद् रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः ।
वि चर्मणीव धिषणे अवर्त्तयद् वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ॥ ४ ॥

ऋ० अ० ४। अ० ५। व० १०। मं० ३ ॥[2]

१. ऋ० ८।१२।३०॥ २. ऋ० ६।८।३॥

भाष्यम्—(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभिप्रायः—परमेश्वरसूर्यलोकौ सर्वान् लोकानाकर्षणप्रकाशाभ्यां धारयत इति।

हे परमेश्वर! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः पूर्वोक्तः सूर्य्यादिलोको रोदसी द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तभ्नात् स्तम्भितवानस्ति, अतो भवान् मित्र इव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोऽस्ति। अद्भुत आश्चर्य्यस्वरूपः सं सवितादिलोको ज्योतिषा तमोऽन्तरकृणोत् तिरोहितं निवारितं तमः करोति। यावत् तथैव धिषणे धारणकर्त्र्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणेन व्यवर्त्तयत् विविधतयैतयोर्वर्तमानं कारयति। कस्मिन्निव ? चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव। यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति, तथैव सूर्य्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम्। अतः किमागतम् ? वृष्ण्यं वीर्यवद् विश्वं सर्वं जगच्च सूर्य्यादिलोको धारयति। सूर्य्यादेर्धारणमीश्वरः करोतीति ॥४॥

भाषार्थ—(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है। हे परमेश्वर! आपके प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सूर्य आदि लोक भी अपने-अपने आकर्षण से अपना और पृथिवी आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं। इस कारण से आप सब लोकों के परम मित्र और स्थापन करनेवाले हैं, और आपका सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है। सो सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं। तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्त्तते हैं। इस हेतु से इससे नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है। वह आकर्षण किस प्रकार से है ? कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है, वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है। और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ ५ ॥

य० अ० ३३। मं० ४३ ॥

भाष्यम्—(आकृष्णेन०) अभिप्रायः—अत्राप्याकर्षणविद्यास्तीति सविता परमात्मा सूर्य्यलोको वा रजसा सर्वैर्लोकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोऽस्ति। कथंभूतेन गुणेन ? हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन। पुनः कथंभूतेन ? रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन। किं कुर्वन् सन् ? मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां निवेशयन् व्यवस्थापयन् सन्। तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षम्, ओषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन् सन् सूर्य्यो वर्त्तमानोऽस्ति। स च सूर्य्यो देवो द्योतनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान् धारयति। तथा पश्यन् दर्शयन् सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः।[1]

---

१. ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का दो प्रकार का अर्थ (जो प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध है) अहमदाबाद में पण्डितों के शास्त्रार्थ में हस्ताक्षर-सहित लिखकर दिया था। वह इस प्रकार है—

अस्मात् पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्त्तनात् सूर्य्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभी रात्रिभिश्चार्थात् सर्वाँल्लोकान् प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव। तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेऽस्तीति मन्तव्यम्। रजो लोकानां नामास्ति। अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः—

'लोका रजांस्युच्यन्ते॥' निरु० अ० ४। खं० १९॥

'रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा,[1] रसतेर्वा॥' निरु० अ० ९। खं० ११॥

'विश्वानरस्यादित्यस्य॥' निरु० अ० १२। खं २१॥

अतो रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते। इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्षण-विधायका बहवः सन्तीति बोध्यम्॥५॥

—: इति धारणाकर्षणविद्याविषयः संक्षेपतः :—

भाषार्थ—(आकृष्णेन०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षणविद्या है। सविता जो परमात्मा वायु और सूर्य लोक हैं, वे सब लोकों के साथ आकर्षण धारण गुण से सहित वर्त्तते हैं। सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल ज्ञान और तेज से सहित (रथेन) आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं। इसमें परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है। और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्यलोक में प्रवेश करता, और सब लोकों को व्यवस्था से अपने-अपने स्थान में रखता है। वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता, और सूर्यलोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि के अमृत-

---

(आकृष्णेन) आकर्षणात्मना (रजसा) रजोरूपेण रजतस्वरूपेण वा (रथेन) रमणीयेन (देवः) द्योतनात्मकः (सविता) प्रसवकर्त्ता वृष्ट्यादेः (मर्त्यम्) मर्त्यलोकम् (अमृतम्) ओषध्यादिकं रसं (निवेशयन्) प्रवेशयन् (भुवनानि पश्यन्) दर्शयन् याति रूपादिकं विभक्तं प्रापयतीत्यर्थः (हिरण्ययेन) ज्योतिर्मयेन।

(सविता) सर्वस्य जगत उत्पादकः (देवः) सर्वस्य प्रकाशकः (मर्त्यम्) मर्त्यलोकस्थान् मनुष्यान् (अमृतम्) सत्योपदेशरूपम् (निवेशयन्) प्रवेशयन् सर्वाणि (भुवनानि) सर्वज्ञतया (पश्यन्) सन् (आकृष्णेन) सर्वस्याकर्षणस्वरूपेण वर्तमानः सन् (याति) धर्मात्मनः स्वान् भक्तान् सकामान् प्रापयतीत्यर्थः। दयानन्द सरस्वती स्वामिनः।

संवत् १९३१ पौषवदि षष्ठी बुधवार ७, काल ४० मिनट सही सम्मतिरत्र दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः।

(पं० देवेन्द्रनाथ संकलित महर्षि द० स० का जीवनचरित, भाग १, पृष्ठ ३२३, प्र० सं०) यहां 'पौष वदि ६ बुधवार' तिथि गुजराती पंचांग के अनुसार है। उत्तर भारतीय पंचाङ्ग के अनुसार माघ वदि ६ जानना चाहिए। उस दिन अंग्रेजी तारीख २७ जनवरी १८७५ थी।

१. वै० य० मुद्रितेषु १-८ संस्करणेषु 'रयतेर्वा' इत्यपपाठो मुद्रणप्रमादजः।

रूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है। सो परमेश्वर सत्य-असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश करके सबको जनाता है। तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है।

इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में 'द्युभिरक्तुभिः' इस पद से यही अर्थ आता है कि दिन-रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का, और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है। तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना-अपना आकर्षण है। और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है। यहां लोकों का नाम 'रज' है। और 'रथ' शब्द के अनेक अर्थ हैं, इस कारण से कि जिससे रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है, उसको 'रथ' कहते हैं। इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है, सो देख लेना। ऐसे धारण और आकर्षणविद्या के सिद्ध करनेवाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं ॥ ५ ॥

इति धारणाकर्षणविषयः संक्षेपतः

अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः

सूर्य्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्य्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ १ ॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥

अथर्व० कां० १४ । अनु० १ । मं० १-२॥

कः स्विदेकाकी चरति कऽ उ स्विज्जायते पुनः ।
कि१ स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत् ॥ ३ ॥
सूर्य्यऽ एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ ४ ॥

य० अ० २३ । मं० ९—१० ॥

भाष्यम्— (सत्येनो०) एषामभिप्रायः—अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्य्यः प्रकाशकोऽस्तीति ।

इयं भूमिः (सत्येन०[1]) नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्येण च । (सूर्य्येण०) तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्य्येणोत्तभितो धारितः । (ऋतेन०) कालेन सूर्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति । (दिवि सोमो अधिश्रितः) एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रित आश्रितः सन् प्रकाशितो भवति । अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति, सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्य्य-प्रकाशेनैव प्रकाशिता[2] भवन्तीति वेद्यम् ॥१॥

(सोमेनादित्या०) सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य च भूमिं प्राप्य बलिनो बलं कर्तुं शीला भवन्ति, तेषां बलप्रापकशीलत्वात् । तद्यथा, यावति[3] अन्तरिक्षदेशे

( ) कोष्ठकनिर्देशश्चास्माभिर्वर्धितः, प्रतीकत्वात् ।

१. 'सत्येन' पदादग्रे० बिन्दुनिर्देशः उभयतः ( ) कोष्ठकनिर्देशश्चास्माभिर्वर्धितः, प्रतीकत्वात् । 'प्रकाशित' इत्यपपाठः ।

२. वै० य० मुद्रितयोः ८, ९ संस्करणयोः 'प्रकाशित' इत्यपपाठः ।

३. 'यावन्तो' इत्यपपाठो वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु ।

सूर्य्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति। तत्र सूर्य्यकिरणपतनाभावात् तदभावे चोष्णत्वाभावात् ते बलकारिणो बलवन्तो भवन्ति। सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्योषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति। अथो इत्यनन्तरमेषां नक्षत्राणामुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन् वर्त्तत इति विज्ञेयम्।२॥

(कः स्वि०) को ह्येकाकी ब्रह्माण्डे चरति ? कोऽत्र स्वेनैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति ? कः पुनः प्रकाशितो जायते ? हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति ? तथा बीजारोपणार्थं महत् क्षेत्रमिव किमत्र भवतीति प्रश्नाश्चत्वारः ॥३॥

एषां क्रमेणोत्तराणि—(सूर्य्य एकाकी०) अस्मिन् संसारे सूर्य्य एकाकी चरति, स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान् सर्वान् लोकान् प्रकाशयति। तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमाः पुनः प्रकाशितो जायते, नहि चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति। अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधमस्तीति। भूमिर्महदावपनं बीजारोपणादेरधिकरणं क्षेत्रं चेति ॥४॥

वेदेष्वेतद्विषयप्रतिपादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति।

—ः इति [सक्षेपतः] प्रकाश्यप्रकाशकविषयः ;—

भाषार्थ—(सत्येनो०) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं—एक तो प्रकाश करनेवाले, और दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं।

अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य्य आदि सब लोकों को धारण किया है। उसी के सामर्थ्य से सूर्यलोक ने भी अन्य लोकों का धारण और प्रकाश किया है। तथा ऋत अर्थात् [1]काल [ने बारह] महिने[2], सूर्य[3] ने किरण और वायु ने भी यथायोग्य सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है। (दिवि सोमो०) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य के प्रकाश में [आश्रित होकर] चन्द्रमा प्रकाशित होता है। उसमें जितना प्रकाश है, सो सूर्य आदि लोक का ही है। और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है। परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है, किन्तु सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं॥ १॥

(सोमेनादित्या०) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त होके, उससे उलट कर[4] भूमि को प्राप्त होके बलवाली होती हैं, तभी वे शीतल भी होती हैं। क्योंकि आकाश के जिस-जिस देश में सूर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है, उस-उस देश में शीत भी अधिक होता है। जिस-जिस देश में सूर्य की किरण तिरछी पड़ती हैं, उस-उस देश में गर्मी भी कमती होती है।

१. पदमिदं वै० य० मुद्रितेषु षष्ठसंस्करणपर्यन्तमुपलभ्यते। ८,९ संस्करणयोः प्रमादान्नष्टम्।

२. वै० य० मुद्रित संस्करण २-८ तक 'महीने' पाठ है।

३. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'काल महिने सूर्यकिरण और वायु ने भी सूक्ष्म स्थूल' पाठ मिलता है। यह असम्बद्ध सा पाठ है। हमारे द्वारा मुद्रित पाठ हस्तलेख पर आश्रित है। द्र०—वै० य० मुद्रित शताब्दी सं० तथा सं० ६, ७, ८, ९ में मुद्रित टि०।

४. यहां से आगे भाषानुवाद कुछ अस्पष्ट है।

फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं। उनको जमने से पुष्टि होती है। और जब उनके बीच में सूर्य को तेजरूप किरण पड़ती है, तब उनमें से भाफ उठती है। उनके योग से किरण भी बलवाली होती हैं। जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है. और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियां भी पुष्ट होती हैं, और उनसे पृथिवी पुष्ट होती है। इसीलिये ईश्वर ने नक्षत्र लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है ॥ २ ॥

(कः स्वि०) इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। उनके बीच में से पहिला (प्रश्न)—कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता, और अपने प्रकाश से प्रकाशवाला है? (दूसरा)—कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है? (तीसरा)-शीत का औषध क्या है? और (चौथा)—कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूल पदार्थ रखने का स्थान है? ॥ ३ ॥

इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं–(सूर्य एकाकी०)—(१) इस संसार में सूर्य्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचरता, और अपनी ही कील पर घूमता है, तथा प्रकाशस्वरूप होकर सब लोकों का प्रकाश करनेवाला है। (२) उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। (३) शीत का औषध अग्नि है। (४) और चौथा यह है—पृथिवी साकार चीजों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है।

वेदों में इस विषय के सिद्ध करनेवाले मन्त्र बहुत है। उनमें से यहां एकदेशमात्र लिख दिया है। वेदभाष्य में सब विषय विस्तारपूर्वक आ जावेंगे ॥ ४ ॥

इति संक्षेपतः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः

अथ गणितविद्याविषयः

एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मऽएकादश च मऽएकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च मऽएकविंशतिश्च मऽएकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मऽएकत्रिंशच्च मऽएकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥

चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंशतिश्च मे विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ य० अ० १८। मं० २४,२५ ॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्कबीजरेखागणितं प्रकाशितमिति। (एका०) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति (१), सैवेन युक्ता द्वौ भवतः (२), यत्र द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्ववाचिका (३) ॥१॥

द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः (४), एवं तिसृभिस्त्रित्वसंख्यायुक्ता षट् (६), एवमेव 'चतस्रश्च मे पञ्च[1] च मे' इत्यादिषु परस्परं संयोगादिक्रिययाऽनेकविधाऽङ्कगणितविद्या सिध्यति। अन्यत् खल्वत्रानेकचकाराणां पाठान्मनुष्यैरनेकविधा गणितविद्याः सन्तीति वेद्यम्।

सेयं गणितविद्या वेदाङ्गे [2]ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धास्त्यतो नात्र लिख्यते। परन्त्वीदृशा मन्त्रा ज्योतिषशास्त्रस्थगणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते।

---

१. अत्र 'चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे' इति प्रतीकग्रहणं युक्तं स्यात्। 'पञ्च च मे' इत्यंशस्तु पूर्वपठितस्य मन्त्रस्यैकदेशः'। न च तस्यात्र द्वितीयमन्त्रव्याख्यानप्रसङ्गे निर्देशावसरः।

२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः संस्कृतांशमात्रे संस्करणे ६१तमे पृष्ठे यथाक्रमं 'ज्योतिश्शास्त्रे' 'ज्योति-

इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्त्तते । ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्त्तते । तदपि[1] विधानम् 'एका च' इति । $\text{अ}^{२}—\text{क}^{३}$ इत्यादिसंकेतेनैतन्मन्त्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीत्यवधेयम् ॥२॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १र २र ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

सास० छं० प्र० १ । खं० १॥[2]

यथा 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा[3]' इति न्यायेन स्वरसङ्केताङ्कैर्बीजगणितमपि साध्यत इति बोध्यम् ।

एवं गणितविद्याया रेखागणितं तृतीयो भागः सोऽप्यत्रोच्यते[4]—

भावार्थ—(एका च मे०) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि अङ्क, बीज और रेखा भेद से जो तीन प्रकार की गणितविद्या सिद्ध की है, उनमें से प्रथम अङ्क (१) जो संख्या है, सो दो बार गणने से दो की वाचक होती है । जैसे १+१=२ । ऐसे ही आगे एक, तथा एक के आगे दो, वा दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना । इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४) तथा तीन (३) को तीन (३) के साथ जोड़ने से (६), अथवा तीन को तीन से गुणने से ३×३=९ हुए ॥ १ ॥

इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छः के साथ छः, आठ के साथ आठ इत्यादि जोड़ने वा गुणने तथा सब मन्त्रों के आशय को फैलाने से सब गणितविद्या निकलती है । जैसे पांच के साथ पांच (५५), वैसे ही पांच पांच छः छः (५५) (६६) इत्यादि जान लेना चाहिये । ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों की आगे योजना करने से अङ्कों से अनेक प्रकार की गणितविद्या अवश्य जाननी चाहिये । [5][और भी, यहां मन्त्रों में अनेक चकारों के पाठ से अनेकविध गणित विद्या है, ऐसा मनुष्यों को जानना चाहिये ।]

और जो कि वेदों का अङ्ग ज्योतिषशास्त्र कहाता है, उसमें भी इसी प्रकार के मन्त्रों के अभिप्राय से गणितविद्या सिद्ध की है ।

और अङ्कों से जो गणितविद्या निकलती है, वह निश्चित संख्यात[6] पदार्थों में युक्त होती है । और अज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये जो बीजगणित होता है, सो भी 'एका च मे०' इत्यादि मन्त्रों से ही सिद्ध होता है । जैसे $(\text{अ}^{२}+\text{क}^{२})$ $(\text{अ}^{२}—\text{क}^{२})$ $(\text{क}^{३}\div\text{अ}^{३})$ इत्यादि सङ्केत से निकलता है । यह भी वेदों ही से ऋषि-मुनियों ने निकाला है ॥ २ ॥

ज्ञशास्त्रस्थ०' इत्येवं पाठो दृश्यते ।

१. 'तद्विधानमपि' शुद्धः पाठो ज्ञेयः । २. साम पूर्वा० १।१।१।१॥ ३. सुभाषितं कस्यचित् ।
४. अग्रिममन्त्राभ्यामिति शेषः । ५. कोष्ठान्तर्गत पाठ भाषानुवाद में छूटा हुआ है ।
६. वै० य० मुद्रित सं० १, २ और हस्तलेख में—'निश्चित और असंख्यात' अपपाठ है ।

(अग्न आ०) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है ।
और इसी प्रकार से तीसरा भाग जो रेखागणित है, सो भी वेदों ही से सिद्ध होता है—

इयं वेदिः परोऽ अन्तः पृथिव्याऽ अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयꣳ सोमो वृष्णोऽ अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ ३ ॥

य० अ० २३ । मं० ६२ ॥

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत् ।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥ ४ ॥

ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० १८ । मं० ३ ॥[1]

भाष्यम्—(इयं वेदिः०) । अभिप्रायः—अत्र मन्त्रयो[2] रेखागणितं प्रकाश्यत इति ।

इयं या वेदिस्त्रिकोणा, चतुरस्रा, [3]श्येनाकारा, वर्तुलाकारादियुक्ता क्रियतेऽस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात् सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते । यश्चायं यज्ञो हि संगमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यश्च सोऽयं भुवनस्य भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य वा नाभिरस्ति । (अयꣳ सो०) सोमलोकोऽप्येवमेव परिध्यादियुक्तोऽस्ति । (वृष्णो अश्व०) वृष्टिकर्त्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति । (रेतः) तेषां वीर्यमोषधिरूपेण सामर्थ्यार्थं विस्तृतमप्यस्तीति वेद्यम् । (ब्रह्मायं वा०) यद् ब्रह्मास्ति तद्वाण्याः (परमं व्योम) अर्थात् परिधिरूपेणान्तर्बहिः स्थितमस्ति ॥३॥

(कासीत् प्रमा) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत्? सर्वस्येति शेषः । एवम् (प्रतिमा) प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा, यया परिमाणं क्रियते, सा कासीत् ? एवमेवास्य [किं] (निदानम्) कारणं किमस्ति ? (आज्यम्०) ज्ञातव्यं घृतवत् सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत् ? सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सारभूतं च ? (परिधिः क०) तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठावरणं क आसीत् ? गोलस्य पदार्थस्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावती रेखा लभ्यते स परिधिरित्युच्यते । (छन्दः०) स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु किमासीत् ? (प्रउगं०) ग्रहोक्थं स्तोतव्यं किमासीत् ? इति प्रश्नाः । एषामुत्तराणि—(यद्देवा देवम्) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वे देवाः सर्वे विद्वांसः (अयजन्त) समपूजयन्त, पूजयन्ति, पूजयिष्यन्ति च, स एव सर्वस्य (प्रमा) यथार्थतया ज्ञातास्ति, (प्रतिमा) परिमाणकर्त्ता । एवमेवाग्रेऽपि पूर्वोक्तोऽर्थो योजनीयः ।

अत्रापि 'परिधि'शब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । सेयं विद्या ज्योतिषशास्त्रे[4] विस्तरश उक्तास्ति । एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ॥४॥

—: इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः :—

१. ऋ० १०।१३०।३॥ २. 'अत्रानयोर्मन्त्रयो' इति संस्कृतमात्रसंस्करणे पाठः (पृष्ठ ६२) ।
३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सेनाकारा' इत्यपपाठः, भाषार्थे 'सेनपक्षी' पाठदर्शनात् ।
४. 'ज्योतिश्शास्त्रे' इति संस्कृतमात्रसंस्करणे पाठः (पृष्ठ ६२) ।

भाषार्थ—(इयं वेदिः०)। अभिप्राय— इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है। क्योंकि वेदी की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है। जैसे तिकोन, चौकोन, श्येनपक्षी[1] के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार किया जाता है, सो आर्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था। क्योंकि (परो अन्तः पृ०) पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है उसको 'परिधि', और ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है उसको 'व्यास' कहते हैं। इसी प्रकार से इन मन्त्रों में आदि मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये। और इसी रीति से तिर्यक् विषुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं॥ ३॥

(कासीत् प्र०) अर्थात् यथार्थ ज्ञान क्या है? (प्रतिमा०) जिससे पदार्थों का तोल किया जाय सो क्या चीज है? (निदानम्०) अर्थात् कारण जिससे कार्य उत्पन्न होता है, वह क्या चीज है? (आज्यं०) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है? (परिधिः०) परिधि किसको कहते हैं? (छन्दः०) स्वतन्त्र वस्तु क्या है? (प्रउ०) प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने योग्य क्या है? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है—(यद्देवा देव०) जिसको सब विद्वान् लोग पूजते हैं, वही परमेश्वर 'प्रमा' आदि नामवाला है।

इन मन्त्रों में भी 'प्रमा' और 'परिधि' आदि शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है। सो यह तीन प्रकार की गणितविद्या आर्यों ने वेदों से ही सिद्ध की है, और इसी आर्य्यावर्त्त देश से सर्वत्र भूगोल में गई है॥४॥

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः



1. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'सेनपक्षी' अपपाठ है।

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्याविषयः[1]

स्तुतिविषयस्तु 'यो भूतं च०'[2] इत्यारभ्योक्तो वक्ष्यते च । अथेदानीं प्रार्थनाविषय उच्यते—

तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि वी॒र्य्य॑मसि वी॒र्यं॑ मयि॑ धेहि॒ बल॑मसि॒ बलं॒ मयि॑ धेहि ।
ओजो॒ऽस्योजो॒ मयि॑ धेहि म॒न्युर॑सि म॒न्युं मयि॑ धेहि॒ सहो॑ऽसि॒ सहो॒ मयि॑ धेहि ॥ १ ॥
य० अ० १९ । मं० ९ ॥

मयी॒दमिन्द्र॑ इन्द्रि॒यं द॑धात्व॒स्मान् रायो॑ म॒घवा॑नः सचन्ताम् ।
अ॒स्माक॑ᳪ सन्त्वा॒शिषः॑ स॒त्या नः॑ सन्त्वा॒शिषः॑ ॥ २ ॥
य० अ० २ । मं० १० ॥

यां मे॒धां दे॑वग॒णाः पि॒तर॑श्चो॒पास॑ते ।
तया॒ माम॒द्य मे॒धया॑ग्ने मे॒धावि॑नं कुरु॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ । मं० १४ ॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—'तेजोऽसि' इत्यादिमन्त्रेषु परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनादिविषयाः प्रकाश्यन्त इति बोध्यम् ।

(तेजोऽसि०) हे परमेश्वर ! त्वं तेजो[3]ऽस्यनन्तविद्यादिगुणैः प्रकाशमयोऽसि, मय्यप्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि । (वीर्य्यमसि०) हे परमेश्वर ! त्वं वीर्यमस्यनन्तपराक्रमवानसि, कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्य्यस्फूर्त्यादिवीर्य्यं पराक्रमं स्थिरं निधेहि[4] । (बलम०) हे महाबलेश्वर ! त्वमनन्तबलमसि, मय्यप्यनुग्रहतः उत्तमं बलं धेहि स्थापय । (ओजो०) हे परमेश्वर ! त्वमोजोऽसि, मय्यप्योजः सत्यं विद्याबलं धेहि । (मन्युरसि०) हे परमेश्वर ! त्वं मन्युर्दुष्टान् प्रति क्रोधकृदसि, मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान् प्रति मन्युं धेहि । (सहोऽसि०) हे[5] सहनशीलेश्वर ! त्वं सहोऽसि,

---

१. वैं० य० मुद्रितेऽष्टमसंस्करणे 'अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः' इत्येव पाठः केनचित् संशोधकेन कृतः । स एव च नवमसंस्करणेऽप्यनुकृतः । संशोधकोऽग्रे 'अथोपासनाविषयः संक्षेपतः' इत्यवान्तरशीर्षकं दृष्ट्वा भ्रान्त इति प्रतीयते ।

२. द्रष्टव्यं पूर्वत्र, पृष्ठ ५ ।

३. वै य० मुद्रितेषु षष्ठसंस्करणपर्यन्तं 'वीर्यमस्य०' इत्यपपाठः ।

४. वैं० य० मुद्रिते प्रथमसंस्करणे 'धारय' इत्येवं मुद्रितः पाठस्तत्रैव संशोधनपत्रे 'निधेहि' इत्येवं शोधितः स च पञ्चमसंस्करणं यावन्मुद्रितोऽपि शताब्दीसंस्करणशोधकेन प्रथमसंस्करणस्थं शोधनपत्रमदृष्ट्वा 'धारय' इत्यपपाठः पुनर्निवेशितः, स च ६-७-८ संस्करणेषु मुद्रितः ।

५. वैं० य० मुद्रितेषु चतुर्थसंस्करणं यावत् मुद्रितमपि 'हे' पदं पञ्चमसंस्करणे प्रमादान्नष्टम्,तथैव षष्ठ-सप्तमसंस्करणयोर्मुद्रितम् । अष्टमसंस्करणे त्विदं पदं [हे] इत्येवं कोष्ठे परिवर्धितः ।

मय्यपि सुखदुःखयुद्धादिसहनं धेहि । एवं कृपयैतदादिशुभान् गुणान् मह्यं देहीत्यर्थः ॥१॥

(मयीदमिन्द्र०) हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! मयि मदात्मनि श्रोत्रादिकं मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु, तथाऽस्मांश्च पोषयतु, अर्थात् सर्वोत्तमैः पदार्थैः सह वर्त्तमानान् अस्मान् सदा कृपया करोतु पालयतु च । (अस्मान् रायो०) तथा नोऽस्मभ्यं, मघं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन् स मघवा[1] भवान् स परमोत्तमं राज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु । (सचन्ताम्) सचतां तत्र चास्मान् समवेतान् करोतु । तथा भवन्त उत्तमेषु गणेषु सचन्तां समवेता भवन्त्वितीश्वराऽऽज्ञास्ति । (अस्माकꣳ स०) तथा हे भगवन् ! त्वत्कृपयाऽस्माकं सर्वा आशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु । मा काश्चिदस्माकं चक्रवर्तिराज्यानुशासनादय आशिष इच्छा मोघा भवेयुः ॥२॥

(यां मेधाम्) हे अग्ने परमेश्वर ! परमोत्तमया मेधया धारणावत्या बुद्ध्या सह (मा) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु । का मेधेत्युच्यते—(देवगणाः०) विद्वत्समूहाः पितरो विज्ञानिनश्च यामुपासते, (तया) तया मेधया (अद्य) वर्तमानदिने मां सर्वदा युक्तं कुरु संपादय । (स्वाहा) अत्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः—

'स्वाहाकृतयः, स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा । तासामेषा भवति ॥' निरु० अ० ८ । खं० २० ॥

स्वाहाशब्दस्यायमर्थः—(सु आहेति वा) सु सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यम् । (स्वा वागाहेति वा) या ज्ञानमध्ये स्वकीया वाग्वर्त्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम् । (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं, न परपदार्थं प्रति चेति । (स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा) सुष्ठुरीत्या संस्कृत्य संस्कृत्य हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्दपर्य्यायार्थाः ॥३॥

भाषार्थ—अब गणितविद्याविषय के पश्चात् 'तेजोऽसि' इत्यादि मन्त्रों में केवल ईश्वर की प्रार्थना याचना समर्पण और उपासना विषय[2] है, सो आगे लिखा जाता है । परन्तु जानना चाहिये कि स्तुतिविषय तो 'यो भूतं च०' इत्यादि[3] मन्त्रों में कुछ-कुछ लिख दिया है, और आगे भी कुछ लिखेंगे । यहां पहिले प्रार्थनाविषय लिखते हैं—

---

१. अस्य मन्त्रस्य पदपाठे ग्रन्थकर्तुर्यजुर्वेदभाष्ये च 'मघवानः' इत्येकं पदम् । इह तु 'मघवा नः' इति द्विपदत्व मत्वा व्याख्यानं कृतम् । यद्यप्यत्र द्विपदत्वे स्वरदोषो नोपपद्यते, तथापि 'सचन्ताम्' इति क्रियाया बहुत्वमेकत्वे परिणेतव्यं भवति । ग्रन्थकृता त्वत्र 'सचन्ताम्' इत्यस्य 'समवेतान् करोतु' इत्येवं व्याख्यायोत्तरवाक्ये 'समवेता भवन्तु' इत्येवं बहुत्वेऽपि संगतिर्दर्शिता । अत्रेदमप्यवधेयम्—आर्याभिविनयग्रन्थेऽपि ग्रन्थकारेण द्विपदत्वमेवाश्रितम् (द्र०—प्रथमद्वितीयसंस्करणे) ।

२. इस प्रकरण के आरम्भ के मुख्य शीर्षक का पाठ ८ अष्टम संस्करण में 'अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः' इस प्रकार बदल दिया गया. उसी का अनुकरण नवम संस्करण में किया गया । इसका कारण सम्भवतः इसी प्रकरण में 'अथोपासनाविषयः संक्षेपतः' इस अवान्तर शीर्षक को मुख्य शीर्षक मान लेना है ।

३. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ६ ।

(तेजोऽसि०) अर्थात् हे परमेश्वर ! आप प्रकाशरूप हैं, मेरे हृदय में भी कृपा से विज्ञान रूप प्रकाश कीजिये। (वीर्यमसि०) हे जगदीश्वर ! आप अनन्त पराक्रमवाले हैं, मुझको भी पूर्ण पराक्रम दीजिये। (बलमसि०) हे अनन्तबलवाले महेश्वर ! आप अपने अनुग्रह से मुझको भी शरीर और आत्मा में पूर्ण बल दीजिये। (ओजो०) हे सर्वशक्तिमन् ! आप सब सामर्थ्य के निवासस्थान हैं, अपनी करुणा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान मुझको भी कीजिये। (मन्युरसि०) हे दुष्टों पर क्रोध करनेहारे ! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध करने का स्वभाव मुझ में भी रखिये। (सहोऽसि०) हे सबके सहन करनेहारे ईश्वर! आप जैसे पृथिवी आदि लोकों के धारण और नास्तिकों के दुष्टव्यवहारों को सहते हैं, वैसे ही सुख-दुःख, हानि-लाभ, सरदी-गरमी, भूख-प्यास और युद्ध आदि को सहनेवाला मुझको भी कीजिये। अर्थात् सब शुभ गुण मुझको देके अशुभ गुणों से सदा अलग रखिये ॥ १ ॥

(मयीदमिन्द्र०) हे उत्तम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से श्रोत्र आदि उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठ स्वभाववाले मन को मुझमें स्थिर कीजिये [और हमें पुष्ट कीजिये], अर्थात् हमको उत्तम गुण और पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिये [और पालन कीजिये]। (अस्मान् रा०) हे [विज्ञानादि] परमधनवाले ईश्वर ! आप उत्तम राज्य आदि[1] धन हमारे लिये धारण कीजिये, (सचन्ताम्) [और उससे हमें संयुक्त कीजिये।] मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण और उत्तम ही कर्मों का सेवन सदा करते रहो। (अस्माकꣳ स०) हे भगवन् ! आपकी कृपा से हम लोगों की सब इच्छायें सर्वदा सत्य ही होती रहें, तथा सदा सत्य ही कर्म करने की इच्छा हो। किन्तु [2]चक्रवर्ती राज्य के अनुशासन आदि की इच्छायें कभी असफल न हों ॥ २ ॥

(यां मेधां०) इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि—हे परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से, जो अत्यन्त उत्तम सत्यविद्यादि शुभगुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है, उससे युक्त हम लोगों को कीजिये। [कौनसी मेधा ?] कि जिसके प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ज्ञानी [जन जिसकी उपासना करते हैं। उसी मेधा से मुझे आज युक्त कीजिये, जिससे युक्त] होके हम लोग आपकी उपासना सब दिन करते रहें। (स्वाहा०) इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्कमुनिजीने अनेक प्रकार से कहा है। सो लिखते हैं कि—

(सु आहेति वा) सब मनुष्यों को अच्छा, मीठा, कल्याण करनेवाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये। (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये कि जैसी बात उनके ज्ञान के बीच में वर्त्तमान हो, जीभ से भी सदा वैसा ही बोलें, उससे विपरीत नहीं। (स्वं प्राहेति वा) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं। अर्थात् जितना-जितना धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो, उतने ही में सदा सन्तोष

---

१. वै० य० मुद्रित में 'धन वाले हमको सदा के लिए कीजिए' पाठ संस्कृत से विपरीत है।

२. वै० य० मुद्रित में 'चक्रवर्ती राज्य आदि बड़े-बड़े काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये' पाठ संस्कृत से विपरीत है।

करें। (स्वाहुतं ह०) अर्थात् सर्व दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करनेवाले होम को किया करें। [1]और 'स्वाहा' शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़के सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ३ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ४ ॥

ऋ० अ० १ । अ० ३ । व० १८ । मं० २ ॥[2]

इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व ।
धर्मासि सुधर्मा मेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ ५ ॥

य० अ० ३८ । मं० १४ ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

य० अ० ३४ । मं० १ ॥

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे० ॥[3]

भाष्यम्—(स्थिरा वः०) अभिप्रायः—ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम्—

हे मनुष्या![4] वो युष्माकं (आयुधा) आयुधान्याग्नेयास्त्रादीनि, शतघ्नीभुशुण्डीधनुर्बाणास्यादीनि शस्त्राणि च (स्थिरा) मदनुग्रहेण स्थिराणि[5] सन्तु । (पराणुदे) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु। तथा (वीळू) अत्यन्तदृढानि प्रशंसितानि च (उत) एवं शत्रुसेनाया अपि (प्रतिष्कभे) प्रतिष्टम्भनाय पराङ्मुखतया पराजयकरणाय च सन्तु। तथा (युष्माकमस्तु तविषी०) युष्माकं तवीषी[6] सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलं चा[खण्डितम]स्तु। येन युष्माकं चक्रवर्ति-

१. अगली पङ्क्ति व्यर्थ है। इसमें कहा गया अभिप्राय पूर्वत्र 'स्वा वागाहेति वा' से उक्तार्थ है।

२. ऋ० १ । ३९ । २ ॥

३. यजु० अ० १८ । नवमवर्जमन्येषु वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मे' पदोत्तरं पाठस्यापूर्तिद्योतनाय० विन्दुनिर्देशो वर्तते। एतद्भाष्येणाप्ययमेवाभिप्रायो द्योत्यते। परन्तु नवमसंस्करणसंशोधनकर्त्रा कोष्ठे [यजुः० १८ । १]' इत्येवं संकेतः प्रदत्तः। स च ग्रन्थकृदभिप्रायविरुद्धः। अत्र केवलं यजुषोऽष्टादशाध्यायस्यैव निर्देशो युक्तः।

४. शताब्दीसंस्करणे 'हे मनुष्याः!' इत्येवं शोधितः, तदनु षष्ठसप्तमसंस्करणयोस्तथैव पठ्यते। अष्टमसंस्करणे तु 'हे मनुष्योः!' इत्येवं भ्रष्टः पाठो दृश्यते। अस्माभिस्तु मूलपाठ एव रक्षितः।

५. स्थिराणि अर्थाद् दृढानि नाशरहितानि सन्तु। प्रथमसंस्करणे 'स्थिराणि मदनुग्रहेण' इत्येवं मुद्रितः पाठस्तत्रैव संशोधनपत्रे 'मदनुग्रहेण स्थिराणि' इत्येवं शोधितः। परन्तु शताब्दीसंस्करणसंस्कर्त्रा संशोधनपत्रमदृष्ट्वा पुनः पाठः परिवर्तितः। तदनुसारं षष्ठसप्तमाष्टमसंस्करणेष्वपि तथैव मुद्रितः।

६. वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणे 'तविषि' इत्यपपाठः।

राज्यं स्थिरं स्याद्, दुष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेत् । (मा मर्त्यस्य मा०) परन्त्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो[1] हि ददामि, किन्तु मायिनोऽन्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिद् माऽस्तु[2] । अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो मनुष्येभ्योऽहमाशीर्वादं कदाचिद् ददामीत्यभिप्रायः ।।४।।

(इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् ! इषे उत्तमेच्छायै, परमोत्कृष्टायान्नाय चास्मान् त्वं पिन्वस्व स्वतन्त्रतया सदैव पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु। (ऊर्जे)॥[उत्तमपराक्रमाय दृढप्रयत्नान् कृत्वा पिन्वस्व । (ब्रह्मणे०)][3] वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणो[4] ब्राह्मणवर्णयोग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व दृढोत्साहयुक्तान् अस्मान् कुरु। (क्षत्रा०) क्षत्राय साम्राज्याय पिन्वस्व परमवीरवतः[5] क्षत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्तिराज्यसहितान् अस्मान् कुरु। (द्यावापृ०) एवं यथा द्यावापृथिवीभ्यां सूर्य्याग्निभूम्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतः, तथैव कलाकौशलयानचालनादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनुष्योपकारं वयं कुर्मः, एतदर्थमस्मान् पिन्वस्वोत्तमप्रयत्नवतः कुरु। (धर्मासि०) हे सुधर्म परमेश्वर ! त्वं धर्मासि न्यायकार्यसि, अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु । (अमेनि०) हे सर्वहितकारकेश्वर ! यथा त्वममेनिर्निर्वैरोऽसि, तथाऽस्मानपि सर्वमित्रान्‡ निर्वैरान् कुरु। तथा[6] (अस्मे) अस्मदर्थं (नृम्णानि) कृपया सुराज्यसुनियमसुरत्नादीनि धारय। एवमेवास्माकं (ब्रह्म०) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय, (क्षत्रं०) राज्यं क्षत्रियवर्णं च धारयः (विशं०) वैश्यवर्णं प्रजां च धारय, अर्थात् सर्वोत्तमान् गुणान् अस्मन्निष्ठान् कुर्विति प्रार्थ्यते याच्यते च भवान्। तस्मात् सर्वामस्मदिच्छां सम्पूर्णां संपादयेति ।।५।।

(यज्जाग्रतो दू०) यन्मनो जाग्रतो मनुष्यस्य दूरमुदैति, सर्वेषामिन्द्रियाणामुपरि वर्तमानत्वाद् अधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोति, (दैवम्) ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्तं (तदु०) तत्, उ इति वितर्के, सुप्तस्य पुरुषस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दिव्यपदार्थद्रष्टृ (एति) प्राप्नोति, एवं सुषुप्तौ च दिव्यानन्दयुक्ततां चैति, तथा(दूरंगमम्) अर्थाद् दूरगमनशीलमस्ति, (ज्योतिषां ज्योति०) ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकम्,(एकम्)असहायं यन्मनोऽस्ति,हे ईश्वर ! भवत्कृपया(तन्मे०)तन्मे मम मनो मननशीलं सत शिवसंकल्पं कल्याणेष्टधर्मशुभगुणप्रियमस्तु ।।६।।

---

१. सत्यकर्मानुष्ठानशब्दान्मत्वर्थीय इनिर्द्रष्टव्यः । अत्रैव 'ददामि' स्थाने 'वर्तते' क्रिया द्रष्टव्या । यद्वा 'ददामि' पदं 'दीयते' इत्येवं परिणेतव्यः । यद्वा पूर्वत्र 'परन्त्विममाशीर्वादं' इत्येवं पाठः शोधनीयः ।

२. माङ्योगे लुङ् एव भवतीति केचन वैयाकरणाः प्रतिजानते (द्र०—काशिकादयो ग्रन्थाः ३।३।१७५) तन्न, 'माङि लुङ्' इत्यत्र लिङ्लोटोरप्यनुवृत्तेः (द्र०—ग्रन्थकारकृतमेवाष्टाध्यायीभाष्यम् ३।३।१७५)।'मा प्रश्नमनृतं वदेः' (विदुरनीति ३।२५) इति, 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' (गीता २।४७) इति च प्रयोगदर्शनात् ।

३. अयं 'ऊर्जे पिन्वस्व' मन्त्रपदयोरर्थरूपः पाठो वै० य० मुद्रितेषु सर्वेष्वेव संस्करणेषु नोपलभ्यते । पं० सुखदेवसंस्करणेऽपि न दृश्यते । भाषायामनुवाददर्शनात् प्रतीयते शुद्धप्रतिलिपिलेखनकाले लेखकप्रमादान्नष्टोऽयं पाठः

४. अष्टमसंस्करणे 'परमप्रयत्नकारिणा' इत्येवं मुद्रितोऽपपाठः, स एव नवमसंस्करणे 'परमप्रयत्नकारिणां' इत्येवं षष्ठ्यां विपरिणम्य भ्रष्टतरः कृतः ।

५. तृतीयसंस्करणपर्यन्तं 'परमवीरतः' इत्यपपाठ उपलभ्यते ।

६. वै० य० मुद्रितचतुर्थसंस्करणपर्यन्तं 'तथा' पाठ एव मुद्रितः, पञ्चमादारभ्य अष्टमपर्यन्तं 'यथा' इत्यपपाठो दृश्यते ।

एवमेव 'वाजश्च म' इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मन्त्रैः सर्वस्वसमर्पणं परमेश्वराय कर्त्तव्यमिति वेदे विहितम् । अतः परमोत्तमपदार्थं मोक्षमारभ्यान्नपानादिपर्य्यन्तमीश्वराद् याचितव्यमिति सिद्धम् ।

भाषार्थ—(स्थिरा वः०) इस मन्त्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि—हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में उत्तम बलवाले हो । किन्तु तुम्हारे (आयुधा) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी=तोप, भुशुन्डी=बन्दूक, धनुषबाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर[1] हों । तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें । (वीळू) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें । (उत प्रतिष्कभे०) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना के वेग थांभने के लिये प्रबल हों । तथा (युष्माकमस्तु त०) हे मनुष्यो ! तुम्हारी (तविषी०) अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो । जिससे तुम्हारा अखण्डित बल और चक्रवर्ति राज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे । (मा मर्त्यस्य०) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी और श्रेष्ट मनुष्यों के लिये है, और जो (मायि०) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं, उनके लिये नहीं । किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा । इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो ॥ ४ ॥

(इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् ! (इषे०) हमारो शुभ कर्म करने ही की इच्छा हो, और हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टियुक्त रखिये । (ऊर्जे०) अर्थात् अपनी कृपा से हमको सदा उत्तम पराक्रमयुक्त और दृढ़ प्रयत्न वाले कीजिये । (ब्रह्मणे०) सत्यशास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने-पढ़ाने और उससे यथावत् उपकार लेने में हमको अत्यन्त समर्थ कीजिये । अर्थात् जिससे हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों करके ब्राह्मणवर्ण हों । (क्षत्राय) हे परमेश्वर ! आपके अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्तिराज्य और शूरवीर पुरुषों की सेना से युक्त हों, कि क्षत्रियवर्ण के अधिकारी हमको कीजिये । (द्यावापृ०) जैसे पृथिवी सूर्य अग्नि जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है, वैसे ही कला-कौशल विमान आदि यान चलाने के लिये हमको उत्तम सुखसहित कीजिये कि जिससे हम लोग सब सृष्टि के उपकार करनेवाले हों । (धर्मासि०) हे सुधर्मन् न्यायकरनेहारे ईश्वर ! आप न्यायकारी हैं, वैसे हमको भी न्यायकारी कोजिये । (अमे०) हे भगवन् ! जैसे आप निर्वैर होके सबसे वर्त्तते हो, वैसे ही सबसे वैररहित हमको भी कीजिये । (अस्मे) हे परमकारुणिक ! हमारे लिये (नृम्णानि०) उत्तम राज्य, उत्तम धन और शुभगुण दीजिये । (ब्रह्म०) हे परमेश्वर ! आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तमविद्यायुक्त कीजिये । (क्षत्रं०) हमको अत्यन्त चतुर शूरवीर और क्षत्रियवर्ण का अधिकारी कीजिये । (विशं०) अर्थात् वैश्यवर्ण और हमारी प्रजा का रक्षण सदा कीजिये, कि जिससे हम शुभ गुणवाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों ॥ ५ ॥

(यज्जाग्रतो०) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! जैसे जाग्रत अवस्था में मेरा मन दूर-दूर

१. स्थिर=दृढ़ हों, टूटें नहीं ।

घूमनेवाला, सब इन्द्रियों का स्वामी, तथा (दैवं०) ज्ञान आदि दिव्यगुणवाला और प्रकाशस्वरूप रहता है, वैसे ही (तदु सु०) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे। (ज्योतिषां०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला और एक है, (तन्मे०) हे परमेश्वर! ऐसा जो मेरा मन है, सो आपकी कृपासे (शिवसं०) कल्याण करनेवाला और शुद्धस्वभावयुक्त हो, जिससे अधर्म कामों में कभी प्रवृत्त न हो ॥ ६ ॥

इसी प्रकार से (वाजश्च मे०) इत्यादि शुक्ल[1] यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में [वर्तमान] मन्त्र ईश्वर के अर्थ सर्वस्व समर्पण करने के ही विधान में हैं। अर्थात् सबसे उत्तम मोक्षसुख से लेके अन्न जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च। स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽअभूम वेट् स्वाहा ॥७॥ य० अ० १८। मं० २९ ॥

भाष्यम्—(आयुर्यज्ञेन०) 'यज्ञो वै विष्णुः'। श० १। १। २। १३ ॥[2] वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् स विष्णुरीश्वरः। हे मनुष्यास्तेन यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पतामिति। यदस्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां, परमेश्वराय समर्पितं भवतु। एवमेव (प्राणः), (चक्षुः), [(श्रोत्रं)][3], (वाक्) वाणी, (मनः) मननं ज्ञानम्, (आत्मा) जीवः, (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्त्ता, (ज्योतिः) सूर्यादिप्रकाशः, (धर्मः) न्यायः[4], (स्वः) सुखं, (पृष्ठम्)

१. वाजसनेयसंहिता के लिये शुक्ल शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग शतपथ ब्राह्मण के अन्त में मिलता है। ऋषि दयानन्द ने भी इस शब्द का प्रयोग अपने ग्रन्थों में कई स्थानों पर किया है। इसी ग्रन्थ के 'ग्रन्थ-प्रामाण्याप्रामाण्य' विषय में 'नमस्तीर्थ्याय च। ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः इति शुक्लयजुर्वेद-संहितायाम् ॥ अ० १६ ॥' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है। इसी प्रकार '**ऋग्वेदभाष्य नमूने का अङ्क**' में प्रथम मन्त्र के द्वितीय अर्थ में (द्र०—ऋ० भा० भू० परिशिष्ट, पृष्ठ ७); **भ्रान्तिनिवारण** (द्र०—ऋ० भा० भू० परिशिष्ट, पृष्ठ ४७); **पूना प्रवचन** (रा० ला० क० ट्र० सं० पृष्ठ १४, १४८); स० प्रकाश (प्र० स० पृष्ठ ३३२) पर भी 'शुक्ल' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसलिये यहां 'शुक्ल' पद का निर्देश ग्रन्थकार के अभिप्राय के विरुद्ध है, ऐसा कहना भ्रान्तिमूलक है।

२. अयं पाठः प्रथमसंस्करण एव संशोधनपत्रे परिवर्धितः। परन्तु तत्र 'श० १। २। १३ ॥' इत्येवमपपाठो वर्तते।

३. मन्त्रपदं सदत्र लेखकप्रमादान्नष्टम्, भाषायाम् वर्तते।

४. '(धर्मः) न्यायः' इत्यनावश्यकः पाठः, धर्मपदस्य मन्त्रेऽदर्शनात्। भाषायामप्यस्यानुवादो न दृश्यते। यद्वा—'धर्म'पदमुभयतो वर्तमानं कोष्ठकचिह्नमपनेयम्, तथासत्ययं 'ज्योतिः' पदस्यैवार्थः सम्भवति। षष्ठसंस्करणेऽयं पाठो [ ] इत्येवं कोष्ठे निवेशितः। अष्टमसंस्करणे तु पृथक्करणान्नोपलभ्यते।

भूम्याद्यधिकरणम् (यज्ञो०) अश्वमेधादिः शिल्पक्रियामयो वा, (स्तोमः) स्तुतिसमूहः, (यजुः) यजुर्वेदाध्ययनम्, (ऋक्) ऋग्वेदाध्ययनम् (साम) सामवेदाध्ययनम् चकारादथर्ववेदाध्ययनं च, (बृहच्च रथन्तरं च) महत्क्रियासिद्धिफलभोगः शिल्पविद्याजन्यं वस्तु चास्मदीयमेतत् सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु, येन वयं कृतज्ञाः स्याम। एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुखमस्मभ्यं दद्यात्। येन वयं (स्वर्देवा०[1]) सुखे प्रकाशिताः (अमृता०[2]) परमानन्दं मोक्षं (अगन्म[3]) सर्वदा प्राप्ता भवेम। तथा (प्रजापतेः प्र०) वयं परमेश्वरस्यैव प्रजाः (अभूम) अर्थात् परमेश्वरं विहायान्यमनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्मन्यामह इति। एवं जाते (वेट् स्वाहा) सदा वयं सत्यं वदामः, भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नत उत्साहवन्तोऽभूम भवेम। मा कदाचिद् भवदाज्ञाविरोधिनो वयमभूम, किन्तु भवत्सेवायां सदैव पुत्रवद् वर्त्तेमहि ॥७॥

भाषार्थ—(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञ नाम विष्णु का है, जो कि सब जगत् में व्यापक हो रहा है। उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीज समर्पण कर देना चाहिये। इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञापालन में समर्पित करें। (प्राणो०) अर्थात् अपना प्राण भी ईश्वर के अर्थ कर देवें। (चक्षु०) जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आंख, (श्रोत्रं०) जो श्रवण विद्या और शब्द प्रमाणादि, (वाक्०) वाणी, (मनो०) मन और विज्ञान, (आत्मा०) जीव, (ब्रह्मा०) तथा चारों वेद को पढ़के जो पुरुषार्थ किया है, (ज्योतिः०) जो प्रकाश, (स्वर्य०) जो सब सुख, (पृष्ठं०) जो उत्तम कर्मों का फल और स्थान, (यज्ञो०) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ[4] किया जाता है, ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना अवश्य है। (स्तोमश्च०) जो स्तुति का समूह, (यजुश्च०) सब क्रियाओं की विद्या, (ऋक् च०) ऋग्वेद अर्थात् स्तुति स्तोत्र, (साम च०) सब गान करने की विद्या, चकार से अथर्ववेद, (बृहच्च) बड़े-बड़े सब पदार्थ, और (रथन्तरं च) शिल्पविद्या आदि के फलों में से जो-जो फल अपने आधीन हों, वे सब परमेश्वर के समर्पण कर देवें। क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं।

इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है, उसके लिये परमकारुणिक परमात्मा सब सुख देता है, इसमें सदेह नहीं। (स्वदेवा०) अर्थात् परमात्मा की कृपा की लहर और परमप्रकाशस्वरूप विज्ञानप्राप्ति में शुद्ध होके, तथा सब संसार के बीच में कीर्त्तिमान् होके, हम लाग परमानन्दस्वरूप मोक्ष सुख को (अगन्म) सब दिन के लिये प्राप्त हों। (प्रजापतेः०) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें। क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ, न्यायकारी, सबके पिता एक परमेश्वर को छोड़के दूसरे की उपासना करे और राजा माने। इसलिये हम लोग उसी को राजा मानके सत्य न्याय को प्राप्त हों। अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है, अन्य कोई नहीं। (वेट्

१. 'देवा' पदात् परं ० विन्दुनिर्देशः षष्ठसंस्करणं यावद् दृश्यते, तदनन्तरं विन्दोरपासनात् भ्रष्टोऽयं पाठः।

२. अत्रापि 'अमृता' पदानन्तरं ० विन्दुनिर्देशो विसर्गनिर्देशो वाऽऽवश्यकः।

३. अत्र '(अगन्म)' पाठो व्यर्थः। अस्य 'स्वर्देवा' पदेनान्वयात्। यद्वाऽस्य स्थाने 'अमृता' पदेन सम्बद्धः 'अभूम' पदस्य निर्देशः कर्तव्यः।

४. द्रष्टव्य पूर्वत्र पृष्ठ ७२, पं० १५—१७।

स्वाहा) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करनेवाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा होके यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करनी उचित है कि हे कृपानिधे ! आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों, किन्तु आप और सबके साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से वर्तें ॥ ७ ॥

इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः



अथोपासनाविषयः संक्षेपतः[1]

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ १ ॥
ऋ० अ० ४ । अ० ४ । व० २४ । मं० १ ॥[2]

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्[3] ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत् ॥ २ ॥
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ ३ ॥
युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ४ ॥
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥
य० अ० ११ । मं० १-३, ५ ॥[4]

भाष्यम्—(युञ्जते०) अस्याभिप्रायः—अत्र जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना कर्त्तव्येति विधीयते ।

(विप्राः) ईश्वरोपासका मेधाविनः, (होत्राः) योगिनो मनुष्याः, (विप्रस्य) सर्वज्ञस्य [(बृहतः) सर्वस्मान्महतः (विपश्चितः) सर्वविद्यायुक्तस्य][5] परमेश्वरस्य मध्ये (मनः) (युञ्जते) युक्तं कुर्वन्ति । (उत) अपि (धियः) बुद्धिवृत्तीस्तस्यैव[6] मध्ये युञ्जते । कथंभूतः स परमेश्वरः ? सर्व-

---

१. पूर्वप्रकरणान्तर्गतोऽप्ययं विषयः प्राधान्याद् बहुवक्तव्यत्वाद् वा ग्रन्थकृतैव पृथक्त्वेन निर्दिष्टः, यद्वा—लेखकमुद्रकदोषात् स्वातन्त्र्यं प्राप्त इति न ज्ञायते । २. ऋ० ५ । ८१ । १ ॥

३. संहितायां 'धियः' इत्येवं पठ्यते । ग्रन्थकारस्तु मन्त्रे व्याख्याने च 'धियम्' पाठमेव मनुते । वेदभाष्ये तु 'धियः' इत्येव पाठ उररीक्रियते ।

४. वै० य० मुद्रितेषु षष्ठसंस्करणं यावत् 'मं० १ । २ । ३ । ४ । ५ ॥' इत्यपपाठः ।

५. अयं पाठो लेखकप्रमादात् त्रुटितः । भाषानुवादानुसारमस्माभिर्वर्धितः ।

६. वै० य० मुद्रितेषु पञ्चमसंस्करणपर्यन्तम् 'अपि धिया बुद्धिवृत्तिस्तस्यैव' इत्यपपाठ उपलभ्यते ।

मिदं जगत् यः (विदधे) विदधे। तथा (वयुनावि०) सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो वेद स वायुनावित्, (एकः) स एकोऽद्वितीयोऽस्ति। (इत्) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च, नास्मात् पर उत्तमः कश्चिन् पदार्थो वर्त्तत इति। तस्य (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य (सवितुः) सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्य्या। कथंभूता स्तुतिः ? (मही) महतीत्यर्थः। एवंकृते सति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीति ॥१॥

(युञ्जानः) योगं कुर्वाणः सन् (तत्वाय) ब्रह्मादितत्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योऽस्ति, तस्य धियं[1] (सविता) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुङ्क्ते। (अग्नेर्ज्योतिः) यतोऽग्नेरीश्वरस्य ज्योतिः प्रकाशस्वरूपं (निचाय्य) यथावत् निश्चित्य (अध्याभरत्) स योगी स्वात्मनि परमात्मानं धारितवान भवेत्। इदमेव पृथिव्या मध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम् ॥२॥

सर्वे मनुष्या एवमिच्छेयुः—(स्वर्ग्याय) मोक्षसुखाय (शक्त्या) योगबलोन्नत्या (देवस्य) स्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य (सवितुः) सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य (सवे) अनन्तैश्वर्य्ये (युक्तेन मनसा०) योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेन वयं सदोपयुञ्जीमहीति ॥३॥

एवं योगाभ्यासेन कृतेन (स्वर्यतः) शुद्धभावप्रेम्णा (देवान्) उपासकान् योगिनः (सविता) अन्तर्यामीश्वरः कृपया (युक्त्वाय) तदात्मसु प्रकाशकरणेन सम्यग् युक्त्वा (धिया) स्वकृपाधारवृत्या (बृहज्ज्योतिः) अनन्तप्रकाशं (दिवं) दिव्यं स्वस्वरूपम् (प्रसुवाति) प्रकाशयति। तथा (करिष्यतः) सत्यभक्तिं करिष्यमाणान् उपासकान् योगिनः (सविता) परमकारुणिकान्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेन सदानन्दयतीति ॥४॥

उपासनाप्रदोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीते—(ब्रह्म पूर्व्यम्) यदा तौ पुरातनं सनातनं ब्रह्म (नमोभिः) स्थिरेणात्मना सत्यभावेन नमस्कारैरुपासाते, तदा तद् ब्रह्म ताभ्यामाशीर्ददाति—(श्लोकः) सत्यकीर्त्तिः (वाम्) (वि एतु) व्येतु व्याप्नोतु। कस्य केव ? (सूरेः) परमविदुषः (पथ्येव) धर्ममार्ग इव, (ये) एवं य उपासकाः (अमृतस्य) मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य (पुत्राः) तदाज्ञानुष्ठातारस्तत्सेवकाः सन्ति, त एव[2] (दिव्यानि) प्रकाशस्वरूपाणि विद्योपासनायुक्तानि कर्माणि तथा दिव्यानि (धामानि) सुखस्वरूपाणि जन्मानि सुखयुक्तानि स्थानानि वा[3] (आतस्थुः) आ समन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति। ते (विश्वे०) सर्वे (वाम्) उपासनोपदेष्टृपदेश्यौ द्वौ (शृण्वन्तु) प्रख्यातौ जानन्तु। इत्यनेन प्रकारेणोपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं (युजे) कृपया समवेतो भवामीति ॥५॥

भाषार्थ—अब ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है, उसमें से कुछ संक्षेप से यहां भी लिखा जाता है—(युञ्जते मन०) इसका अभिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है। अर्थात् उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें।

---

१. अत्रापि मन्त्रपाठानुसारं 'धियः' इति द्वितीयाबहुवचनपाठो युक्तो ज्ञेयः।

२. 'त एव' इत्यनयोः पदयोर्वाक्यान्ते 'स्थिरा भवन्ति' पदाभ्यां प्रागन्वयो द्रष्टव्यः।

३. अत्र वाक्यपूर्त्यर्थं 'यानि सन्ति' इत्यनयोः पदयोरध्याहारः कार्यः, उत्तरत्र 'तेषु' पदस्य श्रवणात्।

और जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्राः) अर्थात् बड़े-बड़े बुद्धिमान् (होत्राः) उपासना योग के ग्रहण करनेवाले हैं, वे (विप्रस्य) सबको जाननेवाला, (बृहतः) सबसे बड़ा, (विपश्चितः) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उसके बीच में (मनः युञ्जते) अपने मन को ठीक-ठीक युक्त करते हैं, तथा (उत धियः) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी (युञ्जते०) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे) धारण और विधान करता है, (वयुनाविदेक इत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है कि जिससे परे कोई उतम पदार्थ नहीं है। (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश, और (सवितुः) सबकी रचना करनेवाले परमेश्वर की (परिष्टुतिः) हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें। कैसी वह स्तुति है, कि (मही) सबसे बड़ी, अर्थात् जिसके समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती [ऐसा करने से जीव परमेश्वर के सामीप्य को प्राप्त करते हैं।] ॥ १ ॥

(युञ्जानः) योग को करनेवाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये (प्रथमं मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्[1]) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेर्ज्यो०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं। (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है ॥ २ ॥

सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि (वयम्) हम लोग (स्वर्ग्याय) मोक्षसुख के लिये, (शक्त्या) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से (देवस्य०) परमेश्वर की सृष्टि में उपासना योग करके अपने आत्मा को शुद्ध करें, कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों ॥ ३ ॥

इसी प्रकार[2] वह परमेश्वर देव भी (देवान्) उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को देके (सविता) उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है। तथा (युक्त्वाय) वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में (बृहज्ज्योतिः) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है। और (सविता) जो सब जगत् का पिता है, वही (प्रसुवा०) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है। परन्तु (करिष्यतः) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उन्हीं उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देके सदा के लिये आनन्दयुक्त कर देगा ॥ ४ ॥

उपासना का उपदेश देनेवाले और ग्रहण करनेवाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है, कि जब तुम ([ब्रह्म]पूर्व्यम्) सनातन ब्रह्म की (नमोभिः) सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे, तब मैं तुमको आशीर्वाद देऊंगा कि (श्लोकः) सत्यकीर्ति (वाम्) तुम दोनों को (एतु) प्राप्त हो। किसके समान? (पथ्येव सूरेः) जैसे परम

१. ग्रन्थकार ने यहां मन्त्रपाठ में 'धियम्' पद स्वीकार किया है, यह मन्त्रपाठ और इस व्याख्यान से स्पष्ट है। यजुर्वेदभाष्य में 'धियः' पाठ ही माना है।

२. इस मन्त्र का भाषार्थ अस्पष्ट है, और संस्कृतानुसारी भी नहीं है।

विद्वान् को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त होता है, इसी प्रकार तुमको सत्यसेवा से सत्यकीर्ति प्राप्त हो। फिर भी मैं सबको उपदेश करता हूं कि (अमृतस्य पुत्राः) हे मोक्षमार्ग के पालन करनेवाले मनुष्यो! (शृण्वन्तु विश्वे) तुम सब लोग सुनो कि (आ ये धामानि०) जो दिव्यलोकों अर्थात् मोक्षसुखों को (आतस्थुः) पूर्व प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासनायोग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो, इसमें संदेह मत करो। इसलिये (युजे) मैं तुमको उपासनायोग में युक्त करता हूं ॥ ५ ॥

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क् ।
धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒या ॥ ६ ॥

यु॒नक्त॒ सीरा॒ वि यु॒गा त॑नुध्वं कृ॒ते योनौ॑ वपते॒ह बीज॑म् ।
गि॒रा च॑ श्रु॒ष्टिः सभ॑रा॒ऽअस॑न्नो॒ नेदी॑य॒ऽइत्सृ॒ण्यः॑ प॒क्वमेया॑त् ॥ ७ ॥

य० अ० १२। मं० ६७,६८

भाष्यम्—(कवयः) विद्वांसः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा, (धीराः) ध्यानवन्तो योगिनः (पृथक्) विभागेन (सीराः) योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति, अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति। तथा (युगा) युगानि योगयुक्तानि कर्माणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति। य एवं कुर्वन्ति, ते (देवेषु) विद्वत्सु योगिषु (सुम्नया) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं (युञ्जन्ति) प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥६॥

हे योगिनो! यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेनानन्दं (युनक्त) तद्युक्ता भवत। एवं मोक्षसुखं सदा (वितनुध्वम्) विस्तारयत। तथा (युगा०) उपासनायुक्तानि कर्माणि (सीराः) प्राणादित्ययुक्ता[1] नाडीश्च युनक्तोपासनाकर्मणि[2] योजयत। एवं (कृते योनौ) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ कारण आत्मनि (वपतेह बीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीजं वपत। तथा (गिरा च) वेदवाण्या विद्यया (युनक्त,) युङ्क्त, युक्ता भवत। किं च (श्रुष्टिः) क्षिप्रं शीघ्रं योगफलं (नो नेदीयः) नोऽस्मान्नेदीयोऽतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण (असत्) अस्तु। कथंभूतं फलम्? (पक्वम्) शुद्धानन्दसिद्धम् (एयात्) आ समन्तादियात् प्राप्नुयात्। (इत्सृण्यः) उपासनायुक्तास्ता योग-वृत्तयः सृण्यः सर्वक्लेशहन्त्र्य एव भवन्ति। इदिति निश्चयार्थे। पुनः कथंभूतास्ताः? (सभराः) शान्त्यादिगुणपुष्टाः। एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम्। अत्र प्रमाणम्—

श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति ॥ निरु० अ० ६। खं० १२ ॥

द्विविधा सृणिर्भवति भर्त्ता च हन्ता च ॥ निरु० अ० १३। खं० ५ ॥७॥

भाषार्थ—(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग और (धीराः) ध्यान करनेवाले हैं, वे (सीरा

१. अस्याभिप्रायोऽनुसन्धेयः। किमत्रान्यत्र प्रसिद्धे सूर्यचन्द्रनाड्यौ प्रति संकेतः? तथा सति 'प्राणसंयुक्ताः नाड्यः, सूर्यचन्द्रगुणसंयुक्ते च नाड्यौ' इत्यभिप्रायो ग्रहीतुं शक्यः। २. वै० य० मुद्रितेषु '०कर्माणि' इत्यपपाठः।

युञ्जन्ति पृथक्) यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं। (युगा) जो योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हैं, (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं, (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

हे उपासक लोगो ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से[1], नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वम्) विस्तार करो। इस प्रकार करने से (कृते योनौ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके, उसमें उपासना-विधान से विज्ञानरूप (बीजम्) बीज को (वपत) अच्छी प्रकार से बोओ। तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में (युनक्त) युक्त होकर उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो। तथा (श्रुष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासना-योग के फल को [शीघ्र] प्राप्त होवें। और (नो नेदीयः) हमको ईश्वर के अनुग्रह से वह फल निकट ही (असत्) प्राप्त हो। कैसा वह फल है ? कि (पक्वम्) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ, और मोक्षसुख को प्राप्त करनेवाला है। (इत्सृण्यः) अर्थात् वह उपासनायोगवृत्ति कैसी है ? कि सब क्लेशों को नाश करनेवाली, और (सभराः) सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है। उन उपासनायोगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ॥ ७ ॥

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ ८ ॥
अथर्व० कां० १९। अनु० १। व० ८। मं० २॥[2]

भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥९॥

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ १० ॥

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ११ ॥[3]

हे परमेश्वर भग[वन्[4] ! भ]वत्कृपयाऽष्टाविंशानि (शिवानि)

भाष्यम्—(अष्टाविंशानि) दश प्राणाः, मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारविद्या-

कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थाद् दशेन्द्रियाणि,

---

२. अथर्व १९। ८। २॥

१. यह भाषार्थ संस्कृत भाष्य का अभिप्रायमात्र है।

३. अथर्व १३। ४। ४७-४९ ॥ 'भूयानरात्याः' इत्यारभ्य 'प्रथो वरो०' इति वक्ष्यमाणमन्त्रपर्यन्ता मन्त्रा अथर्ववेदीया इति ग्रन्थकारो भाष्येऽनुपदं वक्ष्यति, अतो मन्त्रस्थाननिर्देशमपि तत्रैवोट्टङ्कयिष्यति ।

४. वैयमुद्रितेषु द्वितीयादारभ्याष्टमसंस्करणपर्यन्तं 'हे परमेश्वर भगवन् ! कृपया' इत्येवं पाठ उपलभ्यते । प्रथमनवमसंस्करणयोस्तु 'हे परमेश्वर भगवत् कृपया' इत्येवं पठ्यते । भाषानुसारं तु 'हे भगवन् परमेश्वर भवत्कृपया' इत्येवं पाठः प्रतीयते ।

स्वभावशरीरबलं[1] चेति[2]। (शग्मानि) सुखकारकाणि भूत्वा (अहोरात्राभ्याम्) दिवसे रात्रौ चोपासनाव्यवहारं योगं (मे) मम (भजन्तु) सेवन्ताम्। तथा भवत्कृपयाऽहं (योगं प्र पद्ये) प्राप्य (क्षेमं च) (प्र पद्ये) क्षेमं प्राप्य योगं च प्रपद्ये। यतोऽस्माकं सहायकारी भवान् भवेद्, एतदर्थं सततं नमोऽस्तु ते ॥८॥

इमे वक्ष्यमाणाश्च[3] मन्त्रा अथर्ववेदस्य सन्तीति बोध्यम्—(इन्द्रा०) हे इन्द्र परमेश्वर! त्वं (शच्याः) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिरसि। तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमत्त्वात् सर्वोत्कृष्टत्वादतिशयेन बहुरसि। तथा (अरात्याः०) शत्रुभूताया वाण्यास्तादृशस्य कर्मणो वा शत्रुरर्थाद्[4] भूयान्निवारकोऽसि। (विभूः) व्यापकः (प्रभूः) समर्थश्चासि। (इति) अनेन प्रकारेणैवंभूतं (त्वा) त्वां वयं सदैव (उपास्महे) अर्थात् तवैवोपासनं कुर्महे इति। अत्र प्रमाणम्—

वाचो नामसु शचीति पठितम् ॥ निघण्टु अ० १। खं० ११॥

तथा—कर्मणां नामसु शचीति पठितम् ॥ निघण्टु अ० २। खं० १॥

तथा—प्रजानामसु[5] शचीति पठितम् ॥ निघण्टु अ० ३। खं० ९॥९॥

---

१. '० शरीरबलं' समाहारद्वन्द्वः। अत्र 'बलम्' शरीरात् पृथग्गणनीयम्, तच्च त्रिविधं शरीरात्ममनःसंबन्धेन। शरीरशब्देन चेह सूक्ष्मशरीरं ग्राह्यम्।

२. अत्र केचन प्रत्यवतिष्ठन्ते यन्नेदं व्याख्यानं समीचीनम्, वेदे नक्षत्राणां प्रकरणादिति। अत्रोच्यते—शब्दार्थस्य परिच्छेदे उपक्रमोपसंहारावपि प्रमाणमिति मीमांसकानां सिद्धान्तः। तयोरनुरोधेन च सन्दिग्धस्य शब्दार्थस्य संकोचविकासौ विज्ञायेते। तथा सति पूर्वसूक्ते नामनिर्देशपुरःसरं निर्दिष्टानि नक्षत्राणि ज्योतिश्शास्त्रप्रसिद्धान्येव ग्राह्याण्यन्यानि वेति सन्देहे '**वेदो वा प्रायदर्शनात्**' (मी० ३।३।२) इति न्यायेन एतत्सूक्तस्य प्रथमयर्चा पूर्वसूक्तोक्तानां नक्षत्राणां भवत्यर्थनिश्चयः। तथाहि मन्त्रवर्णः—'**यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु**' इति। अत्र स्पष्टं पूर्वसूक्तोक्तानां नक्षत्राणां दिवि अन्तरिक्षे अप्सु भूमौ नगेषु दिक्षु चेत्येवं षट्सु स्थानेषु स्थितिरुक्ता। इहैव च 'यानि' पदस्य द्विः पाठात् 'यानि दिवि नक्षत्राणि, यानि अन्तरिक्षे, यानि अप्सु' इत्येवं प्रतिस्थानं नक्षत्राणां योजना करणीयेति द्योत्यते। एवं च कृत्वेह ज्योतिश्शास्त्रोक्तान्येव नक्षत्राणि ग्राह्याणीत्याग्रहस्तु मन्त्रविरोधादेव प्रत्युक्तः। अथेदं विचार्यते—सत्यपि नक्षत्राणां वैविध्ये ग्रन्थकृदुक्ता गणना कथमुपपद्यत इति। अत्र वदामः—मन्त्रे नगेष्वपि नक्षत्राणां स्थितिरुक्ता। नग-शब्दश्च वृक्षार्थे लोके प्रसिद्धः। मनुष्यशरीरं चोपनिषदि '**ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः**' (कठ २।३।१) इत्येवमश्वत्थवृक्षेणोपमीयते (गीतायामप्येतद् वर्णनमुपलभ्यते १५।१)। एतदेव च मनसि निधाय ग्रन्थकारेणेहोपासनाप्रकरणे मनुष्यशरीरस्थानि इन्द्रियादीन्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि परिगृहीतानि। अपि च—'यानि नक्षत्राणि' इति मन्त्रस्योत्तरार्धे **प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति**' इत्यत्रापि यथास्थानं नक्षत्राणामनुरोधेन चन्द्रमसोऽपि वैविध्यं कल्पनीयम्। उपक्रमानुरोधेनार्थपरिच्छेदस्योदाहरणं ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यप्रकरण उपरिष्टान्निदर्शयिष्यते।

३. 'अथो वरो' इति पर्यन्ता इति भावः।

४. अत्र पाठो व्यस्त इति प्रतीयतेऽन्वयाभावात्। अस्मन्मते तु 'शत्रुर्भूया अर्थान् निवारकोऽसि' इति शुद्धः पाठः स्यात्।

५. वै० य० मुद्रितेषु पञ्चमसंस्करणपर्यन्तं 'प्रजानामसु' इत्येव पाठो दृश्यते। शताब्दीसंस्करणे तु

ईश्वरोऽभिवदति—हे मनुष्या ! यूयमुपासनारीत्या सदैव (मा) मां (पश्यत) [प्रेमभावेन स्वात्मनि सदा पश्यत। मदाज्ञां वेदविद्यां च] सम्यग् ज्ञात्वाऽऽचरत। उपासक एवं जानीयाद् वदेच्च—हे परमेश्वरानन्तविद्यायुक्त ! (नमस्ते अस्तु) ते तुभ्यमस्माकं सततं नमोऽस्तु भवतु ॥१०॥

(अन्नाद्येन) कस्मै प्रयोजनाय ? अन्नादिराज्यैश्वर्य्येण, (यशसा) सर्वोत्तमसत्कर्मानुष्ठानोद्भूतया सत्कीर्त्या, (तेजसा) निर्दीनतया प्रागल्भ्येन च, (ब्राह्मणवर्चसेन) पूर्णविद्यया सह वर्त्तमानान् अस्मान् हे परमेश्वर ! त्वं कृपया सदैव (पश्य) संप्रेक्षस्वैतदर्थं वयं त्वां सर्वदोपास्महे ॥११॥

भाषार्थ—(अष्टाविंशानि शिवानि०) हे परमैश्वर्य्ययुक्त मङ्गलमय परमेश्वर ! आपकी कृपा से मुझको उपासनायोग प्राप्त हो, तथा उससे मुझको सुख भी मिले। इसी प्रकार आपकी कृपा से दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, विद्या, स्वभाव, शरीर[1] और बल, ये अट्ठाईस[2] सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासनायोग को सदा सेवन करें। तथा हम भी (योगं) उस योग के द्वारा (क्षेमं) रक्षा को, और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं। इसलिये हम लोग रात-दिन आपको नमस्कार करते हैं ॥८॥

(भूयानरात्याः) हे जगदीश्वर ! आप (शच्याः) सब प्रजा[3] वाणी और कर्म इन तीनों के

---

१. शरीर से यहां सूक्ष्मशरीर लेना चाहिये।

२. मन्त्र में 'अष्टाविंशानि' संख्या पूर्व प्रकृत नक्षत्रों के लिये प्रयुक्त हुई है। इससे पूर्व सूक्त में २८ नक्षत्र नाम निर्देशपूर्वक गिनाए हैं। परन्तु ये नक्षत्र ज्योतिष शास्त्र में प्रसिद्ध नक्षत्र हैं वा अन्य पदार्थ हैं इस सन्देह की निवृत्ति प्रकृत मन्त्र से पूर्व मन्त्र के 'यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु' निर्देश से हो जाती है। इस मन्त्र में पूर्वसूक्त पठित नक्षत्रों के द्यु-अन्तरिक्ष-अप-भूमि-नग और दिक् ये ६ स्थान बताए हैं। तथा इसी वचन में 'यानि' पद के दो बार पाठ होने से इसका सम्बन्ध 'जो नक्षत्र द्यु में, जो नक्षत्र अन्तरिक्ष में' इस प्रकार प्रत्येक स्थान के साथ है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। इसलिए पूर्वसूक्तस्थ अट्ठाईस नक्षत्र केवल ज्योतिष शास्त्र प्रसिद्ध ही हैं, यह भ्रान्ति इस मन्त्र से दूर हो जाती है। इस प्रकार नक्षत्र द्यु-लोक आदि के भेद से ६ प्रकार के होने पर भी ग्रन्थकार की यह २८ गणना प्रकरण में कैसे सम्बद्ध होगी ? इसका यह उत्तर है कि 'नगों में २८ नक्षत्र हैं' यह मन्त्र में कहा। नग का वृक्ष अर्थ लोक में प्रसिद्ध है। उपनिषद् आदि में शरीर की अश्वत्थ से उपमा दी है—'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातन' (कठ २।३।१) इसी अभिप्राय को मन में रखकर ग्रन्थकार ने नग=शरीरस्थ इन्द्रियादि २८ नक्षत्रों का निर्देश किया है। ऐसा समझना चाहिए।

३. वै० य० मुद्रित के १-५ सं० तक 'प्रजा' पाठ ही है। शताब्दी संस्करण में यहां 'प्रज्ञा' तथा संस्कृत भाग में 'प्रजानामसु' के स्थान में 'प्रज्ञानामसु' पाठ बनाया है। यही पाठ नवम संस्करण तक छपता चला आ रहा है। परन्तु संस्कृत में 'शच्याः' के अर्थ में 'प्रजायाः' ही पाठ छप रहा है। इस विरोध की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

'निघं० अ० ३ खं० ९' इत्यग्रिमनिर्देशानुसारं 'प्रज्ञानामसु' इत्येवं पाठः शोधितः। अयमेव च नवमसंशोधयित्रा 'निघं० अ० ३ खं० ९' इत्यग्रिमनिर्देशानुसारं 'प्रज्ञानामसु' इत्येवं पाठः शोधितः। अयमेव च नवम-संस्करणपर्यन्तमुपलभ्यते। परन्तु ग्रन्थकर्त्रा इह '(शच्याः) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिः' इति व्याख्यातत्वात् 'प्रजा' इत्येव ग्रन्थकृदभिप्रेतः पाठ इति प्रतिभाति। भाषापदार्थेऽपि 'प्रजा' शब्द एव दृश्यते (द्र०—प्रजाशब्दे टिप्पणम्) प्रजानामसु अर्थादपत्यनामसु (निघं० २। २) शचीशब्दो न पठ्यते। अथवेह निघं० 'अ० ३। खं० ९' इत्यत्र 'प्रज्ञानामसु' इतिवत् शच्याः पदार्थेपि 'प्रज्ञायाः' इत्येवं पाठः शोधनीयः। पं० सुखदेवेन त्विहापि निर्देशात् 'प्रज्ञानामसु' इतिवत् शच्याः पदार्थेपि 'प्रज्ञायाः' इत्येवं पाठो विहितः।

पति हैं, तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त हैं। जिससे आप (अरात्या:) अर्थात् दुष्टप्रजा मिथ्यारूपवाणी और पापकर्मों को विनाश करने में अत्यन्त समर्थ हैं। तथा आपको (विभू:) सब में व्यापक और (प्रभू:) सब सामर्थ्यवाले जानके हम लोग आपको उपासना करते हैं ॥९॥

(नमस्ते अस्तु०) अर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि—हे उपासक लोगो! तुम मुझको प्रेमभाव से अपने आत्मा में सदा देखते रहो। और मेरी आज्ञा और वेदविद्या को यथावत् जानके उसी रीति से आचरण करो। फिर मनुष्य भी ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर! आप कृपादृष्टि से (पश्य मा) हमको सदा देखिये। इसलिये हम लोग आपको सदा नमस्कार करते हैं कि—॥ १० ॥

(अन्नाद्येन) अन्न आदि ऐश्वर्य, (यशसा) सबसे उत्तम कीर्ति, (तेजसा) भय से रहित, (ब्राह्मण-वर्चसेन) और सम्पूर्ण विद्या से युक्त हम लोगों को करके कृपा से देखिये। इसलिये हम लोग सदा आपकी उपासना करते हैं॥ ११ ॥

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १२ ॥

अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १३ ॥

उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १४ ॥

प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १५ ॥

अथर्व० कां० १३। अनु० ४। मं० ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३ ॥[1]

भाष्यम्—हे ब्रह्मन्! (अम्भः) व्यापकं शान्तस्वरूपं जलवत् प्राणस्यापि प्राणम्, 'आप्लृ' धातो 'रसुन्' प्रत्ययान्तस्यायं प्रयोगः, (अमः) ज्ञानस्वरूपम्, (महः) पूज्यं सर्वेभ्यो महत्तरम्, (सहः) सहनस्वभावं ब्रह्म (त्वा) त्वां ज्ञात्वा (इति) अनेन प्रकारेण वयं सततमुपास्महे ॥१२॥

(अम्भः) आदरार्थो द्विरारम्भः[2], अस्यार्थ उक्तः[3]। (अरुणम्) प्रकाशस्वरूपं, (रजतम्) रागविषयम्[4] आनन्दस्वरूपम् (रजः) सर्वलोकैश्वर्य्यसहितम्, (सहः) सहनशक्तिप्रदम् (इति त्वोपास्महे वयम्) त्वां विहाय नैव कश्चिदन्योऽर्थः कस्यचिदुपास्योऽस्तीति ॥१३॥

(उरुः) सर्वशक्तिमान्, (पृथुः) अतीव विस्तृतो व्यापकः, (सुभूर्भुवः) सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति सुभूः, अन्तरिक्षवदवकाशरूपत्वाद् भुवः, (इति) एवं ज्ञात्वा (त्वा) त्वां (उपास्महे वयम्)। 'बहुनामसु उरु' रिति प्रत्यक्षमस्ति[5]। निघण्टु अ० ३। खं० १ ॥१४॥

१. पूर्वपठितमन्त्रत्रयमव्यपेक्ष्यायं संख्यानिर्देशः। अत्रत्या मन्त्राः अथर्व १३।४।५०-५३ स्थाने द्रष्टव्याः।

२. नास्मिन् मन्त्रे 'अम्भः' पदं द्विः पठ्यते, तस्मात् पूर्वमन्त्रस्थापेक्षया द्वित्वमत्र ज्ञेयम्।

३. पूर्वमन्त्रार्थ इति शेषः।

४. प्रीतिविषयमित्यर्थः, न त्वज्ञानानुबन्धिरागविषयम्।

५. प्रत्यक्षमिति वचनात् अप्रत्यक्षमपठितानामपि तत्तन्नाम्नां क्वचिन्निर्देशो ग्रन्थकारेण यास्कशैलीमनुरुध्य कृत इति ज्ञेयम्। यथास्मिन्नेव प्रकरणे (पृष्ठ १८६) 'शचीति प्रजानामसु' पठितमिति वचनम्। तथा सति 'शच्या प्रजायाः' इत्यर्थनिर्देशोऽप्युपपद्यत एव। अस्मिन् पक्षे यत्त्वत्र 'निघं० ३।९' इति संकेतः स प्रामादिको ज्ञेयः।

(प्रथ) सर्वजगत्प्रसारकः, (वरः) श्रेष्ठः, (व्यचः) विविधतया सर्वं जगज्जानातीति, (लोकः) लोकगत सर्वजनैः, लोकयति सर्वान् वा (इति त्वो०) वयमीदृक्स्वरूपं सर्वज्ञं त्वामुपास्महे ॥१५॥

भाषार्थ—(अम्भः) हे भगवन् ! आप सबमें व्यापक, शान्तस्वरूप और प्राण के भी प्राण हैं। तथा (अमः) ज्ञानस्वरूप और ज्ञान को देनेवाले हैं, (महः) सबके पूज्य, सबसे बड़े, और (सहः) सबके सहन करनेवाले हैं (इति) इस प्रकार का (त्वा) आपको जानके (वयम्०) हम लोग सदा उपासना करते हैं॥ १२ ॥

(अम्भः) दूसरी बार[1] इस शब्द का पाठ केवल आदर के लिये है। (अरुणम्) आप प्रकाशस्वरूप, सब दुःखों के नाश करनेवाले, तथा (रजतम्) प्रीति के परम हेतु, आनन्दस्वरूप (रज) सब लोकों के ऐश्वर्य्य से युक्त, (सहः) (इस शब्द का भी [पुनः] पाठ आदरार्थ है[2]) और सहनशक्तिवाले हैं। इसलिये हम लोग आपकी उपासना निरन्तर करते हैं॥ १३ ॥

(उरुः) आप सब बलवाले, (पृथुः) [अति विस्तृत=व्यापक] अर्थात् आदि अन्त रहित, तथा (सुभूः) सब पदार्थों में अच्छी प्रकार से वर्त्तमान, और (भुवः) अवकाशस्वरूप से सबके निवासस्थान हैं। इस कारण हम लोग उपासना करके आपके ही आश्रित रहते हैं॥ १४ ॥

(प्रथो वरो०) हे परमात्मन् ! आप सब जगत् में प्रसिद्ध और उत्तम हैं, (व्यचः) अर्थात् सब प्रकार से इस जगत् का धारण, पालन और वियोग करनेवाले तथा (लोकः) सब विद्वानों के देखने अर्थात् जानने के योग्य केवल आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं॥ १५ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि ॥

ऋ० अ० १। अ० १। व० ११। म० १ ॥[3]

भाष्यम्—(युञ्जन्ति०) ये योगिनो विद्वांसः (परि तस्थुषः) परितः सर्वतः सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान् वा (चरन्तम्) ज्ञातारं सर्वज्ञम् (अरुषम्) अहिंसकं करुणामयम्, 'रुष हिंसायाम्'। (ब्रध्नम्) महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति, विद्यायोगाभ्यासप्रेमभरेण सर्वानन्दवर्धकं, (दिवि) द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचनाः) त आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते, इति प्रथमोऽर्थः।

अथ द्वितीयः—परि तस्थुषः[4] चरन्तमरुषमग्निमयं ब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः सर्वे[5] पदार्थाश्च (युञ्जन्ति) तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति। एते सर्वे तस्यैव (दिवि) प्रकाशे (रोचनाः) रुचिकराः सन्तः (रोचन्ते) प्रकाशन्ते, इति द्वितीयोऽर्थः।

---

१. मन्त्र में तो 'अम्भः' का एक ही बार पाठ है, अतः यह वचन पूर्व मन्त्र की अपेक्षा करके लिखा गया है।

२. यहां भी पूर्ववत् समझें। ३. ऋ० १। ६। १॥

४. वै० य० मुद्रितेषु सप्तसंस्करणेषु मुद्रितः '(परितस्थु०)' इत्येवम् अपूर्णः पाठोऽष्टमसंस्करणे यथातथरूपेण पूरितः कोष्ठश्चापमृष्टः।

५. पदमिदं वै० य० मुद्रिते पञ्चमसंस्करणे संशोधकप्रमादान्नष्टं सद् अष्टमसंस्करणपर्यन्तं नोपलभ्यते।

अथ तृतीयः—य उपासकाः परि तस्थुषः सर्वान् पदार्थान् चरन्तमरुषं सर्वमर्मस्थ (ब्रध्नं) सर्वावयववृद्धिकरं प्राणमादित्यं प्राणायामरीत्या (दिवि) द्योतनात्मके परमेश्वरे वर्त्तमानं (रोचनाः) रुचिमन्तः सन्तो (युञ्जन्ति) युक्तं कुर्वन्ति। अतस्ते तस्मिन् मोक्षानन्दे परमेश्वरे (रोचन्ते) सदैव प्रकाशन्ते। अत्र प्रमाणानि—

मनुष्यनामसु 'तस्थुषः पञ्चजनाः' इति पठितम्॥ निघं० अ० २। खं० ३॥

'महत् ब्रध्नम्' [इति] महन्नामसु पठितम्॥ निघं० अ० ३। खं० ३॥

तथा 'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति। असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै[1]' ॥ श० कां० १३। अ० २॥[2]

'आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥१॥' प्रश्नोपनि० प्रश्न १। मं० ५॥

परमेश्वराद् महान् कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातः [निघण्टुप्रमाणं प्रथमेऽर्थे योजनीयम्।] तथा शतपथप्रमाणं द्वितीयमर्थं प्रति, एवमेव प्रश्नोपनिषत्प्रमाणं तृतीयमर्थं प्रति च। क्वचिन्निघण्टावश्वस्यापि ब्रध्नारुषौ नाम्नी पठिते[3]। परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति, शतपथादिव्याख्यानविरोधात्, मूलार्थविरोधाद् एकशब्देनाप्यनेकार्थग्रहणाच्च[4]।

एवं सति भट्टमोक्षमूलरेण ऋग्वेदस्येङ्गलेण्डभाषया व्याख्याने यदश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतं, तद् भ्रान्तिमूलमेवास्ति। सायणाचार्य्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यायामादित्यग्रहणादेकस्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं सम्यगस्ति[5]। परन्तु न जाने भट्टमोक्षमूलरेणायम[श्वा]र्थ आकाशाद् वा पातालाद् [वा] गृहीतः[6]। अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्तीति॥[१६]॥

भाषार्थ—(युञ्जन्ति०) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है, इसीलिये जो विद्वान् लोग हैं, वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासना-रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं। वह ईश्वर कैसा है? कि (चरन्तम्) अर्थात् सबका जाननेवाला, (अरुषम्) हिंसादिदोषरहित, कृपा का समुद्र, (ब्रध्नम्) सब आनन्दों का बढ़ानेवाला, सब रीति से बड़ा है। इसीसे (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा सब अविद्यादि दोषों के अन्धकार से छूटके (दिवि)

१. वै० य० मुद्रिते 'समृष्ट्यै' लेखकमुद्रकप्रमादजन्योऽपपाठः।

२. शत० १३।२।६।१॥

३. द्र० निघं० १। १४॥

४. अनेकार्थत्वेऽपि शब्दानां नैकस्यामेव प्रक्रियायामनेकार्थग्रहणं भवति। तेनेह 'प्रक्रियाभेदेन' इति पदमनुयोजनीयम्। व्यक्तं चायमर्थो ग्रन्थकृतेहैव ब्रध्नशब्दस्य प्रक्रियाभेदमनुरुध्य भिन्नार्थकरणाद् द्योतितः।

५. 'सम्यक्कृतमस्ति' इति वै० य० मुद्रितेषु तृतीयसंस्करणादारभ्याष्टमसंस्करणपर्यन्तमुपलभ्यते। प्रकरणमिदं सत्यार्थप्रकाशस्यैकादशसमुल्लासस्यादावपि ग्रन्थकृतोल्लिखितम्।

६. सत्यपि निघण्टौ ब्रध्नशब्दस्याश्ववाचके ग्रन्थकारस्यैतल्लेखने पूर्वनिर्दिष्टं 'परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति' इत्यादिवचनम् अनुसन्धेयम्।

आत्माओं को प्रकाशित करनेवाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं ।। इति प्रथमोऽर्थः ।

अब दूसरा अर्थ करते हैं कि—[1](परि तस्थुषः) अपनी किरणों से सब ओर व्याप्त होनेवाले, अग्निमय (ब्रध्नम्) आदित्य को सब लोक और सब पदार्थ उसको आकर्षण से युक्त हो रहे हैं, और उसी के प्रकाश से प्रकाशवाले होकर प्रकाशित हो रहे हैं। विद्वान लोग उसी को सब लोकों का आकर्षक जानते हैं ।। इति द्वितीयोऽर्थः ।

(युञ्जन्ति०) इस मन्त्र का और तीसरा यह भी अर्थ है कि—[2]सब पदार्थों को सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है, उसको प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं। इसी कारण वे लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं।

इन तीनों अर्थों में निघण्टु आदि के प्रमाण भाष्य में लिखे हैं, सो देख लेना। इस मन्त्र के इन अर्थों को नहीं जानके भट्ट मोक्षमूलर साहब ने 'घोड़े' का जो अर्थ किया है, सो ठीक नहीं है। यद्यपि सायणाचार्य्य का अर्थ भी यथावत् नहीं है, परन्तु मोक्षमूलर साहब के अर्थ से तो अच्छा ही है[3]। क्योंकि प्रोफ़ेसर मैक्समूलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोलकल्पना की है [।।१६।।]

इदानीमुपासना कथंरीत्या कर्त्तव्येति लिख्यते—

तत्र शुद्ध एकान्तेऽभीष्टे देशे शुद्धमानसः समाहितो भूत्वा, सर्वाणीन्द्रियाणि मनश्चैकाग्रीकृत्य, सच्चिदानन्दस्वरूपमन्तर्यामिनं न्यायकारिणं परमात्मानं सञ्चिन्त्य, तत्रात्मानं नियोज्य च, तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठानं सम्यक्कृत्वोपासनयेश्वरे पुनः पुनः स्वात्मानं संलगयेत् । अत्र[4] पतञ्जलिमहामुनिना स्वकृतसूत्रेषु वेदव्यासकृतभाष्ये चायमनुक्रमो योगशास्त्रे प्रदर्शितः । तद्यथा—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।।१।। [5]अ० १। पा० १। सू० २ ।।

भाष्यम्—उपासनासमये व्यवहारसमये वा परमेश्वराद् अतिरिक्तविषयाद् अधर्मव्यवहाराच्च[6] मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीयेति ।।१।।

---

१. वै०य० मुद्रित में इस मन्त्र का संस्कृत विपरीत भ्रष्ट भाषापदार्थ इस प्रकार छपा है—(परितस्थुषः) जो सूर्यलोक अपनी किरणों से सब मूर्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश और आकर्षण करने में (ब्रध्न) सबसे बड़ा और (अरुषं) रक्तगुणयुक्त है और जिसके आकर्षण के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं (रोचनाः) जिसके प्रकाश से सब प्रकाशित सब लोकों के आकर्षयुक्त जानते हैं।'

२. यह भाषार्थ भावार्थरूप है।

३. यह विषय सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के आदि में भी मिलता है।

४. 'अत्र' उपासनाविषय इत्यर्थः ।

५. अस्मिन् प्रकरणे सर्वत्रैव योगदर्शनस्य सूत्राणां स्थाननिर्देशप्रसङ्गे 'अ० १।' इत्येवं पाठो वै० य० मुद्रितेऽष्टमसंस्करणं यावद् उपलभ्यते, नवमसंस्करणशोधयित्रा तदपाकृतम् । वस्तुतो योगशास्त्रे चतुर्णामेव पादानां सद्भावात् ग्रन्थान्ते ग्रन्थसंकेतविषये ऽध्यायनिर्देशस्यानुक्तत्वाच्चेह अध्यायनिर्देशो व्यर्थ एव प्रतिभाति ।

६. उपासनासमये परमेश्वरात्, व्यवहारसमये अतिरिक्तविषयाद् अधर्मव्यवहाराच्च इत्येवं संबन्धो योजनीयः । व्यवहारसमये यं विषयमधिकृत्य प्रवर्तते ततोऽतिरिक्तविषयाद् इत्यभिप्रायोऽत्र विज्ञेयः ।

निरुद्धा सती सा क्वावतिष्ठत इत्यत्रोच्यते—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३ ॥

भाष्यम्—यदा सर्वस्माद् व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते, तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते[1] ॥२॥

यदोपासको योग्युपासनं विहाय सांसारिकव्यवहारे प्रवर्त्तते, तदा सांसारिकजनवत्तस्यापि प्रवृत्तिर्भवत्याहोस्विद् विलक्षणेत्यत्राह—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥३॥ अ० १ । पा० १ । सू० ४ ॥

भाष्यम्—इतरत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्यादिज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठाऽतीवतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति । नैवेदृश्यनुपासकानामयोगिनां कदाचिद् वृत्तिर्जायत इति[2] ॥३॥

कति वृत्तयः सन्ति, कथं निरोद्धव्या इत्यत्राह—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥४॥
प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥५॥
तत्र[3] प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥६॥
विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥७॥
शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥८॥
अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥९॥

---

१. अस्मिन् व्याख्याने व्यासभाष्याद् आपाततो विरोधः प्रतिभाति । तस्य समाधानं पण्डितसुखदेवेनेत्थं विहितम्—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् इत्यत्र 'स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये' इति व्यासभाष्यात् 'कैवल्यवन्निरोधावस्थायां द्रष्टुर्जीवात्मनः स्वरूपे स्थितिर्भवति' इति प्रतीयते । महर्षिभाष्याच्च 'मनस्तदा द्रष्टुः परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते' इति लभ्यते । भाष्ययोरेवं विरोधो नाशङ्कनीयः । कैवल्यवद् यदि निरोधोऽपि स्वरूपस्थितिस्तत्किमिति कैवल्यमिति वाच्यम् ? जीवात्मनः स्वरूपप्रतिष्ठा वा स्यात् परमात्मनः स्वरूपे जीवस्य स्थितिर्वा स्याद्, उभयत्रापि मोक्षत्वान्नातिरिच्यते । परमात्मनः स्वरूपावस्थाने जीवस्य स्वरूपावस्थानं नान्तरीयकम्, जीवस्य स्वरूपावस्थानप्रयत्नेतरप्रयत्नासाध्यं च परमात्मनः स्वरूपावस्थानमिति कैवल्यवन्निरोधेऽपि समानमित्युभयत्र शब्दभेदो नार्थभेदः" इति । द्र०—गोविन्दरामहासानन्दप्रकाशितर्ग्वेदादिभाष्यभूमिका (पृष्ठ ३८६)।

२. इहापि व्यासभाष्यात् प्रतीयमानो विरोधः पण्डितसुखदेवेनेत्थं समाहितः—"वृत्तिसारूप्यमितरत्रेत्यत्र 'व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदभिन्नवृत्तिः पुरुष इत्यर्थः प्रतीयते । महर्षिभाष्याच्च सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य साधारणपुरुषविलक्षणा वृत्तिर्भवतीति लभ्यते । तथाप्युभयत्र नास्ति विरोधः । केवलं वृत्तित्वेन विशेष्यांशे सारूप्येऽपि क्वचिद् विशेषणांशे शान्तघोरमूढरूपेण योग्ययोगिनो वैरूप्यमित्यर्थादापतति" इति । द्र०—सैव भूमिका (पृष्ठ ३८७) ।

३. 'तत्र' इति पदं भाष्यकारस्येत्येके भाषन्ते सूत्रस्येत्यपरे । उभयथाऽपि नाभिप्राये भेदः ।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥१०॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥११॥ अ० १। पा० १। सू० ५-१२॥

उपासनायाः सिद्धेः सहायकारि परमं साधनं किमस्तीत्यत्रोच्यते—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥१२॥ अ० १। पा० १। सू० २३॥

भाष्यम्—"प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्त्तित[2] ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिनः आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति' ॥१२॥

भाषार्थ—अब जिस रीति से उपासना करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—

जब-जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब-तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर, अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें। तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षणवाले अन्तर्यामी अर्थात् सबमें व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छी प्रकार से लगाकर, सम्यक् चिन्तन करके, उसमें अपने आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना को बारम्बार करके, अपने आत्मा को भलीभांति से उसमें लगा दें। इसकी रीति पतञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेदव्यासमुनिजी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं—

(योगश्चित्त०) चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटाके, शुभ गुणों में स्थिर करके, परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को 'योग' कहते हैं। और 'वियोग' उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फंसके उससे दूर हो जाना ॥ १ ॥

(प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटाके स्थिर की जाती है, तब कहां पर स्थिर होती है ?

इस का उत्तर यह है कि—(तदा द्र०) जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांधके रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चलके वहीं स्थिर होजाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है[3] ॥ २ ॥

---

१. इत उत्तरं यत्र यावानंशो व्यासभाष्यस्योद्ध्रियते, स उभयतः ' ' चिह्नेन द्योत्यते।

२. व्यासभाष्ये '०दावर्जित' इति पाठ उपलभ्यते।

३. वै० य० मुद्रित में इससे आगे 'एक तो चित्त की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है' इतना पाठ अधिक है, उसे संस्कृत से विरुद्ध होने से हमने हटा दिया।

विशेष-इस व्याख्या के विषय में श्री पं० सुखदेवजी ने स्वसम्पादित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में जो टिप्पणी दी है उसे हम संक्षेप से उद्धृत करते हैं—"महर्षि व्यास ने 'द्रष्टा' से जीवात्मा का ग्रहण किया है। उनका कथन है—'मोक्षावस्था की तरह निरोधावस्था में भी जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता है। महर्षि दयानन्द ने 'द्रष्टा' से परमात्मा का ग्रहण किया है। वस्तुतः दोनों अर्थों में कोई भेद नहीं। अपने स्वरूप में स्थित होने का अर्थ ही यही है कि परमात्मा का आनन्द प्राप्त हो। अपनी स्वरूपस्थिति के लिये जो प्रयत्न किया जाता

[(प्रश्न) जब उपासक योगी उपासना को छोड़कर सांसारिक व्यवहार में प्रवृत्त होता है, तब उसकी प्रवृत्ति भी सांसारिक मनुष्य के समान होती है वा उससे विलक्षण ?]

[1]इस का उत्तर यह कि—(वृत्तिसा०) उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोकरहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है, और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है, उपासक योगी की तो [वृत्ति] ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है, और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फंसती जाती है[2] ॥ ३ ॥

(वृत्तयः०) अर्थात् सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसके दो भेद हैं—एक क्लिष्ट, दूसरी अक्लिष्ट, अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित। उनमें से जिनकी वृत्ति विषयासक्त, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है उनकी वृत्ति अविद्यादि क्लेशसहित, और जो पूर्वोक्त उपासक हैं उनकी क्लेशरहित शान्त होती हैं ॥ ४ ॥

वे पाँच वृत्ति ये हैं—पहली (प्रमाण), दूसरी (विपर्य्यय), तीसरी (विकल्प), चौथी (निद्रा), और पांचमी (स्मृति) ॥ ५ ॥

उनके विभाग और लक्षण ये हैं—(तत्र प्रत्यक्षा०) इसकी व्याख्या वेदविषय के होमप्रकरण में लिख दी है[3] ॥ ६ ॥

(विपर्य्ययो०)दूसरी 'विपर्य्यय' कि जिससे मिथ्याज्ञान हो, अर्थात् जैसे को तैसा न जानना अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना, इसको 'विपर्य्यय' कहते हैं ॥७॥

तीसरी, 'विकल्पवृत्ति' (शब्दज्ञाना०) जैसे किसी ने कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे। इस बात को सुनके कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है, सींगवाले मनुष्य भी होते होंगे। ऐसी वृत्ति को 'विकल्प' कहते हैं। सो झूठी बात है, अर्थात् जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके, इसी से इसका नाम 'विकल्प' है ॥८॥

है, परमात्मा की प्राप्ति के लिये उससे भिन्न प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती और परमात्मा की प्राप्ति के लिये भी जीव की स्वरूपस्थिति आवश्यक होती है। इस प्रकार महर्षि दयनन्द ने परमात्मपरक अर्थ के द्वारा महर्षि व्यास के अर्थ में और भी अधिक सौन्दर्य पैदा कर दिया।"

१. वै० य० मुद्रित में 'और दूसरा यह है कि' पाठ है, यह संस्कृतपाठ से असंबद्ध है।

२. इस सूत्र के व्यासभाष्य के अनुसार सांसारिक अवस्था में योगी अयोगी दोनों की आत्मा में चित्त-वृत्ति से समानरूपता होती है, परन्तु ऋषि दयानन्द के लेखानुसार योगी अयोगी दोनों की अवस्था में भेद रहता है। यद्यपि साधारण दृष्टि से महर्षि व्यास के भाष्य और ऋषि दयानन्द के लेख में विरोध प्रतीत होता है तथापि मूलतः दोनों में भेद नहीं है। महर्षि व्यास ने केवल इतना ही कहा है कि सांसारिक अवस्था में योगी अयोगी दोनों की आत्मा चित्तवृत्ति से अभिन्न होती है, यह समानता केवल वृत्तिरूप से है। ऋषि दयानन्द इसका विरोध नहीं करते। वे केवल इतना कहते हैं कि चित्त की शान्त घोर और मूढ़ वृत्तियों में से योगी की और अयोगी की वृत्ति में भिन्नता होती है। इस प्रकार ऋषि दयानन्द की व्याख्या व्यासभाष्य की पूरक है।

३. प्रत्यक्षादि प्रमाणों की व्याख्या पूर्व पृष्ठ ६२, ६३ पर देखो।

चौथी 'निद्रा' [(अभाव०)] अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फंसी हो, उस वृत्ति का नाम 'निद्रा' है ॥९॥

पांचमी 'स्मृति' (अनुभूत०) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता, और उस विषय को अप्रमोष=भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को 'स्मृति' कहते हैं ॥१०॥

इन पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि—(अभ्यास०) जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे, वैसा करें। और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांच वृत्तियों को रोक के उनको उपासनायोग में प्रवृत्त रखना ॥११॥

तथा उस समाधि के योग होने का यह भी साधन है कि—(ईश्वरप्र०) ईश्वर में विशेष भक्ति होने पर [ईश्वर की कृपा से] मनका समाधान होके, मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥१२॥

[१]"अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति'—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥१३॥ अ० १। पा० १। सू० १४॥

भाष्यम्—'अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकस्तदनुगुणा वासना आशयाः, ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धनकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते, नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति। तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किं निमित्तम्? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिसम्बन्धः। एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं, न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात् तदेव तत्स्यात् तस्माद् यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः'। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात्? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति, एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघाताद् ऊनत्वं प्रसक्तम्। द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति. अर्थस्य विरुद्ध-

१. इत आरभ्य योगसूत्राणां व्यासभाष्यमेवाग्रे लिख्यते। अत्र च क्वचित् सम्प्रत्युपलभ्यमानाद् व्यासभाष्याद् भेदो दृश्यते। अस्माभिस्तु यथास्थित एव पाठो मुद्रितः, न पाठभेदा निर्दिष्टाः। महर्षिणाऽऽज्ञयाऽपि व्यासभाष्यस्यैकं संस्करणं १९२९ वैक्रमाब्दे वाराणसीतः प्रकाशितमभूत्। तत्पाठा अपीहावलोकनीयाः।

त्वात् । तस्माद् यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्यं स [एव][1] ईश्वरः, स च पुरुषविशेष इति' ।।१३।।

'किं च'—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।।१४।। अ० १ । पा० १ । सू० २५ ।।

भाष्यम्—'यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः । अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात्परिमाणवदिति । यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः, स च पुरुषविशेष इति । सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति । तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्य्यन्वेष्या । तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्—ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति । तथा चोक्तम्—आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति' ।।१४।।

स एष[2] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।।१५।। अ० १ । पा० १ । सू० २६ ।।

भाष्यम्—'पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते, स एष पूर्वेषामपि गुरुः । यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः' ।।१५।।

तस्य वाचकः प्रणवः ।। अ० १ पा० १ । सू० २७ ।।

भाष्यम्—'वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य । किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति ? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सम्बन्धः । संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति । यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते—अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति । सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते । संप्रतिपत्तिनित्यतया 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध' इत्यागमिनः प्रतिजानते' ।।१६।।

'विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः'—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।।२७।। अ० १ । पा० १ । सू० २८ ।

भाष्यम्—'प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना[3] । तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्तम्—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते इति' ।।१७।।

१. पदमिदं वै० य० मुद्रितयोरष्टमनवमयोरेव संस्करणयोरुपलभ्यते, न ततः पूर्वतनेषु । व्यासभाष्यं दृष्ट्वा पदमिदं निःक्षिप्तं स्यात् । २. वाचस्पत्यादीनां व्याख्यातॄणां मते 'स एष' इति पदे सूत्रस्योपस्थापिके स्तः । व्यासभाष्ये 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः' इत्यानुपूर्विपाठात् सूत्रावयवोऽपि सम्भवति ।

३. व्यासभाष्ये 'भावनम्' पाठ उपलभ्यते क्वचित् ।

भाषार्थ—अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि—(क्लेशकर्म०) अर्थात् इसी प्रकरण में आगे लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश, और अच्छे बुरे कर्मों की जो-जो वासना, इन सबसे जो सदा अलग और बन्ध[न]रहित है, उसी पूर्ण पुरुष को 'ईश्वर' कहते हैं। फिर वह कैसा है? जिससे अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं, तथा जो सदा आनन्दज्ञानस्वरूप सर्वशक्तिमान् है, उसी को ईश्वर कहते हैं ॥१३॥

क्योंकि (तत्र निरति०) जिसमें नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है, वही ईश्वर है। जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं। और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है, इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान [को] बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें ॥१४॥

[(स एष०) इसका भाषार्थ वेदनित्यत्वविषय में लिख दिया है[1] ॥१५॥]

अब उसकी भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—(तस्य वा०) जो ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है। और यह नाम ईश्वर को छोड़के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें से ओंकार सबसे उत्तम नाम है ॥१६॥

इसलिये (तज्जप०) इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थविचार सदा करना चाहिये, कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो। जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेम-भक्ति सदा बढ़ती जाय ॥१७॥

फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है कि—

'किं चास्य भवति'—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥१८॥ अ० १। पा० १। सू० २९॥

भाष्यम्—'ये तावदन्तरायाः, व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलः अनुपसर्गः, तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति' ॥१८॥

'अथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विक्षेपकाः। के पुनस्ते कियन्तो वेति'—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥१९॥ अ० १। पा० १। सू० ३०॥

भाष्यम्—'नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येतेषामभावे न भवन्ति। पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। संशय

---

१. पूर्वत्र पृष्ठ ४०।

उभयकोटिस्पृक् विज्ञानम्—स्यादादिमेव नैवं स्यादिति । प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम् । आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः । भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम् । अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः । अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा, समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति । एते चित्तविक्षेपा नव योगमलाः, योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते' । १९॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ २० ॥

अ० १ । पा० १ सू० ३१ ॥

भाष्यम्—'दुःखमाध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकं च । येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते, तद् दुःखम् । दौर्मनस्यम्—इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः । यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम् । प्राणो यद् बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः । एते[1] विक्षेपसहभुवः । विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति । समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ॥२०॥

'अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः, ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः । तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह'—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥२१॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३२ ॥

भाष्यम्—'विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यस्येत्[2] । यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं, तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं, नास्त्येव विक्षिप्तम् । यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम् ।

योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते, तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मः तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं, क्षणिकत्वात् । अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा, प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति ।

यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्, अथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत् । अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् । कथञ्चित् समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं[3] न्यायमाक्षिपति ।

किंच स्वात्मानुभवापह्नवः चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथम्, यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामि, यच्चास्पार्क्षं तत्पश्यामीति । अहमिति प्रत्ययः [सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः ।

१. "संस्करण १ में नहीं है, हस्तलेख में है" यह वै० य० मुद्रित सं० ९ में टिप्पणी है ।

२. '० मभ्यसेत्' इति प्रथमसंस्करणे, द्वितीयसंस्करणात्तु '०मभ्यस्येत्' इत्येव दृश्यते ।

३. गोमयं च पायसं चाधिकृत्य प्रवृत्तो न्यायः । गोमयं पायसं गव्यत्वाद् उभयसिद्धपायसवदिति वाचस्पतिव्यासभाष्यटीकायाम् । अस्यायं भावः—गोमयं पायसं चोभयमपि गोप्रभवम्, तस्माद् यथा गोः प्रभवं पायसं पायसम्, तथा गोप्रभवत्वादेव गोमयमपि पायसम्, यद्वा गोमय इव पायसमपि गोमयं गोप्रभवत्वात् ।

एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः][1] कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् ? स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः। न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते प्रमाणान्तरञ्च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम्' ॥२१॥

'य[स्य चित्तस्यावस्थित][2]स्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम्'[3] ॥

भाषार्थ—इस मनुष्य को क्या होता है ? (ततः प्र०) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति, और (अन्तराय) उसके अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है ॥१८॥

वे विघ्न नव प्रकार के हैं—(व्याधि०) एक (व्याधि) अर्थात् धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना। दूसरा (स्त्यान) अर्थात् सत्य कर्मों से अप्रीति। तीसरा (संशय) अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे, उसका यथावत् ज्ञान न होना। चौथा (प्रमाद) अर्थात् समाधिसाधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना। पांचवां (आलस्य) अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना। छठा (अविरति) अर्थात् विषय-सेवा में तृष्णा का होना। सातवां (भ्रान्तिदर्शन) अर्थात् उलटे ज्ञान का होना, जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़बुद्धि करना, तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना। आठवां (अलब्धभूमिकत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना। और नववां (अनवस्थितत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उसमें चित्त स्थिर न होना। ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं ॥१९॥

अब इनके फल लिखते हैं—(दुःखदौर्म०) अर्थात् दुःख की प्राप्ति, मन का दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कंपना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना, जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। ये सब क्लेश अशान्त चित्तवाले को प्राप्त होते हैं, शान्त चित्तवाले को नहीं ॥ २० ॥

और उनके छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है कि–(तत्प्रतिषेधा०) जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व है उसी में प्रेम, और सर्वदा उसी की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है, वही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है, अन्य कोई नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये, कि जिससे वे सब विघ्न दूर हो जायं ॥ २१ ॥

आगे जिस भावना से उपासना करनेवाले को व्यवहार में अपने चित्त को प्रसन्न करना होता है, सो कहते हैं–

---

१. अयं कोष्ठान्तर्गतः पाठो लेखकस्य दृष्टिदोषान्नष्टः, 'अहमिति प्रत्ययः' इति पाठस्य पूर्वत्र परत्र च समानत्वात्। २. अयमपि कोष्ठान्तर्गतः पाठो लेखकप्रमादान्नष्टः प्रतिभाति। वाचस्पतिविरचितायाष्टीकायाः पाठोऽत्रानुसंधेयः। ३. इयं पङ्क्तिरुत्तरेण सूत्रेण संबध्यते।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥२२॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३३ ॥

भाष्यम्—'तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते' ॥२२॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥२३ ॥ अ० १ । पा० १ सू० ३४ ॥

भाष्यम्—कोष्ठ्यस्य[1] वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामः । ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ।'

छर्दनं भक्षितान्नवमनवत् प्रयत्नेन शरीरस्थं प्राणं बाह्यदेशं निस्सार्य्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भनेन चित्तस्य स्थिरता सम्पादनीया ॥२३॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥२४॥

अ० १ । पा० २ सू० २८ ॥

भाष्यम्—एषामुपासनायोगाङ्गानामनुष्ठानावरणाद्शुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति, ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति ॥२४॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२५ ॥

अ० १ । पा० २ सू० २९ ॥

[2]तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥२६॥ अ १ पा २ । सू० ३० ॥

भाष्यम्—'तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते । तदवदातरूपकारणायैवोपोदीयन्ते । तथा चोक्तम्—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति ।

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे । यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति । परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा भवेत् इति, एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत् । तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण[3] कष्टं तमः प्राप्नुयात् । तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् ।

१. वै० य० मुद्रितेषु 'कोष्ठ्यस्य' इत्येव पाठः । स च कोष्ठशब्दाद् भवार्थे शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४।३।५५) इति सूत्रेण यति प्रत्यये सिद्ध्यति । व्यासभाष्ये तु 'कौष्ठ्यस्य' पाठः । तत्र आर्षत्वाद् 'ष्यः' प्रत्ययो द्रष्टव्यः । यद्वा कोष्ठ्यात् स्वार्थेऽण् ज्ञेयः । २. 'तत्र' इति पदं सूत्रोपस्थानिकारूपमित्येके ।

३. प्रथमसंस्करणे 'पुण्यप्रतिरूपकेन' इति णत्वाभाववर्जं शुद्धः पाठः । द्वितीयसंस्करणात्तु 'पुण्यप्रकृतिरूपकेन' इत्येवमपपाठो मुद्र्यते । नवमसंस्करणे 'पुण्यप्रकृतिरूपकेण' णत्ववान् पाठो दृश्यते ।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति ।

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः ।

विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनाद् अस्वीकरणमपरिग्रहः । इत्येते यमाः॥२६॥

एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते ।

भाषार्थ—(मैत्री०) अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं, उन सबों के साथ मित्रता करना । दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी । पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता । पापियों के साथ उपेक्षा, अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना । इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है ।। २२ ।।

(प्रच्छर्दन०) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकालके सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे । पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे । इसी प्रकार बार बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है । और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है । इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये । जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बार बार मग्न करना चाहिये ।। २३ ।।

(योगाङ्गानु०) आगे जो उपासनायोग के आठ अङ्ग लिखते हैं, जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय, और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।। २४ ।।

(यमनियमा०) अर्थात् एक (यम), दूसरा (नियम), तीसरा (आसन), चौथा (प्राणायाम), पांचवां (प्रत्याहार), छठा (धारणा), सातवां (ध्यान), और आठवां (समाधि) ये सब उपासनायोग के अङ्ग कहाते हैं । और आठ अङ्गों का सिद्धान्तरूप फल 'संयम' है ।। २५ ।।

(तत्राहिंसा०) उन आठों में से पहिला 'यम' है । सो पांच प्रकार का है—एक (अहिंसा) अर्थात् सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ वैर छोड़के प्रेम-प्रीति से वर्त्तना । दूसरा (सत्य)—अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो, वैसा ही सत्य बोले करे और माने । तीसरा (अस्तेय)—अर्थात् पदार्थवाले की आज्ञा के विना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरीत्याग कहते हैं । चौथा (ब्रह्मचर्य)—अर्थात् विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना । और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त विवाह का करना, परस्त्री वेश्या आदि का त्यागना, सदा ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक-ठीक पढ़के सदा पढ़ाते रहना, और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना । पांचवां (अपरिग्रह)—अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना । इन पांचों का ठीक-ठीक अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है ।। २६ ।।

दूसरा अङ्ग उपासना का 'नियम' है । जो कि पांच प्रकार का है—

ते तु—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।। २७ ।।

अ० १ । पा० २ । सू० ३२ ।।

भाष्यम्—शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं च । बाह्यं जलादिनाऽऽभ्यन्तरं रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन च कार्यम् । संतोषो धर्मानुष्ठानेन सम्यक् प्रसन्नता सम्पादनीया । तपः सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यम् । [स्वाध्यायः] वेदादिसत्यशास्त्राणामध्ययनाध्यापने प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानं परमगुरवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्यसमर्पणम् । इत्युपासनायाः पञ्च नियमा द्वितीयमङ्गम् ।।२७।।

अथाहिंसाधर्मस्य फलम्—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।।२८।।

अथ सत्याचरणस्य फलम्—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।।२९।।

अथ चौरीत्यागफलम्—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।।३०।।

अथ ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानेन यल्लभ्यते, तदुच्यते—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।।३१।।

अथापरिग्रहफलमुच्यते—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ।।३२।।

अथ शौचानुष्ठानफलम्—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।।३३।।

किंच[1]—सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।।३४।।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ।।३५।।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।।३६।।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ।।३७।।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।।३८।। योग० अ० १ । पा० २ । सू० ३५-४५ ।।

भाषार्थ—[(शौच०)]पहिला(शौच)—अर्थात् पवित्रता करनी । सो भी दो प्रकार की है—एक भीतर की, और दूसरी बाहर की । भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याभ्यास,

१. 'किंच' इति पदे सूत्रोपस्थानिकारूपे स्तः ।

सत्संग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है। और बाहर की पवित्रता जल आदि से शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्ध करने से होती है। दूसरा (सन्तोष)—जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके [प्राप्त हो, उससे] प्रसन्न रहना, और दुःख में शोकातुर न होना। किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है। तीसरा (तपः)—जैसे सोने को अग्नि में तपाके निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभगुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना। चौथा (स्वाध्याय)—अर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेदशास्त्र का पढ़ना-पढ़ाना, और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना-कराना। और पांचवां (ईश्वरप्रणिधान)—अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना। ये पांच नियम उपासना का दूसरा अंग हैं॥ २७॥

अब पांच यम और पांच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं—

(अहिंसाप्र०) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय[1] हो जाता है, तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उसके सामने वा उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है॥ २८॥

(सत्यप्र०) तथा सत्याचरण का ठीक-ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता बोलता और करता है, तब वह जो-जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे-वे सब सफल हो जाते हैं॥ २९॥

चोरी-त्याग करने से यह बात होती है कि—(अस्तेय०) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है, तब उसको सब उत्तम-उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं। और 'चोरी' इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के विना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर ले लेना॥ ३०॥

(ब्रह्मचर्य०) ब्रह्मचर्य-सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादिशास्त्रों को पढ़ता-पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे, और परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे, तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है—एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है॥ ३१॥

(अपरिग्रहस्थै०) अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और मुझको क्या करना चाहिये, अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा, इत्यादि शुभगुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है। ये ही पांच 'यम' कहाते हैं। इनका ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये॥ ३२॥

---

१. यहां केवल 'निश्चय' तक ही अभिप्राय समाप्त नहीं होता, अपितु जब मनुष्य व्यवहार में भी अहिंसाधर्म में दृढ़ हो जाता है। तब उक्त फल प्राप्त होता है। क्योंकि निश्चय की परिसमाप्ति अथवा परीक्षा व्यवहार में ही होती है। ऐसा ही आगे भी सर्वत्र समझें।

परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण है, जो कि उपासना का दूसरा अङ्ग कहाता है। और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है। सो भी पांच प्रकार का है। उनमें से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है—

(शौचात् स्वां०) पूर्वोक्त दो प्रकार[1] के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उसके सब अवयव बाहर-भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सबके शरीर मल आदि से भरे हुए हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है ॥ ३३ ॥

और उसका फल यह है कि (किञ्च०)—अर्थात् शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है ॥ ३४ ॥

तदनन्तर (संतोषाद०) अर्थात् पूर्वोक्त संतोष से जो सुख मिलता है, वह सबसे उत्तम है। और उसी को 'मोक्षसुख' कहते हैं ॥ ३५ ॥

(कायेन्द्रिय०) अर्थात् पूर्वोक्त तप से उनके शरीर और इन्द्रियां अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहते हैं ॥ ३६ ॥

तथा (स्वाध्याय०) पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्टदेवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साझा होता है। फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

तथा (समाधि०) पूर्वोक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

तथा—

तत्र स्थिरसुखमासनम् ॥३९॥ अ० १। पा० २। सू० ४६ ॥

भाष्यम्—'तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्य्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनम्, उष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं, यथासुखं चेत्येवमादीनि।' पद्मासनादिकमासनं विदध्यात्, यद्वा यादृशीच्छा तादृशमासनं कुर्य्यात् ॥३९॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥४०॥ अ० १। पा० २। सू० ४८ ॥

भाष्यम्—'शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते' ॥४०॥

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥४१॥

अ० १। पा० २। सू० ४९ ॥

१. पूर्व पृष्ठ २०२ में निर्दिष्ट।

भाष्यम्—'सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः, कोष्ठ्यस्य[1] वायोर्निस्सारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ।'

आसने सम्यक्सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोर्युक्त्या शनैः शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः ॥४१॥

स तु[2]—बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥४२॥
अ० १ । पा० २ । सू० ५० ॥

भाष्यम्—'यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः । यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः । तृतीयः' स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद् भवति । यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद् गत्यभाव इति ।'

बालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति । किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य सर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति संरुध्य प्रथमो बाह्याख्यः प्राणायामः कर्त्तव्यः । तथोपासकैर्यो बाह्याद्देशादन्तः प्रविशति तस्याभ्यन्तर एव यथाशक्ति निरोधः क्रियते, स आभ्यन्तरो द्वितीयः सेवनीयः । एवं बाह्याभ्यन्तराभ्यामनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत् संरोधो यः क्रियते, स स्तम्भवृत्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽभ्यसनीयः ॥४२॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥४३॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५१ ॥

भाष्यम्—'देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट[3] आक्षिप्तः, तथाऽऽभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट[3] आक्षिप्तः, उभयथा दीर्घसूक्ष्मः । तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः । तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः, इत्ययं विशेष इति ।'

यः प्राणायाम उभयाक्षेपी स चतुर्थो गद्यते । तद्यथा यदोदराद् बाह्यदेशं प्रतिगन्तुं प्रथमक्षणे प्रवर्त्तते तं संलक्ष्य[4] पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्तव्याः । पुनश्च यदा बाह्याद्देशादाभ्यन्तरं प्रथममागच्छेत्तमाभ्यन्तर एव पुनः पुनः यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत् स द्वितीयः । एवं द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभावः क्रियते, स चतुर्थः प्राणायामः । यस्तु खलु तृतीयोऽस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्यासस्यापेक्षां करोति, किन्तु यत्र यत्र देशे प्राणो वर्त्तते तत्र तत्रैव सकृत् स्तम्भनीयः । यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति तथैव कार्य्यमित्यर्थः ॥४३॥

भावार्थ—(तत्र स्थिर०) अर्थात् जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो, उसको 'आसन' कहते हैं । अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे ॥ ३९ ॥

१. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ २०० टि० १ । २. 'स तु' इत्यंशः सूत्रोपस्थानिकारूपः ।
३. व्यासभाष्ये '०विषयपरिदृष्टः' इति समस्तः पाठ उपलभ्यते । सं०
४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सलक्ष्य' इत्यपपाठः ।

(ततो द्वन्द्वा०) जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है, और न सर्दी-गर्मी अधिक बाधा करती है ॥ ४० ॥

(तस्मिन्सति०) जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको 'श्वास' और जो भीतर से बाहर जाता है, उसको 'प्रश्वास' कहते हैं। उन दोनों के जाने-आने को[1] विचार से रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े, किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को 'प्राणायाम' कहते हैं ॥ ४१ ॥

और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है—(स तु बाह्या०) अर्थात् एक बाह्यविषय, दूसरा आभ्यन्तरविषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति ॥ ४२ ॥

और चौथा जो बाहर-भीतर से रोकने से होता है। अर्थात् जो कि (बाह्याभ्यं०) इस सूत्र का विषय [है]। वे चार प्राणायाम इस प्रकार के होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले, तब उसको बाहर ही रोक दे, इसको प्रथम प्राणायाम कहते हैं। जब बाहर से श्वास भीतर को आवे, तब उसको जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे, इसको दूसरा प्राणायाम कहते हैं। तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर ले जाय, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके, उसको जहां का तहां ज्यों का त्यों एकदम रोक दे। और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ रोकता रहे, और जब बाहर से भीतर जावे, तब उसको भीतर ही थोड़ा-थोड़ा रोकता रहे, इसको बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं। और इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे ॥ ४३ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥४४॥ अ० १। पा० २। सू० ५२॥

भाष्यम्—एवं प्राणायामाभ्यासाद् यत् परमेश्वरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशे सत्यविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमस्ति, तत् क्षीयते क्षयं प्राप्नोतीति ॥४४॥

किं च[2]—धारणासु च योग्यता मनसः ॥४५॥ अ० १। पा० २। सू० ५३॥

भाष्यम्—"प्राणायामाभ्यासादेव 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' इति वचनात्।" प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग्योग्यता भवति ॥४५॥

'अथ कः प्रत्याहारः ?'—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥४६॥

अ० १। पा० २। सू० ५४॥

भाष्यम्—यदा चित्तं जितं भवति, परमेश्वरस्मरणालम्बनाद् विषयान्तरे नैव गच्छति,

---

१. प्रथम संस्करण में 'जाने आने के' पाठ है। सं० २ से 'जाने आने को' पाठ मिलता है।

२. व्यासभाष्ये 'किं च' इत्यंशः सूत्रोपस्थापकः।

'तदेन्द्रियाणां[1] प्रत्याहारोऽर्थान्निरोधो भवति। कस्य केषामिव ? यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति तथैवेन्द्रियाण्यपि, अर्थाच्चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम् ॥४६॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥४७॥ अ० १। पा० २। सू० ५५॥

भाष्यम्—ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषयासंप्रयोगेऽर्थात् स्वस्वविषयान्निवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमा वश्यता यथावद् विजयो जायते । उपासको यदा यदेश्वरोपासनं कर्तुं प्रवर्त्तते, तदा तदैव चित्तस्येन्द्रियाणां च वश्यत्वं कर्त्तुं शक्नोतीति ॥४७॥

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥४८॥ अ० १। पा० ३। सू० १॥

भाष्यम्—'नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि, ज्योतिषि, नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये[2] चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति बन्धो[3] धारणा' ॥४८॥

[बाह्ये विषये अर्थाद् ओंकारे बिन्दौ वा।][4]

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥४६॥ अ० १। पा० ३। सू० २॥

भाष्यम्—'तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥४६॥'

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥५०॥ अ० १। पा० ३। सू० ३॥

भाष्यम्—ध्यानसमाध्योरयं भेदः—ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति। समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति ॥५०॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥५१॥ अ० १। पा० ३। सू० ४॥

भाष्यम्—'तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः। एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति' ॥५१॥

संयमश्चोपासनाया नवमाङ्गम्

---

१. प्रथमसंस्करणे मुद्रितः 'तदन्द्रियाणां' इति एकारमात्रात्रुटिरूपोऽपपाठ इत्यविज्ञाय द्वितीयसंस्करण-शोधयित्रा 'तदिन्द्रियाणां' इत्येवं भ्रष्टतरः पाठः संपादितः, स आसप्तमसंस्करणमुपलभ्यते।

२. प्रथमसंस्करणान्ते संशोधनपत्रे परिवर्धितः 'बाह्ये वा विषये' इति पाठः पञ्चमसंस्करणपर्यन्तं मुद्रयमाणोऽपि शताब्दीसंस्करणशोधयित्राऽपमृष्टः। अत एवाऽष्टमसंस्करणपर्यन्तं नोपलभ्यते।

३. बन्धो' इत्यधिकः पाठो व्यासभाष्यान्निरर्थक इव प्रतीयते। प्रतिमापूजनविज्ञापनपत्रे स्वयं पाठो वर्तते। द्र—'ऋ० द० पत्रविज्ञापन पृ० १६, सं० २।

४. अयं पाठो योगभाष्यस्थस्य 'बाह्ये वा देशे' इत्यस्य व्याख्यानरूपः। अयं हस्तलेखे पठ्यत इति वै० य० मुद्रितनवमसंस्करणशोधयितुष्टिप्पण्या प्रतीयते। प्रथमसंस्करणस्य शोधनपत्र एव 'बाह्ये वा विषये' इति-वदयं पाठः कुतो न वर्धित इति जायते विचारणा। अपि चात्र 'बिन्दौ' इति पदमप्यस्ति विचारार्हम्। 'बाह्ये वा विषये' इति व्यासभाष्यस्य व्याख्यानं प्रतिमापूजनविचारनामके ग्रन्थकर्तुर्विज्ञापनपत्रेऽपि द्रष्टव्यम्। द्र०—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १६, सं० २।

भावार्थ—[(ततः०)] इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का आवरण अर्थात् ढांपनेवाला जो अज्ञान है, वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है. और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है ।।४४।।

उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि—(किञ्च धारणा०) परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्षपर्यन्त उपासनायोग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है। तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है। इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना ।।४५।।

(स्वविषया०) 'प्रत्याहार' उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है। क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलानेवाला है ।।४६।।

(ततः पर०) तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे, उसी में ठहरा और चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं ।।४७।।

(देशब०) जब उपासनायोग के पूर्वोक्त पांचों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं, तब उसका छठा अङ्ग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है। 'धारणा' उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ाके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उसका विचार करना ।।४८।।

तथा (तत्र प्र०) धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम-भक्ति के साथ, इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना। इसी का नाम 'ध्यान' है ।।४९।।

इन सात अंगों का फल समाधि है—(तदेवार्थ०) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जानके, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को 'समाधि' कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करनेवाला जिस मन से, जिस चीज का ध्यान करता है, वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहां तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होके फिर बाहर को आ जाता है ।।५०।।

(त्रयमेकत्र०) जिस देश में धारणा की जाय, उसी में ध्यान और उसी में समाधि, अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को 'संयम' कहते है। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान, और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है, उनमें बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है ।।५१।।

अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥१॥ कठोपनि०[1] वल्ली० २। मं० २४॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां[2] चरन्तः ।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥२॥
[मुण्डकोपनि०] मुण्ड० १। खं० २। मं० ११॥

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति॥३॥

तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥४॥

स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते । उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि । यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥५॥

तं चेद् ब्रूयुरस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जराप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥६॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत् सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथा[3] ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥७॥ छान्दोग्योपनि० [4]प्रपा० ८। १, २, ३, ४, ५, ॥

अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते ।

भावार्थ—यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता । क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर, अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता, तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े वा सुने, उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥१॥

---

१. अ० १, व० २, मं० २४॥

२. उपनिषदि 'भैक्षचर्यां' इति पाठो दृश्यते । सत्यार्थप्रकाशे पञ्चमसमुल्लासेऽपीदं प्रमाणमुद्ध्रियते ।

३. वै० य० मुद्रितेषु 'तथा' इत्यपपाठः ।

४. प्रपा० ८, खं० १, मं० १-५॥

(तपःश्रद्धे०) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके, अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़, तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य्य आदि कर्म करके संन्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण०) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके (विरजाः) अर्थात् सब दोषों से छूटके, परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते है, जहां कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर सबसे सूक्ष्म, (अमृतः) अर्थात् अविनाशी, और जिसमे हानि-लाभ कभी नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं ॥२॥

जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहें, उस समय इस रीति से करें कि—(अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में, और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर[1] अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है, और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर-भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ॥३॥

और कदाचित कोई पूछे कि—(तं चेद् ब्रुयु) अर्थात् उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है, जिसकी खोज की जाय ? ॥४॥

तो उसका उत्तर यह है कि—(स ब्रूयाद्या०) हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है, और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य्य आदि प्रकाश, तथा पृथिवीलोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजुली और सब नक्षत्रलोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखनेवाले और नहीं दीखनेवाले पदार्थ हैं, वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं ॥५॥

(तं चेद् ब्रूयु०) इसमें कोई ऐसी शङ्का करे कि जिस ब्रह्मपुर हृदयाकाश में सब भूत और काम स्थिर होते हैं, उस हृदयदेश के वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उसके बीच में क्या बाकी रह जाता है कि जिसको तुम खोजने को कहते हो ? ॥६॥

तो इसका उत्तर यह है—(स ब्रूयात्०) सुनो भाई ! उस ब्रह्मपुर में जो परिपूर्ण परमेश्वर है उसको न तो कभी वृद्धावस्था होती है, और न कभी नाश होता है। उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर

---

१. यहां हृदय देश का जो लक्षण भाषा में लिखा है, वह संस्कृत में नहीं है। तथा यह लोक-प्रसिद्ध हृदय स्थान को लक्ष्य में रखकर अनुवादक पण्डितों द्वारा किया गया लक्षण प्रतीत होता है। अथर्ववेद १०।१२।३० में 'पुरं यो ब्रह्मणो वेद' कहकर अगले ३१,३२,३३ मन्त्रों में जिस हिरण्यमय कोशान्तर्गत ब्रह्मपुर में आत्मरूपी यक्ष और ब्रह्म की प्रतिष्ठा बतायी है, वह मस्तिष्कान्तर्गत आज्ञाचक्र समीपवर्ती स्थान है। इस विषय पर हमने वेदवाणी वर्ष ६ अङ्क १ में छपे 'अथर्ववेदप्रतिपादित आत्मा का शरीरान्तर्गत स्थान' लेख में विस्तार से लिखा है। मस्तिष्क का भी हृदय नाम है, यह भी प्राचीन ग्रन्थों से प्रमाणित किया है।

है कि जिसमें सब काम परिपूर्ण हो जाते हैं। वह (अपहतपाप्मा) अर्थात् सब पापों से रहित, शुद्धस्वभाव, (विरजः) जरा अवस्थारहित, (विशोकः) शोकरहित, (विजिघत्सोऽपि०) जो खाने-पीने की इच्छा कभी नहीं करता, (सत्यकामः) जिसके सब काम सत्य हैं, (सत्यसंकल्पः) जिसके सब संकल्प भी सत्य हैं। उसी आकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती है, और उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है। इस पूर्वोक्त उपासना से उपासक लोग जिस-जिस काम की, जिस-जिस देश की, जिस-जिस क्षेत्रभाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं, उन सबको वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥७॥

सेयं तस्य परमेश्वरस्योपासना द्विविधास्ति—एका सगुणा, द्वितीया निर्गुणा चेति। तद्यथा—"स पर्यगाच्छुक्र०"[1] इत्यस्मिन् मन्त्रे शुक्रं शुद्धमिति[2] सगुणोपासनम्। अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादि निर्गुणोपासनं च। तथा—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
सर्वाध्यक्षः[3] सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥१॥[4]

एको देव इत्यादि सगुणोपासनम्, निर्गुणश्चेति वचनान्निर्गुणोपासनम्। तथा सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्त्तमानः सगुणः, अविद्यादिक्लेशपरिमाणद्वित्वादिसंख्याशब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिगुणेभ्यो निर्गतत्वान्निर्गुणः। तद्यथा—परमेश्वरः सर्वज्ञः, सर्वव्यापी, सर्वाध्यक्षः, सर्वस्वामी चेत्यादिगुणैः सह वर्त्तमानत्वात् परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विज्ञेयम्। तथा सोऽजोऽर्थाज्जन्मरहितः, अव्रणः छेदरहितः, निराकार आकाररहितः, अकायः शरीरसम्बन्धरहितः, तथैव रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणादयो गुणास्तस्मिन्न सन्तीदमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम्।

अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति, सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति। तस्मात् सज्जनैर्व्यर्थेयं रीतिः सदा त्याज्येति शिवम्।

भाषार्थ—सो उपासना दो प्रकार की है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण। उनमें से 'स पर्यगा०'[5] इस मन्त्र के अर्थानुसार शुक्र अर्थात् जगत् का रचनेवाला, वीर्यवान् तथा शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर 'सगुण' है। और अकाय, अव्रण, अस्नाविर इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह 'निर्गुण' कहाता है। तथा 'एको देव०' एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण, और 'निर्गुणश्च' इसके कहने से निर्गुण समझा जाता है। तथा ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, सनातन, न्यायकारी, दयालु, सबमें व्यापक,

---

१. यजु० ४० । ८, पूर्वत्र पृष्ठ ४२ ॥
२. वै० य० मुद्रितेषु षष्ठसंस्करणान्तमुपलभ्यमानः 'शुक्रशुद्धमिति' इत्यपपाठः ।
३. उपनिषदि 'कर्माध्यक्षः' इति पाठ उपलभ्यते । ४. श्वेताश्व० ६ । ११ ॥
५. यजु० ४० । ८ ।। पूर्वत्र पृष्ठ ४२,४३ पर व्याख्यात ।

सबका आधार, मंगलमय, सबकी उत्पत्ति करनेवाला, और सबका स्वामी इत्यादि सत्यगुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को 'सगुणोपासना' कहते हैं। और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता, अव्रण अर्थात् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द स्पर्श रूप रस और गन्धवाला कभी नहीं होता, जिसमें दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लम्बा-चौड़ा और हलका-भारी कभी नहीं होता इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को 'निर्गुण उपासना' कहते हैं।

इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करने से सगुण, और देह-त्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उनकी कल्पना सब वेदशास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिये। किन्तु सबको पूर्वोक्त रीति से ही उपासना करनी चाहिये।

इति संक्षेपतो ब्रह्मोपासनाविधानम्



अथ मुक्तिविषयः संक्षेपतः

एवं परमेश्वरोपासनेनाऽविद्याऽधर्माचरणनिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवो मुक्तिं प्राप्नोतीति । अथात्र योगशास्त्रस्य प्रमाणानि, तद्यथा—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ १ ॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २ ॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ३ ॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ४ ॥

सुखानुशयी रागः ॥ ५ ॥ दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ६ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ७ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ३-९ ॥

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ ८ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० २५ ॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ९ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ५० ॥

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ १० ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ५५ ॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ ११ ॥ अ० १ । पा० ४ । सू० २६ ॥

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥१२॥
अ० १ । पा० २ । सू० ३४ ॥

अथ न्यायशास्त्रप्रमाणानि—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ १ ॥

बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २ ॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ ३ ॥ न्यायद० अ० १ । आह्निक १ । सू० २, २१-२२ ।

भाषार्थ—इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है । अब इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण लिखते हैं । पूर्व लिखी हुई पूर्व चित्त की पांच वृत्तियों[1] को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में

१. पूर्व पृष्ठ १९२, आर्यभाषा में—पृष्ठ १९४, १९५ ।

सब दिन प्रवृत्त रहने से नीचे लिखे हुए पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वे क्लेश ये हैं—

(अविद्या०) एक अविद्या, दूसरा अस्मिता, तीसरा राग, चौथा द्वेष, और पांचवां अभिनिवेश ॥१॥

(अविद्या क्षेत्र०) उनमें से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है, जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फसाके जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा डुबाती है। परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या से अविद्या विच्छिन्न अर्थात् छिन्नभिन्न होके प्रसुप्ततनु=नष्ट हो जाती है, तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं ॥२॥

अविद्या के लक्षण ये हैं—(अनित्या०) अनित्य अर्थात् कार्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोकलोकान्तर) में नित्यबुद्धि, तथा जो नित्य अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया-क्रियावान, गुण-गुणी और धर्म-धर्मी हैं, इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है, इनमें अनित्यबुद्धि का होना, यह अविद्या का प्रथम भाग है।

तथा 'अशुचि' मलमूत्र आदि के समुदाय, दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना। तथा तालाब, बावरी, कुण्ड, कूआ और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना, और उनका चरणामृत पीना। एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना। स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना। और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्सग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सबसे प्रेमभाव से वर्त्तना आदि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना। यह अविद्या का दूसरा भाग है।

तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना। जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि का करना। यह अविद्या का तीसरा भाग है।

इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड़ में चेतनभावना और चेतन में जड़भावना करना, अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की 'अविद्या' संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है। परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दुःख और अनात्मबुद्धि का होना, तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा में नित्य, पवित्रता, सुख और आत्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की 'विद्या' है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, तब बन्धन से छूटके जीव मुक्ति को प्राप्त होता है ॥३॥

(दृग्दर्शन०) दूसरा क्लेश 'अस्मिता' कहाता है। अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना। अभिमान और अहङ्कार से अपने को बड़ा समझना। इत्यादि व्यवहार को 'अस्मिता' जानना। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इसकी निवृत्ति हो जाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है ॥४॥

(सुखानु०) तीसरा 'राग', अर्थात् जो-जो सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं, उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है, इसका नाम 'राग' है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग-वियोग वियोग-संयोगान्त हैं[1], अर्थात् संयोग के अन्त में वियोग और वियोग के अन्त में संयोग, तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब इसकी निवृत्ति हो जाती है ॥५॥

(दुःखानु०) चौथा 'द्वेष' कहाता है। अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो, उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है ॥६॥

(स्वरसवा०) पांचवां 'अभिनिवेश' क्लेश है, जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें, अर्थात् कभी मरें नहीं, सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है। और इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है। क्योंकि छोटे-छोटे कृमि चींटी आदि जीवों को भी मरण का भय बराबर बना रहता है। इसी से इस[2] क्लेश को 'अभिनिवेश' कहते हैं। जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है। इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग-वियोग को अनित्य जान लेगा। इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है ॥७॥

(तदभावात्०) अर्थात् जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं, तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूटके मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥८॥

(तद्वैराग्या०) अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है, उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे। क्योंकि उसके नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकता ॥९॥

तथा (सत्त्वपुरुष०) अर्थात् सत्त्व जो बुद्धि, पुरुष जो जीव, इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं ॥१०॥

(तदा विवेक०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है, तब कैवल्य मोक्षधर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है, तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फंसता जाता है, तब तक उसको मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है ॥११॥

कैवल्य मोक्ष का लक्षण यह है कि—(पुरुषार्थ०) अर्थात् कारण के सत्त्व रजो और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर, आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके, स्वरूप-प्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके, शुद्ध-

---

१. 'वियोग-संयोगान्त' में अन्त पद का दोनों पदों के साथ सम्बन्ध है—वियोगान्त-संयोगान्त। पूर्व-निर्दिष्ट 'संयोग-वियोग' का सम्बन्ध क्रमशः—संयोग-वियोगान्त और वियोग-संयोगान्त। वै० य० मुद्रित में "संयोगवियोग संयोगवियोगान्त हैं अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग" इस प्रकार क्रमविपरीत पाठ है।

२. वै० य० मुद्रित में 'हम' अपपाठ।

स्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य[1] आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्य मोक्ष कहते हैं ।।१२।।

अब मुक्तिविषय में गोतमाचार्य्य के कहे हुए न्यायशास्त्र के प्रमाण लिखते हैं—

(दुःखजन्म०) जब मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है, तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके पीछे प्रवृत्ति अर्थात् अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर हो जाती है।[2] उसके नाश होने से (जन्म) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता। उसके न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये[3] परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रह जाता है। इसी का नाम 'मोक्ष' है ।।१।।

(बाधना०) सब प्रकार की बाधा अर्थात इच्छाविघात और परतन्त्रता का नाम दुःख है ।। २ ।।

(तदत्यन्त०) फिर उस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये[3] परमानन्द प्राप्त होता है, उसी सुख का नाम 'मोक्ष' है ।।३।।

अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि—

अभावं [4]बादरिराह ह्येवम् ।। १ ।।
भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।। २ ।।
द्वादशाहवदुभयविधं[4] बादरायणोऽतः ।। ३ ।। अ० ४ । पा० ४ । सू० १०-१२ ।।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते[5] तामाहुः परमां गतिम् ।। १ ।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।। २ ।।
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः[6] ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।। ३ ।।

१. 'नित्य' अथवा 'सब दिन के लिये' शब्दों का भाव मुक्तिकाल की अवधि-पर्यन्त से है। द्रष्टव्य पृष्ठ १२६, टि० ३,४।

२. ऋषि दयानन्द ने यहां दुष्ट कर्मों की वासना को ही पुनर्जन्म का कारण कहा है, परन्तु शुभ कर्म जो कि सकाम किये जाते हैं, की वासना भी पुनर्जन्म का कारण होती है। वस्तुतः निष्काम कर्म ही वासना से रहित होने के कारण पुनर्जन्म के निमित्त नहीं होते। फिर भी यहां सकाम शुभ कर्म का उल्लेख इसलिये नहीं किया कि वह निष्काम कर्म तक पहुंचने में सहायक होता है।

३. द्र० इसी पृष्ठ की टि० १।

४. वै० य० मुद्रितो दन्त्यौष्ठ्यवान् अपपाठः।

५. 'विचेष्टति' इत्युपनिषदि प्रायिकः पाठः।

६. निर्णयसागरमुद्रणालये मुद्रिते ईशादिविंशोत्तरोपनिषदः संग्रहे (सन् १९४८) 'श्रिताः' इत्येव पाठः। तथापि क्वचित् 'स्थिताः' इत्यपि पाठ उपलभ्यते।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ ४ ॥

कठो० वल्ली० ६[1] । मं० १०, ११, १४, १५ ॥

दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥५॥

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते, तस्मात् तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः, स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्, यस्तमात्मानमनुविद्य [वि]जानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥६॥

यदन्तरापस्तद् ब्रह्म[2] तदमृतꣳ स आत्मा, प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये, यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि, स हाहं यशसां यशः० ॥७॥

छान्दो० प्रपा० ८ ॥[3]

अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳ स्पृष्टो [अनु]वित्तो मयैव ।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः ॥८॥

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च ॥९॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः ।
ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किं चन ॥ १० ॥

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।
मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ॥११॥

विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः ।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां[4] कुर्वीत ब्राह्मणः ॥१२॥ श० कां० १४ । प्र० ७ ॥[5]

---

१. उपनिषदि प्रत्यध्यायं तिस्रस्तिस्रो वल्ल्यः । इह सर्वाः संकलय्य ६ इत्युक्तम् ।

२. उपनिषदि 'ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' इत्येवं पाठ उपलभ्यते ।

३. छा० उ० ८।१२।५,६; १४।१॥ प्रापञ्चमसंस्करणं वै० य० मुद्रितेषु उपरिनिर्दिष्ट एव पाठः । शताब्दीसंस्करणे 'खं० १२ । ४' एतावान् पाठो वर्धितः, तथैवाऽष्टमसंस्करणमुपलभ्यते । नवमसंस्करणे तु 'खं० १२ [प्रवाक ५,६ । खं०] १४ [प्रवाक १]' इत्येवं संस्कृतः ।

४. 'प्रजां' इति शतपथे पाठः ।

५. श० १४।७।२।११,१२,२१,२२,२३ ॥

भाषार्थ—अब व्यासोक्त वेदान्तदर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप और लक्षण लिखा है, सो आगे लिखते हैं—

(अभावं) व्यास जी के पिता जो बादरि आचार्य्य थे, उनका मुक्ति-विषय में ऐसा मत है कि जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है, तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है, और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव हो जाता है ।।१।।

तथा (भावं जैमिनि०) इसी विषय में व्यास जी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे, उनका ऐसा मत है कि जैसे मोक्ष में मन रहता है, वैसे ही शुद्धसंकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है। क्योंकि उपनिषद् में 'स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति'[1] इत्यादि वचनों का प्रमाण है कि मुक्तजीव सङ्कल्पमात्र से ही दिव्यशरीर रच लेता है, और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है, और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है ।।२।।

(द्वादशाह०) इस मुक्तिविषय में बादरायण जो व्यासजी थे, उनका ऐसा मत है कि मुक्ति में भाव और अभाव दोनों ही बने रहते हैं। अर्थात् क्लेश अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है, और परमानन्द, ज्ञान शुद्धता आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है। इसमें दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है, उसमें थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्णभोजन न करने से क्षुधा का कुछ भाव भी बना रहता है।[2] इसी प्रकार मोक्ष में भी पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव समझ लेना। इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदान्तशास्त्र में किया है ।।३।।

अब मुक्तिविषय में उपनिषत्कारों का जो मत है, सो भी आगे लिखते हैं कि—

(यदा पञ्चाव०) अर्थात् जब मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय परमेश्वर में स्थिर होके उसी में सदा रमण करती हैं, और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती, उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष[3] कहते है ।।१।।

(तां योग०) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं। जब मनुष्य उपासनायोग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है,

१. तुलना कार्या—'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति········। छा० उ० ७।२६।२।।

२. मीमांसा शास्त्र के अनुसार 'द्वादशाहवत्' का भाव है—जैसे 'द्वादशाह' संज्ञक क्रतु सत्र और असत्र अर्थात् अहीन दोनों प्रकार का होता है। सत्र में १७-२४ यजमान होते हैं, और यजमान ही ऋत्विक् कर्म भी करते हैं। अहीन में एक यजमान होता है, और १६ ऋत्विक् होते हैं। द्वादशाह के प्रकरण में 'य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ति' वाक्य पठित है। उसमें 'उपयन्ति' यजमान के बहुत्व का द्योतक होने से सत्र-धर्म की प्राप्ति कराता है, और 'द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्' में एकवचन की क्रिया होने से अहीनत्व का=सत्राभाव का द्योतक है।

३. यह जीवनमुक्ति की अवस्था है, विदेहमुक्ति इससे उत्तरावस्था है। उसकी प्राप्ति में यह अवस्था साधनरूप है। साध्यसाधन में अभेदोपचार से यहां इसे ही 'मोक्ष' कहा है।

तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ। वह उपासनायोग कैसा है कि प्रभंत्र अर्थात् शुद्ध और सत्यगुणों का प्रकाश करनेवाला, तथा (अप्ययः) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्यगुणों का नाश करनेवाला है। इसलिये केवल उपासनायोग ही मुक्ति का साधन है ॥२॥

(यदा सर्वे०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग होके शुद्ध हो जाता है, तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है।

(प्रश्न)—क्या वह मोक्षपद कहीं स्थानान्तर वा पदार्थविशेष है? क्या वह किसी एक ही जगह में है, वा सब जगह में?

(उत्तर)—नहीं, ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है, वही मोक्षपद कहाता है। और मुक्त मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते है ॥३॥

तथा (यदा सर्वे०) जब जीव की अविद्यादि बन्धन की सब गांठें छिन्न-भिन्न होके टूट जाती हैं, तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

(प्रश्न)—जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियां नही रहतीं, तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता है?

(उत्तर)—(दैवेन०) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय शुद्ध मन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और भोक्ता होकर उसमें सदा रमण करता है, क्योंकि उसका मन और इन्द्रियां प्रकाशस्वरूप हो जाती हैं ॥ ५ ॥

(प्रश्न)—वह मुक्त जीव सब सृष्टि में घूमता है, अथवा कहीं एक ही ठिकाने बैठा रहता है?

(उत्तर)—(य एते ब्रह्मलोके०) जो मुक्त पुरुष होते है, वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होके, और सबके आत्मारूप परमेश्वर की उपासना करते हुए, उसी के आश्रय से रहते हैं। इसी कारण से उनका जाना-आना सब लोकलोकान्तरों में होता है, उनके लिये कही रुकावट नहीं रहती। और उनके सब काम पूर्ण हो जाते हैं, कोई काम अपूर्ण नहीं रहता। इसलिये जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सबका आत्मा जानके उसकी उपासना करता है, वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है। यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है ॥ ३ ॥

पूर्व प्रसङ्ग का अभिप्राय यह है कि मोक्ष की इच्छा सब जीवों को करनी चाहिये। (यदन्तरा०) जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है, उसी को ब्रह्म कहते हैं, और वही अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है। और जैसे वह सबका अन्तर्यामी है, वैसे उसका अन्तर्यामी कोई भी नहीं, किन्तु वह अपना अन्तर्यामी आप ही है। ऐसे प्रजानाथ परमेश्वर के व्याप्तिरूप सभास्थान को मैं प्राप्त होऊं। और इस संसार मे जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण हैं, उनके बीच में (यशः) अर्थात् कीर्त्ति को प्राप्त होऊं, तथा (राज्ञाम्) क्षत्रियों (विशाम्) अर्थात् व्यवहार में चतुर लोगों के बीच यशस्वी होऊं। हे परमेश्वर!

मैं कीर्तियों का भी कीर्तिरूप होके आपको प्राप्त हुआ चाहता हूं। आप भी कृपा करके मुझको सदा अपने समीप रखिये ॥ ७ ॥

अब मुक्ति के मार्ग का स्वरूप वर्णन करते हैं—(अणुः पन्था०) मुक्ति का जो मार्ग है, सो अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है। (वितरः) उस मार्ग से सब दुःखों के पार सुगमता से पहुंच जाते हैं, जैसे दृढ़ नौका से समुद्र को तर जाते हैं। तथा (पुराणः) जो मुक्ति का मार्ग है, वह प्राचीन है, दूसरा कोई नहीं। मुझको (स्पृष्टः) वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है। उसी मार्ग से विमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए, (धीराः) अर्थात् विचारशील और ब्रह्मवित्, वेदविद्या और परमेश्वर के जाननेवाले जीव (उत्क्रम्य) अर्थात् अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का उल्लंघन करके, (स्वर्गं लोकम्) सुखस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

(तस्मिञ्छुक्ल०) अर्थात उसी मोक्षपद में शुक्ल=श्वेत, (नीलम्) शुद्ध घनश्याम, (पिङ्गलम्) पीला श्वेत, (हरितम्) हरा और (लोहितम्) लाल ये सब गुणवाले लोक-लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। यही मोक्ष का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है। उसी मार्ग से ब्रह्म का जाननेवाला, तथा (तैजसः०) शुद्धस्वरूप और पुण्य का करने वाला मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से नहीं ॥ ९ ॥

(प्राणस्य प्राण०) जो परमेश्वर प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन है, उसको जो विद्वान् निश्चय करके जानते हैं, वे पुरातन और सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को मन से प्राप्त होने के योग्य मोक्षसुख को प्राप्त होके आनन्द में रहते हैं। (नेह ना०) जिस सुख में किंचित् भी दुःख नहीं है ॥ १० ॥

(मृत्योः स मृत्यु०) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस जानता है, वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है, वह वारंवार मृत्यु अर्थात् जन्म-मरण को प्राप्त होता है। क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्रस्वरूप ही है, तथा प्रमादरहित और व्यापक होके सब में स्थिर है। उसको मन से ही देखना होता है, क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म है ॥ ११ ॥

(विरजः पर आ०) जो परमात्मा विक्षेपरहित, आकाश से परमसूक्ष्म, (अजः०) अर्थात् जन्मरहित, और महाध्रुव अर्थात् निश्चल है। ज्ञानी लोग उसी को जानके अपनी बुद्धि को विशाल करें। और वह इसी से ब्राह्मण कहाता है ॥ १२ ॥

स होवाच। एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नोति कं चन न तदश्नोति कश्चन ॥ १३ ॥

श० कां० १४। अ० ६। कं० ८॥[1]

१. शत० १४। ६। ८। ८॥

इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्तया जीवस्सदा सुखी भवतीति बोध्यम् ।

अथ वैदिकप्रमाणम्—

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश ।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥१॥

ऋ० अ० ८ । अ० २ । व० १ । मं० १ ॥[1]

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवाऽ अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥२॥

य० अ० ३२ । मं० १० ॥

भाष्यम्—अविद्यास्मितेत्यारभ्याध्यैरयन्तेत्यन्तेन मोक्षस्वरूपनिरूपणमस्तीति वेदितव्यम्, एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्रकाश्यते[2] ।

भाषार्थ— (स होवाच ए०) याज्ञवल्क्य कहते हैं. हे गार्गि ! जो परब्रह्म नाश, स्थूल, सूक्ष्म, लघु, [दीर्घ,] लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार. वायु, आकाश. सङ्ग, शब्द,[3] स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, [वाक्,] मन, तेज प्राण, मुख, नाम गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय. आकार, विकाश, संकोच, पूर्व. अपर, भीतर, बाह्य अर्थात् बाहर, इन सब दोषों और गुणों मे रहित मोक्षस्वरूप है, वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता, और न कोई उसको मूर्त्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है । क्योंकि वह सबमें परिपूर्ण, सबसे अलग, अद्भुतस्वरूप परमेश्वर है । उसको प्राप्त होनेवाला कोई नहीं हो सकता, जैसे मूर्त्त द्रव्य को चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् कर सकता है । क्योंकि वह सब इन्द्रियों के विषयों से अलग और सब इन्द्रियों का आत्मा है [॥१३॥]

तथा (ये यज्ञेन०) अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्षसुख में प्रसन्न रहते हैं। (इन्द्रस्य०) जो परमेश्वर के सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं। (अङ्गिरसः) अर्थात् उनके जो प्राण हैं, वे (सुमेधसः) उनकी बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं। और उस मोक्षप्राप्त मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं। और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं ॥१।

---

१. ऋ० १० । ६२ । १ ॥

२. इससे विदित होता है कि पहले सारा मुक्ति-प्रकरण संस्कृत में इकट्ठा लिखकर उसकी भाषा लिखी गई थी। अगले हस्तलेख में संस्कृत और भाषापाठ यथाप्रकरण साथ-साथ व्यवस्थित कर दिये गये।

३. उपनिषद् पाठ में 'अशब्द' 'अरजो०' के आगे पठित है। अतः भाषा में भी 'आकार' शब्द से आगे उसका निर्देश होना चाहिये।

(स नो बन्धुः०) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःख का नाश करनेवाला, (जनिता०) सब सुखों का उत्पन्न और पालन करनेवाला है। तथा वही सब कामों को पूर्ण करता, और सब लोकों को जाननेवाला ह, कि जिसमें देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं ॥२॥

इस प्रकार संक्षेप से मुक्तिविषय कुछ तो वर्णन कर दिया, और कुछ आगे भी कहीं-कहीं करेंगे, सो जान लेना। जैसे[1] 'वेदाहमेतं' इस मन्त्र में भी मुक्ति का विषय कहा गया है।

इति मुक्तिविषयः संक्षेपतः

---

१. यहां 'वैसे' पाठ होना चाहिये। क्योंकि यह मन्त्र पूर्व पृष्ठ १५० पर व्याख्यात हो चुका है।

अथ नौविमानादिविद्याविषयस्संक्षेपतः

तुग्रो॑ ह भु॒ज्युम॑श्विनोदमे॒घे र॒यिं न कश्चि॑न्ममृ॒वाँ अवा॑हाः ।
तमू॑हथुर्नौ॒भिरा॑त्म॒न्वती॑भिरन्तरिक्ष॒प्रुद्भि॒रपो॑दकाभिः ॥१॥
ति॒स्रः क्षप॒स्त्रिरहा॑ति॒व्रज॑द्भि॒र्नास॑त्या भु॒ज्युमू॑हथुः पत॒ङ्गैः ।
स॒मु॒द्रस्य॒ धन्व॑न्ना॒र्द्रस्य॑ पा॒रे त्रि॒भी रथैः॑ श॒तप॑द्भि॒ः षळ॑श्वैः ॥२॥

ऋ० अ० १ । अ० ८ । व० ८ । मं० ३,४ ॥[1]

भाष्यम्—[2]एषामभिप्रायः—[2] तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु शिल्पविद्या विधीयते इति—

(तुग्रो ह) 'तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु'[3] अस्माद् धातोरौणादिके 'रक्'प्रत्यये[3] कृते तुग्र इति पदं जायते । यः कश्चिद् धनाभिलाषी भवेत्, स (रयिम्) धनं कामयमानो, (भुज्युम्) पालनभोगमयं धनादिपदार्थभोगमिच्छन् विजयं च, पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात् । स च (अश्विना) पृथिवीमयैः[5] काष्ठलोष्ठादिभिः पदार्थैर्नावं रचयित्वाऽग्निजलादिप्रयोगेण (उदमेघे) समुद्रे गमयेद् आगमयेच्च, तेन द्रव्यादिसिद्धिं साधयेत् । एवं कुर्वन् (न कश्चित् ममृवान्) योगक्षेम-विरहः सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति । कुतः ? तस्य कृतपुरुषार्थत्वात् । अतो नावं (अवाहाः) अर्थात् समुद्रे द्वीपान्तरगमनं प्रति नावो वाहनावहने परमप्रयत्नेन नित्यं कुर्यात् । कौ साधयित्वा ? (अश्विना) द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवीमयेनायस्ताम्ररजतधातुकाष्ठादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया । अश्विनौ युव[भ्य]ां तौ साधितौ द्वौ नावादिकं यानं (ऊहथुः) देशान्तर-गमनं सम्यक्सुखेन प्रापयतः । पुरुषव्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः । कथंभूतैर्यानैः—(नौभिः) समुद्रे गमनागमनहेतुरूपाभिः, (आत्मन्वतीभिः) स्वयं स्थिताभिः, स्वात्मीयस्थिताभिर्वा । राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च मनुष्यैर्व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमनागमने नित्यं कार्य्ये इति शेषः । तथा ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि साधनीयानि । एवमेव (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्षं प्रति गन्तृभिर्विमानाख्ययानैः[6] साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः परमैश्वर्यं सम्यक् प्रापणीयम् । पुनः

---

१. ऋ० १।११६।३,४॥ २. 'एषाम्' इति बहुत्वमस्मिन् प्रकरणे व्याख्यातान् मन्त्रानपेक्ष्य प्रयुक्तम्, न पूर्वनिर्दिष्टौ द्वावेव मन्त्रावभिप्रेत्य, अत एव 'तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु' इत्यत्रापि बहुवचनमुक्तम् ।

३. धातुपाठः १० । ३५ ॥ ४. 'ऋज्रेन्द्राग्र०'(उ० २ । २८) इत्यादिना बाहुलकात् प्रत्ययो ज्ञेयः ।

५. 'काष्ठलोहादिभिः' युक्तः पाठः स्यात् । भाषानुवादे निरुक्तव्याख्याने स्पष्टमेव 'पृथिवी के विकार काष्ठ और लोहादि' पदानि पठ्यन्ते, द्रष्टव्यमग्रे पृष्ठ २२६ ।

६. यदा ग्रन्थकृता दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विमानस्य वर्णनमस्मिन् ग्रन्थे कृतं तदानीं पाश्चात्यदेशेषु

कथम्भूताभिर्नौभिः—(अपोदकाभिः) अपगतं दूरीकृतं [उदकं][1] जललेपो यासां ता अपोदका नावः, अर्थात् सच्चिक्कानास्ताभिः, उदरे जलागमनरहिताभिश्च समुद्रे गमनं कुर्य्यात्। तथैव भूयानैर्भूमौ, जलयानैर्जले, अन्तरिक्षयानैश्चान्तरिक्षे चेति त्रिविध यानं रचयित्वा जलभूम्याकाशगमनं यथावत् कुर्य्यादिति। अत्र प्रमाणम्—

अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतोऽश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः। तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके ॥' निरु० अ० १२। खं० १॥

तथाश्विनौ चापि भर्तारौ जर्भरी भर्त्तारावित्यर्थस्तुर्फरीतू हन्तारौ। उदन्यजेवेत्युदकजे इव, रत्ने सामुद्रे॥ निरु० अ० १३। खं० ५॥

एतैः प्रमाणैरेतत्सिध्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन त्रिविधं यानं रचनीयमिति ॥१॥

(तिस्रः क्षपस्त्रिरहा०) कथंभूतैर्नावादिभिः—तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः, (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य तथा (धन्वनः) स्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे, (अतिव्रजद्भिः) अत्यन्तवेगवद्भिः। पुनः कथम्भूतैः—(पतङ्गैः) प्रतिपातं वेगेन गन्तृभिः, तथा (त्रिभी रथैः) त्रिभी रमणीयसाधनैः, (शतपद्भिः) शतेनासङ्ख्यातेन वेगेन पद्भ्यां यथा गच्छेत् तादृशैरत्यन्तवेगवद्भिः, (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमनहेतवो यन्त्राण्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षडश्वानि, तैः षडश्वैर्यानैस्त्रिषु मार्गेषु सुखेन गन्तव्यमिति शेषः। तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण भवतीत्यत्राह—(नासत्या) पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्याम्[2]। अतः एवोक्तं 'नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ०'[3]। तानि यानानि (ऊहथुः) इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः, प्रत्यक्षविषयवाचकत्वात्। अत्र प्रमाणम्—व्यत्ययो बहुलम् ॥' अष्टाध्यायाम् अ० ३। पा० १॥[4] अत्राह महाभाष्यकारः—

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥[5]

विमानस्य सत्ताऽपि नासीत्। पाश्चात्यदेशेषु विमानस्य प्रथममुड्डयनं खृस्ताब्दस्य १९०१ तमे वत्सरेऽभूत्। ग्रन्थकृता तु भारतीयवाङ्मयाधारेणैव विमानविद्याया उल्लेखो यत्र तत्र स्वकीयेषु ग्रन्थेषु कृतः। रामायणे महाभारतेऽन्येषु च भारतीयग्रन्थेषु विमानानां बहुधा वर्णनमुपलभ्यते। समराङ्गणसूत्रधारे विमाननिर्माणं संक्षेपेण विहितमुपलभ्यते। कतिपयवर्षेभ्यः प्रागेव च भारद्वाजीयविमानशास्त्रस्य भूयानंशः समुपलब्धः प्राकाश्यं च गतः। ग्रन्थकृता तु १९३२ तमे वैक्रमाब्दे (१८७५ खृस्ताब्दे) पूनानगरे विहिते पञ्चमे प्रवचने स्पष्टमुक्तम्—'मैंने भी एक विमान-रचना का पुस्तक देखा है'। १. उदकमभिप्रेत्य 'दूरीकृतम्' इति नपुंसकत्वं द्रष्टव्यम्।

२. 'नासत्यौ चाश्विनौ' इत्याह यास्कः। निरुक्त ६। १३॥

३. नासत्याश्विशब्दयोः समानार्थत्वाद् 'अश्विनौ' इत्यस्य व्याख्याने तत्कावश्विनौ? द्यावापृथिव्यावित्येके' (नि० १२।१) इति निर्देशाद् इह 'नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ' इत्युक्तम्। ४. सूत्र ८५॥

५. पूर्वसूत्रे (३। १। ८५) एव।

इति महाभाष्यप्रामाण्यात् । तावेव नासत्यावश्विनौ सम्यग् यानानि वहतः, [छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ।। अष्टा० ३।४।६] इत्यत्र सामान्यकाले लिड्विधानाद् ऊहथुरित्युक्तम् । तावेव तेषां यानानां मुख्ये साधने स्तः । एवं कुर्वन्तो[1] भुज्युमुत्तमसुखभोगं प्राप्नुयुर्नान्यथेति ।।२।।

भाषार्थ—अब मुक्ति के आगे समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में शीघ्र चलने के लिये यानविद्या लिखते हैं, जैसी कि वेदों में लिखी है—

(तुग्रो ह०) 'तुजि' धातु से 'रक्' प्रत्यय करने से 'तुग्र' शब्द सिद्ध होता है। उसका अर्थ हिंसक, बलवान्, ग्रहण करनेवाला और स्थानवाला है। क्योंकि वैदिक शब्द सामान्य अर्थ[2] में वर्त्तमान हैं। जो शत्रु को हनन करके अपने विजय बल और धनादि पदार्थ और जिस-जिस स्थान में सवारियों से अत्यन्त सुख का ग्रहण किया चाहे, उन सभों का नाम 'तुग्र' है। (रयिम्) जो मनुष्य उत्तम विद्या, सुवर्ण आदि पदार्थों की कामनावाला है, उसका जिनसे पालन और भोग होता है, उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति भोग और विजय की इच्छा को आगे लिखे हुये प्रकारों से पूर्ण करे। (अश्विना) जो कोई सोना, चांदी,[3] तांबा, पीतल, लोहा और लकड़ी आदि पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रचके, उनमें अग्नि, वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग कर, और पदार्थों को भरके, व्यापार के लिये (उदमेघे) समुद्र और नदी आदि में (अवाहाः) आवे जावे, तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है, वह (न कश्चिन्ममृवान्) पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षासहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता। क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता। वे नौका आदि किनको सिद्ध करने से होते हैं—अर्थात् जो अग्नि, वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्रगमनादि गुण और अश्वि नाम से [प्र]सिद्ध हैं, वे ही यानों को धारण और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान् कर देते हैं। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किये हुये नाव, विमान और रथ अर्थात् [जल आकाश] भूमि में चलनेवाली सवारियों का (ऊहथुः) जाना-आना जिन पदार्थों से देशदेशान्तरों में सुख से होता है। यहां पुरुषव्यत्यय से 'ऊहतुः' इसके स्थान में 'ऊहथुः' ऐसा प्रयोग किया गया है। उनसे किस-किस प्रकार की सवारी सिद्ध होती है, सो लिखते हैं—(नौभिः) अर्थात् समुद्र में सुख से जाने-आने के लिये अत्यन्त उत्तम नौका होती हैं, (आत्मन्वतीभिः) जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर चलाके जाते-आते रहें। व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सावरियों से समुद्र में जावें-आवें। तथा (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अर्थात् जिनसे आकाश में जाने-आने की क्रिया सिद्ध होती है, जिसका नाम विमान[4] शब्द करके

१. वै० य० मुद्रितेषु 'कुर्वतो' इत्ययमपपाठः। २. अर्थात् यौगिक धात्वर्थ-प्रधान अर्थ।

३. संस्कृत में 'काष्ठलोष्ठादिभिः' पाठ है। वहां 'काष्ठलोहादिभिः' पाठ होना चाहिये। लोह शब्द संस्कृत में धातुमात्र के लिये व्यवहृत होता है। सम्भव है इसी कारण अनुवादक ने 'सोना चांदी' आदि का भी भाषा में निर्देश किया है। सोना चांदी बहुमूल्य धातु होने से उनकी या उनके योग से नौका बनाना सम्भव नहीं, अतः ये पद उचित प्रतीत नहीं होते। चांदी का निर्देश आगे 'त्रिर्नो अश्विना' मन्त्र के भाष्य में (पृष्ठ २३०) है।

४. बहुत से लोगों का यह कहना है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाश्चात्य वैज्ञानिक उन्नति को देखकर वेद से भी उन्हीं बातों को दिखाने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः यह कथन ठीक नहीं है। विमान को

प्रसिद्ध है। तथा (अपोदकाभिः) वे सवारी ऐसी शुद्ध और चिक्कन होनी चाहियें, जो जल से न गलें और न जल्दी टूटें-फूटें। इन तीन प्रकार की सवारियों को जो रीति पहिले कह आए और जो आगे कहेंगे, उसी के अनुसार बराबर उनको सिद्ध करें। इस अर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है, सो देख लेना। उसका अर्थ यह है—

(अथातो द्युस्थाना दे०) वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है, क्योंकि सब पदार्थों में धनञ्जयरूप करके वायु और विद्युत् रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं। तथा जल और अग्नि का नाम भी अश्वि है, क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और जल रस से युक्त होके व्याप्त हो रहा है। 'अश्वैः' अर्थात् वे वेगादि गुणों से भी युक्त हैं। जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा हो, वे वायु, अग्नि और जल से उनको सिद्ध करें, यह और्णवाभ आचार्य्य का मत है। तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अश्वि है। पृथिवी के विकार काष्ठ और लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं। तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है कि 'अहोरात्रौ' अर्थात् दिन-रात्रि का नाम अश्वि है, क्योंकि इनमे भी सब पदार्थों के संयोग और वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं, अर्थात् जैसे शरीर और ओषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते हैं। इसी प्रकार कई एक शिल्पविद्या जाननेवाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि 'सूर्य्याचन्द्रमसौ' सूर्य्य और चन्द्रमा को अश्वि कहते हैं। क्योंकि सूर्य्य और चन्द्रमा के आकर्षणादि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-वियोग, वृद्धि क्षय, आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं। तथा 'जर्भरी' और 'तुर्फरीतू' ये दोनों पूर्वोक्त अश्वि के नाम हैं। जर्भरी अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करनेवाले और तुर्फरीतू अर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण पोषण और वेग होते हैं। जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं, वैसे ही कलाकौशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार की शिल्पविद्या सिद्ध होती है। 'उदन्यजे' अर्थात् वायु, अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है ॥१॥

(तिस्रः क्षपस्त्रि०)। (नासत्या०) जो पूर्वोक्त अश्वि कह आये हैं, वे (भुज्युमूहथुः) अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त कराते[२] हैं। क्योंकि जिनके वेग से तीन दिन रात में (समुद्र०) सागर (धन्वन्०) आकाश और भूमि के पार नौका विमान और रथ करके (व्रजद्भिः०) सुखपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं। (त्रिभी रथैः) अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के वाहनों से गमनागमन करना

ही लीजिये। पाश्चात्य देशों में सन् १६०१ में विमान की प्रथम उड़ान हुई थी, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७६ में यह पुस्तक लिखी थी। लेखक ने जो कुछ भी लिखा है वह भारतीय वाङ्मय के आधार पर ही लिखा है। रामायण महाभारत और अन्य संस्कृत ग्रन्थों में विमान का वर्णन भरा पड़ा है। राजा भोज के समराङ्गण सूत्रधार ग्रन्थ (११ शती) में विमान बनाने का संक्षेप से वर्णन मिलता है। अभी कुछ ही वर्ष हुए श्री स्वामी ब्रह्ममुनिजी के परिश्रम से अतिप्राचीन भारद्वाज विमानशास्त्र छप चुका है। ग्रन्थकार ने भी सन् १८७५ पूना के ५वें प्रवचन (पृष्ठ ४२ रा०ला०क०ट्र० सं०) में कहा था—'मैंने भी विमान-रचना का पुस्तक देखा है'।

२. वै० य० मुद्रित में 'करते' पाठ है।

चाहियें। तथा (षडश्वैः) छः अश्व, अर्थात् उनमें अग्नि और जल के छः घर बनाने चाहियें। जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सकें, तथा (पतङ्गैः) जिनसे तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है ॥२॥

अ॒ना॒र॒म्भ॒णे तद॑वीरयेथामनास्था॒ने अ॑ग्रभ॒णे स॑मु॒द्रे ।
यद॑श्विना ऊ॒हथु॑र्भु॒ज्युमस्तं॑ श॒तारि॑त्रां॒ नाव॑मातस्थि॒वांस॑म् ॥३॥
यम॑श्विना द॒दथुः॑ श्वे॒तमश्व॑म॒घाश्वा॑य॒ शश्व॒दित् स्व॒स्ति ।
तद्वां॑ दा॒त्रं महि॑ की॒र्तेन्यं॑ भूत् पै॒द्वो वा॒जी सद॒मिद्धव्यो॑ अ॒र्यः ॥४॥

ऋ० अष्ट० १। अ० ८। व० ८, ९। मं० ५, १॥[1]

भाष्यम्—हे मनुष्याः! पूर्वोक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः, (अनारम्भणे) आलम्बरहिते, (अनास्थाने) स्थातुमशक्ये, (अग्रभणे) हस्तालम्बनाविद्यमाने, (समुद्रे) समुद्रवन्त्यापो यस्मिन् तस्मिन् जलेन पूर्णे अन्तरिक्षे वा, कार्य्यसिद्धयर्थं युष्माभिर्गन्तव्यमिति। 'अश्विना ऊहथुर्भुज्यु'मिति पूर्ववद् विज्ञेयम्। तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामश्विभ्यां (अस्तम्) क्षिप्तं चालितं सम्यक् कार्य्यं साधयतीति। कथम्भूतां नावं समुद्रे चालयेत्? (शतारित्राम्) शतानि अरित्राणि लोहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारित्राम्। एवमेव शतारित्रं भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयम्। तथा तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भनसाधनं च रचनीयमिति। तद्यानैः कथम्भूतं (भुज्युम्) भोगं प्राप्नुवन्ति? (तस्थिवांसम्) स्थितिमन्तमित्यर्थः ॥३॥

यद्यस्मादेवं भोगो जायते, तस्मादेवं सर्वमनुष्यैः प्रयत्नः कर्त्तव्यः (यमश्विना) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यामग्निजलाभ्यामश्विभ्यां शुक्लवर्णं वाष्पाख्यमश्वम् (अघाश्वाय) शीघ्रगमनाय, शिल्पविद्याविदो मनुष्याः प्राप्नुवन्ति, तमेवाश्वं गृहीत्वा पूर्वोक्तानि यानानि साधयन्ति। (शश्वत्०) तानि शश्वन्निरन्तरमेव (स्वस्ति) सुखकारकाणि भवन्ति। तद्यानसिद्धि (अश्विना ददथुः) दत्तस्ताभ्यामेवायं गुणो मनुष्यैर्ग्राह्य इति। (वाम्) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः। तयोरश्विनोर्मध्ये यत्सामर्थ्यं वर्त्तते, तत् कीदृशं? (दात्रम्) दानयोग्यं सुखकारकत्वात् पोषकं च, (महि) महागुणयुक्तम्, (कीर्त्तेन्यम्) कीर्त्तनीयमत्यन्तप्रशंसनीयम्। कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वन[2] इति 'केन्य' प्रत्ययः। अन्येभ्यस्तच्छ्रेष्ठोपकारकं (भूत्) अभूत् भवतीति। अत्र लडर्थे लुङ् विहित[3] इति वेद्यम्। स चाग्न्याख्यो (वाजी) वेगवान्, (पैद्वः०) यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमयितास्ति। पैद्वपतङ्गावश्वनाम्नी ॥ निघं० अ० १। खं० १४॥ (सदमित्) यः सदं वेगं इत् एति प्राप्नोतीतीदृशोऽश्वोऽग्निरस्माभिः (हव्यः) ग्राह्योऽस्ति। (अर्यः) तमश्वमर्यो वैश्यो वणिग्जनोऽवश्यं गृह्णीयात्। अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः[4] इति पाणिनि-सूत्रात्, अर्य्यो वैश्यस्वामिवाचीति ॥४॥

---

१. अत्रैवं संकेतो ज्ञेयः—अष्ट० १, अ० ८, वर्ग ८, मं० ५; वर्ग ९, मं० १॥ मण्डलानुसारं तु—१।११६।५,६॥ २. अष्टा० ३।४।१४॥ ३. द्र०—अष्टा० ३।४।६॥
४. अष्टा० ३।१।१०३॥

त्र॒यः प॒वयो॑ मधु॒वाह॑ने॒ रथे॒ सोम॑स्य वे॒नामनु॒ विश्व॒ इद्वि॑दुः ।
त्र॒यः स्क॒म्भास॑: स्कभि॒तास॑ आ॒रभे॒ त्रिर्नक्तं॑ या॒थस्त्रिर्व॑श्विना॒ दिवा॑ ॥५॥

ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । वर्ग ४ । मं० २ ।।[1]

भाष्यम्—(मधुवाहने०) मधुरगतिमति रथे (त्रयः पवयः) वज्रतुल्याश्चक्रसमूहाः कलायन्त्रयुक्ता दृढाः शीघ्रं गमनार्थं त्रयः कार्य्याः । तथैव शिल्पिभिः (त्रयः स्कम्भासः) स्तम्भनार्थाः स्तम्भास्त्रयः कार्य्याः । किमर्थाः[2] ? (स्कभितासः) सर्वकलानां स्थापनार्थाः (विश्वे) सर्वे शिल्पिनो विद्वांसः (सोमस्य) सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य (वेनाम्) कमनीयां कामनासिद्धिं (विदुः) जानन्त्येव । अर्थात् (अश्विना) अश्विभ्यामेवैतद् यानमारब्धुमिच्छेयुः । कुतः ? तावेवाश्विनौ तद्यानसिद्धिं (याथः) प्रापयत इति । तत्कीदृशमित्यत्राह (त्रिर्नक्तं, त्रिर्दिवा) तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैश्चातिदूरमपि मार्गं गमयतीति बोध्यम् ॥५॥

भाषार्थ—(अनारम्भणे०) हे मनुष्य लोगो ! तुम पूर्वोक्त प्रकार से अनारम्भण अर्थात् आलम्बरहित समुद्र में अपने कार्यों की सिद्धि करने योग्य यानों को रच लो । (तद्वीरयेथाम्) वे यान् पूर्वोक्त अश्विनी से ही जाने-आने के लिये सिद्ध होते हैं । (अनास्थाने) अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में विना आलम्ब से कोई भी नहीं ठहर सकता, (अग्रभणे) जिसमें हाथ से पकड़ने का आलम्ब कोई नहीं मिल सकता, (समुद्रे) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यक्ष है, तथा अन्तरिक्ष का भी नाम समुद्र है, क्योंकि वह भी जल[3] से पूर्ण रहता है, उनमें किसी प्रकार का आलम्बन सिवाय नौका और विमान से नहीं मिल सकता, इससे इन यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें । (यदश्विनौ ऊहथुर्भु०) जो यान वायु आदि अश्वि से रचा जाता है, वह उत्तम भोगों को प्राप्त कर देता है । क्योंकि (अस्तम्) जो उनसे चलाया जाता है, वह पूर्वोक्त समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में सब कार्यों को सिद्ध करता है । (शतारित्राम्) उन नौकादि सवारियों में सैकड़ह अरित्र अर्थात् जल की थाह लेने, उनके थांभने और वायु आदि विघ्नों से रक्षा के लिये लोह आदि के लंगर भी रखने चाहिये, जिनसे जहां चाहे वहां उन यानों को थांभे । इसी प्रकार उनमें सैकड़ह कलबन्धन और थांभने के साधन रचने चाहिये । इस प्रकार के यानों से (तस्थिवांसम्) स्थिर भोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं ॥३ ।

(यमश्विना०) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल हैं, उनके संयोग से (श्वेतमश्वम्) भाफरूप अश्व अत्यन्त वेग देनेवाला होता है । जिससे कारीगर लोग सवारियों को (अघाश्वाय) शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त कर देते हैं, जिस वेग की हानि नहीं हो सकती, उसको जितना बढ़ाया चाहे उतना बढ़ सकता है । (शश्वदित् स्वस्ति) जिन यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर स्वस्ति अर्थात् नित्य सुख बढ़ता है । (ददथुः) जो कि वायु अग्नि और जल आदि से वेग गुण

१. ऋ० १ । ३४ । २ ।।
२. वै० य० मुद्रितेषु '(स्कभितासः) किमर्थाः' पूर्वापरोऽपपाठः ।
३. वै० य० मुद्रित में 'वर्षा के जल से' अपपाठ है । अन्तरिक्ष का नाम भी समुद्र है, क्योंकि वह पृथिवी से वाष्प रूप में गये सूक्ष्म जलों से पूर्ण रहता है ।

उत्पन्न होता है, उसको मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें। (वाम्) यह सामर्थ्य पूर्वोक्त अश्वि-संयुक्त पदार्थों ही में है। (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य, (महि) अर्थात् बड़े-बड़े शुभ गुणों से युक्त, (कीर्त्तेन्यम्) अत्यन्त प्रशंसा करने के योग्य और सब मनुष्यों का उपकार करनेवाला (भूत्) है। क्योंकि वही (पैद्वः) अश्व मार्ग में शीघ्र चलानेवाला है। (सदमित्) अर्थात् जो अत्यन्त वेग से युक्त है (हव्यः) वह ग्रहण और दान देने के योग्य है। (अर्य्यः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इसको अवश्य ग्रहण करे, क्योंकि इन यानों के विना द्वीपान्तर में जाना-आना कठिन है॥४॥

यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रयः पवयो मधु०) जिसमें तीन पहिये हों, जिनसे वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय, और मधुर वेगवाला हो, उसके सब अङ्ग वज्र के समान दृढ़ हों, जिनमें कलायन्त्र भी दृढ़ हों, जिनसे शीघ्र गमन होवे। (त्रयः स्कम्भासः) उसमें तीन-तीन थम्भे ऐसे बनाने चाहिये कि जिनके आधार सब कलायन्त्र लगे रहें।[1] तथा (स्कभितासः) वे थम्भे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें। जो कि नाभि के समान मध्य-काष्ठ होता है, उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं। (विश्वे) सब शिल्पी विद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें। (सोमस्य वेनाम्) जिनसे सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है, (रथे) जिस रथ में सब क्रीड़ासुखों की प्राप्ति होती है, (आरभे) उसके आरम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं। (त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप द्वीपान्तर में जा सकते हैं॥५॥

त्रिर्नो अश्विना यजता दिवेदिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम्।
तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम्॥६॥

ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ५। मं० १॥[2]

अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः॥७॥

ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ३४। मं० ३॥[3]

वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा।
मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम्॥८॥

ऋ० अ० १। अ० ६। व० ९। मं० ४॥[4]

---

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में इसके आगे '(आरा)' अपपाठ है, मन्त्र में 'आरा' पद नहीं है।

२. अत्र प्रथमसंस्करणे मन्त्रसंख्या ७ निर्दिष्टा वर्तते, तथापि सा वर्गविभागापेक्षया अशुद्धा। यतः पञ्चमवर्गस्यायं प्रथम एव मन्त्रो वर्तते। ७ संख्या तु सूक्तविभागापेक्षया साधु सम्भवति। ऋ० मं० १, सू० ३४, मं० ७॥ ३. अत्रापि प्रथम सं० 'मं० ८' निर्दिष्टा, तथापि वर्गविभागापेक्षया ३ संख्यैव साध्वी ज्ञेया। ८ संख्या तु सूक्तविभागापेक्षया साध्वी संभवति। ऋ० मं० १, सू० ४६, मं० ८॥

४. ऋ० मं० १, सू० ८५, मं० ४॥

भाष्यम्—यत् पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं तत् पुनः कीदृश कर्त्तव्यमित्यत्राह - (परि त्रिधातु) अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम् । इदं कीदृग्वेगं भवतीत्यत्राह—(आत्मेव वात:०) आगमनागमने[1] यथात्मा मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति, तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी अश्विनौ तद्यानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संक्षेपत: ।।६।।

तच्च कीदृशं यानमित्यत्राह—(अरित्रम्) स्तम्भार्थं साधनयुक्तं (पृथु) अतिविस्तीर्णम् । ईदृशः स रथः अग्न्यश्वयुक्तः (सिन्धूनाम्) महासमुद्राणां (तीर्थे) तरणे कर्त्तव्येऽलं वेगवान् भवतीति बोध्यम् (धिया यु०) तत्र त्रिविधे रथे (इन्दवः) जलानि वाष्पवेगार्थं (युयुज्रे) यथावद्युक्तानि कार्य्याणि, येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति । इन्दव इति जलनामसु निघण्टौ [अध्याये प्रथमे] खण्डे १२ पठितम् ।। 'उन्देरिच्चादेः' उणादौ प्रथमे पादे [१२] सूत्रम् ।७।।

हे मनुष्याः ! (मनोजुवः) मनोवद्गतयो वायवो यन्त्रकलाचालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् (अयुग्ध्वम्) तान् यथावद्योजयत । कथम्भूता अग्निवाय्वादयः ? (आ वृषव्रातासः) जलसेचनयुक्ताः । येषां संयोगे वाष्पजन्यवेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्ध्यन्तीत्युपदिश्यते ।।८।।

भाषार्थ—फिर वह सवारी कैसी बनानी चाहिये कि (त्रिर्नो अश्विना य०) (पृथिवीमशायतम्) जिन सवारियों से हमारा भूमि, जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना आना बनता है, (परि त्रिधातु) वे लोहा, तांबा, चांदी आदि तीन धातुओं से बनती हैं । और जैसे (रथ्या परावतः) नगर वा ग्राम की गलियों में झटपट जाना आना बनता है, वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र-शीघ्र जाना आना होता है । (नासत्या) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं, उनसे बड़े-बड़े कठिन मार्ग में भी सहज से जाना आना करें । जैसे (आत्मेव वातः स्व०) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें आवें ।। ६।।

(अरित्रं वाम्) जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं, वे (तीर्थे सिन्धूनां रथः) जो रथ बड़े-बड़े समुद्रों के मध्य से भी पार पहुंचाने में श्रेष्ठ होते हैं, (दिवस्पृथु) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने-आने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं, उन रथों में जो मनुष्य यन्त्र सिद्ध करते हैं, वे सुखों को प्राप्त होते हैं । (धिया युयुज्रे) उन तीन प्रकार के यानों में (इन्दवः) वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बनाके उसमें जलसेचन करना चाहिये, जिससे वह अत्यन्त वेग से चलनेवाला सिद्ध हो ।।७।।

(वि ये भ्राजन्ते०) हे मनुष्य लोगो ! (मनोजुवः) अर्थात् जैसा मन का वेग है, वैसे वेगवाले यान सिद्ध करो । (यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में मरुत् अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ । और (आ वृषव्रातासः) उनके योग में जलों का भी स्थापन करो । (पृषतीर-

१. आसमन्ताद् गमनागमने इत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तः—यथात्मा मनश्च ।

युग्ध्वम्) जैसे जल के वाष्प घूमने की कलाओं को वेगवाली कर देते हैं: वैसे ही तुम भी उनको सब प्रकार से युक्त करो। जो इस प्रकार से प्रयत्न करके सवारी सिद्ध करते हैं, वे (विभ्राजन्ते) अर्थात् विविध प्रकार के भोगों से प्रकाशमान होते हैं। और (सुमखास ऋष्टिभिः) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करनेवाले[हैं, वे]सब भोगों से युक्त होते हैं,(अच्युता चिदोजसा०) वे कभी दुःखी होके नष्ट नहीं होते, और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं। क्योंकि कला-कौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की (ऋष्टि[भिः]) अर्थात् कलाओं से (प्रच्या०) पूर्व स्थान को छोड़के मनोवेग[वाले]यानों से जाते-आते हैं,उन ही से मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है। इसलिये उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें ॥८॥

आ नो॑ ना॒वा म॑ती॒नां या॒तं पा॒राय॒ गन्त॑वे ।
यु॒ञ्जाथा॑मश्वि॒ना रथ॑म् ॥ ९ ॥ ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ३४। मं० १ ॥[1]

कृ॒ष्णं नि॒या॒नं हर॑यः सुप॒र्णा अ॒पो वसा॑ना॒ दिव॒मुत्प॑तन्ति ।
त आ व॑वृत्र॒न्त्सद॑नादृ॒तस्यादिद् घृ॒तेन॑ पृथि॒वी व्यु॑द्यते ॥१०॥

द्वाद॑श प्र॒धय॑श्च॒क्रमेकं॒ त्रीणि॒ नभ्या॑नि॒ क उ॒ तच्चि॑केत ।
तस्मि॒न्त्सा॒कं त्रि॑श॒ता न श॒ङ्कवो॑ऽर्पि॒ताः ष॒ष्टिर्न च॑लाच॒लासः॑ ॥११॥

ऋ० अष्ट० २। अ० ३। व० २३। मं १, २ ॥[2]

भाष्यम्—समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य (पाराय) (गन्तवे) गन्तुं यानानि रचनीयानि। (नावा मतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तिनां मेधाविनां[3] नावा=नौकया पारं गच्छन्ति, तथैव (नः) अस्माकमपि नौरुत्तमा भवेत्। (आयुञ्जाथाम०) यथा मेधाविभिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते, तथास्माभिरपि योजनीये भवतः। एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्यर्थः। मेधाविनामसु निघण्टौ [तृतीयेऽध्याये] १५ खण्डे मतय इति पठितम् ॥९॥

हे मनुष्याः ! (सुपर्णाः) शोभनपतनशीलाः (हरयः) अग्न्यादयोऽश्वाः (अपो वसानाः) जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चे-

१. इह प्रथमसंस्करणे मुद्रिता ७ मन्त्रसंख्या वर्गविभागापेक्षयाऽसाध्वी, सूक्तविभागापेक्षया साध्वी सत्यपीह मण्डलसूक्तविभागानिर्देशादसाध्वी ज्ञेया। ऋ० मं० १, सू० ४६, मं० ७ ॥

२. इहापि प्र०सं० निर्दिष्टे ४७, ४८ मन्त्रसंख्ये वर्गविभागापेक्षयाऽसाध्व्यौ वर्तेते। ऋ० मं० १, सू० १६४, मं० ४७, ४८ ॥

३. अत्र पाठोऽस्पष्टः। एवमत्र स्पष्टता कर्तव्या—'मेधाविनां नावा नौकया सर्वे मनुष्याः पारं गच्छन्ति'। मेधाविनां नावाऽर्थाद् तैर्निर्मिताय नावा।

सदा (कृष्णम्) पृथिवीविकारमयं (नियानम्) निश्चितं यानं (दिवमुत्प०) द्योतनात्मकमाकाश-मुत्पतन्ति[1], ऊर्ध्वं गमयन्तीत्यर्थः ॥१०॥

(द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां धारणार्था द्वादश कर्त्तव्याः। (चक्रमेकम्) तन्मध्ये सर्वकलाभ्रामणार्थमेकं चक्रं रचनीयम् । (त्रीणि नभ्यानि) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रचनीयानि । तैः (साकं त्रिशता) त्रीणि शतानि (शङ्कवोऽर्पिताः) यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः । (चलाचलासः) ताः कलाः चलाः चालनार्हा अचलाः स्थित्यर्हाः, (षष्टिः) षष्टिसंख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि । तस्मिन् याने एतदादिविधानं सर्वं कर्त्तव्यम् । (क उ तच्चिकेत) इत्येतत् कृत्यं को विजानाति ? (न) नहि सर्वे ॥११॥

इत्यादयः एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लिख्यन्ते ।

भाषार्थ—[2]हे मनुष्यों ! (आ नो नावा मतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव आदि यानों से (पाराय०) समुद्र के पारावार जाने के लिये सुगमता होती है, वैसे ही (आ युञ्जाथाम०) पूर्वोक्त वायु और अग्नि का योग यथावत् करो । (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको । हे मनुष्यो ! आओ, आपस में मिलके इस प्रकार के यानों को रचें, जिनसे सब देश-देशान्तर में (नः) हमारा जाना-आना बने ॥९॥

(कृष्णं नि०) अग्निजलयुक्त कृष्ण अर्थात् खैंचनेवाला जो (नियानम्) निश्चित यान है, इसके (हरयः) वेगादि गुणरूप, (सुपर्णाः) अच्छी प्रकार गमन करानेवाले, जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं, वे (अपो वसानाः) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवमुत्पतन्ति[1]) उस काष्ठ लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं । (त आववृ०) वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल[3] से वेगयुक्त होते हैं, तब (ऋतस्य) अर्थात् यथार्थ सुख के देनेवाले होते हैं। (पृथिवी घृ०) जब जलकलाओं के द्वारा पृथिवी जल से युक्त की जाती है, तब उससे उत्तम-उत्तम भोग प्राप्त होते हैं ॥१०॥

(द्वादश प्रधयः) इन यानों के बाहर भी थम्भे रचने चाहिये, जिनमें सब कलायन्त्र लगाये जायं । (चक्रमेकम्) उनमें एक चक्र बनाना चाहिये, जिसके घुमाने से सब कला घूमें । (त्रीणि नभ्यानि) फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहिये कि एक के चलाने से सब रुक जायं, दूसरे के चलाने से आगे चलें, और तीसरे के चलाने से पीछे चलें । (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उसमें तीन-तीन सौ (शङ्कवः०) बड़ी-बड़ी कीलें अर्थात् पेंच लगाने चाहियें कि जिनसे उनके सब अंग जुड़ जायं, और उनके निकालने से सब अलग-अलग हो जायं । (षष्टिर्न चलाचलासः) उनमें ६० साठ कलायन्त्र रचने चाहिये, कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें । अर्थात् जब विमान को

---

१. 'उत्पतन्ति' अन्तर्णीत ण्यर्थप्रयोग है ।

२. यह भाषार्थ सुगम होते हुए भी संस्कृत से भिन्न है । इसी प्रकार अगले मन्त्रों के भाषार्थ में भी भिन्नता है ।

३. निघण्टु १।१२ में सदन शब्द जलनामों में पढ़ा है ।

ऊपर चढ़ाना हो, तब भाफघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहिये, और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये। ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो, तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहिये, और जो पश्चिम को चलाना हो, तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहियें। इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना। (न) उनमें किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये। (क उ तच्चिकेत) इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते, किन्तु जो महाविद्वान् हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं, वे ही सिद्ध कर सकते हैं ॥११॥

इस विषय के वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहां थोड़ा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे।

इति नौविमानादिविद्याविषयः संक्षेपतः



अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः ।

शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम् ॥ १ ॥

ऋ० अष्ट० १ । अ० ८ । व० २१ । मं० ५ ॥[2]

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—अस्मिन् मन्त्रे [3]तारविद्याबीजं प्रकाश्यत इति ।

हे मनुष्याः ! (अश्विना०) अश्विनोर्गुणयुक्तं, (पुरुवारम्) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्त्तव्यं बहूत्तमगुणयुक्तम्, (श्वेतम्) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मित्तम्, (अभिद्युम्) प्राप्तविद्युत्प्रकाशम्, (पृतनासु दुष्टरम्) राजसेनाकार्य्येषु दुस्तरं [4]प्लावयितुमशक्यम्, (चर्कृत्यम्) वारंवारं सर्वक्रियासु योजनीयम्, (तरुतारम्) ताराख्यं यन्त्रं यूयं कुरुत । कथम्भूतं गुणैर्युक्तम् ? (शर्य्यैः) पुनः पुनर्हननप्रेरणगुणैर्युक्तम् । कस्मै प्रयोजनाय ? (पेदवे) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रापणाय । पुनः कथम्भूतं?

---

१. अत्रान्यत्रेव अथ तारविद्याविषयः संक्षेपतः इत्यनुक्त्वा यत् 'अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः' इति निर्दिशन्नाचार्यो यया विद्यया दूरस्थानि वृत्तान्यल्पकाल एव प्रेष्यन्ते, तन्मूलं वेदेऽपि वर्तते इति स्पष्टयति, न त्विदं तारयन्त्रमेव वेदे निर्दिष्टमिति । प्रथममन्त्रव्याख्यानारम्भे 'अस्मिन् मन्त्रे तारविद्याबीजं प्रकाश्यते' इत्यनेनापि तमेवाभिप्रायं पुनः प्रकटयति ।

२. शताब्दीसंस्करणादारभ्याष्टमसंस्करणपर्यन्तं '५' संख्यैव वर्तते । इयमेव च वर्गविभागापेक्षया शुद्धा । १–५, तथा ६ संस्करणेषु '१०' संख्या निर्दिश्यते, साऽत्र वर्गविभागनिर्देशाद् अशुद्धा, यतः सा सूक्तविभागमपेक्षते । ऋ० मं० १, सू० ११६, मं० १० ॥

३. अत्र केचनाऽऽशङ्कन्ते यत्स्वामिदयानन्देन तात्कालिकां ताराख्यां दूरसंवादसंचारव्यवस्थां दृष्ट्वा प्राचीनानामार्याणां विज्ञानोत्कर्षतां प्रख्यापयितुमयमसत्प्रयत्नः कृत इति । अत्रोच्यते, नायमाचार्यपादानामसत्प्रयत्नोऽपि तु प्राचीनानामार्याणां वास्तविकीं विज्ञानोत्कर्षतां द्योतयितुमयं सत्प्रयत्नः । आसीत् पुराणानामार्याणां विमानज्ञानं विज्ञातम् इत्युक्तं पुरस्तात् नौविमानादिविद्याविषये (पृष्ठ २२३ टि० ३)। तथैवासीत् पुरा भारते दूरसंवादसंचारव्यवस्था । अत एव शुक्रनीतौ राज्यव्यवस्थाप्रकरणे दूरतमप्रदेशानां वार्ताविज्ञानायोच्यते—'अयुतक्रोशजां वार्तां हरेदेकदिनेन वै' (१।३६७) । अत्र दशसहस्रक्रोशजा (=२० सहस्रमीलजा=३२००० किलोमीटरजा) वार्ता यथा केन्द्रं प्रति (राजानं प्रति) एकेनैव दिनेन विदिता भवेत् तादृशः प्रयत्नो राज्ञा विधातव्य इति नीतिकारणामादेशः । अत एवेह मन्त्रेऽपि 'पृतनासु दुष्टरम्' इत्युक्तम् । यदि हि नाम पुरा नैतादृशी काचित् दूरसंवादसंचारव्यवस्थाऽभविष्यत् तर्हि कथं नीतिकारः शशशृङ्गायमाणां तादृशीं व्यवस्थां विधातुमुपादिक्ष्यत् । एतेन विज्ञायते आसन् पुरातना आर्या विविधविज्ञानसम्पत्समन्विता इति ।

४. प्रथमसंस्करणे 'प्लवितु' पाठः, तत्रान्तर्णीतण्यर्थो ज्ञेयः ।

(स्पृधाम्) स्पर्द्धमानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम् । पुनः कथम्भूतं ? (चर्षणीसहम्) मनुष्यसेनायां कार्यसहनशीलम् । पुनः कथम्भूतं ? (इन्द्रमिव०) सूर्यवद् दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थम् । (युवम्) युवामश्विनौ (दुवस्यथः) पुरुषव्यत्ययेन [मध्यम-पुरुषः ।] पृथिवीविद्युदाख्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तत्ताराख्यं यन्त्रं नित्यं सेवध्वमिति बोध्यम् ॥१॥

भाषार्थ—(युवं पेदवे०) अभिप्रायः—इस मन्त्र से तारविद्या का मूल[1] जाना जाता है। पृथिव से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजुली इन दोनों के प्रयोग से तारविद्या[2] सिद्ध होती है। क्योंकि '**द्यावापृथिव्योरित्येके**' इस निरुक्त[3] के प्रमाण से इनका अश्वि नाम जान लेना चाहिये।

---

१. आचार्य ने इस विषय का निर्देश 'अथ तारविद्याविषयः संक्षेपतः' ऐसा न करके '**अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः**' ऐसा किया। इससे ग्रन्थकार यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जिस विज्ञान के आधार पर 'तार' यन्त्र का आविष्कार हुआ है उस विज्ञान का मूल वेद में है। वर्तमान तार यन्त्र का मूल वेद में है ऐसा ग्रन्थकार का अभिप्राय नहीं है।

२. अनेक लोग शंका करते हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाश्चात्य विज्ञानोन्नति को देखकर 'भारतीय प्राचीन आर्यों को भी ये विद्यायें ज्ञात थीं' ऐसे मिथ्याग्रह से तारादिविद्या का यहां संकेत किया है। इसका उत्तर यह है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मिथ्याग्रह से प्राचीन आर्यों की मिथ्या विज्ञानोन्नति का विधान नहीं किया है, अपितु वास्तविकता का निर्देश किया है। प्राचीन आर्य विमानों का व्यवहार करते थे और वे देश काल और उपयोग की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के विमानों का निर्माण करते थे, यह हम पूर्व नौविमानादि प्रकरण में (पृ० २२६) दर्शा चुके हैं। इसी प्रकार प्राचीन आचार्यों को कोई दूरसंवादसंचार प्रणाली भी ज्ञात थी, इसका स्पष्ट निर्देश शुक्रनीति नामक अति प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। उसमें राज्यव्यवस्था के प्रकरण में लिखा है कि राजा को अपने राज्य में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि केन्द्र को १०००० दस सहस्रकोश (=२०००० मील=३२००० किलोमीटर) दूर हुई बात १ दिन में ज्ञात हो जाये। 'अयुतक्रोशजां वार्तां हरेदेकदिनेन वै' (शुक्रनीति १।३६७)। यदि भारत में अति प्राचीनकाल में दूरसंवादसंचार प्रणाली विदित न होती हो आचार्य शुक्र ऐसी असम्भव वार्ता के लिये प्रयत्न करने का विधान न करते। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन आर्यों को दूरसंवादसंचार के लिये किसी प्रकार की यान्त्रिक प्रणाली विदित थी। प्राचीन आर्य ऐसी व्यवस्था राज्यकार्य के लिये ही प्रायः रखते थे, क्योंकि उस समय राज्य की इकाई ग्राम्यव्यवस्था थी। बड़े-बड़े नगर उस समय नहीं थे (ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार आर्य सभ्यता ग्रामबहुला है और नगरबहुला आसुरी सभ्यता है)। इसलिये साधारण जनता को अत्यधिक देशदेशान्तर में जाने की आवश्यकता नहीं होती थी। आर्य लोग विद्युत् विद्या से भी भले प्रकार परिचित थे। उन्हें शुष्क और आर्द्र दो प्रकार की विद्युत् के उपयोग का ज्ञान था। विश्वामित्र ने राम को ये दोनों प्रकार की विद्युतों की विद्या सिखाई थी (द्र० वा० रा० १।२७।६)। इतना ही नहीं, निरुक्त ७।२३ से तो विदित होता है कि प्राचीन आर्य मध्यमस्थानी मेघस्थ विद्युत् को भी ग्रहण करके उससे कार्य लेने की विद्या भी जानते थे।

३. निरुक्त १२।१ में 'अश्विनौ' के प्रकरण में 'द्यावापृथिव्यावित्येके' पाठ है। ग्रन्थकार ने उसका अर्थतः उल्लेख किया है।

(पेदवे) अर्थात् वह अत्यन्त शीघ्रगमनागमन का हेतु होता है (पुरुवारम्) अर्थात् इस तारविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं। (स्पृधाम्) अर्थात् लड़ाई करनेवाले जो राजपुरुष हैं, उनके लिये यह तारविद्या अत्यन्त हितकारी है। (श्वेतम्) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिये। (अभिद्युम्) और विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिये। (पृतनासु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिसका दुःसह प्रयोग होता, और उल्लंघन करना अशक्य है। (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के वारंवार चलाने के लिये योग्य होता है। (अर्य्यैः) अनेक प्रकार कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये, विद्युत् की उत्पत्ति करके उसका ताड़न करना चाहिये। (तरुतारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य यन्त्र है, उसको सिद्ध करके, प्रीति से सेवन करो। किस प्रयोजन के लिये ? (पेदवे) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये,तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिये तारविद्या सिद्ध करनी चाहिये।(चर्षणीसहं०)जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्यों के सहन करनेवाला है। (इन्द्रमिव०) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य्य करता है, वैसे तारयन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है। (युवं दुवस्यथः) यह तारयन्त्र पूर्वोक्त अश्वि के गुणों ही से सिद्ध होता है। इसको बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिये। इस मन्त्र में पुरुषव्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है, अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिये ॥१॥

॥ इति तारविद्यामूलविषयः संक्षेपतः ॥



अथ वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः संक्षेपतः

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १ ॥ य० अ० ६ । मं० २२ ॥

भाष्यम्—अस्याभिप्रायार्थः—इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति ।

हे परमवैद्येश्वर ! भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (ओषधयः) सोमादयः, (सुमित्रिया[1]) अत्र इयाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम् इति वार्तिकेन[2] 'जसः' स्थाने 'डियाच्'[1] इत्यादेशः। सुमित्रा सुखप्रदा रोगनाशकाः सन्तु, यथावद् विज्ञाताश्च । तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु । तथा (योऽस्मान् द्वेष्टि) योऽधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति, (यं च वयं द्विष्मः) यमधर्मात्मानं रोगं च वयं द्विष्मः, (तस्मै दुर्मित्रियाः) दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु । अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रवद् दुःखनाशिका भवन्ति । तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्तीति ।

एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति,[3] प्रसङ्गाभावान्नात्र लिख्यन्ते । यत्र यत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः ।

भाषार्थ—(सुमित्रिया न०) । हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से (आपः) अर्थात् जो प्राण और जल आदि पदार्थ, तथा (ओषधयः) सोमलता आदि सब ओषधि (नः) हमारे लिये, (सुमित्रिया सन्तु) सुखकारक हों । तथा (दुर्मित्रियाः) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं । और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं, उनके लिये विरोधिनी हों । क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं, उनको ईश्वर के रचे सब पदार्थ सुख देने वाले होते हैं, और जो कुपथ्य करनेवाले तथा पापी हैं, उनके लिये सदा दुःख देनेवाले होते हैं ॥

इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले हैं ।

❧ इति वैद्यकविद्याविषयः संक्षेपतः ❧

---

१. अत्राऽऽकारान्तं पदच्छेदं मत्वा 'डियाच्' आदेशो विहितः । इत्थमेव ग्रन्थान्ते वैदिकव्याकरणनियमेष्वपि वार्तिकस्यास्य व्याख्याने मन्त्रांशोऽयमुद्धृतः । परन्त्विह 'दुर्मित्रियाः' पदं स्पष्टमेव सकारान्तं विद्यते । यजुर्वेदभाष्येऽपि सर्वत्र 'सुमित्रियाः' इत्येवं सकारान्तमेव पदं निर्दिश्यते । तथासति जसः स्थाने डियाजादेशे सकारान्तत्वं पदस्य नोपपद्यते । तस्मात् 'सुमित्रियाः, दुर्मित्रियाः' पदयोः स्वार्थे घच् प्रत्ययः (४।४।११८) उपसंख्येयः । तुलना कार्या—सुमित्र्याः दुर्मित्र्याः (आ० श्रौ० ३।५।२) सुमित्र्याः—ऋ० १०।६५।३॥

२. महा० ७।१।३९॥

३. अत एव आयुर्वेद उपवेदत्वेन स्मर्यते ।

अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥ १ ॥
पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम् ।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां३ या स्वस्तिः ॥ २ ॥

ऋ० अ० ८ । अ० १ । व० २३ । मं० १,२ ॥[1]

भाष्यम्—एतेषामभिप्रायः—एतदादिमन्त्रेष्वत्र पूर्वजन्मानि पुनर्जन्मानि च प्रकाश्यन्त इति । (असुनीते०) असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिस्तत्सम्बुद्धौ, हे असुनीते ईश्वर ! मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुखिनो भवेम । (पुनरस्मा०) अर्थाद्यदा वयं पूर्वशरीरं त्यक्त्वा द्वितीयशरीरधारणं कुर्मस्तदा (चक्षुः) चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणाम्, पुनर्जन्मनि सर्वाणीन्द्रियाण्यस्मासु धेहि । (पुनः प्राणमि०) प्राणमिति वायोरन्तःकरणस्योपलक्षणम्,[2] पुनर्द्वितीयजन्मनि प्राणमन्तःकरणं च धेहि । एवं हे भगवन् ! पुनर्जन्मसु (नः) अस्माकं (भोगम्) भोगपदार्थान् (ज्योक्) निरन्तरमस्मासु धेहि । यतो वयं सर्वेषु जन्मसु (उच्चरन्तं सूर्य्यम्) श्वासप्रश्वासात्मकं प्राणं प्रकाशमयं सूर्य्यलोकं च निरन्तरं पश्येम । (अनुमते) हे अनुमन्तः[3] परमेश्वर ! (नः) अस्मान् सर्वेषु जन्मसु (मृडय) सुखय । भवत्कृपया पुनर्जन्मसु (स्वस्ति) सुखमेव भवेदिति प्रार्थ्यते ॥ १ ॥

(पुनर्नो०) हे भगवन् ! भवदनुग्रहेण (नः) अस्मभ्यम् (असुम्) प्राणमन्नमयं बलं च (पृथिवी पुनर्ददातु) । तथा (पुनर्द्यौः०) पुनर्जन्मनि द्यौर्देवी द्योतमाना [4]सूर्य्यज्योतिरसुं ददातु (पुनरन्तरिक्षम्) तथान्तरिक्षं पुनर्जन्मन्यसुं जीवनं ददातु (पुनर्नः सोमस्त०) तथा सोम ओषधिसमूहजन्यो रसः पुनर्जन्मनि तन्वं शरीरं ददातु (पुनः पूषा०) हे परमेश्वर ! पुष्टिकर्त्ता भवान् (पथ्याम्) पुनर्जन्मनि धर्ममार्गं ददातु, तथा सर्वेषु जन्मसु (या स्वस्तिः) सा भवत्कृपया नोऽस्मभ्यं सदैव भवत्विति प्रार्थ्यते भवान् ॥ २ ॥

---

१. वै० य० मुद्रितेषु १-५, ६ संस्करणेषु ६,७ मन्त्रसंख्ये निर्दश्येते, ते वर्गविभागापेक्षयाऽशुद्धे । अन्येषु संस्करणेषु शुद्धे संख्ये उपलभ्येते । ऋ० मं० १०, सूक्त ५९, मं० ६,७ ॥

२. 'वायोरन्तःकरणस्य च' इत्येवमिह चकारः समुच्चयायोहितव्यः ।

३. अनुमन्तृशब्दस्य संबुद्धौ रूपम् ।

४. ज्योतिशब्द इकारान्तोऽपि स्त्रीलिङ्गे दृश्यते ।

भावार्थ—(असुनीते) हे सुखदायक परमेश्वर ! आप (पुनरस्मासु चक्षुः) कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिये। तथा (पुनः प्राणम्) प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये। (इह नो धेहि भोगम्) हे जगदीश्वर ! इस संसार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम-उत्तम भोगों को प्राप्त हों। तथा (ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तम्) हे भगवन् ! आपकी कृपा से सूर्य्यलोक, प्राण और आपको विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें। (अनुमते मृडय नः स्वस्ति) हे अनुमते=सबको मान देनेहारे ! सब जन्मों में हम लोगों को मृडय=सुखी रखिये, जिससे हम लोगों को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो ॥१॥

(पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पु०) हे सर्वशक्तिमन् ! आपके अनुग्रह से हमारे लिये वारंवार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को, और अन्तरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहें। (पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु) पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हमको उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे। तथा (पुनः पूषा०) पुष्टि करानेवाला परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हमको सब दुःख निवारण करनेवाला पथ्यरूप स्वस्ति को देवे ॥२॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ ३ ॥

यजु० अ० ४। मं० १५ ॥

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ ४ ॥

अथर्व० कां० ७। अनु० ६। व० ६७। मं० १ ॥[1]

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ ५ ॥

अथर्व० कां ५। अनु० १। व० १। मं० २ ॥[2]

भाष्यम्—(पुनर्मनः पु०) हे जगदीश्वर ! भवदनुग्रहेण विद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्तं मन आयुश्च (मे) मह्यमागन्) पुनः पुनर्जन्मसु प्राप्नुयात्। [(पुनः प्राणः) पुनर्जन्मनि प्राणः शरीरधारको वायुः] (पुनरात्मा०) पुनर्जन्मनि मदात्मा विचारः शुद्धः सन्[3] प्राप्नुयात्। (पुनश्चक्षु:०) चक्षुः श्रोत्रं च मह्यं प्राप्नुयात्। (वैश्वानरः) य सकलस्य जगतो नयनकर्त्ता (अदब्धः) दम्भादिदोषरहितः (तनूपाः) शरीरादिरक्षकः (अग्निः) विज्ञानानन्दस्वरूपः परमेश्वरः (पातु दुरि०) जन्म-

---

१. अथर्व ७। ६७। १ ॥ २. अथर्व ५। १। २ ॥ ३. अत्र केचन पाठाशुद्धिं मत्वाऽनेकधा पाठशोधनं दर्शयन्ति। तत्र पण्डितसुखदेवेन 'मदात्मा=मम आत्मा इत्यस्य शुद्धो विचारः' इत्यभिप्रायो वर्णितः, स साधुरेव। यद्वा 'आत्मा' शब्दस्य 'विचारः' इत्यर्थो ज्ञेयः, स शुद्धः सन् प्राप्नुयादिति निरवद्यम्।

जन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य पातु रक्षतु, येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम ॥३॥

(पुनर्मै०) हे भगवन् ! पुनर्जन्मनीन्द्रियमर्थात् सर्वाणीन्द्रियाणि, आत्मा प्राणधारको बलाढ्यः, (द्रविणम्) विद्यादिश्रेष्ठधनम्, (ब्राह्मणं च) ब्रह्मनिष्ठात्वम्, (पुनरग्नयः) मनुष्यशरीरं धारयित्वाऽऽहवनीयाद्यग्न्याधानकरणम्, (मैतु) पुनः पुनर्जन्मस्वेतानि मामाप्नुवन्तु । (धिष्ण्या यथास्थाम०) हे जगदीश्वर ! वयं यथा[1] येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु धिष्ण्या धारणावत्या धिया सोत्तमशरीरेन्द्रिया अस्थाम[1], तथैवेहास्मिन् संसारे पुनर्जन्मनि बुद्धया सह स्वस्वकार्य्यकरणे समर्था भवेम । येन वयं केनापि कारणेन न कदाचिद् विकला भवेम ॥४॥

(आ यो ध०) यो जीवः (प्रथमः) पूर्वजन्मनि, धर्माणि यादृशानि धर्मकार्य्याणि, (आससाद) कृतवानस्ति, स (ततो वपूंषि०) तस्माद् धर्मकारणाद् बहून्युत्तमानि शरीराणि पुनर्जन्मनि (कृणषे) धारयति । एवं यश्चाधर्मकृत्यानि चकार स नैव पुनः पुनर्मनुष्यशरीराणि प्राप्नोति, किन्तु पश्वादीनि हि शरीराणि धारयित्वा दुःखानि भुङ्क्ते । इदमेव मन्त्रार्थेनेश्वरो ज्ञापयति । (धास्युर्योनिम्) [2]धास्यतीति धास्युरर्थात् पूर्वजन्मकृतपापपुण्यफलभोगशीलो जीवात्मा, (प्रथमः) पूर्वं देहं त्यक्त्वा, वायुजलौषध्यादिपदार्थान् (आविवेश) प्रविश्य, पुनः कृतपापपुण्यानुसारिणीं योनिमाविवेश प्रविशतीत्यर्थः (यो वाचम०) यो जीवो[3] ऽनुदितामीश्वरोक्तां वेदवाणीम् आ समन्ताद् विदित्वा धर्ममाचरति, स पूर्ववद् विद्वच्छरीरं धृत्वा सुखमेव भुङ्क्ते । तद्विपरीताचरणस्तिर्य्यग् देहं धृत्वा दुःखभागी भवतीति विज्ञेयम् ॥५॥

भाषार्थ—(पुनर्मनः पुनरात्मा०) हे सर्वज्ञ ईश्वर ! जब जब हम जन्म लेवें, तब तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों । (वैश्वानरोऽदब्धः०) जो विश्व में विराजमान ईश्वर है, वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे । (अग्निर्नः) सब पापों के नाश करनेवाले आप हमको (पातु दुरिताद् अवद्यात्) बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रक्खें ॥३॥

(पुनर्मैत्विन्द्रियम्) हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा से पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझको प्राप्त हों । अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे । (पुनरात्मा) अर्थात् प्राणों को धारण करनेहारा सामर्थ्य मुझको प्राप्त होता रहे जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष वा अच्छे आचरण से अधिक भी जीवें । (द्रविणम्) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी पुनर्जन्म में प्राप्त

१. मन्त्रे 'यथास्थाम' इत्येकं पदम् । तदिह द्विधा कृत्वा व्याख्यातम् । एकस्यापि पदस्य द्विधा कृत्वा व्याख्याने निरुक्तकारस्य 'पुरुषादः' इत्येकस्य पदस्य 'पुरुषान् अदनाय' (२।६) इति व्याख्यानमेव प्रमाणम् । तथा चोक्तं बृहद्देवतायाम्—पदमेकं द्विधाकृत्य······(२।१११) ।

२. दिवादेराकृतिगणत्वाद् 'मृगयति' आदिवत् अनुक्तोऽपि 'धासु' दैवादिको वैदिको धातुर्ज्ञेयः । वेदे धासि-धास्यु-धास आदीनां तन्निष्पन्नानां शब्दानां प्रयोगदर्शनात् । 'धास्युः' इत्यत्र दस्युवद् युच् द्रष्टव्यः ।

३. जीवेनानुदिताम्, अर्थादीश्वरोक्तामित्यर्थः ।

होते रहें। (ब्राह्मणं च) और सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है, उसका व्याख्यानसहित विज्ञान तथा आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे। (पुनरग्नयः) तथा सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञ को करते रहें। (धिषणया यथास्थाम) हे जगदीश्वर! हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभगुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रियसहित थे, वैसे ही इस संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कृत्य करने में समर्थ हों। ये सब शुद्धबुद्धि के साथ (मैतु) मुझको यथावत् प्राप्त हों। (इहैव) जिनसे हम लोग इस संसार में मनुष्यजन्म को धारण करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें, और इस सामग्री से आपकी भक्ति को प्रेम से सदा किया करें। जिसे करके किसी जन्म में हमको कभी दुःख प्राप्त न हों ॥४॥

(आ यो धर्माणि०) जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, (ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता, और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। (धास्युर्योनिं०) जो पूर्वजन्म में किये हुए पाप पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है, वह पूर्व शरीर को छोड़के वायु के साथ रहता है, पुनः जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य्य में प्रवेश करता है, तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है। (यो वाचमनुदिताम्) जो जीव अनुदित वाणी, अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण करने की आज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जान के बोलता है, और धर्म ही में (ससाद) यथावत् स्थिर रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है। और जो अधर्माचरण करता है, वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतङ्ग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है ॥५॥

द्वे सृतीऽअशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ६ ॥

य० अ० १९ । मं० ४७ ॥

मृतश्चाहं[1] पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नाना योनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥ १॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥ २ ॥
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ।
[2][सांख्यं योगं च समभ्यस्ये पुरुषं वा पञ्चविंशकम् ॥]॥७॥

निरु० अ० १३ । खं० १९ ॥[3]

१. निरुक्त में स्वरयुक्त पाठ है, इससे सिद्ध है कि लौकिक भाषा के ग्रन्थ भी पुरा काल में सस्वर थे।

२. अयं कोष्ठान्तर्गतः पाठो नेह पठ्यते। भाषार्थेऽस्य व्याख्यानदर्शनादस्माभिः परिवर्धितः।

३. ग्रन्थकार इह निरुक्तस्य चतुर्दशाध्यायस्य षष्ठखण्डस्थं पाठं यजुर्भाष्ये १।२६ च चतुर्दशस्य द्वादश

भाष्यम्—(द्वे सृती०) अस्मिन् संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः। एकः पितॄणां ज्ञानिनां देवानां विदुषां च, द्वितीयः (मर्त्यानाम्) विद्याविज्ञानरहितानां मनुष्याणाम्। तयोरेकः पितृयानो‡ द्वितीयो देवयानश्‡ चेति[1]। यत्र जीवो मातापितृभ्यां देहं धृत्वा पापपुण्यफले सुखदुःखे पुनः पुनर्भुङ्क्ते, अर्थात् पूर्वापरजन्मानि च धारयति, सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति। तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद् विमुच्यते, सा द्वितीया सृतिर्भवति। तत्र प्रथमायां सृतौ पुण्यसञ्चयफलं भुक्त्वा पुनर्जायते म्रियते च। द्वितीयायां च सृतौ पुनर्न जायते न म्रियते चेति। अहमेवम्भूते द्वे सृती (अशृणवम्) श्रुतवानस्मि। (ताभ्यामिदं विश्वम्) पूर्वोक्ताभ्यां द्वाभ्यां मार्गाभ्यां सर्वं जगत् (एजत् समेति) कम्पमानं गमनागमने समेति सम्यक् प्राप्नोति। (यदन्तरा पितरं मातरं च) यदा जीवः पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति, तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम् ॥६॥

अत्र 'मृतश्चाह पुनर्जात' इत्यादि निरुक्तकारैरपि पुनर्जन्मधारणमुक्तमिति बोध्यम् ॥७॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथाऽभिरूढो[2]ऽभिनिवेशः ॥ ८ ॥

पात० अ० १। पा० २। सू० ९॥

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ ९ ॥ न्या० अ० १। आ० १। सू० ९॥

भाष्यम्—(स्वरस०) योगशास्त्रे पतञ्जलिमहामुनिना तदुपरि भाष्यकर्त्रा वेदव्यासेन च पुनर्जन्मसद्भावः प्रतिपादितः—

[3][सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति—मा न भूवम्, भूयासमिति। न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्याशीः। एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति]।

या सर्वेषु प्राणिषु जन्मारभ्य मरणत्रासाख्या प्रवृत्तिर्दृश्यते तया पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति विज्ञायते। कुतः? जातमात्रकृमिरपि मरणत्रासमनुभवति, तथा विदुषोऽप्यनुभवो भवतीत्यतः।

खण्डस्थं पाठं त्रयोदशाध्याय एवान्तःकृत्य निर्देशं कृतवान्। इत्थमेवानेक आचार्या अपि चतुर्दशमध्यायं त्रयोदशाध्याय एवान्तर्भावयन्ति। अपि च निरुक्त एषु श्लोकेषु अन्यत्र (३।४) च स्वराङ्कनमपि दृश्यते तेन पुराकाले लौकिकोऽपि वाङ्मयः सस्वर आसीदिति विज्ञायते। तथा सत्येव पाणिनेर्भाषायां स्वरविधानमप्युपपद्यते।

१. अत्र व्याख्याने आपाततो विरोधः प्रतीयते। तस्यायं समाधिः—मन्त्रे द्वे सृती इत्युक्तम्, तत्र प्रथमा सृतिः पितॄणां देवानां च द्वितीया मनुष्याणाम्। तत्र प्रथमा सृतिरपि पितृयाणदेवयानभेदेन द्विविधेत्यभिप्रायोऽत्र ज्ञेयः॥

२. 'तथारूढो०'इति पातञ्जलदर्शनपाठः। पूर्वत्र मुक्तिविषयारम्भे 'तथारूढो०' इत्येव पठ्यते (पृ० २१३)।

३. इदं कोष्ठान्तर्गतं व्यासभाष्यं लिपिकृता प्रमादेन त्यक्तमिति प्रतीयते। यतो हि भाषायामस्य भाष्यस्य '(सर्वस्य प्रा०) '(भूयासमिति०)' 'मा न भूवम्' इति त्रीणि प्रतीकानि निर्दिष्टान्युपलभ्यन्ते।

जीवेनानेकानि शरीराणि धार्य्यन्ते। यदि पूर्वजन्मनि मरणानुभवो न भवेच्चेत् तर्हि तत्संस्कारोऽपि न स्यात्, नैव संस्कारेण विना स्मृतिर्भवति, स्मृत्या विना मरणत्रासः कथं जायेत ? कुतः ? प्राणिमात्रस्य मरणभयदर्शनात् पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति वेदितव्यम् ॥८॥

(पुनरु०) तथा महाविदुषा गोतमेनर्षिणा न्यायदर्शने तद्भाष्यकर्त्रा वात्स्यायनेनापि पुनर्जन्मभावो मतः। यत्पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्द्वितीयशरीरधारणं भवति तत्प्रेत्यभावाख्यः पदार्थो भवतीति विज्ञेयम्। प्रेत्यार्थान्मरणं प्राप्य भावोऽर्थात् पुनर्जन्म धृत्वा जीवो देहवान् भवतीत्यर्थः ॥९॥

भाषार्थ—[1](द्वेसृती) इस संसार में पाप और पुण्य के फलभोग के लिये दो मार्ग हैं। एक—पितृ अर्थात् ज्ञानियों, देवों अर्थात् विद्वानों का, दूसरा—विद्या-विज्ञानरहित मनुष्यों का। उनमें एक पितृयान है, दूसरा देवयान[2]। जिसमें माता-पिता के संयोग से देह को धारण करके, पाप-पुण्य और सुख-दुःख को पुनः पुनः भोगता है अर्थात् पूर्वापर जन्मों को धारण करता है, वह पितृयान कहाता है। तथा जिसमें मोक्षपद को प्राप्त करके जन्ममरणरूप संसार से मुक्त हो जाता है, वह दूसरा [देवयान] मार्ग कहाता है। उनमें से प्रथम मार्ग में पुण्य संचय फल को भोगकर पुनः जन्म लेता है और मरता है। दूसरे [देवयान] मार्ग में न पुनः जन्म लेता है और न मरता है। इस प्रकार के दो मार्ग (अशृणवम्) मैंने सुने हैं। (ताभ्यामिदं विश्वम्) पूर्वोक्त दोनों मार्गों से सम्पूर्ण जगत् (एजत् समेति) कम्पमान=चल जगत् नियमित रूप से गति करता है। (यदन्तरा पितरं मातरं च) जब जीव पूर्वशरीर को छोड़कर वायु जल ओषधि आदि में भ्रमण करके पिता व माता के शरीर में प्रविष्ट होकर पुनर्जन्म पाता है तब वह जीव शरीर सहित होता है, ऐसा जानना चाहिये ॥६॥

जैसा वेदों में पूर्वापरजन्म के धारण करने का विधान किया है, वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है—

जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक-ठीक जानता है कि—(मृतश्चाहं पु०) मैंने अनेक बार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हजारह गर्भाशयों का सेवन किया ॥१॥ (आहारा

---

१. वै० य० मुद्रित भाषार्थ संस्कृत भाष्य से सर्वथा विपरीत है। अतः हमने संस्कृतभाष्य के अनुसार यह भाषार्थ लिखा है। वै० य० मुद्रित भाषार्थ इस प्रकार है—(द्वे सृती) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को (अशृवणम०) सुनते हैं। एक मनुष्य शरीर का धारण करना और दूसरा नीच गति से पशु, पक्षी, कीट पतङ्ग, वृक्ष आदि का होना। इसमें मनुष्यशरीर के तीन भेद हैं—एक पितृ, अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात साधारण मनुष्यशरीर का धारण करना। इनमें प्रथम गति अर्थात् मनुष्यशरीर पुण्यात्माओं और पुण्यपाप तुल्य वालों को होता है, और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिये है। (ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति) इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने-अपने पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं। (यदन्तरा पितरं मातरं च) जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर का छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना, वारंवार होता है ॥

२. यहां कुछ विरोध सा प्रतीत होता है। इसका समाधान यह है कि मन्त्र में दो मार्ग कहे गये हैं। एक पितरों और देवों का, दूसरा मनुष्यों का। प्रथममार्ग भी पितृयाण और देवयान भेद से दो प्रकार का है यह यहां दर्शाया है।

वि०) अनेक प्रकार के भोजन किये, अनेक माताओं के स्तन का दुग्ध पिया, अनेक माता-पिता और सुहृदों को देखा [है] ॥२॥ (अवाङ्मुखः) मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये। [1]परन्तु अब इन महादुःखों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूंगा, नहीं तो इस जन्ममरण रूप दुःखसागर के पार जाना कभी नहीं हो सकता [३] ॥७॥

तथा योगशास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है—(स्वरस०)। (सर्वस्य प्रा०[2]) हर-एक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि (भूयासमिती०[2]) अर्थात् मैं सदैव सुखी बना रहूं, मरूं नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि (मा न भूवं०[2]) अर्थात् मैं न होऊं। ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती। यह 'अभिनिवेश' क्लेश कहलाता है, जो कि कृमिपर्य्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है। यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है ॥८॥

तथा न्यायदर्शन के (पुनरु०) सूत्र, और उसी के वात्स्यायन भाष्य में भी कहा है कि—जो उत्पन्न अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है, वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़के, पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मरके पुनर्जन्म लेने को 'प्रेत्यभाव' कहते हैं ॥९॥

अत्र केचिदेकजन्मवादिनो वदन्ति—यदि पूर्वजन्मासीत् तर्हि तत्स्मरणं कुतो न भवतीति ?

अत्र ब्रूमः—भो, ! ज्ञाननेत्रमुद्घाट्य द्रष्टव्यम्, अस्मिन्नेव शरीरे जन्मतः पञ्चवर्षपर्य्यन्तं यद्यत्सुखं दुःखं च भवति, यच्च जागरितावस्थास्थानां सर्वव्यवहाराणां [3]सुषुप्त्यवस्थायां च तदनुभूतस्मरणं न भवति, पूर्वजन्मवृत्तस्मरणस्य तु का कथा !

(प्रश्नः) यदि पूर्वजन्मकृतयोः पापपुण्ययोः सुखदुःखफले ह्रीश्वरोऽस्मिन् जन्मनि ददाति, तयोश्चास्माकं साक्षात्काराभावात् सोऽन्यायकारी भवति, नातोऽस्माकं शुद्धिश्चेति ?

अत्र ब्रूमः—द्विविधं ज्ञानं भवत्येकं प्रत्यक्षं द्वितीयमानुमानिकं च। यथा कस्यचिद् वैद्यस्यावैद्यस्य च शरीरे ज्वरावेशो भवेत्, तत्र खलु वैद्यस्तु विद्यया कार्य्यकारणसङ्गत्यनुमानतो ज्वरनिदानं जानाति नापरश्च, परन्तु वैद्यकविद्यारहितोऽपि ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात् किमपि मया कुपथ्यं पूर्वं

१. यहां से आगे का भाषार्थ निरुक्त के 'साख्यं योगं च समभ्यस्ये पुरुषं वा पञ्चविंशकम्' इस अनुद्धृत उत्तरार्ध का है।

२. योगशास्त्र व्यासभाष्य पा० २। सू० ९ की ये प्रतीकें हैं। इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत भाग में व्यासभाष्य लिखना छूट गया है।

३. अत्र कथंचित् पाठो भ्रष्ट इति प्रतीयते वाक्यार्थस्याप्रतीतेः। अस्मन्मतानुसारं त्विहेत्थं पाठेन भाव्यम्—'यच्च जागरितावस्थानां सर्वव्यवहाराणां कालान्तरे सुषुप्त्यवस्थायां च तदनुभूतस्मरणं न भवति'।

कृतमिति जानाति, विना कारणेन कार्य्यं नैव भवतीति दर्शनात्। तथैव न्यायकारीश्वरोऽपि विना पापपुण्याभ्यां न कस्मैचित् सुखं दुःखं च दातुं शक्नोति। संसारे नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनाद् विज्ञायते पूर्वजन्मकृते पापपुण्ये बभूवतुरिति।

अत्रैकजन्मवादिनामन्येऽपीदृशाः प्रश्नाः सन्ति, तेषां विचारेणोत्तराणि देयानि। किञ्च, न बुद्धिमतः प्रत्यखिललेखनं योग्यं भवति, ते ह्यु दृश्यमात्रेणाधिकं जानन्ति। ग्रन्थोऽपि भूयान्न भवेदिति मत्वाऽत्राधिकं नोल्लख्यते।

भाषार्थ—इसमें अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पुनर्जन्म होता है, तो हमको उसका ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं होता?

उत्तर—आंख खोल के देखो कि जब इसी जन्म में जो-जो सुख-दुःख तुमने बाल्यावस्था में अर्थात् जन्म से पांच वर्ष पर्य्यन्त पाये हैं, उनका ज्ञान नहीं रहता, अथवा जो कि नित्य पठन-पाठन और व्यवहार करते हैं उनमें से भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं, तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता। जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं, तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है?

तथा ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हमको पूर्वजन्म के पाप-पुण्य का ज्ञान नहीं होता, और ईश्वर उनका फल सुख वा दुःख देता है, इससे ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधार कभी नहीं हो सकता।

(उत्तर) ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक प्रत्यक्ष, दूसरा अनुमानादि से। जैसे एक वैद्य और दूसरा अवैद्य, इन दोनों को ज्वर आने से वैद्य तो इसका पूर्ण निदान जान लेता है, और दूसरा नहीं जान सकता। परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य जो ज्वर है, वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से वे जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है, अन्यथा नहीं। इसमें इतना विशेष है कि विद्वान् ठीक-ठीक रोग के कारण और कार्य्य को निश्चय करके जानता है, और वह अविद्वान् कार्य्य को तो ठीक-ठीक जानता है, परन्तु कारण में उसको यथावत् निश्चय नहीं होता। वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता। जब हमको पुण्य-पाप का कार्य्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है, तब हमको ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप पुण्यों के विना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्धयादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते। इससे हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् बनते हैं।

इत्यादि प्रश्नोत्तर बुद्धिमान् लोग अपने विचार से यथावत् जान लेवें। मैं यहां इस विषय के बढ़ाने की आवश्यकता नहीं देखता।[1]

इति पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

---

१. ऋषि दयानन्द ने सं० १९३२ में पूना में 'जन्मविषयक' जो प्रवचन किया था, वह देखने योग्य है। उसमें कई बातें विस्तार से लिखी हैं। द्र० 'पूनाप्रवचन' अथवा 'उपदेशमञ्जरी' नाम से संगृहीत व्याख्यान।

अथ विवाहविषयः संक्षेपतः

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ १ ॥

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ २ ॥

ऋ० अ० ८ । अ० ३ । व० २७, २८ । मं० १,२ ॥[1]

भाष्यम्—अनयोरभिप्रायः—अत्र विवाहविधानं क्रियत इति ।

हे कुमारि युवते कन्ये ! (सौभगत्वाय) सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धये (ते हस्तम्) तव हस्तं (गृभ्णामि) गृह्णामि, त्वया सहाहं विवाहं करोमि, त्वं च मया सह । हे स्त्रि ! यथा येन प्रकारेण (मया पत्या) सह (जरदष्टिः आसः) जरावस्थां प्राप्नुयास्तथैव त्वया स्त्रिया सह जरदष्टिरहं भवेयं वृद्धावस्थां प्राप्नुयाम् । एवमावां सम्प्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं [2]कुर्य्यावहि । (भगः) सकलैश्वर्य्यसम्पन्नः (अर्य्यमा) न्यायव्यवस्थाकर्त्ता (सविता) सर्वजगदुत्पादकः (पुरन्धिः) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः (मह्यं [त्वादुः] गार्हपत्याय) गृहकार्य्याय त्वां मदर्थं दत्तवान् । तथा (देवाः) अत्र सर्वे विद्वांसाः साक्षिणः सन्ति । यद्यावां प्रतिज्ञोल्लङ्घनं [2]कुर्य्यावहि तर्हि परमेश्वरदण्ड्यौ विद्वद्दण्ड्यौ च भवेवेति ॥१॥

विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषौ कीदृशवर्त्तमानौ भवेताम् एतदर्थमीश्वर आज्ञां ददाति—(इहैव स्तम्) हे [3]स्त्रीपुरुषौ! युवां द्वाविहास्मिल्लोके गृहाश्रमे सुखेनैव सदा[4] स्तं[5] निवासं कुर्याताम् [6]तथा (मा वियौष्टम्) कदाचिद्विरोधेन देशान्तरगमनेन वा वियुक्तौ वियोगं प्राप्तौ मा भवेताम् ।

---

१. ऋ० १० । ८५ । ३६,३७ ॥

२. द्रष्टव्यम्—पञ्चमहायज्ञविधौ (मं० १-८) 'मायंसायं' मन्त्रव्याख्याने '**कुर्यामहि**' पदम् ।

३. वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणे 'स्त्री' शब्दः प्रमादेन त्यक्तः ।

४. द्रष्टव्या अत्र १३१ पृष्ठस्था टिप्पणी ५ ।

५. अत्र 'स्तं' इत्येव युक्तः पाठः । तस्यैव 'निवासं कुर्याताम्' इत्यर्थः । वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'वस्तम्' इति मन्त्रपदमिव कोष्ठे पठ्यते, न चैतन्मन्त्रपदमिति ।

६. 'वै० य० मुद्रितेषु '(मा वियौष्टम्) तथा' इतिपूर्वापरपाठो दृश्यते ।

एवं मदाशीर्वादेन धर्मं कुर्वाणौ सर्वोपकारिणौ मद्भक्तिमाचरन्तौ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) विविध-सुखरूपमायुः प्राप्नुतम्। पुनः (स्वे गृहे०) स्वकीये गृहे पुत्रैर्नप्तृभिश्च सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्राप्नुवन्तौ (क्रीडन्तौ) सद्धर्मक्रियां कुर्वन्तौ सदैव भवतम् ॥२॥

इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रिया एक एव पतिर्भवत्वेकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति। अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य, तथाऽनेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रियाश्चेति. सर्वेषु वेदमन्त्रेषु [1]द्विवचनस्यैव निर्देशात्। एवं विवाहविधायका वेदेष्वनेके मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम्।

भाषार्थ—(गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं०) हे स्त्री[2]! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिये तेरा हस्त ग्रहण करता हूं और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूं कि जो काम तुझको अप्रिय होगा उसको मैं कभी नहीं करूंगा। ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आपको अप्रिय होगा, उसको मैं भी न करूंगी। और हम दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होके वृद्धावस्थापर्य्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे। हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इससे उलटा काम कभी न किया जायगा। (भगः) जो ऐश्वर्यवान् (अर्यमा) सब जीवों के पाप पुण्य के फलों को यथावत् देनेवाला (सविता) सब जगत् का उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य का देनेवाला तथा (पुरन्धिः) सब जगत् का धारण करनेवाला परमेश्वर है, वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है। तथा (मह्यं त्वा) परमेश्वर और विद्वानों ने मुझको तेरे लिये और तुझको मेरे लिये दिया है, कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे, तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे, और मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में वर्तेंगे। सब जगत् का उपकार करने के लिये सत्य विद्या का प्रचार करेंगे और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उनको सुशिक्षित करेंगे, इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक-ठीक पालन करेंगे। दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे। (देवाः) हे विद्वान् लोगों! तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिये विवाह करते हैं। फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़के मन, वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूंगी, तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन, कर्म और वचन से कभी न चाहूंगा ॥१॥

(इहैव स्तम्) विवाहित स्त्री पुरुषों के लिये परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहाश्रम के शुभ व्यवहारों में रहो। (मा वियौष्टम्) अर्थात् विरोध करके अलग कभी मत होवो, और व्याभिचार भी किसी प्रकार का मत करो। ऋतुगामित्व से सन्तानों की उत्पत्ति, उनका पालन और सुशिक्षा, गर्भस्थिति के पीछे एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य और लड़कों को प्रसूता स्त्री का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना, इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से (विश्वमा०) सौ १०० वा १२५ वर्ष पर्यन्त आयु को

---

१. वै० य० मुद्रितेषु 'वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव' इत्यपपाठः। मन्त्रेषु सर्वत्र द्विवचनस्यैव दर्शनात् नियोग-विषये (द्र० पृष्ठ २४६) 'द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य......' पाठ दर्शनाच्च।

२. वै० य० मुद्रित सस्करणों में 'स्त्रि' पाठ है। सर्वत्र एकरूपता के लिये 'स्त्री' बनाया है।

सुख से भोगो। (क्रीडन्तौ०) अपने घर में आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्मपूर्वक क्रीड़ा करो। इससे विपरीत व्यवहार कभी न करो और सदा मेरी आज्ञा में वर्त्तमान रहो ॥२॥

इत्यादि विवाहविधायक वेदों में बहुत मन्त्र हैं। उनमें से कई एक मन्त्र संस्कारविधि[1] में भी लिखे हैं, वहां देख लेना।

⚜ इति विवाहविषयः संक्षेपतः ⚜



१. ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि का प्रथम संस्करण सं० १९३२ में प्रकाशित किया था और पुनः संशोधित संस्करण सं० १९४० में प्रेस में भेजा था। अतः यह संकेत संस्कारविधि के प्रथम संस्करण की ओर है, न कि द्वितीयवार संशोधित प्रामाणिक माने जानेवाले संस्करण की ओर। द्वितीय सं० में भी इस विषय के अनेक मन्त्रों का व्याख्यान किया है। अतः उक्त संकेत में मौलिक भेद नहीं रहता है।

अथ नियोगविषयः संक्षेपतः

कुहं स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्य्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥ १ ॥

ऋ० अ० ७ । अ० ८ । व० १८ । मं० २ ॥[1]

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ २ ॥

अथर्व० कां० १८ । अनु० ३ । व० ३ । मं० १ ॥[2]

उदीर्ष्व नार्य्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ ३ ॥

ऋ० मं० १० । सू० १८ । मं० ८ ॥[3]

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—अत्र विधवाविस्त्रीकनियोगव्यवस्था विधीयत इति ।

(कुहस्विद्दोषा०) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ ! युवां (कुह) कस्मिन् स्थाने (दोषा) रात्रौ वसथः (कुह वस्तोः[4] अश्विना) दिवसे च क्व वासं कुरुथः (कुहाभि०) क्वाभिपित्वं प्राप्ति(करतः) कुरुथः[5] । (कुहोषतुः) क्व युवयोर्निजस्थानवासोऽस्ति[6] । (को वां शयुत्रा) शयनस्थानं युवयोः क्वास्ति इति । स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नेन[7] द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्तुं योग्यास्ति, तथैकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च । द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेन्न कदाचिद् वियोगव्यभिचारौ भवेतामिति द्योत्यते । (विधवेव देवरम्) कं केव ? यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवा इव । अत्र प्रमाणम्—

---

१. ऋ० १० । ४० । २ ॥ २. अथर्व १८ । ३ । १ ॥

३. इह मण्डलक्रमनिर्देशाद् मण्डलसूक्तविभागोऽपि ग्रन्थकृदनुमत इति ज्ञेयम् ।

४. वै० य० मुद्रितेषु '(दोषा) रात्री (वस्तोः) वसथः (कुह अश्विना) दिवसे' इत्यस्थाने दिवसवाचिनः 'वस्तोः' पदस्य लेखकप्रमादजः पाठ उपलभ्यते

५. वै० य० मुद्रितेषु 'कुरुतः' इत्ययपपाठः, पूर्वत्र 'वसथः' 'कुरुथः' इत्युभयत्र मध्यमपुरुषश्रवणात् ।

६. वासस्य स्थानं स्थानवासम्, राजदन्तादित्वात् (२।२।३१) परनिपातो द्रष्टव्यः, तस्याकृतिगणत्वात् । निजश्चासौ स्थानवासश्च निजस्थानवासः । ७. 'प्रश्ने' इति सूकरः पाठः ।

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते ॥ निरु० अ०३ । खं० १५ ॥

विधवाया द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवया सह। विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यान्न कुमारेण सह, तथा कुमारस्य विधवया सह च[1]। अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात् पुनरेवं नियोगश्च। नैव द्वितीयवारं विवाहो विधीयते। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात्। नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्ततामित्यत्राह—

(मर्यं न योषा) यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कृणुते) आकृणुते, तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद् वर्त्तेयाताम् ॥

(इयं नारी) इयं विधवा नारी (प्रेतम्) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकं) पतिसुखं (वृणाना) स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्यम्) हे मनुष्य! (त्वा०) त्वामुपनिद्यते, त्वां पतिं प्राप्नोति, तव समीपं नियोगविधानेनागच्छति, तां त्वं गृहाणाऽस्यां सन्तानान्युत्पादय। कथम्भूता सा? (धर्मं पुराणं०) वेदप्रतिपाद्यं सनातनं धर्म्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पतिं वृणुते, त्वमपीमां वृणु। (तस्यै) विधवायै (इह) अस्मिन् समये लोके वा (प्रजां धेहि) त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु, (द्रविणम्) द्रव्यं वीर्यं (च) अस्यां धेहि अर्थाद् गर्भाधानं कुरु ॥२॥

(उदीर्ष्व ना०) हे विधवे नारि! (एतं गतासुम्) गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा (अभिजीवलोकम्) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि (उपशेषे) तस्यैवोपशेषे सन्तानोत्पादनाय वर्त्तस्व। तत्सन्तानं (हस्तग्राभस्य) विवाहे संगृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात्। यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि (दिधिषोः) तस्यैव सन्तानं भवति। (तवेदम्) इदमेव विधवायास्तव (जनित्वम्) सन्तानं भवति। हे विधवे! विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वं (उदीर्ष्व) विवाहितपतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ। तथा (अभिसंबभूथ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव ॥३॥

भाषार्थ—'नियोग' उसको कहते हैं जिससे विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो वह पुरुष ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं। नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष वा किसी पुरुष की स्त्री मर जाय, [2]अथवा उन में किसी प्रकार को स्थिर रोग हो जाय, वा नपुसंक वा वन्ध्यादोष पड़ जाय, और उनकी युवावस्था हो, तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो, तो उस अवस्था में उनका नियोग होना अवश्य चाहिये। इसका नियम आगे लिखते हैं—

(कुहस्वित्०) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री पुरुषों ने (दोषा) रात्रि में कहां निवास

१. नियोगो मा भवत्विति शेषः। यद्वा 'तथा कुमारो विधवया सह च' इत्येवं पाठो ज्ञेयः।

२. यहां से आगे का अंश संस्कृत पाठ में नहीं है, पुनरपि ग्रन्थकारकृत सत्यार्थप्रकाश (समु० ४, पृष्ठ १७२-१७३,१७५ आदि रालाकट्रसं०) में ऐसा उल्लेख मिलता है, अतः प्रामाणिक है।

किया था ? (कुह वस्तोरश्विना) तथा दिन में कहां बसे थे ? (कुहाभिपित्वं करतः) तुमने अन्न वस्त्र धन आदि की प्राप्ति कहां की थी ? (कुहोषतुः) तुम्हारा निवासस्थान कहां है ? (को वां शयुत्रा) रात्रि में तुम कहां शयन करते हो ?

वेदों में पुरुष और स्त्री के विवाहविषयक प्रश्न में द्विवचन के ही प्रयोग[1] करने से यह निश्चित हुआ कि वेद की रीति से एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री और एक स्त्री के लिये एक ही पुरुष होना चाहिये, अधिक नहीं। और न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा वियोग होना चाहिये।

(विधवेव देवरम्) जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है, वैसे तुम भी करो। विधवा का जो दूसरा पति होता है, उसको 'देवर' कहते हैं। इसमें[2] यह नियम होना चाहिये कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में दो-दो सन्तानों के लिये नियोग होना और शुद्रकुल में पुर्नाविवाह मरणपर्य्यन्त के लिये होना चाहिये। [3]परन्तु माता, गुरुपत्नी, भगिनी, कन्या पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है। यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से हो सकता है। जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय, और जो कोई इस नियम को तोड़े उसको द्विजकुल में से अलग करके शूद्रकुल में रख दिया जाय ॥१॥

(इयं नारी पतिलोकं०) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा करके नियोग किया चाहे, तो (प्रेतम्) अर्थात् वह पति मर जाने के अनन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो। (उप त्वा मर्त्य) इस मन्त्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आज्ञा देता है, कि हे पुरुष! (धर्मं पुराणमनुपालयन्ती) जो इस सनातन नियोग धर्म की रक्षा करनेवाली स्त्री है, उसके सन्तानोत्पत्ति के लिये (तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि) धर्म से वीर्य्यदान कर, जिससे वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मर जाय और वह सन्तानोत्पत्ति किया चाहे, तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त कर दे। इसलिये मैं आज्ञा देता हूं कि तुम मन, कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मत करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो ॥२॥

(उदीर्ष्व नारि) हे स्त्री! अपने मृतक पति को छोड़के (अभि जीवलोकम्) इस जीवलोक में (एतमुपशेष एहि) जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो। नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढ़ाया कर। और जो नियोगधर्म में स्थित हो, [4]तो जब तक मरण न हो तब तक ईश्वर का ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) जो कि तेरा हस्तग्रहण करनेवाला दूसरा पति है, उसकी सेवा किया कर, वह तेरी सेवा किया करे[4]। और उसका नाम 'दिधिषु' है। (तवेदम्) वह तेरे

---

१. वै० य० मुद्रित में 'विवाह विषय में एक ही वचन के प्रयोग' पाठ है। वह संस्कृत से विपरीत है। मन्त्रपाठ में द्विवचन का ही निर्देश होने से मन्त्रपाठ से भी विपरीत है। २. मूलपाठ 'इससे'।

३. यहां से अगले पाठ का मूल संस्कृत में नहीं है, तथापि मनुस्मृति ६। ६४ में इस विषय का संकेत होने से प्रामाणिक है। ४. 'तो जब…किया करे' यह भाषा पाठ ग्रन्थकार के अभिप्राय और संस्कृत पाठ के अनुकूल नहीं है। नियुक्त स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध यावज्जीवन नहीं रहता है।

सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो, और जो तेरे लिये नियोग किया गया हो तो वह तेरा सन्तान हो। (पत्युर्जनित्वम०) और जो नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो, तो वह सन्तान पुरुष का हो। इस प्रकार नियोग से अपने-अपने सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो ॥३॥

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ ४ ॥
सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ५ ॥

ऋ० अष्ट० ८। अ० ३। व० २८,२७। मं० ५,५ ॥[1]

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥ ६ ॥

अथर्व० कां० १४। अनु २। मं० १८ ॥[2]

भाष्यम्—इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्च परिगणनं क्रियते—कति वारं नियोगः कर्त्तव्यः, कियन्ति सन्तानानि चोत्पाद्यानीति। तद्यथा (इमां त्वमिन्द्र०) हे इन्द्र विवाहितपते! (मीढ्वः) हे वीर्य्यदानकर्त्तस्त्वमिमां विवाहितस्त्रियं वीर्य्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु। तां (सुपुत्राम्) श्रेष्ठपुत्रवतीं (सुभगाम्) अनुत्तमसुखयुक्तां (कृणु) कुरु। (दशास्यां०) अस्यां विवाहितस्त्रियां दश पुत्रानाधेहि उत्पादय, नातोऽधिकमिति। ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम्। तथा (पतिमेकादशं कृधि) हे स्त्रि! त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्य्यन्तं नियोगं कुरु। अर्थात् कस्याञ्चिदापत्कालावस्थायां[3] प्राप्तायामेकैकस्याभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्य्यन्तं नियोगं कुर्य्यात्। तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्विति, इच्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम् ॥४॥

अथोत्तरोत्तरं पतीनां सञ्ज्ञां विधीयते— (सोमः प्रथमः०) हे स्त्रि! यस्त्वां प्रथमं[4] (विविदे) विवाहितः पतिः प्राप्नोति स सौकुमार्य्यादिगुणयुक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति। (गन्धर्वो वि०) यस्तु उत्तरो द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे प्राप्नोति स गन्धर्वसंज्ञां लभते। कुतः? तस्य भोगाभिज्ञत्वात्। (तृतीयो अ०) येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते। कुतः? द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां[5] भुक्तभोगया त्वया सह नियुक्तत्वादग्निदाहवत्तस्य शरीरस्थधातवो

१. अत्र द्वयोर्वर्गयोर्मन्त्रयोश्च सह संख्यानिर्देशः कृतः। तत्र 'वर्ग २८, मं० ५; वर्ग २७, मं० ५' इत्येवं यथाक्रमं सम्बन्धो ज्ञेयः। ऋ० १०।८५।४५,४०॥

२. अथर्व १४। २। १८ ॥

३. अर्थात् सन्तानाभावे, तदिच्छायाम्, उत्तरवाक्ये तथैव दर्शनात्।

४. क्रियाविशेषणमेतत्। यदा पतेर्विशेषणं तदा 'प्रथमः' इत्येवं पाठेन भाव्यम्।

५. अत्र पाठभ्रंशः प्रतीयते। पूर्वत्र सोमगन्धर्वनाम्नी पुरुषगुणापेक्षयोक्ते। इह तृतीयाऽग्निसंज्ञा स्त्रीधर्मा-

वह्यन्त इत्यतः। (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) हे स्त्रि! चतुर्थमारभ्य दशमपर्य्यन्तास्तव पतयः साधारणबलवीर्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्तीति बोध्यम्। तथैव स्त्रीणामपि सोम्या, गन्धर्व्याग्नायी, मनुष्यजाः संज्ञास्तत्तद्गुणयुक्तत्वाद् भवन्तीति ॥५॥

(अदेवृघ्न्यपतिघ्नि) हे अदेवृघ्नि देवरसेविके! हे अपतिघ्नि विवाहितपतिसेविके स्त्रि! त्वं (शिवा) कल्याणगुणयुक्ता, (पशुभ्यः सु मा सुवर्चाः) गृहकृत्येषु शोभननियमयुक्ता, गृहसम्बन्धिपशुभ्यो हिता, श्रेष्ठकान्तिविद्यासहिता, तथा (प्रजावती वीरसूः) प्रजापालनतत्परा, वीरसन्तानोत्पादिका, (देवकामा) नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती, (स्योना) सम्यक् सुखयुक्ता सुखकारिणी सती (इममग्निं गार्हपत्यम्) गृहसम्बन्धिनमाहवनीयादिमग्निं, सर्वं गृहसम्बन्धीव्यवहारं च (सपर्य्य) प्रीतया सम्यक् सेवय। अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यमिति ॥६॥

भाषार्थ—(इमां०) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि, हे इन्द्र! पते! ऐश्वर्ययुक्त! तू इस स्त्री को वीर्यदान देके, सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। हे वीर्यप्रद! (दशास्यां पुत्रानाधेहि) पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित या नियोजित स्त्री में दश सन्तानपर्य्यन्त उत्पन्न कर, अधिक नहीं। (पतिमेकादशं कृधि) तथा हे स्त्री! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर। अर्थात् एक तो उनमें प्रथम विवाहित और दश पर्यन्त नियोग के पति कर, अधिक नहीं।

इसकी यह व्यव था है कि [1]विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ सन्तानों के अभाव में नियोग करे। तथा दूसरे के भी मरण वा रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ करले। इसी प्रकार दसवें तक करने की आज्ञा है। परन्तु एक काल में एक ही वीर्यदाता पति रहे, दूसरा नहीं। इसी प्रकार पुरुष के लिये भी विवाहित स्त्री के मर जाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है। और जब वह भी रोगी हो वा मरजाय, तो सन्तानोत्पत्ति के लिये दशम स्त्रीपर्यन्त नियोग कर लेवे ॥४॥

अब पतियों की संज्ञा कहते हैं—(सोमः प्रथमो विविदे) उनमें से जो विवाहित पति होता है, उसकी सोम संज्ञा है। क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुणयुक्त होता है। (गन्धर्वो विविद उत्तर) दूसरा पति जो नियोग से होता है, सो गन्धर्वसंज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है। (तृतीयो अग्निष्टे पतिः) तीसरा पति जो नियोग से होता है, वह अग्निसंज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है।[2] (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) और चौथे से लेके दशम पर्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं, वे सब मनुष्यसंज्ञक कहाते हैं, क्योंकि वे मध्यम होते हैं ॥५॥

पेक्षयानिर्दिष्टा। एवं च क्रमभङ्गः स्पष्ट एव। इह भाषापदार्थे 'वह अग्निसंज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है' पाठो दृश्यते। तथैव सत्यार्थप्रकाशेऽपि 'वह (अग्निः) अत्युष्णातायुक्त होने से अग्निसंज्ञक' इत्येवं पुरुषगुणापेक्ष एव पाठ उपलभ्यते (द्र० स० प्र० पृ० १७० रा०ला०क०ट्र० सं०)।

१. यहां से आगे का लेख अस्पष्ट तथा भ्रमोत्पादक है। यहां संस्कृत के अनुसार 'इसकी यह व्यवस्था है कि आपत्काल में अर्थात् सन्तान के अभाव में सन्तान की प्राप्ति के लिये दश पुरुष पर्यन्त नियोग करे।

२. वै०य० मुद्रित नवमसंस्करण में टिप्पणी है—'संस्कृत के अनुसार—वह अग्निसंज्ञक, क्योंकि दो पुरुषो

(अदेवृघ्न्यपतिघ्नि) हे विधवा स्त्री ! तू देवर और विवाहित पति को सुख देनेवाली हो, किन्तु उनका अप्रिय किसी प्रकार से मत कर, और वे भी तेरा अप्रिय न करें। (एधि शिवा) इसी प्रकार मंगलकार्यों को करके सदा सुख बढ़ाते रहो। (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके, जितेन्द्रिय होके, धर्मयुक्त श्रेष्ठ कार्यों को करती रहो। तथा सब प्रकार के विद्यारूप उत्तम तेज को बढ़ाती जा, (प्रजावती वीरसूः) तू श्रेष्ठप्रजायुक्त हो, बड़े-बड़े वीर पुरुषों को उत्पन्न कर। (देवृकामा) जो तू देवर की कामना करनेवाली है, तो जब तेरा विवाहित पति न रहे वा रोगी तथा नपुंसक हो जाय, तब दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर। (स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य्य) और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर।

इसी प्रकार से विधवा और [मृतस्त्रीक] पुरुष तुम दोनों आपत्काल में धर्म करके[1] सन्तानोत्पत्ति करो, और उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करते जाओ, गर्भहत्या वा व्यभिचार कभी मत करो। किन्तु नियोग ही कर लो, यही व्यवस्था सबसे उत्तम है ॥६॥

इति नियोगविषयः संक्षेपतः

से मुक्तभोगा स्त्री के साथ नियुक्त होने के कारण अग्निदाह के समान उसके शरीरस्थ धातु दग्ध होते हैं'। वस्तुतः यहां संस्कृत पाठ भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है। यहां का भाषार्थ युक्त है। सत्यार्थप्रकाश में भी 'वह (अग्निः) अत्युष्णतायुक्त होने से अग्निसंज्ञक' ऐसा ही पाठ है। द्र०—रा०ला०क०ट्र० सं० पृष्ठ १७०।

१. अर्थात् नियोग-धर्मानुसार।

अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्[1] व्रते गन्धर्वां अपि वायुकेशान् ॥ १ ॥

ऋ० अ० ३ । अ० २ । व० २४ । मं० १ ॥[2]

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि ।
मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः ॥ २ ॥ य० अ० २० । मं० १ ॥

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं यज्ञेषं[3] यत्र देवाः सहाग्निना ॥ ३ ॥ य० अ० २० । मं० २५ ॥

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—अत्र मन्त्रेषु राजधर्मो विधीयत इति ।

यथा सूर्य्यचन्द्रौ (राजाना[4]) सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतस्तथा सूर्य्यचन्द्रगुणशीलौ प्रकाशन्याययुक्तौ व्यवहारौ (त्रीणि सदांसि भूषथः) भूषयतोऽलङ्कुरुतः । (विदथे) ताभिः सभाभिरेव युद्धे (पुरूणि) बहूनि विजयादीनि सुखानि मनुष्याः प्राप्नुवन्ति । तथा (परि विश्वानि) राजधर्म्मादियुक्ताभिस्सभाभिर्विश्वस्थानि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति ।

इदमत्र बोध्यम्—राजार्य्यसभा,[5] तत्र विशेषतो राजकार्य्याण्येव भवेयुः । द्वितीयाऽऽर्य्यविद्या-

---

१. 'जगन्वान्' इत्यपपाठो वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु ।   २. ऋ० ३ । ३८ । ६ ॥

३. यजुःसंहितायाम् 'प्र ज्ञेषं' पाठ उपलभ्यते, ग्रन्थकृता च तत्र स्वीये भाष्ये '(प्र) (ज्ञेषम्) जानीयाम्' इत्येवं व्याख्यायते । 'यज्ञेषं' पाठे तस्याद्युदात्तत्वमपि नोपपद्यते ।

४. 'राजानौ' इति वै० य० मुद्रितसंस्करणेऽपपाठः ।

५. उत्तरत्र 'आर्यविद्यासभा' 'आर्यधर्मसभा' पदप्रयोगदर्शनाद् भाषायां च 'आर्यराजसभा' पदनिर्देशाच्चेहापि 'आर्यराजसभा' इत्येव पाठो युक्तो भवेत् । सत्यार्थप्रकाशे षष्ठसमुल्लासे चैतन्मन्त्रव्याख्यायां 'राजार्यसभा विद्यार्यसभा धर्मार्यसभा' प्रयोगदर्शनादिह 'आर्यविद्यासभा—आर्यधर्मसभा' पदयोः स्थाने 'विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा' पाठो वाऽनुसंधेयः । वयन्तूभयथापि प्रयोगदर्शनाद् आर्याणां राजा, आर्याणां विद्या, आर्याणां धर्मः इत्येवं षष्ठीसमासे 'राजदन्तादिषु परम्' (२।२।३१) इति नियमेन राजविद्याधर्माणां पूर्वनिपातः । 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गः प्रवर्तते' इति नियमेन 'उपसर्जनं पूर्वम्' (२।२।३०) इत्युत्सर्गेण आर्यपदस्यादिप्रयोगोऽपि ज्ञेयः । एतच्च राजदन्तादिषु पठितेषु धर्मादिपदेषूभयथाऽपि प्रयोगदर्शनात् 'धर्मादिषूभयम्' इति नियमस्य स्वीकरणादपि समर्थ्यते ।

सभा, तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती[1] एव कार्ये भवतः। तृतीयाऽऽर्यधर्मसभा, तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चोपदेशेन कर्त्तव्या। परन्त्वेतास्तिस्रस्सभाः सामान्ये कार्ये मिलित्वैव सर्वान् उत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरिति। यत्रैतासु सभासु धर्मात्मभिर्विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य[2] प्रचारो निरोधश्च क्रियते, तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति, यत्रैको मनुष्यो राजा भवति, तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः (अपश्यमत्र) इदमत्राहमपश्यम्। ईश्वरोऽभिवदति–यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति, तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायत इति। (व्रते) यो मनुष्यः सत्याचरणे (मनसा) विज्ञानेन सत्यं न्यायं (जगन्वान्) विज्ञातवान् स राजसभामर्हति नेतरश्च। (गन्धर्वान्) पूर्वोक्तासु सभासु गन्धर्वान् पृथिवीराजपालनादिव्यवहारेषु कुशलान् (अपि वायुकेशान्[3]) वायुवद् दूतप्रचारेण विदितसर्वव्यवहारान् सभासदः कुर्य्यात्। केशास्सूर्यरश्मयः[4] तद्वत्सत्यन्यायप्रकाशकान् सर्वहितं चिकीर्षून् धर्मात्मनः सभासदः स्थापयितुमहमाज्ञापयामि, नेतरांश्चेतीश्वरोपदेशः सर्वैर्मन्तव्य इति॥ १॥

(क्षत्रस्य योनिरसि) हे परमेश्वर! त्वं यथा क्षत्रस्य राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमसि, तथा (क्षत्रस्य नाभिरसि) एवं राजधर्मस्य त्वं प्रबन्धकर्त्तासि। तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालननिमित्तान् क्षत्रधर्मप्रबन्धकर्तॄंश्च कुरु। (मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः) तथाऽस्माकं मध्यात् कोऽपि जनस्त्वां मा हिंसीद् अर्थाद् भवन्तं तिरस्कृत्य नास्तिको मा भवतु। तथा त्वं मां मा हिंसीरर्थान्मम तिरस्कारं कदाचिन्मा कुर्य्याः। यतो वयं भवत्सृष्टौ राज्याधिकारिणस्सदा भवेम॥ २॥

(यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो वेदो वा, ब्राह्मणो ब्रह्मविच्चैतत्सर्वं ब्रह्म, तथा क्षत्रं शौर्य्यधैर्यादिगुणवन्तो मनुष्याश्चैतौ द्वौ (सम्यञ्चौ) यथावद् विज्ञानयुक्तावविरुद्धौ (चरतः सह) (तं लोकम्) तं देशं (पुण्यं) पुण्ययुक्तं (प्रज्ञेषम्) यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं विजानीमः[5]। (यत्र देवाः सहाग्निना) यस्मिन् देशे विद्वांसः परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानेन च सह वर्त्तन्ते, तत्रैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीति विज्ञेयम्॥३॥

भाषार्थ—[6]सब जगत् का राजा परमेश्वर ही है, और सब संसार उसकी प्रजा है। इसमें

१. प्रचारश्चोन्नतिश्च प्रचारोन्नती, विद्यायाः प्रचारोन्नती विद्याप्रचारोन्नती इत्येवं विग्रहो द्रष्टव्यः।

२. समाहारद्वन्द्वः। कर्तव्यस्य प्रचारः, अकर्तव्यस्य निरोध इति संबन्धः।

३. वै० य० मुद्रितेषु पञ्चमसंस्करणं यावत् 'वायुः केशान्' इत्यपपाठो दृश्यते।

४. तुलना कार्या—केशा रश्मयः (निरु० १२।२)। अत्र द्युस्थानिनः पदस्य निर्वचनसामर्थ्यात् केशाः सूर्यरश्मयः एव गृह्यन्ते।

५. एतद्विषये मन्त्रपाठस्य टिप्पणी द्रष्टव्या। यथा त्वस्मन्मतं तथाऽत्र 'प्रज्ञेषं' मन्त्रपदयोः 'विजानीम' इत्येवार्थः, 'यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं' इति तु 'तं देशं' इत्यस्य विशेषणं भवितुमर्हति। एवं च सति ग्रन्थकृतो यजुर्भाष्येणैकवाक्यताप्युपपद्यते, मन्त्रे पाठान्तरकल्पनाऽपि न कर्तव्या भवति।

६. यह जिसका भाषार्थ है तथा जो मन्त्र यहां उद्धृत किया गया है उसका निर्देश संस्कृतपाठ में नहीं है। प्रतीत होता है—यहां संस्कृत पाठ उत्तरकालीन शोधन के समय निकाल दिया परन्तु भाषार्थ निकालना रह गया। ऐसी असावधानता प्रायः ग्रन्थकार के ग्रन्थों में देखी जाती है। यथा—यजुर्वेदभाष्य विवरण पृष्ठ ४

यह यजुर्वेद के अठाहरवें अध्याय के १९वें मन्त्र के वचन का प्रमाण है—**'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'** अर्थात् सब मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिये कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं, और यही एक हमारा राजा है।

[1](त्रीणि राजाना) तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिये, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीनों ये हैं—प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिये एक 'आर्य्यराजसभा' कि जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी 'आर्य्यविद्यासभा' कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी 'आर्य्यधर्मसभा' कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे। इन तीन सभाओं से (विदथे) अर्थात् युद्ध में (पुरूणि परि विश्वानि भूषथः) सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिये ॥१॥

(क्षत्रस्य योनिरसि) हे राज्य के देनेवाले परमेश्वर ! आप ही राज्यसुख के परम कारण हैं। (क्षत्रस्य नाभिरसि) आप ही राज्य के जीवनहेतु हैं, तथा क्षत्रियवर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है। (मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीः) हे जगदीश्वर ! सब प्रजा आपको छोड़के दूसरे को अपना राजा कभी न माने, और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िये। किन्तु आप और हम लोग परस्पर सदा अनुकूल वर्त्तें ॥२॥

(यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च०) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा, और राजसभा विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग, ये सब मिलके राजकामों को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त होके सुख को प्राप्त होता है। (यत्र देवाः सहाग्निना०) जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाओं से वर्त्तमान विद्वान् होते हैं, वही देश सब उपद्रवों से रहित होके अखण्ड राज्य को नित्य भोगता है ॥३॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि[2] ।
इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभि षिञ्चामि ॥ ४ ॥
कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा ।
सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥ ५ ॥

की* चिह्नित टिप्पणी। इसका प्रधान कारण यह है कि ग्रन्थकार ने प्रायः संस्कृत भाग में ही संशोधन किया है। भाषार्थ का संशोधन पण्डितों पर आधृत रहा। उन्होंने संशोधित संस्कृतानुसार यथावत् भाषा में संशोधन नहीं किया। भूमिका तथा वेदभाष्य में जहां-जहां भी संस्कृत और भाषा में भेद वा विरोध दृष्टिगोचर होता है उसका यही मूल कारण है।

१. यह तथा अगले दोनों मन्त्रों का भाषार्थ भावार्थ रूप है।

२. इतोऽग्रे ग्रन्थकृता 'सरस्वत्यै ······ षिञ्चामि' पाठस्त्यक्तः। इह भाष्येऽप्यस्यांशस्यार्थो नोपलभ्यते। नवमसंस्करणे योऽत्र त्रुटितपाठनिदर्शकः······बिन्दुमुद्रणसंकेतः कृतः, सोऽनावश्यकः। नह्यत्र लेखकमुद्रणदोषात् पाठस्त्रुटितः, अपि तु ग्रन्थकृतैतावानंशो नोद्धृतः।

शिरो॑ मे॒ श्रीर्यशो॒ मुखं॒ त्विषिः॒ केशा॑श्च॒ श्मश्रू॑णि ।
राजा॑ मे प्रा॒णोऽअ॒मृतं॑ꣳ स॒म्राट् चक्षु॑र्वि॒राट् श्रोत्र॑म् ॥ ६ ॥ य० अ० २० । मं० ३-५ ॥

भाष्यम्—(देवस्य त्वा सवितुः) हे सभाध्यक्ष ! स्वप्रकाशमानस्य सर्वस्य जगत उत्पादकस्य परमेश्वरस्य (प्रसवे) अस्यां प्रजायां (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) सूर्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां, (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्यां[1], (अश्विनोर्भैषज्येन) पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोगनिवारकेण सह वर्त्तमानं त्वां (तेजसे) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय, (ब्रह्मवर्चसाय) पूर्णविद्याप्रचाराय, (अभिषिञ्चामि) सुगन्धयुक्तजलैर्मूर्द्धनि मार्जयामि । तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वरस्य परमैश्वर्य्येण विज्ञानेन च (बलाय) उत्तमबलार्थं, (श्रियै) चक्रवर्तिराज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं च (अभिषिञ्चामि) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीतीश्वरोपदेशः ॥४॥

(कोऽसि) हे परमात्मन् ! त्वं सुखस्वरूपोऽसि, भवानस्मानपि सुराज्येन सुखयुक्तान् करोतु । (कतमोऽसि) त्वमत्यन्तानन्दयुक्तो[2]ऽसि, अस्मानपि राजसभाप्रबन्धेनात्यन्तानन्दयुक्तान् सम्पादय । (कस्मै त्वा) अतो नित्यसुखाय[3] त्वामाश्रयामः । तथा (काय त्वा) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे । (सुश्लोक) हे सत्यकीर्त्ते ! (सुमङ्गल) हे सुष्ठुमङ्गलमय सुमङ्गलकारक ! (सत्यराजन्) हे सत्यप्रकाशक सत्यराज्यप्रदेश्वर ! अस्मद्राजसभाया भवानेव महाराजाधिराजोऽस्तीति वयं मन्यामहे ॥५॥

सभाध्यक्ष एवं मन्येत—(शिरो मे श्रीः) राज्यश्रीर्मे मम शिरोवत् । (यशो मुखम्) उत्तमकीर्तिर्मुखवत् । (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यन्यायदीप्तिः मम केशश्मश्रुवत् । (राजा मे प्राणः) परमेश्वरः राजवत् । (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चक्षुर्वत्[4] । एवं सभासदोऽपि मन्येरन् । एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विजानीयुः ॥६॥

भाषार्थ—(देवस्य त्वा सवितुः) जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो उसका हम लोग अभिषेक करें और उससे कहें कि—हे सभाध्यक्ष ! आप सब जगत् को प्रकाशित और उत्पन्न करनेवाले ईश्वर की (प्रसवे) सृष्टि में प्रजापालन के लिये (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) पुष्टि करनेवाले प्राण के ग्रहण और दान[5] के शक्तिरूप हाथों से, आपको सभाध्यक्ष होने में स्वीकार करते हैं। (अश्विनोर्भैषज्येन) परमेश्वर कहता है कि पृथिवी शुद्ध वायु और इन[6] ओषधियों से दिन रात में

१. दानशब्देनात्र विसर्जनरूपोऽर्थो ज्ञेयः ।

२. नायं कतमशब्द आतिशायिकस्तमप्प्रत्ययान्तः, किं तर्हि ? उत्तमशब्दवद् अव्युत्पन्न आतिशायिकार्थोन्तोदात्तः । तमप्प्रत्ययान्तत्वे त्वन्तोदात्तार्थं 'उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र' (६।१।१६०) इति गणसूत्रे 'कतम'शब्दोऽप्युपसंख्येयः ।

३. एतद्विषये पूर्वत्र (पृष्ठ ५० टि० ३) टिप्पणी द्रष्टव्या ।

४. यजुर्भाष्येऽप्यत्र पदानां सम्बन्धोऽस्पष्ट एव । अत्र 'अमृतं सम्राट्' पदयोर्व्याख्यानमपि नास्ति । यथा तु मन्त्रपाठस्तथा 'राजा मे प्राणोऽमृतम्, सम्राट्चक्षुः, विराट् श्रोत्रम्' इत्येवं सम्बन्धेन भाव्यम् ।

५. दान अर्थात् विसर्जन ।

६. वै० य० मुद्रित में 'पृथिवीस्थ और शुद्ध वायु इन ओषधियों' अपपाठ है ।

सब रोगों से[1] तुमको निवारण करके, (तेजसे) सत्यन्याय के प्रकाश, (ब्रह्मवर्चसाय) ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वर के परमैश्वर्य और राज्य[2] के विज्ञान से (बलाय) उत्तम सेना, (श्रियै) सर्वोत्तम लक्ष्मी और (यशसे॰) सर्वोत्तम कीर्ति की प्राप्ति के लिये मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूं, कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबन्ध के अर्थ हैं। इससे सब मनुष्य लोग इसका यथावत् प्रचार करें ॥४॥

हे महाराजेश्वर ! आप (कोऽसि कतमोऽसि) सुखस्वरूप, अत्यन्त आनन्दकारक हैं. हम लोगों को भी सब आनन्द से युक्त कीजिये। (सुश्लोक) हे सर्वोत्तम कीर्ति के देनेवाले ! तथा (सुमङ्गल) शोभनमङ्गलरूप आनन्द के करनेवाले जगदीश्वर ! (सत्यराजन्) सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करनेवाले ! हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देनेवाले आप ही हैं। (कस्मै त्वा काय त्वा) उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठविचार और आनन्द के लिये हम लोगों ने आपका शरण लिया है, क्योंकि इसी से हमको पूर्ण राज्य और सुख निस्संदेह होगा ॥५॥

सभाध्यक्ष सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि – (शिरो मे श्रीः) श्री मेरा शिरस्थानी, (यशो मुखम्) उत्तम कीर्ति मेरा मुखवत्, (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्य गुणों का प्रकाश मेरे केश और दाढ़ी मूछ के समान, तथा (राजा मे प्राणः) जो ईश्वर सबका आधार और जीवनहेतु है, वही प्राणप्रिय मेरा राजा, (अमृत॑ꣳ सम्राट्) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षसुख है. वही मेरा चक्रवर्ती राजा, तथा (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) जो अनेक सत्यविद्याओं के प्रकाश [से] युक्त मेरा श्रोत्र है, वही मेरी आंख है ॥६॥

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्य्यम् ।
आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥ य० अ० २० । मं० ७,८ ॥
[3][**नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत् ।**
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः ।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥
य० अ० २० । मं० ९ ॥]

---

१. वै० य० मुद्रितेषु 'में' इत्यपपाठः । २. 'आज्ञा' इति वै० य० मुद्रित पाठ ।
३. अयं मन्त्रः, अस्य भाष्यं च हस्तलेखे विद्यते । प्रथमसंस्करणेऽयं मन्त्र, भाष्यं चास्य नोपलभ्यते । परन्तु तत्रैवाग्रिममन्त्रान्ते '॥ १० ॥' दशसंख्या पठ्यते । अयं मन्त्रो भाष्यं चास्य ग्रन्थकृतैवापाकृतम् उत लेखक-प्रमादान्नष्टमिति न ज्ञायते । यथाऽत्र मन्त्रो व्याख्यायते तथैव ग्रन्थकृतो यजुर्वेदभाष्येऽपि व्याख्यानमुपलभ्यते । तस्मात् लेखकप्रमादादयं पाठो नष्ट इति मत्वाऽस्माभिरिह मन्त्रपाठस्तद्भाष्यं च हस्तलेखानुसारं प्रवर्धितम् ।

भाष्यम्—(बाहू मे बलम्) यदुत्तम बलं तन्मम बाहुवदस्ति (इन्द्रियᳪ हस्तौ मे) शुद्धं विद्यायुक्तं मनः श्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवत् (कर्म वीर्य्यम्) यदुत्तमपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवत् (आत्मा क्षत्रमुरो मम) यन्मम हृदयं तत् क्षत्रवत्[1] ॥७॥

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्) यद् राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवत् (उदरमᳪसौ) यौ सेनाकोशौ स्तस्तत्कर्म मम हस्तमूलोदरवत् (ग्रीवाश्च श्रोणी) यत्प्रजायाः सुखेन भूषणं पुरुषार्थिकरणं[2] च तत्कर्म मम नितम्बाङ्गवत्। (ऊरू अरत्नी) यत्प्रजाया व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्ममोर्वरत्न्यङ्गवदस्ति। (जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) यत्प्रजाराजसभयोः सर्वथा मेलरक्षणं तन्मम कर्म जानुवत्[3]।

[4]एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि ममावयववत् सन्ति। यथा स्वाङ्गेषु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति, तथा प्रजापालने च स्वकीया बुद्धिस्सर्वैः कार्य्येति ॥८॥

[5][(नाभिर्मे चित्तम्) यच्चित्तं सदा ज्ञानरूपमस्ति तन्मम नाभिरङ्गवद् अस्ति (विज्ञानं पायुर्मे॰) यद्विज्ञानं तन्मम पायुगुदेन्द्रियवद् अस्ति (अपचितिर्भसत्) याऽपचितिः पूजा सत्कारोऽस्ति तत् स्त्रियाः प्रजननेन्द्रियवद् अस्ति अर्थात् परमेश्वरपूजाऽऽत्मन्येव कार्या (आनन्दनन्दावाण्डौ मे) ये आनन्दसमृद्धी ते मम वृषणाङ्गवत् स्तः (भगः सौभाग्यं पसः) यन्ममैश्वर्यं सौभाग्यमुत्तमं सुखमस्ति तन्मम पसो लिङ्गेन्द्रियवदस्ति (जङ्घाभ्यां पद्भ्याम्) एवमहं जङ्घाभ्यां पद्भ्यां युक्तो भूत्वा धर्मात्माऽस्मि (विशि राजा प्रति॰) यो विशि प्रजायां सर्वहितकरणादिगुणैः प्रतिष्ठितो भवति सोऽस्माकं राजा समाध्यक्षो भवितुमर्हति ॥९॥]

भावार्थ—(बाहू मे बलम्) जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा, (इन्द्रियᳪहस्तौ॰) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन हैं, वे मेरे हाथों के समान, (आत्मा क्षत्रमुरो मम) जो राजधर्म, शौर्य्य, धैर्य्य और हृदय का ज्ञान है, यही सब मेरे आत्मा के समान है ॥७॥

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्) जो उत्तम राज्य है, सो पीठ के समतुल्य, (उदरमᳪसौ) जो राज्य [की] सेना और कोश है, वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान, तथा (ग्रीवाश्च श्रोणी) जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है, सो मेरे कण्ठ और श्रोणि अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य, (ऊरू अरत्नी) जो प्रजा को व्यापार और गणितविद्या में निपुण करना है, सो ही अरत्नी और ऊरू अङ्ग के समान, तथा (जानुनी) जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना, यह

---

१. ग्रन्थकृता यजुर्भाष्य एतन्मन्त्रव्याख्याने मन्त्रपदानां सम्बन्ध एवं प्रदर्शितः—'मे बलमिन्द्रियम् बाहू, मे कर्म वीर्यं हस्तौ, ममात्मा उरो हृदयं चास्तु' इति।

२. द्वितीयसंस्करणात् 'पुरुषार्थीकरणम्' इत्येवं च्विप्रत्ययान्तः पठ्यते, सोऽपपाठः। पुरुषार्थिनः करणम् इत्यर्थोऽत्र विज्ञेयः, स च प्रसङ्गानुसारी। प्रथमसंस्करणे 'पुरुषार्थिकरणम्' इत्येव पाठ उपलभ्यते।

३. अत्रापि ग्रन्थकृतो यजुर्भाष्ये मन्त्रपदानामन्यथा सम्बन्धः प्रदर्शितः, स तत एव द्रष्टव्यः।

४. 'एवं' इत आरभ्य 'कार्येति' इत्यन्तः पाठो नवममन्त्रभाष्यान्ते योजनीयः। लेखकप्रमादात्तस्य नाष्टमन्त्रव्याख्यानान्ते सम्बद्ध इति प्रतीयते।

५. एतद्विषये पूर्वपृष्ठस्था द्वितीया टिप्पणी द्रष्टव्या।

मेरी जानु के समान है। (विशो मे ऽङ्गानि सर्वतः) जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म करते हैं, ये सब मेरे अङ्गों के समान हैं ॥८॥

[1][(नाभिर्मे चित्तम्) जो चित्त सदा ज्ञानरूप है वह मेरे नाभि अङ्ग के समान है। (विज्ञानं पायुर्मे) जो विज्ञान है वह मेरी गुदेन्द्रिय के समान है। (अपचितिर्भसत्) जो पूजा सत्कार है वह स्त्री जननेन्द्रिय के समान है (आनन्दनन्दावाण्डौ मे) जो आनन्द और समृद्धि है वह मेरे वृषणों के समान है। (भगः सौभाग्यं पसः) जो मेरा ऐश्वर्य, सौभाग्य=उत्तम सुख है वह मेरी लिंगेन्द्रिय के समान है। (जङ्घाभ्यां पद्भ्याम्) इस प्रकार मैं जङ्घा और पैरों से युक्त होकर धर्मात्मा हूं। (विशि राजा प्रतिष्ठितः) जो प्रजा में सर्वहितकारी गुणों के कारण प्रतिष्ठित होता है, वह हमारा राजा सभाध्यक्ष हो सकता है ॥९॥

[2]इस प्रकार पूर्वोक्त सब कर्म मेरे अवयवों (=अङ्गों) के समान हैं। जैसे अपने अङ्गों में प्रीति और उनकी पालना में पुरुष की श्रद्धा होती है वैसी ही बुद्धि प्रजा और उसके पालन में सबको करनी चाहिये ॥]

प्रति॑ क्ष॒त्रे प्रति॑ तिष्ठामि रा॒ष्ट्रे प्रत्यश्वे॑षु॒ प्रति॑ तिष्ठामि॒ गोषु॑ ।
प्रत्यङ्गे॑षु॒ प्रति॑ तिष्ठाम्या॒त्मन् प्रति॑ प्रा॒णेषु॒ प्रति॑ तिष्ठामि पु॒ष्टे
प्रति॒ द्यावा॑पृथि॒व्योः प्रति॑ तिष्ठामि य॒ज्ञे ॥ १० ॥

त्रा॒तार॒मिन्द्र॑मवि॒तार॒मिन्द्र॒ꣳ हवे॑हवे सु॒हव॒ꣳ शूर॒मिन्द्र॑म् ।
ह्वया॑मि श॒क्रं पु॑रुहू॒तमिन्द्र॒ꣳ स्व॒स्ति नो॑ म॒घवा॑ धा॒त्विन्द्रः॑ ॥ ११ ॥

य० अ० २० । मं० ५० ॥

भाष्यम्—(प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे) अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीते क्षत्रे प्रतिष्ठितो भवामि, विद्याधर्मप्रचारिते देशे च। (प्रत्यश्वेषु०) प्रत्यश्वं प्रतिगां च तिष्ठामि। (प्रत्यङ्गेषु०) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रति तिष्ठामि, तथा चात्मानमात्मानं प्रति तिष्ठामि। (प्रति प्राणं०) प्राणं प्राणं प्रत्येवं पुष्टं-पुष्टं पदार्थं प्रति तिष्ठामि। (प्रति द्यावापृथिव्योः०) दिवं दिवं प्रति पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि। (यज्ञे) तथा यज्ञं यज्ञं प्रति तिष्ठामि, अहमेव सर्वत्र व्यापकोऽस्मीति। मामिष्ट-

१. नवम मन्त्र और उसका भाष्य हस्तलेख में विद्यमान है। परन्तु प्रथम सं० से ही वह छप नहीं रहा है। प्र० सं० में ८वें मन्त्र की ८ संख्या के आगे मन्त्र और भाष्य पर १० संख्या मिलती है। इससे ज्ञात होता है सम्भवतः यह पाठ लेखक प्रमाद से प्रतिलिपि में छूट गया। हमने संस्कृत भाष्य हस्तलेख के अनुसार प्रतिलिपि करके अपनी पुस्तक में जोड़ रखा था। भाषार्थ का लेखन उस समय नहीं किया था। अतः यह भाषार्थ हमारा किया हुआ है। अष्टम मन्त्र की व्याख्या के अन्त में पठित संस्कृत पाठ का भाषार्थ उपलब्ध न होने से भी अनुमान होता है कि ९ मन्त्र और उसका भाष्य किसी कारण से नष्ट हुआ है।

२. यह पाठ अष्टम मन्त्र के संस्कृत भाष्य के अन्त में मुद्रित (नवम के अन्त में होना चाहिये। द्र०— पृष्ठ२६० टि०४) संस्कृत पाठ का अनुवाद रूप है। वै०य०मुद्रित संस्करणों में यह भाषार्थ उपलब्ध नहीं होता।

देवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सदैव विजयाभ्युदयौ भवतः । एवं राजपुरुषश्चापि प्रजापालने सर्वत्र न्यायविज्ञानप्रकाशो रक्षणीयः, यतोऽन्यायाविद्याविनाशः स्यादिति ॥१०॥

(त्रातारमिन्द्र०) यं विश्वस्य त्रातारं रक्षकं, परमैश्वर्यवन्तं, (सुहवꣳशूरमिन्द्रं) सुहवं शोभनयुद्धकारिणमत्यन्तशूरं, जगतो राजानमनन्तबलवन्तं, (शक्रम्) शक्तिमन्तं शक्तिप्रदं च, (पुरुहूतम्) बहुभिः शूरैः सुसेवितं, (इन्द्रम्) न्यायेन राज्यपालकं, (इन्द्रꣳहवेहवे) युद्धे-युद्धे स्वविजयार्थम् इन्द्रं परमात्मनं (ह्वयामि) आह्वयामि आश्रयामि । (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) स परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्य्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति धातु—निरन्तरं विजयसुखं दधातु ॥११॥

भाषार्थ—(प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की सभा से न्यायपूर्वक राज्य करते हैं, उनके लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि—हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो, क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष हैं, मैं उनके क्षत्रधर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूं, और वे सदा मेरे समीप रहते हैं । (प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु) उनकी सेना के अश्व और गौ आदि पशुओं में भी स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूं । (प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन्) तथा सब सेना राजा के अंगों और उनके आत्माओं के बीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूं । (प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे) उनके प्राण और पुष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूं । (प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे) जितना सूर्य्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाशरूप जगत् तथा जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं, इन सब के बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक होने से प्रतिष्ठित रहता हू । इस प्रकार से तुम लोग मुझको सब स्थानों में परिपूर्ण देखो । जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है, उनका राज्य सदा बढ़ता रहता है ॥१०॥

(त्रातारमिन्द्रम्) जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है, (अवितार०) जो ज्ञान और आनन्द का देनेवाला है, (सुहवꣳशूरमिन्द्रꣳ हवे हवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रति युद्ध में जो उत्तम युद्ध करानेवाला शूरवीर और हमारा राजा है, (ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रम्) जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है, जिसका सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं, वही हमारा सब प्रकार से राजा है । (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रम्) जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देनेवाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उनका पराजय कभी नहीं होता ॥११॥

इमं दे॑वाऽअसपत्नꣳ सु॑वध्वं म॒ह॒ते क्ष॒त्राय॑ म॒ह॒ते ज्यैष्ठ्या॑य म॒ह॒ते जान॑राज्या॒येन्द्र॒स्ये॒न्द्रि॒याय॑ । इ॒मम॒मुष्य॑ पु॒त्रम॒मुष्यै॑ पु॒त्रम॒स्यै वि॒शऽए॒ष वो॑ऽमी राजा॒ सोमो॒ऽस्माकं॒ ब्राह्म॒णाना॒ꣳ राजा॑ ॥ १२ ॥ य० अ० ६ । मं० ४० ॥

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै ।
च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॒ न॑म॒स्यो॑ भवे॒ह ॥ १३ ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ १४ ॥

अथर्व० कां० ६ । अनु० १० । व० ९८ । मं० १,२ ॥

भाष्यम्—(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासदः ! (महते क्षत्राय) अतुलराजधर्माय (महते ज्यैष्ठ्याय) अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय (महते जानराज्याय) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सूर्य्यस्य प्रकाशवन्न्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय (अस्यै विशे) वर्त्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इमम्) (असपत्नं सुवध्वम्) इमं प्रत्यक्षं शत्रूद्भवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्मं सुवध्वमीशिध्वम्[2] ऐश्वर्यसहितं कुरुत । यूयमप्येवं जानीत—(सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सोम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु । हे सभासदः ! (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्यप्येवमाज्ञा श्राव्या—(एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च ससभासत्कोऽयं राजसभाव्यवहार एव राजास्तीति । एतदर्थं वयं (इममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रम्) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्म्म इति ॥१२॥

(इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु । (न पराजयातै[3]) स मा कदाचिद् पराजयं प्राप्नोतु (अधिराजो राजसु राजयातै) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम् ।(चर्कृत्यः)यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योऽस्ति,(ईड्यः)अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः (वन्द्यश्च) पूजनीयः (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति । (भवेह) हे महाराजेश्वर ! त्वमुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव । भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् चक्रवर्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम ॥१३॥

(त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर ! त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोऽसि, श्रव इवाचरतीति, सर्वस्य श्रोता च, स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु । (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन् ! त्वं भूः सदा भवसि । यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्य्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु । (त्वं दैवीर्विश इमा विराजाः[4]) हे जगदीश्वर ! यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना विविधोत्तमराजपालिताः, प्रत्यक्षविषयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु । ([5]युष्मत्क्षत्रमजर

१. अथर्व ६ । ९८ । १,२ ॥

२. एतत्प्रयोगसाधुत्वज्ञानाय काशिका ७।२।७७ द्रष्टव्या ।

३. अत्र नवमसंस्करणशोधयित्रा कोठारीत्युपाह्वयेन मन्त्रे साहतिकं कार्यमबुद्ध्वेह '(न पराजयाता) सं०' इत्येवं 'पराजयातै' स्थाने 'पराजयाता' पाठेन भाष्यम्' इत्येवं शोधनं प्रदर्शितम्, तल्लेट्लकाररूपाज्ञानपरं ज्ञेयम् । ४. अग्रिमा टिप्पणी ५ द्रष्टव्या ।

५. मन्त्रपदानां स्वरानुरोधेन 'वि । राज । आयुष्मत्' इत्येवं विच्छेदो द्रष्टव्यः । इह तु 'विराजाः, युष्मत' इत्येवं पदच्छेदः स्वीकृतः । स स्वरदोषाच्चिन्त्य इव प्रतीयते । नवमसंस्करणे 'ह० ले० में (आयुष्मत्क्ष०) पाठ है' एवं टिप्पणी दृश्यते । तेन प्रतीयतेऽवश्यमत्र लेखकादिप्रमादात् पाठो भ्रष्ट इति ।

ते अस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर ! तव यदिदं सनातनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवद्दत्तमस्माकमस्तु, इति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं भूगोलाख्यं युष्मदधीनमस्तु ॥१४॥

भाषार्थ—(इमं देवा असपत्नम्) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्यव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि—हे विद्वान् लोगो ! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो, कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आ जाय। (महते क्षत्राय०) हे शूरवीर लोगो ! अपने क्षत्रियधर्म, चक्रवर्ति राज्य श्रेष्ठकीर्ति, सर्वोत्तम राज्यप्रबन्ध के अर्थ (महते जानराज्याय) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक-ठीक राज्यव्यवस्था में चलाने के लिये तथा (इन्द्रस्येन्द्रियाय) बड़े ऐश्वर्य सत्य न्याय के प्रकाश करने के अर्थ (सुवध्वम्) अच्छे-अच्छे राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध करो, कि जिनसे सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढ़ता जाय ॥१२॥

(इन्द्रो जयाति) हे बन्धु लोगो ! जो परमात्मा अपने लोगों का विजय कराने वाला (न पराजयातै[1]) जो हमको दूसरों से कभी हारने नहीं देता (अधिराजः) जो महाराजाधिराज (राजसु राजयातै) सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हमको भी भूगोल में प्रकाशमान करनेवाला है, (चर्कृत्यः) जो आनन्दस्वरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करनेहारा, तथा (ईड्यो वन्द्यश्च) सब मनुष्यों को स्तुति और वंदना करने के योग्य, (उपसद्यो नमस्यः) सबको शरण लेने और नमस्कार करने के योग्य है, (भवेह) सो ही जगदीश्वर हमारा विजय करनेवाला, रक्षक, न्यायाधीश और राजा है। इसलिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर ! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिये। और हम लोग आपके पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर, आपके राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें ॥१३॥

(त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे परमेश्वर ! आप ही सब संसार के अधिराज और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक, (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) आप ही सदा नित्यस्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देनेवाले, (त्वं दैवीर्विश इमा विराजाः) आप ही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय करानेवाले हैं। (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे जगदीश्वर ! आपका राज्य नित्य तरुण बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले। इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उसकी आज्ञा पालन करते हैं, उनको वह आशीर्वाद देता है कि—मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे आधीन हो ॥१४॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ १५ ॥

ऋ० अ० १। अ० ३। व० १८। मं० २॥[2]

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'पराजयाता' अशुद्ध और संस्कृतपाठ से विपरीत है।
२. ऋ० १। ३९। २॥

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥ १६ ॥

अथर्व० कां १५। अनु० २। व० ६। मं० २ ॥[1]

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।

ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ १७ ॥

अथर्व० कां० ६। अनु० १०। व० ९७। मं० ३ ॥[2]

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ।

त्वयेद्गाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवम् ॥ १८ ॥

अथर्व० का० १९। अनु० ७। व० ५५। मं० ६ ॥[3]

भाष्यम्—(स्थिरा वः०) अस्यार्थः प्रार्थनाविषय उक्तः[4] ॥१५॥

(तं सभा च) राजसभा प्रजा च तं पूर्वोक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्येत। (समितिश्च) तमनुश्रित्यैव समितियुद्धम्[5] आचरणीयम्[6]। (सेना च) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सापि परमेश्वरं, ससभाध्यक्षां सभां, स्वसेनानीं चानुश्रित्य युद्धं कुर्य्यात् ॥ १६ ॥

ईश्वरः सर्वान् मनुष्यान् प्रत्युपदिशति—(सखायः) हे सखायः! (इमं वीरमुग्रमिन्द्रम्) शत्रूणां हन्तारं, युद्धकुशलं, निर्भयं, तेजस्विनं प्रतिराजपुरुषं[7] तथेन्द्रं परमैश्वर्य्यवन्तं परमेश्वरं (अनु हर्षध्वम्) सर्वे यूयमनुमोदयध्वम्। एवं कृत्वैव दुष्टशत्रूणां पराजयार्थं (अनु संरभध्वम्) युद्धारम्भं कुरुत। कथम्भूतं तं? (ग्रामजितम्) येन पूर्वं शत्रूणां समूहा जिताः (गोजितम्) येनेन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं च जितं (वज्रबाहुम्) वज्रः प्राणो बलं बाहुर्यस्य [तम्] (जयन्तम्) जयं प्राप्नुवन्तं (प्रमृणन्तमोजसा) ओजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिंसन्तम् (अज्म) वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्नुमः ॥ १७ ॥

(सभ्य सभां मे पाहि) हे सभायां साधो परमेश्वर! मे मम सभां यथावत् पालय। 'मे' इत्यस्मच्छब्दनिर्देशात् सर्वान् मनुष्यानिदं वाक्यं गृह्णातीति। (ये च सभ्याः सभासदः) ये सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभायां सीदन्ति, तेऽस्माकं पूर्वोक्तां त्रिविधां सभां पान्तु यथावद् रक्षन्तु। (त्वयेद्गाः पुरुहूत) हे बहुभिः पूजित परमात्मन्! त्वया सह ये सभाध्यक्षाः सभासद इद्गा[8] इतं

१. अथर्व १५। ६। २॥ २. अथर्व ६। ९७। ३॥

३. अथर्व १९। ५५। ६॥ अयं मन्त्रपाठो राथह्विटनीसंस्करणानुसारी वर्तते। केवलं 'र्व्यं' इत्यस्य स्थान आथर्वणिकानां 'र्व्यऽ' इति स्वरितचिह्नविशेषोऽत्रास्माभिर्निर्दिष्टः। ४. पूर्वत्र पृष्ठ १७५।

५. समितिरिति संग्रामनामसु पठितम्। निघं० २। १७॥ ६. 'आचरेत' इति शुद्धः पाठो ज्ञेयः।

७. वै० य० मुद्रितेषु केषुचित् संस्करणेषु 'प्रति राजपुरुषं' इत्येवं विच्छिन्नोऽपपाठ उपलभ्यते।

८. स्वरानुरोधात् 'त्वया, इत्, गाः' इति त्रीणि पदानि। अत्र 'इत् गाः' इत्यनयोः पदयोरेकीकृत्यार्थः प्रदर्शितः। तथा चोक्तं बृहद्देवतायाम्—अनेकं सत्तथा चान्यदेकमेव निरुक्तवान् (२।११२-११३) इति।

राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति, त एव सुखं प्राप्नुवन्ति ।(विश्वमायुर्व्यश्नवम्)एवं सभापालितोऽहं सर्वो जनः शतवार्षिकं सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम् ।। १८ ।।

भावार्थ—(स्थिरा वः सन्त्वायुधा०) इस मन्त्र का अर्थ प्रार्थनादिविषय में कर दिया है[1] ।। १५ ।।

(तं सभा च) प्रजा तथा सब सभासद् राजाओं के राजा परमेश्वर को जानके, सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें। (समितिश्च) सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें। तथा (सेना च) जो सेना, सेनापति और सभाध्यक्ष हैं, वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेना को बनाके सदैव प्रजापालन और युद्ध करें ।।१६।।

ईश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि—(सखायः) हे बन्धु लोगो ! (इमं वीरम्) हे शूरवीर लोगो ! न्याय और दृढ़भक्ति से अनन्त बलवान् परमेश्वर को इष्ट करके (अनु हर्षध्वम्) शूरवीर लोगों को सदा आनन्द में रक्खो। (उग्रमिन्द्रम्) तुम लोग अत्यन्त उग्र परमेश्वर के सहाय से एक सम्मति होकर (अनु संरभध्वम्) दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो। (ग्रामजितम्)[2] जिसने सब भूगोल तथा (गोजितम्) सबके मन और इन्द्रियों को जीत रक्खा है, (वज्रबाहुम्) प्राण जिसके बाहु, और (जयन्तम्) जो हम सब को जितानेवाला है, (अज्म) उसी को इष्ट जानके हम लोग अपना राजा मानें। (प्रमृणन्तमोजसा) जो अपने अनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हमको सुख देता है ।।१७।।

(सभ्य सभां मे पाहि) हे सभा के योग्य परमेश्वर ! आप हम लोगों की राजसभा की रक्षा कीजिये। (ये च सभ्याः सभासदः) हम लोग जो सभा के सभासद् हैं, सो आप की कृपा से सभ्यतायुक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्य न्याय की रक्षा करें। (त्वयेद्गाः पुरुहूत) हे सबके उपास्यदेव ! (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) हम लोग आप ही के सहाय से आपकी आज्ञा को पालन करते रहें, जिससे संपूर्ण आयु को सुख से भोगें ।।१८।।

[3]इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संक्षेपेण लिखिता। अतोऽग्र ऐतरेयशतपथब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संक्षेपतो लिख्यते। तद्यथा—

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तमुग्रवत्सहस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपं, मन्द्र ओजिष्ठ इत्योजस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपम् ।।१।।

बृहत्पृष्ठं भवति, क्षत्रं वै बृहत् क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्द्धयत्यथो क्षत्रं वै बृहदात्मा यजमानस्य निष्केवल्यं तद्यद् बृहत्पृष्ठं भवति ।।२।।

---

१. पूर्वत्र पृष्ठ १७७। २. 'ग्रामजितं गोजितम्' का भाषार्थ संस्कृत से भिन्न है।

३. अयं पाठो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु उत्तरब्राह्मणपाठव्याख्यानस्यादौ पठ्यते। तस्य चेह स्थानमिति कृत्वेह समानीतः।

ब्रह्म वै रथन्तरं क्षत्रं बृहद्, ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म ॥३॥

ओजो वा इन्द्रियं वीर्य्यं पञ्चदश ओजः क्षत्रं वीर्य्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्य्येण समर्द्धयति । तद्भारद्वाजं भवति भारद्वाजं वै बृहत् ॥४॥

ऐ० पं० ८ । अ० १ । कं० २,३ ॥

तानहमनु राज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां[1] रोहामीति ॥५॥

नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मण इति त्रिष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति । ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति, तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते ॥६॥ ऐ० पञ्जि० ८ । अ० २ । कं० ६,९॥

भाष्यम्—(जनिष्ठा उग्रः०) राजसभायां, जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मात्मानः श्रेष्ठप्रकृतीन् मनुष्यान् प्रति, सदा सुखदास्सोम्या भवेयुः, तथा दुष्टान् प्रत्युग्रो व्यवहारो धार्य्य इति । कुतो यद्राजकर्म्मास्ति तद् द्विविधं भवत्येकं सहस्वद्, द्वितीयमुग्रवद् अर्थात् क्वचिद् देशकालवस्त्वनुसारेण सहनं कर्त्तव्यम्, क्वचित्तद् विपर्य्यये राजपुरुषैर्दुष्टेषूग्रो दण्डो निपातनीयश्चैतत् क्षत्रस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति । तथा (मन्द्र ओजिष्ठः०) उत्तमकर्मकारिभ्य आनन्दकरो दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चास्ति, उत्तमवीरपुरुषसेनादिपदार्थसामग्र्या सहितो यो राजधर्मोऽस्ति स च क्षत्रस्य स्वरूपमस्ति ॥१॥

(बृहत्पृष्ठ०) यत् क्षत्रं कर्म तत् सर्वेभ्यः कृत्येभ्यो बृहन्महदस्ति । तथा पृष्ठमर्थान्निर्बलानां रक्षकं सत् पुनरुत्तमसुखकारकं भवति । एतेनोपेतेन च क्षत्रराजकर्म्मणा मनुष्यो राजकर्म्म वर्द्धयति । नातोऽन्यथा क्षत्रधर्मस्य वृद्धिर्भवितुमर्हति । तस्मात् क्षत्रं सर्वस्मात् कर्मणो बृहद् यजमानस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्माऽऽत्मवदानन्दप्रदं[2] भवति । तथा सर्वस्य संसारस्य निष्केवल्यं[3] निरन्तरं केवलं सुखं सम्पादयितुं यतः समर्थं भवति, तस्मात्तत् क्षत्रकर्म सर्वेभ्यो महत्तरं भवतीति ॥ २ ॥

(ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्मशब्देन सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते, तस्मिन् खलु क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितो भवति । नैव कदाचित् सत्यविद्यया विना क्षत्रधर्मस्य वृद्धिरक्षणे भवतः । तथा (क्षत्रे ब्रह्म) राजन्ये ब्रह्माऽर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठिता भवति । नैवास्माद् विना कदाचिद् विद्याया वृद्धिरक्षणे सम्भवतः । तस्माद् विद्याराजव्यवहारौ मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्तुं शक्नुत इति ॥३॥

(ओजो वा इन्द्रियं०)राजपुरुषैर्बलपराक्रमवन्तीन्द्रियाणि सदैव रक्षणीयानि अर्थाज्जितेन्द्रिय-

---

१. ऐतरेयब्राह्मणे 'स्वावश्यायातिष्ठायारोहामि' इति पाठः सम्प्रत्युपलभ्यते । ग्रन्थकृता तु यथोद्धृत एव पाठोऽत्र व्याख्यातः । २. क्षत्रं पदमभिप्रेत्य नपुंसकत्वम् ।

३. प्रथमसंस्करणे निष्केवल्यं इत्येव पाठः । हस्तलेखे तु 'निष्कैवल्य' इत्येवमपपाठो दृश्यते ।

तयैव सदैव वर्त्तितव्यम् । कुतः? "ओज एव क्षत्रं, वीर्य्यमेव राजन्यः"[1] इत्युक्तत्वात् । तत्तस्मादोजसा क्षत्रेण वीर्य्येण राजन्येनैनं राजधर्मं मनुष्यः समर्द्धयति, सर्वसुखैरेधमानं करोति । इदमेव भारद्वाजं ग्रहणीयं, बृहदर्थान्महत् कर्मास्तीति ॥ ४ ॥

(तानहमनुराज्याय) सर्वे मनुष्या एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः—परमेश्वरानुग्रहेणाहमनुराज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकानां राज्ञामुपरि राजसत्ताप्राप्तये, (साम्राज्याय) सार्वभौमराज्यकरणाय, (भौज्याय) धर्मन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च. (स्वाराज्याय) स्वस्मै राज्यप्राप्तये, (वैराज्याय) विविधानां राज्ञां मध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय (पारमेष्ठ्याय) परमराज्यस्थितये, (माहाराज्याय) महाराज्यसुखभोगाय, तथा (आधिपत्याय) अधिपतित्वकरणाय, (स्वावश्याय) स्वार्थप्रजावशत्वकरणाय च. (अतिष्ठायाम्) अत्युत्तमा विद्वांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा अतिष्ठा सभा, तस्यां[2] सर्वैर्गुणैः सुखैश्च (रोहामि) वर्द्धमानो भवामीति ॥ ५ ॥

(नमो ब्रह्मणे०) परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भं कुर्य्यात् । यत् क्षत्रं ब्रह्मणः वशमेति, तद्राष्ट्रं समृद्धं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति । तस्मिन्नेव राष्ट्रे वीरपुरुषो जायते, नान्यत्रेत्याह परमेश्वरः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार वेदरीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप से कह चुके । इसके आगे वेद की सनातन व्याख्या, जो ऐतरेय और शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं, उनकी साक्षी भी यहां लिखते हैं—

(जनिष्ठा उग्रः०) राजा की सेना और सभाओं में जो पुरुष हों, वे सब दुष्टों पर तेजधारी, श्रेष्ठों पर शान्तरूप, सुख-दुःख के सहन करनेवाले और धन के लिये अत्यन्त पुरुषार्थी हों । क्योंकि दुष्टों पर क्रुद्ध स्वभाव और श्रेष्ठों पर सहनशील होना यही राजा[3] का स्वरूप है । (मन्द्र ओजिष्ठः) जो आनन्दित और पराक्रमयुक्त होना है, वही राजा[3] का स्वरूप है [॥१॥]

क्योंकि राजव्यवहार सबसे बड़ा है । इसमें शूरवीर आदि गुणयुक्त पुरुषों की सभा और सेना रख कर अच्छी प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिये ॥२॥

(ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण है, वही राज्य के प्रबन्धों में सुखप्राप्ति का हेतु होता है । इसलिये अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है ॥[३॥]

उत्तम विद्या और न्याययुक्त राज्य का नाम ओज है । जिसको दण्ड के भय से उल्लघन वा अन्यथा कोई नहीं कर सकता । क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम क्षत्र और पराक्रम का नाम राजन्य है । ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं, तभी संसार की उन्नति होती है ॥[४॥]

---

१. व्याख्यायमानोद्धरणस्य 'ओजः क्षत्रम्, वीर्यं राजन्यः' पाठस्यार्थतो अनुवादः ।

२. ऐतरेयब्राह्मणे 'अतिष्ठायारोहामि' इति पाठ इत्युक्तं प्राक् (पृष्ठ २६७, टि० १) इह तु 'अतिष्ठायाम्' पाठमाश्रित्य ग्रन्थकृता व्याख्या कृता ।

३. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'राज्य' अपपाठ है ।

इसके होने और परमेश्वर की कृपा से मनुष्य के राजकर्म, चक्रवर्तिराज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठिराज्य, प्रकाशरूपराज्य, महाराज्य, राज्यों का अधिपतिरूप राज्य, और अपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम-उत्तम सुख बढ़ते हैं ॥ [५॥]

इसलिये उस परमात्मा को मेरा वारंवार नमस्कार है कि जिसके अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं ॥६॥

सप्रजापतिका अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्वैतदिन्द्रमेव ॥७॥

सम्राजं साम्राज्यं भोजं भोजपितरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं वैराज्यं राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि पुरां भेत्ताजन्यसुराणां हन्ताजनि ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनीति ॥ स परमेष्ठी प्राजापत्योऽभवत् ॥८॥ ऐत० पं० ८ । अ० ३ । क० १२,१४ ॥

स एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेणाभिषिक्तः क्षत्रियः सर्वा जितीर्जयति सर्वान् लोकान् विन्दति, सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां[1] परमतां गच्छति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यं जित्वास्मिँल्लोके स्वयंभूः स्वराडमृतोऽमुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः सम्भवति यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चति ॥ ९ ॥ ऐत० पं० ८ । अ० ४ । कं० १९ ॥

भाष्यम्—(सप्रजापतिका०) सर्वे सभासदः प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन पूज्यतमेन परमेश्वरेणैव सह वर्त्तमाना भवेयुः । सर्वे मिलित्वैवं विचारं कुर्युर्यतो न कदाचित् सुखहानिपराजयौ स्याताम् । यो देवानां विदुषां मध्ये (ओजिष्ठः) पराक्रमवत्तमः, (बलिष्ठः) सर्वोत्कृष्टबलसहितः, (सहिष्ठः) अतिशयेन सहनशीलः, (सत्तमः) सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः, (पारयिष्णुतमः) सर्वेभ्यो युद्धादिदुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वास्तारयितृतमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोऽस्तीति वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चाम इतीच्छेयुः, तथैव खल्वस्त्विति सर्वे प्रतिजानीयुः । एवंभूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं, सर्वैश्वर्यप्रापकत्वादिन्द्रमित्याहुः[2] ॥ २ ॥

(सम्राजं०) एवम्भूतं सार्वभौमराजानं, (साम्राज्यम्) सार्वभौमराज्यं, (भोजम्) उत्तमभोगसाधकं (भोजपितरम्) उत्तमभोगानां रक्षकं, (स्वराजम्) राजकर्मसु प्रकाशमानं, सद्विद्यादिगुणैस्स्वहृदये देदीप्यमानं, (स्वाराज्यम्) स्वकीयराज्यपालनं (विराजम्) विविधानां राज्ञां प्रकाशकं,

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'श्रैष्ठ्यप्रतिष्ठां' इत्यपपाठ उपलभ्यते । स च हस्तलेखे '०मतिष्ठां' इति शुद्धं पाठमपमृज्य '०प्रतिष्ठां' इत्यपपाठो यः केनचित् कृतः, तन्निमित्तो ज्ञेयः । व्याख्याने स्पष्टमेव 'श्रैष्ठ्यम् अतिष्ठां' द्वे पदे व्याख्यायेते ।

२. अयमभिप्रायः—तथैव खलु सर्वे एवंभूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणम् 'अस्तु' इति प्रतिजानीयुः, सर्वैश्वर्यप्रापकत्वादेव तम् 'इन्द्रम्' इत्याहुः ।

(वैराज्यम्) विविधराज्यप्राप्तिकरं, (राजानम्) श्रेष्ठैश्वर्य्येण प्रकाशमानं, (राजपितरम्) राज्ञां रक्षकं, (परमेष्ठिनम्) परमोत्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं, (पारमेष्ठ्यम्) परमेष्ठिसम्पादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयमभिषिञ्चामहे। एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य सुखयुक्तं (क्षत्रमजनि) प्रादुर्भवतीति। अजनीति छन्दसि लुङ्लङ्लिटः [अष्टा० ३।४।६] इति वर्त्तमानकाले लुङ्। (क्षत्रियोऽजनि) तथा क्षत्रियो वीरपुरुषः (विश्व०) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभाध्यक्षः (विशामत्ता०) दुष्टप्रजानामत्ता विनाशकः, (पुरां भे०) शत्रुनगराणां विनाशकः, (असुराणां हन्ता) दुष्टानां हन्ता हननकर्त्ता, (ब्रह्मणो०) वेदस्य रक्षकः, (धर्मस्य गो०) धर्मस्य च रक्षकोऽजनि प्रादुर्भवतीति। (स परमेष्ठी) स राजधर्मः सभाध्यक्षादिमनुष्यैः (प्राजापत्यः०) अर्थात् परमेश्वर [एव] इष्टः करणीयः। न तद्भिन्नोऽर्थः केनचित् मनुष्येणेष्टः कर्त्तुं योग्योऽस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वरपूजका भवेयुः॥ ८॥

यो मनुष्यो राज्यं कर्त्तुमिच्छेत् स (एतेनैन्द्रेण) पूर्वोक्तेन सर्वैश्वर्य्यप्राप्तिनिमित्तेन (महाभिषेकेणा०) अभिषिक्तः स्वीकृतः (क्षत्रियः) क्षत्रधर्मवान् (सर्वा०) सर्वेषु युद्धेषु जयति, सर्वत्र विजयं तथा सर्वानुत्तमाँल्लोकाँश्च विन्दति प्राप्नोति। (सर्वेषां राज्ञां०) मध्ये श्रैष्ठ्यं सर्वोत्तमत्वं, पूर्वोक्तामतिष्ठां[1], या परेषु शत्रुषु विजयेन हर्षनिमित्ता तथा परेषां शत्रूणां दीनत्वनिमित्ता सा परमता[2]=सभा, तां वा गच्छति प्राप्नोति। तया सभया पूर्वोक्तं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं माहाराज्यमाधिपत्यं राज्यं च जित्वास्मिन् लोके चक्रवर्तिसार्वभौमो महाराजाधिराजो भवति। तथा शरीरं त्यक्त्वाऽमुष्मिन् स्वर्गे सुखस्वरूपे लोके परब्रह्मणि (स्वयम्भूः) स्वाधीनः, (स्वराट्) स्वप्रकाशः, (अमृतः) प्राप्तमोक्षसुखः सन् सर्वान् कामानाप्नोति। (आप्त्वामृतः०) पूर्णकामोऽजरामरः सम्भवति। (यमेतेनैन्द्रेण०) एतेनोक्तेन सर्वैश्वर्येण (शापयित्वा) प्रतिज्ञां कारयित्वा यं सकलगुणोत्कृष्टं क्षत्रियं महाभिषेकेणाभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति, तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम्॥ ९॥

भावार्थ—जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर आधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में होता है, वह सब सुखकारक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता [है]। (सप्रजापतिका०) और वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं।[3]जो सब देवों विद्वानों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान् है, तथा अत्यन्त सहनस्वभाव और सबसे उत्तम है, वही हमको सब दुःखों के पार उतारके सब सुखों को प्राप्त करानेवाला है। उसी श्रेष्ठतम पुरुष को हम लोग अपने

१. द्र०—पृ० २६८, टि० २। वै० य० मुद्रितेषु द्वितीयादारभ्याष्टमं यावत् संस्करणेषु 'पूर्वोक्तां प्रतिष्ठां' इत्येवमपपाठ एव दृश्यते। प्रथमसंस्करणे तु 'अतिष्ठां' इति शुद्धः पाठ एवोपलभ्यते।

२. कतिपयेषु वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'परमत्ता' इत्यपपाठ उपलभ्यते। ब्राह्मणेऽपि 'परमतां' इत्येव पाठः।

३. वै० य० मुद्रित भाषानुवाद भ्रष्ट तथा असम्बन्ध है, उसमें कुछ परिवर्तन करके ऊपर का पाठ बनाया है। पुराना पाठ इस प्रकार था—'उपासक होते हैं। क्योंकि वही एक परमात्मा सब देवों के बीच में······प्राप्त करानेवाला है। उसी परमात्मा को हम लोग······मानते हैं, तथा जिसका नाम इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्ययुक्त है।'

राज्य और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिये मानते हैं। तथा उसे ही सब ऐश्वर्यों के प्रापक होने से इन्द्र नाम से कहते हैं ॥[७॥]

वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्ति राजा, और वही हमको भी चक्रवर्ति राज्य देनेवाला है। जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करनेवाला, स्वराट् अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रकाशरूप राज्य का देनेवाला है। तथा जो विराट् अर्थात् सबका प्रकाशक, विविध राज्य का देनेवाला है, उसीको हम राजा और सब राजाओं का पिता मानते हैं। क्योंकि वही परमेष्ठी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है। उसी की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया, अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का अधिपति हुआ, तथा प्रजाओं का संग्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, असुर अर्थात् चोर डाकुओं का ताड़न, ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का पालन और धर्म की रक्षा करनेवाला हुआ हूं ॥[८॥]

जो क्षत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्यकर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता है, वह सब युद्धों को जीत लेता है। तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बनकर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है। जिससे इस लोक में चक्रवर्ति राज्य और लक्ष्मी को भोगके मरणान्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है। क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महा ऐश्वर्य-युक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है। इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबन्ध किया जाता है, वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥९॥

क्षत्रं वै स्विष्टकृत् ॥ क्षत्रं वै साम। साम्राज्यं वै साम ॥ [१०॥]

श० कां० १२। अ० ८। ब्रा० ३ ॥[1]

ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳ राजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति ॥ युद्धं वै राजन्यस्य वीर्य्यम् ॥ [११॥] श० कां० १३। अ० १ ब्रा० ५ ॥[2]

राष्ट्रं वा अश्वमेधः ॥ [१२॥] श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ६ ॥[3]

राजन्य एव शौर्य्यं महिमानं दधाति तस्मात् पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे ॥ [१३ ॥] श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ६।[4]

भाष्यम्—(क्षत्रं वै०) क्षत्रमर्थाद् राजसभाप्रबन्धेन यद्यथावत् प्रजापालनं क्रियते, तदेव स्विष्टकृदर्थादिष्टसुखकारि, (क्षत्रं वै साम) यद्दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्तृ च भवति, (साम्राज्यं वै०) तदेव श्रेष्ठं राज्यं [इत्येव] वर्णयन्ति ॥[१०॥]

(ब्रह्म वै०) [यो] ब्रह्मार्थाद् वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति। (क्षत्रꣳ०) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्य्यादिगुणयुक्तो महावीरपुरुषः क्षत्रधर्मं स्वीकरोति, स राजन्यो भवितुम-

---

१. शत० १२। ८। ३। १६,२३॥
२. शत० १३। १। ५। ३, ६॥
३. शत० १३। १। ६। ३॥
४. शत० १३। १। ६। २॥

हेति । (तदस्य ब्रह्मणा०) तादृशैर्ब्राह्मणैः राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्यलक्ष्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति । नैवं राजधर्मानुष्ठानेनास्य श्रियः कदाचिद्ग्रासान्यथात्वे भवतः । (युद्ध वै०) अत्रद बोध्यम्—युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्य्यं बलं भवति । नानेन विना महाधनसुखयोः कदाचित् प्राप्तिर्भवति । कुतः? निघण्टौ (अ० २, ख० १७) सग्रामस्यैव महाधनसंज्ञत्वात् । महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन् स महाधनः संग्रामः, नास्माद् विना कदाचित् महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः ॥[११॥]

(राष्ट्रं वा अश्वमेधः) राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति । नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति ॥ [१२॥]

(राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्य्यं महिमानं दधाति, तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं समर्थो भवति । तस्मात् कारणात् राजन्यः शूरो युद्धोत्सुको निर्भयः, (इषव्यः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणे कुशलः, (अतिव्याधी) अत्यन्ता व्याधाः शत्रुणां हिंसका योद्धारो यस्य, (महारथः) महान्तो भूजलान्तरिक्षगमनाय रथा यस्येति । यस्मिन् राष्ट्रे ईदृशो राजन्यो (जज्ञे) जातोऽस्ति, नैव कदाचित् तस्मिन् भयदुःखे सम्भवतः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(क्षत्रं वै०) राजसभाप्रबन्ध से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है, वही स्विष्टकृत् अर्थात् अच्छी प्रकार चाहे हुए सुख का करनेवाला होता है । (क्षत्रं वै सा०) जो राजकर्म्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन करनेवाला है, [(साम्राज्यं०)] वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुखकारक होता है ॥[१०॥]

(ब्रह्म वै०) जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद का जाननेवाला है, वही ब्राह्मण होने के योग्य है । (क्षत्रं०) जो इन्द्रियों का जीतनेवाला, पण्डित, शूरतादिगुणयुक्त, श्रेष्ठ वीरपुरुष क्षत्रधर्म को स्वीकार करता है, सो क्षत्रिय होने के योग्य है । (तदस्य ब्रह्मणा०) ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती है, और उसके खजाने की हानि कभी नहीं होती । (युद्धं वै०) यहां इस बात को जानना चाहिये कि जो राजा को युद्ध करना है, वही उसका बल होता है । उसके विना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती । क्योंकि निघण्टु में संग्राम ही का नाम 'महाधन' है । सो उसको 'महाधन' इसलिये कहते हैं कि उससे बडे-बड़े उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं, क्योंकि विना संग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता ॥[११॥]

[(राष्ट्र०)] और जो न्याय से राज्य का पालन करना है, वही क्षत्रियों का 'अश्वमेध' कहाता है । किन्तु घोड़े को मारके उसके अङ्गों का होम करना, यह 'अश्वमेध' नहीं है ॥ [१२॥]

(राजन्य एव०) पूर्वोक्त राजा जब शूरतारूप कीर्त्ति को धारण करता है तभी सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है । इसलिये जिस देश में युद्ध को अत्यन्त चाहनेवाला, निर्भय, शस्त्र-अस्त्र चलाने में अतिचतुर, और जिसका रथ पृथिवी समुद्र और अन्तरिक्ष में जानेवाला हो, ऐसा राजा होता है, वहां भय और दुःख नहीं होते ॥[१३॥]

श्रीर्वै राष्ट्रम् ॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम् ॥ क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम् ॥ विड् वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति ॥ [१]४॥

शत० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ९ ॥[1]

भाष्यम्—(श्रीर्वै राष्ट्रम्) या विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति । (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) सैव राज्यश्री राष्ट्रस्य सम्भारो भवति । (श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्) राष्ट्रस्य मध्यभागोऽपि श्रीरेवास्ति । (क्षेमो वै रा०) क्षेमो यद्रक्षणं तदेव राष्ट्रस्य [शीतं] शयनवन्निरुपद्रवं सुखं भवति । (विड् वै गभः) विड् या प्रजा सा गभाख्यास्ति । (राष्ट्रं पसो०) यद्राष्ट्रं तत्पसाख्यं भवति, तस्माद् यद् राष्ट्रसम्बन्धिकर्म तद्विशि प्रजायामाविश्य तामाहन्त्यासमन्तात् करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां हरणं करोति । (तस्माद्राष्ट्री वि०) यस्मात् सभया विनैकाकी पुरुषो [राजा] भवति, तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति । तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्त्तव्यः, नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति । तस्मात सभयैव राज्यप्रबन्धः कर्तुं शक्योऽस्ति । (विशमेव राष्ट्राया०) यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां भोज्यवत्ताडितां करोति । यस्मात् स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान् पदार्थान् गृह्णन् सन् प्रजायै पीडां ददाति, तस्मादेको राष्ट्री विशमत्ति । (न पुष्टं पशु म०) यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति, तथैको राजा न मत्तः कश्चिदधिको भवेदितीर्ष्यया नैव प्रजास्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते । तस्मात् सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रम् इति । एवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादका मन्त्रा[2] बहवः सन्तीति ॥ [१४॥]

भाषार्थ—(श्रीर्वै राष्ट्रम्) श्री जो है लक्ष्मी, वही राज्य का स्वरूप, सामग्री और मध्य है। तथा राज्य का जो रक्षण करना है, वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहाता है। राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं, वहां सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है। इसी से किसी की उन्नति नहीं होती ॥[१४॥]

इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिर पर्य्यन्त बराबर चला आया है, जिसकी साक्षी महाभारत के राजधर्म आदि ग्रन्थ तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों में यथावत् लिखी है। उनमें जो कुछ प्रक्षिप्त किया है, उसको छोड़के बाकी सब अच्छा है। क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है। और आर्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो, वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे। किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था। इसलिये वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे, कि जिससे आर्य्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था। और जहां होता था, वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे। यही सब आर्यों का सिद्धान्त है। अर्थात् इन्हीं वेदादिशास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः

१. शत० १३ । २ । ९ । २-६, ८ ॥

२. अस्मिन् प्रकरणे मन्त्राणामाधिक्याद् ब्राह्मणवचनानां चाल्पत्वाद् इह भूमान्यायेन 'मन्त्र'पदस्य निर्देशो ज्ञेयः ।

अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्युक्तस्तदर्थश्च[1]। तस्यायं शेषः—

वर्णो वृणोतेः ॥१॥ निरु० अ० २। खं० ३॥

ब्रह्म हि ब्राह्मणः। क्षत्रꣳ हीन्द्रः क्षत्रꣳ राजन्यः ॥२॥ श० कां० ५। अ० १। ब्रा० १॥[2]

बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः॥ वीर्य्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू, वीर्यं वा एतदपाꣳ रसः॥ श० कां० ५। अ० ४। ब्रा० ३॥[3]

इषवो वै दिद्यवः ॥३॥ श० कां ५। अ० ४। ब्रा० ४॥[4]

भाष्यम्—वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद् वरणीया वरीतुमर्हा, गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः ॥१॥

(ब्रह्म हि ब्राह्मणः) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति। तथैव (क्षत्रꣳहीन्द्रः) क्षत्रं क्षत्रियकुलम्, यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद् युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः, [स] (राजन्यः) क्षत्रियो भवितुमर्हति ॥२॥

(मित्रः) सर्वेभ्यः सुखदाता (वरुणः) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः, इमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहुवद् भवेताम्। (वा) अथवा (वीर्यम्) पराक्रमो बलं चैतदुभयं (राजन्यस्य०) क्षत्रियस्य बाहू भवतः। (अपाम्) प्राणानां यो (रसः) आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते। तस्य (इषवः) बाणाः, शस्त्रा[स्त्रा]णामुपलक्षणमेतत् (दिद्यवः) प्रकाशकाः सदा भवेयुः ॥३॥

भाषार्थ—अब वर्णाश्रमविषय लिखा जाता है। इसमें यह विशेष जानना चाहिये कि प्रथम मनुष्य जाति सबकी एक है, सो भी वेदों से सिद्ध है। इस विषय का प्रमाण सृष्टिविषय में लिख दिया है। तथा 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' यह मन्त्र सृष्टिविषय में लिख चुके हैं[5]। वर्णों के प्रतिपादन करनेवाले वेदमन्त्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में लिखी है, वह कुछ यहां भी लिखते हैं—

---

१. पूर्व पृष्ठ १४५॥

२. शत० ५।१।१।११॥

३. 'ब्रा० ३' अपपाठोऽयम्। शत० ५।४।१। १५,१७॥

४. 'ब्रा० ४' अपपाठोऽयम्। शत० ५।४।२।२॥

५. पूर्व पृष्ठ १४५॥

मनुष्य जाति के ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य,शूद्र ये 'वर्ण' कहाते हैं। वेदरीति से इनके दो भेद हैं—एक आर्य और दूसरा दस्यु। इस विषय में यह प्रमाण है कि—**'विजानीह्यार्य्यान् ये च दस्यवो०'**[1] अर्थात् इस मन्त्र से परमेश्वर उपदेश करता है कि—हे जीव ! तू आर्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्टस्वभावयुक्त डांकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्य के ये दो भेद जान ले। तथा **'उत शूद्रे उत आर्य्ये'**[2] इस मन्त्र से भी आर्य्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी जो कि शूद्र कहाते हैं, ये दो भेद जाने गये हैं। तथा **'असुर्या नाम ते लोका०'**[3] इस मन्त्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं। और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर संग्राम कहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद ये चार भेद गुण कर्मों से किये गये हैं।

(वर्णो०) इनका नाम 'वर्ण' इसलिये है कि जैसे जिसके गुण कर्म हों, वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिये। (ब्रह्म हि ब्रा०) ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मण वर्ण होता है। (क्षत्रꣳ हि०) परम ऐश्वर्य (बाहू०) बल वीर्य्य के होने से मनुष्य क्षत्रिय वर्ण होता है, जैसा कि राजधर्म में लिख आये हैं[4] ॥१-३॥

आश्रमा अपि चत्वारः सन्ति—ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासभेदात्। ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्या शिक्षा च ग्राह्या। गृहाश्रमेणोत्तमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्य्या। वानप्रस्थेनैकान्तसेवनं ब्रह्मोपासनं विद्याफलविचारणादि च कार्य्यम्। संन्यासेन परब्रह्ममोक्षपरमानन्दप्रापणं क्रियते, सदुपदेशेन सर्वस्मा आनन्ददानं चेत्यादि, चतुर्भिराश्रमैर्धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिः सम्पादनीया। एतेषां[5] मुख्यतया ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्यासुशिक्षादयः शुभगुणाः सम्यग्ग्राह्याः।

अत्र ब्रह्मचर्य्याश्रमे प्रमाणम्—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ १ ॥

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥ २ ॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ३ ॥

अथर्व० कां० ११। अनु० ३। व० ५। मं० ३-५॥[6]

भाष्यम्—(आचार्य्य उ०) आचार्य्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचरिणमुपनयमानो विद्यापठनार्थमुपवीतं दृढव्रतमुपदिशन्नन्तर्गर्भमिव कृणुते करोति। तं तिस्रो रात्रीस्त्रिदिनपर्य्यन्तमुदरे बिभर्ति,

१. ऋ० १।५१।८॥ २. तु० अथर्व १९।६२।१॥ ३. यजुः ४०।३॥
४. पूर्वत्र पृष्ठ २६६-२७३॥ ५. निर्धारणे षष्ठी,एतेषां मध्य इत्यर्थः। ६. अथर्व ११।५।३-५॥

अर्थात् सर्वां शिक्षां करोति, पठनस्य च रीतिमुपदिशति । यदा विद्यायुक्तो विद्वान् जायते, तदा तं विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमभिसंयन्ति प्रसन्नतया तस्य मान्यं‡ कुर्वन्ति । अस्माकं मध्ये महाभाग्योदयेनेश्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसन्ति ॥१॥

(इयं समित्०) इयं पृथिवी द्यौः प्रकाशोऽन्तरिक्षं चानया समिधा स ब्रह्मचारी पृणाति, तत्रस्थान् सर्वान् प्राणिनो विद्यया होमेन च प्रसन्नान् करोति । (समिधा) अग्निहोत्रादिना, (मेखलया) ब्रह्मचर्य्यचिह्नधारणेन च (श्रमेण) परिश्रमेण (तपसा) धर्मानुष्ठानेनाध्यापनेनोपदेशेन च (लोकान्) सर्वान् प्राणिनः (पिपर्ति) पुष्टान् प्रसन्नान् करोति ॥२॥

(पूर्वो जातो ब्रह्म०) ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी (घर्मं वसानः) अत्यन्तं तपश्चरन्, ब्रह्मणोऽर्थाद्वेदं[1] परमेश्वरं च विदन्, पूर्वः सर्वेषामाश्रमाणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः, (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (उदतिष्ठत्) ऊर्ध्वे उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति । तस्मात् कारणात (ब्रह्मज्येष्ठम्[2]) ब्रह्मैव परमेश्वरो विद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्मज्येष्ठम्[2] (अमृतेन) परमेश्वरमोक्षबोधेन परमानन्देन साकं सह वर्त्तमानं (ब्राह्मणम्) ब्रह्मविदं (जातम्) प्रसिद्धं (देवाः) सर्वे विद्वांसः प्रशंसन्ति ॥३॥

भाषार्थ—अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहाते हैं। इनमें से पांच वा आठ वर्ष की उमर से अड़तालीस वर्ष पर्यन्त प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का समय है। इसके विभाग पितृयज्ञ में कहेंगे[3]। वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहाश्रम—जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और उनको सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ—जिससे ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा संन्यास—जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है। इनमें से प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है, उसके ठीक-ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं। इस आश्रम के विषय में वेदों के अनेक प्रमाण हैं। उनमें से कुछ यहां भी लिखते हैं—

(आचार्य्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बसके माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है, वह प्रथम जन्म कहलाता है। और दूसरा यह है कि जिसमें आचार्य्य पिता और विद्या

१. अत्र वै०य० मुद्रितेषु 'ब्राह्मणोऽर्थाद्' इत्यपपाठः। अष्टमसंस्करणे '**ब्रह्मणोऽर्थाद्**०' इत्येवं शुद्ध एव पाठ उपलभ्यते। मन्त्रेऽपि '**ब्रह्मणः**' इत्येव पठ्यते।

२. मन्त्रपाठे स्वरानुसारं 'ब्रह्म ज्येष्ठं' इति द्वे पदे। अत्र पृष्ठ २६५, टि० ७ द्रष्टव्या।

३. अग्रिम प्रकरण में। २५ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी 'वसु' कहाता है, ४४ वर्ष पर्यन्त 'रुद्र' और ४८ वर्ष पर्यन्त 'आदित्य'।

माता होती है[1]। इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन प्राप्त नहीं होता[2]। इसलिये उसको प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये। जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य्य अर्थात् विद्या पढ़ानेवाले के समीप रहते हैं, तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो हो जाता है। क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं। उनको आचार्य तीन रात्रि पर्यन्त गर्भ में रखता है, अर्थात् ईश्वर की उपासना, धर्म, परस्पर विद्या के पढ़ने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य-मुख्य बातें हैं, वे सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती है।[3] जब वह विद्या में निपुण हो जाता है, तब देव विद्वान् लोग उसको देखने के लिये आते हैं, और प्रसन्नता से उसका सत्कार करते हैं। हमारे मध्य में महाभाग्य के उदय और ईश्वर के अनुग्रह से सब मनुष्यों के उपकार के लिये तुम विद्वान् हुए, इस प्रकार उसको प्रशंसा करते हैं ॥१॥

(इयं समित्) फिर उस दिन होम करके उनको प्रतिज्ञा कराते हैं, कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी सूर्य्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं को प्राप्त[4] और पूर्ण करने की इच्छा करता है, सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ करके सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण आनन्दित कर देता है ॥२॥

(पूर्वो जातो ब्र०) जो ब्रह्मचारी पूर्व पढ़के ब्राह्मण होता है, वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थी होकर सब मनुष्यों का कल्याण करता है (ब्रह्मज्येष्ठं०[5]) फिर उस पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण को, जो कि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है, देखने के लिये सब विद्वान् आते हैं ॥३॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ४ ॥
ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥ ५ ॥

१. द्र०—मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।········॥ तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्। तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥ मनु० २।१६९, १७०॥ स हि विद्यातस्तं जनयति, तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः। आप० धर्मसूत्र १। १। १५-१७॥

२. प्रथम जन्म से पशुत्वमात्र की प्राप्ति होती है। द्र०—विवाह प्रकरण का मन्त्र—'वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः। अथर्व १४। २। २५॥ द्वितीय जन्म मनस्यमान (=ज्ञानवान्) आचार्य से होने के कारण द्वितीय जन्म के अनन्तर ही मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। द्र०—मनुष्याः कस्मात्······ मनस्यमानेन सृष्टा वा (निरु० ३।७)॥ मनुष्य का लक्षण 'ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला' है (मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। निरु० ३।७)। इस प्रकार के मनुष्यत्व की प्राप्ति विद्याध्ययन से ही होती है, उसके विना वह पशु-समान होता है। ३. यहां से आगे का पाठ वै० य० मुद्रित संस्करणों में इस प्रकार है—'तीन दिन के उपरान्त उनको देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं'। यह संस्कृत पाठ से विपरीत है। ऊपर का पाठ हमने संस्कृत पाठ के अनुसार बनाया है। द्र०—संस्कारविधि वेदारम्भ प्रकरण (पृष्ठ १२९, रालाकट्र० सं० ३) में इस मन्त्र की व्याख्या। ४. वै०य०मु० में 'पालन' अपपाठ है। ५. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ २६५, टि० ७।

ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ६ ॥
ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्य्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥ ७ ॥
ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत[1] ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ ८ ॥

अथर्व० कां० ११ । अनु० ३ । [व० ५] । मं० ६,७,१७,१८,१९ ॥[2]

भाष्यम्—(ब्रह्मचार्य्येति०) स ब्रह्मचारी पूर्वोक्तया (समिधा) विद्यया (समिद्धः) प्रकाशितः, (कार्ष्णम्) मृगचर्मादिकं (वसानः) आच्छादयन्, (दीर्घश्मश्रुः) दीर्घकालपर्य्यन्तं केशश्मश्रूणि धारितानि येन स, (दीक्षितः) प्राप्तदीक्षः (एति) परमानन्दं प्राप्नोति । तथा (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात् समुद्रात् (उत्तरन्) गृहाश्रमं समुद्रं (सद्य एति) शीघ्रं प्राप्नोति । एवं निवासयोग्यान् सर्वान् (लोकान् सं०) संगृह्य मुहुर्वारंवारं (आचरिक्रत्) धर्मोपदेशमेव करोति ॥४॥

(ब्रह्मचारी) स ब्रह्मचारी (ब्रह्म) वेदविद्यां पठन् (अपः) प्राणान्, (लोकम्) दर्शनं, (परमेष्ठिनम) प्रजापतिं (विराजम्) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं (जनयन्) प्रकटयन् (अमृतस्य) मोक्षस्य (योनौ) विद्यायां (गर्भो भूत्वा) गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद् विद्यां गृहीत्वा, (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्य्यवत् प्रकाशकः सन् (असुरान्) दुष्टकर्मकारिणो मूर्खान् पाषण्डिनो[3] जनान् दैत्यरक्षःस्वभावान् (ततर्ह) तिरस्करोति, सर्वान्निवारयति । यथेन्द्रः सूर्य्योऽसुरान् मेघान् रात्रिं च निवारयति, तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति ॥५॥

(ब्रह्मचर्य्येण०) तपसा ब्रह्मचर्य्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरक्षति, विशिष्टतया प्रजा रक्षितुं योग्यो भवति । आचार्य्योऽपि कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव विद्यां प्राप्य ब्रह्मचारिणमिच्छते स्वीकुर्यान्नान्यथेति । अत्र प्रमाणम्—'आचार्यं कस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा' ॥ निरु० अ० १ । खं० ४ ॥६॥

(ब्रह्मचर्य्येण०) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव कन्या युवतिः सती युवानं स्वसदृशं पतिं विन्दते, नान्यथा, न चातः पूर्वमसदृशं वा । अनड्वानित्युपलक्षणं वेगवतां पशूनाम् । ते पशवोऽश्वश्च घासं यथा, तथा कृतेन ब्रह्मचर्य्येण स्वविरोधिनः पशून् जिगीषन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति । अतो मनुष्यैस्त्ववश्यं ब्रह्मचर्य्यं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥७॥

१. अथर्वसंहितायाम् 'मृत्युमपाघ्नत' पाठो वर्तते । २. अथर्व ११ । ५ । ६, ७, १७-१९॥
३. मूलपाठोऽत्र 'पाखण्डिनो' वर्तते । अयं च षकारस्य खकारोच्चारणनिमित्तो लिपिकरनिर्दिष्टोऽपपाठः ।

(ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा०) देवा विद्वांसो ब्रह्मचर्य्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च मृत्युं जन्ममृत्युप्रभवदुःखमुपाघ्नत[1] नित्यं घ्नन्ति, नान्यथा । ब्रह्मचर्य्येण सुनियमेन, हेति किलार्थे, यथा इन्द्रः सूर्य्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वः सुखं प्रकाशं चाभरद् धारयति,तथा विना ब्रह्मचर्य्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं च यथावद् भवति । अतो ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः [2]सुखमेधन्ते । अन्यथा मूलाभावे कुतः शाखाः । किन्तु मूले दृढे शाखापुष्पफलच्छायादयः सिद्धा भवन्त्येवेति ।।८।।

भाषार्थ—(ब्रह्मचार्येति०) जो ब्रह्मचारी होता है, वही ज्ञान से प्रकाशित तप और बड़े-बड़े केश-श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होके विद्या को प्राप्त होता है । तथा जो कि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान है, उसके पार उतरके उत्तर समुद्रस्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है । और अच्छी प्रकार विद्या-संग्रह करके विचारपूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है ।। ४ ।।

(ब्रह्मचारी ज०) वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ जानके, प्राणविद्या लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर, जो कि सबसे बड़ा और सबका प्रकाशक है, उसका जानना, इन विद्याओं में गर्भरूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य्ययुक्त होके असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या का छेदन कर देता है ।। ५ ।।

(ब्रह्मचर्य्येण त०) पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़के और सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है । आचार्य उसको कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ाके सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ाके अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।। ६।।

(ब्रह्मचर्य्येण क०) अर्थात् जब वह कन्या ब्रह्मचर्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ़ चुके, तब अपनी युवावस्था में पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति करे । इसी प्रकार पुरुष भी सुशील धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनों परस्पर सुख दुःख में सहायकारी हों । क्योंकि अनड्वान् अर्थात् पशु भी जो पूरी जवानी पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् सुनियम में रक्खा जाय, तो अत्यन्त बलवान् होके निर्बल जीवों को जीत लेता है ।। ७ ।।

(ब्रह्मचर्येण त०)ब्रह्मचर्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म-मरण को जीतके मोक्ष-सुख को प्राप्त हो जाते हैं । जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य परमेश्वर के नियम में स्थित होके सब लोकों का प्रकाश करनेवाला हुआ है, वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य से प्रकाशित होके सबको प्रकाशित कर देता है । इससे ब्रह्मचर्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है ।। [८ ।।]

—: इति ब्रह्मचर्य्याश्रमविषय संक्षेपतः :—

१. संहितायाम् 'अपाघ्नत' पाठः । २. 'सुखम्' इति क्रियाविशेषणम्, धातोरकर्मकत्वात् ।

अथ गृहाश्रमविषयः—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये ।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥ ९ ॥
देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥ १० ॥
गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽ एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ११ ॥
येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ १२ ॥
उपहूताऽ इह गावऽ उपहूताऽ अजावयः ।
अथोऽ अन्नस्य कीलालऽ उपहूतो गृहेषु नः ।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥ १३ ॥

य० अ० ३ । मं० ४५,५०,४१-४३ ॥

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—एतेषु गृहाश्रमविधानं क्रियत इति ।

(यद ग्रामे०) यद् ग्रामे गृहाश्रमे वसन्तो वयं पुण्यं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पत्तिमत्युत्तमसामाजिकनियमं सर्वोपकारकं, तथैवारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं तपश्चरणं, सभासम्बन्धे यच्छ्रेष्ठं, इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं कर्म च कुर्मस्तत् सर्वमीश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु । यच्च भ्रमेणैनः पापं च कृतं, तत् सर्वमिदं पापमवयजामह आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः ॥९॥

(देहि मे०) परमेश्वर आज्ञापयति—हे जीव ! त्वमेवं वद—मे मह्यं देहि. मत्सुखार्थं विद्यां द्रव्यादिकं च त्वं देहि, अहमपि ते तुभ्यं ददामि । मे मह्यं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभावदानमुदारतां सुशीलतां च धेहि धारय, ते तुभ्यं त्वदर्थमहमप्येवं च दधे । तथैव धर्मव्यवहारं क्रयदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ, तथैवाहमपि ते तुभ्यं त्वदर्थं निहराणि नित्यं प्रयच्छानि ददानि । स्वाहेति सत्यभाषणं सत्यमानं सत्याचरणं सत्यवचनश्रवणं च सर्वे वयं मिलित्वा कुर्य्यामेति सत्येनैव सर्वं व्यवहारं कुर्युः ॥१०॥

(गृहा०) हे गृहाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः ! स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत । गृहाश्रमानुष्ठाने (मा बिभीत) भयं मा प्राप्नुत । तथा (मा वेपध्वम्) मा कम्पध्वम् । (ऊर्जं बिभ्रत एमसि) ऊर्जं बलं पराक्रमं च बिभ्रतः पदार्थानेमसि वयं प्राप्नुम इतीच्छत । (ऊर्जं बिभ्रद्वः) वो युष्माकं मध्येऽहमूर्जं बिभ्रन्[1] सन्,(सुमनाः) शुद्धमनाः, [2]सुमेधा उत्तमबुद्धियुक्तः (मनसा मोदमानः) प्राप्तानन्दः, (गृहानैमि) गृहाणि प्राप्नोमि ॥११॥

---

१. वै० य० मुद्रितेषु 'बिभ्रत्' इत्यपपाठः । २. वै० य० मुद्रितेषु 'सुमेधोत्तमबुद्धियुक्तः' इत्यपपाठः ।

(येषामध्येति प्र०) येषु गृहेषु प्रवसतो मनुष्यस्य (बहुः) अधिकः (सौमनसः) आनन्दो भवति, तत्र प्रवसन् येषां यान्[1] पदार्थान् सुखकारकान् स (अध्येति) स्मरति, (गृहानुपह्वयामहे) वयं गृहेषु विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः सखिबन्ध्वाचार्य्यादीन् निमन्त्रयामहे। (ते नः) विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञान् अस्मान् (जानत.) प्रौढज्ञानान्, युवावस्थास्थान् स्वेच्छया कृतविवाहान्, ते (जानन्तु) अस्माकं साक्षिणः सन्त्विति ॥१२॥

(उपहूता इह०) हे परमेश्वर! भवत्कृपया इहास्मिन् गृहाश्रमे गावः पशुपृथिवीन्द्रिय-विद्याप्रकाशाह्लादादय उपहूता अर्थात् सम्यक् प्राप्ता भवन्तु। तथा (अजावयः) उपहूता अस्मद-नुकूला भवन्तु। (अथो अन्नस्य की०) अथो इति पूर्वोक्तपदार्थप्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेष्वन्नस्य भोक्तव्यपदार्थसमूहस्य कीलालो विशेषेणोत्तमरस उपहूतः सम्यक् प्राप्तो भवतु। (क्षेमाय वः शान्त्यै०) वो युष्मान्, अत्र पुरुषव्यत्ययोऽस्ति,[2] तान् पूर्वोक्तान् प्रत्यक्षान् पदार्थान् क्षेमाय रक्षणाय शान्त्यै सुखाय प्रपद्ये प्राप्नोमि। तत्प्राप्त्या (शिवम्) निश्श्रेयसं कल्याणं पारमार्थिकं सुखं (शग्मम्) सांसारिकमाभ्युदयिकं सुखं च प्राप्नुयाम्। शंयोः शमिति निघण्टौ पदनामास्ति[3]। परोप-काराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नतिं कुर्म्मः ॥१३॥

भाषार्थ—(यद् ग्रामे०) गृहाश्रमी को उचित है [कि]जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके, तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे, और वे दोनों यथावत् उन विवाह के नियमों में चलें, जो कि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं। परन्तु उनसे जो विशेष कहना, है सो यहां लिखते हैं—गृहस्थ स्त्रीपुरुषों को धर्म उन्नति और ग्रामवासियों के हित के लिये जो-जो काम करना है, तथा (यदरण्ये) वनवासियों के साथ हित और (यत्सभायाम्) सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिये (यदिन्द्रिये) जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये, सो-सो सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें। और (यदेनश्चकृ०)पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन वचन और कर्म से छोड़कर सर्वथा सबके हितकारी बनें ॥६॥

परमेश्वर उपदेश करता है कि (देहि मे०) जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक-ठीक चलना है, यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है। जो वस्तु किसी से लेवें अथवा देवें, सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें। (नि मे धेहि, नि ते दधे) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूंगा, और तू मेरे साथ ऐसा करना, ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिये। (निहारं

१. मन्त्रे 'येषाम्' इति कर्मणां शेषत्वविवक्षया 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' (२।४।५२) इति षष्ठी। व्याख्याने तु कर्मणां शेषत्वाविवक्षया द्वितीया द्रष्टव्या।

२. मन्त्रे 'युष्मान्' इत्यर्थकं 'वः' पदं प्रथमपुरुषविषयके 'तान्' पदस्य स्थाने प्रयुक्तम् इति भावः। अत एवाहानुपदम्—'तान् पूर्वोक्तान्' इति।

३. निघण्टौ (४।१) 'शंयोः' पदनामसु पठितम्। तच्च 'शंयुः सुखंयुः' इत्येवं यास्केन (नि० ४।२१) व्याख्यातम्। तेन शयुपदान्तर्गतमपि 'शम्' पदं सुखार्थस्यैव वाचकम्। द्विरावृत्त्या च द्विविधं सांसारिकं पारमार्थिकं च सुखं ब्रवीति इति ग्रन्थकारस्याशयः। द्रष्टव्या १० पृष्ठस्था टि० २।

च हरासि मे नि०) यह वस्तु मेरे लिये तू दे वा तेरे लिये मैं दूंगा, इसको भी यथावत् पूरा करें। अर्थात् किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें। इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सबके हितकारी काम करते हैं, उनकी सदा उन्नति होती है ॥१०॥

(गृहा मा बिभीत०) हे गृहाश्रम की इच्छा करनेवाले मनुष्य लोगो! तुम लोग स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो, और उससे डरो व कंपो मत। किन्तु उससे बल पराक्रम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो। तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहाश्रम करूं ॥११॥

(येषामध्येति०) जिन घरों में बसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है, उनमें वे मनुष्य अपने सम्बन्धी मित्र बन्धु और आचार्य आदि का स्मरण करते हैं, और उन्हीं लोगों को विवाहादि शुभ कार्य्यों में सत्कार से बुलाकर उनसे यह इच्छा करते हैं कि ये सब हमको युवावस्था-युक्त और विवाहादि नियमों में भी ठीक-ठीक प्रतिज्ञा करनेवाले जानें, अर्थात् हमारे साक्षी हों ॥१२॥

(उपहू०) हे परमेश्वर! आपकी कृपा से हम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनन्द, बकरी और भेड़ आदि पदार्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त हों। तथा हमारे घरों में उत्तम रसयुक्त खाने-पीने के योग्य पदार्थ सदा बने रहें। 'वः' यह पद पुरुषव्यत्यय से सिद्ध होता है[1]। हम लोग उक्त पदार्थों को उनकी रक्षा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों। फिर उस प्राप्ति से हमको परमार्थ और संसार का सुख मिले। 'शंयोः [शम्]' यह निघण्टु में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम है ॥१३॥

—: इति गृहाश्रमविषयः संक्षेपतः :—

अथ वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति।

छान्दोग्य० प्र० २। खं० २३॥[2]

भाष्यम्— (त्रयो धर्म०) अत्र सर्वेष्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्त्रयः सन्ति। अध्ययनं,

१. युष्मदर्थक 'व': पद पुरुषव्यय से 'तान्' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह इस लेख का भाव है। इसीलिए अगले वाक्य में 'उक्त पदार्थों को' ऐसा निर्देश किया है।

२. छा० उ० २।२३।१॥

यज्ञः क्रियाकाण्डं, दानं च। तत्र प्रथमो[1] ब्रह्मचारी तपःसुशिक्षाधर्मानुष्ठानेनाचार्य्यकुले वसति। द्वितीयो गृहाश्रमी। तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात्,स वानप्रस्थाश्रमी। एते सर्वे ब्रह्मचर्य्यादयस्त्रय आश्रमा पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति, पुण्यानुष्ठानादेवाश्रमसंज्ञा[2] जायते, नान्यथेति॥

भाषार्थ—(त्रयो धर्म०) धर्म के तीन स्कन्ध हैं—एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना,तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना। तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्त धर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना, दूसरा आचार्यकुल में बसके विद्या पढ़ना, और तीसरा परमेश्वर का ठीक-ठीक विचार करके सब विद्याओं को जान लेना। इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है॥

[—ः इति वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः :—]

[3][अथ संन्यासाश्रमविषयः संक्षेपतः—]

ब्रह्मचर्य्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादि सम्यङ् निश्चित्य, गृहाश्रमेण तदनुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धिं च कृत्वा, ततो वनमेकान्तं गत्वा, सम्यक् सत्यासत्यवस्तुव्यवहारान् निश्चित्य, वानप्रस्थाश्रमं समाप्य सन्यासी भवेत्। अर्थात्—

'ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्'[4]—इत्येकः पक्षः।

'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा'[4]—अस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं संन्यासं गृह्णीयादिति द्वितीयः पक्षः।

'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'—सम्यग्ब्रह्मचर्य्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा संन्यासाश्रमं गृह्णीयादिति तृतीयः पक्षः।

सर्वत्रान्याश्रमविकल्प उक्तः, परन्तु ब्रह्मचर्याश्रमानुष्ठानं नित्यमेव कर्त्तव्यमित्यायाति। कुतः? ब्रह्मचर्य्याश्रमेण विनाऽन्याश्रमानुत्पत्तेः।

भाषार्थ—तथा संन्यासाश्रम के तीन पक्ष हैं। उनमें एक यह है कि जो विषयभोग किया चाहे, वह ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके संन्यास ग्रहण करे। दूसरा—'यदहरेव प्र०'

---

१. वै० य० मुद्रितेषु 'प्रथमे' इत्यपपाठः। उत्तरवाक्ययोः 'द्वितीयतृतीय' शब्दयोः प्रथमान्तयोरेव श्रवणात्, प्रमाणभागेऽपि तथैव दर्शनाच्च। २. वै० य० मुद्रितेषु 'आश्रमसंख्या' इत्यपपाठः, आश्रमशब्दार्थपरत्वाद् वाक्यस्य। ३. मूलपाठे संन्यासाश्रमविषयोऽपि वानप्रस्थेन सहैव निर्दिष्टः। संन्यासस्य पृथगाश्रमत्वात् (वै० य० मुद्रितेऽष्टमसंस्करणे संन्यासविषयः पृथक्त्वेनोट्टङ्कितः।) अत एवास्माभिरिहेदं कोष्ठान्तर्गतं वाक्यं परिबृंहितम्। ४. एतद्विषयेऽस्मत्संशोधिते संस्कारविधिसंस्करणे (रालाक्ट्रसं० ३) १६७ तमे पृष्ठे प्रथमा, ३०५ तमे पृष्ठे च द्वितीया टिप्पण्यवलोकनीया।

जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित हटकर ठीक-ठीक सत्यमार्ग में निश्चित हो जाय, उस समय गृहाश्रम से भी संन्यास हो सकता है। और तीसरा—जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे, तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले।

ब्रह्मसँस्थोऽमृतत्वमेति॥ छान्दो० प्रपा० २। खं० २३ ॥[1]

तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति। ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति॥ एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः॥

श० कां० १४। अ० ७। ब्रा० २ ॥[2]

भाष्यम्— (ब्रह्मसंस्थः) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः संन्यासी (अमृतत्वम्) (एति) प्राप्नोति॥

(तमेतं वेदा०) सर्व आश्रमिणो विशेषतः संन्यासिनस्तमेतं[3] परमेश्वरं सर्वभूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च वेत्तुम् इच्छन्ति। (ब्रह्मचर्येण०) ब्रह्मचर्य्येण, तपसा धर्मानुष्ठानेन, श्रद्धयाऽत्यन्तप्रेम्णा, यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति। प्रव्राजिनः संन्यासिन एतं[4] यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेप्सन्तः प्रव्रजन्ति संन्यासाश्रमं गृह्णन्ति। (एतद् ब्रह्म०) य एतदिच्छन्तः सन्तः पूर्वे अत्युत्तमा ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽनूचाना निश्शङ्काः पूर्णज्ञानिनोऽन्येषां शङ्कानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति, (ते ह स्म०) हेति स्फुटे, स्मेति स्मये, ते प्रोत्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति—वयं प्रजया किं करिष्यामः? किमपि नेत्यर्थः। येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो लोको दर्शनीयश्चास्ति।

एवं ते (पुत्रैषणायाश्च) पुत्रोत्पादनेच्छायाः (वित्तैषणायाश्च) जडधनप्राप्त्यनुष्ठानेच्छायाः (लोकैषणायाश्च) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्थाय) विरज्य (भिक्षाचर्य्यं च०) संन्यासाश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति। यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्त्येषणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति, यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवतीति विज्ञायते। तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रैषणावित्तैषणे[5] भवतः। यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्त्येषणेच्छास्ति, तस्यैतास्तिस्रो निवर्त्तन्ते। नैव ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद् भवितुमर्हति। यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठा-

१. छा० उ० २।२३।१॥
२. शत० १४।७।२।२५,२६॥
३. 'संन्यासिमतमेतं' इत्यपपाठो वै० य० मुद्रितेषु।
४. हस्तलेखे 'एतं' इत्येव शुद्धः पाठो दृश्यते। 'एनं' इति प्रथमसंस्करणेऽपपाठः।
५. 'पूर्वे पुत्रैषणालोकैषणे' इत्यपपाठो वै० य० मुद्रितेषु।

स्ति तस्यान्याः सर्वा प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति । [यः] सर्वान् मनुष्याननुगृह्णन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति, तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्यप्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मसंस्थः०) अर्थात् संन्यासी लोग मोक्षमार्ग को प्राप्त होते हैं ॥

(तमेतं०) और वेद को पढ़के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं, तथा (ब्रह्मच०) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धा, यज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जानके मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं, वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिये संन्यास लेते हैं। जो उनमें उत्तम पूर्ण विद्वान् हैं, वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के विना ब्रह्मचर्य्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं। और उनके उपदेश से जो पुत्र होते हैं, उन्हींको सबसे उत्तम मानकर 'पुत्रैषणा' अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की इच्छा, 'वित्तैषणा' अर्थात् धन का लोभ, 'लोकैषणा' अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड़के भिक्षाचरण करते हैं। अर्थात् सर्वगुरु सबके अतिथि होके विचरते हुए संसार को अज्ञानरूपी अन्धकार से छुड़ाके सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं ॥

'प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' इति शतपथे श्रुत्यक्षराणि[1] ॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते[2] तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥

मुण्डकोपनि० मुण्डके ३ । खं० १ । मं० १० ॥

भाष्यम्—(प्राजापत्या०) स च संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं कृत्वा, हृदये सर्वमेतन्निश्चित्य तस्यां (सर्ववेदसं) शिखासूत्रादिकं हुत्वा, मुनिर्मननशीलः सन् प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति ।

परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारो भवति, नाल्पविद्यानामिति । तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो, दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं, सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम् । किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं यद् बाह्यक्रियामयमस्ति, संन्यासिनां तन्न । सत्योपदेश एव संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः, देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम्, विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञो, ह्यज्ञेभ्यो ज्ञानदानं सर्वेषां भूतानामुपर्य्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः, सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्यता सत्योपदेशकरणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः । एवंलक्षणाः पञ्चमहायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम् । परन्त्वेकस्या-

---

१. माध्यन्दिनकाण्वशतपथयोरयं पाठो नोपलभ्यते । पुरा शतपथस्य पञ्चदश प्रभेदाः शाखाभेदेन प्रवृत्ता आसन् । तेष्वन्यतमे कस्मिंश्चिच्छतपथ इयं श्रुतिः स्यात् । वात्स्यायनकृते 'समारोपणाद्' (४।१।६१) इति सूत्रस्य न्यायभाष्येऽपीयं श्रुतिः किञ्चित् पाठभेदेनोद्ध्रियते । अत्र ६ । ३८ मनुवचनमप्यनुसन्धेयम् ।

२. वै० य० मुद्रितेषु 'जायते' इत्यपपाठः ।

द्वितीयस्य सर्वशक्तिमदादिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वेषामाश्रमिणामेकमेव भवतीत्ययं विशेषः ।।

(विशुद्धस०) शुद्धान्तःकरणो मनुष्यः (यं यं लोकं मनसा०) ध्यानेन संविभाति इच्छति, (कामयते यांश्च कामान्) यांश्च मनोरथानिच्छति, (तं तं लोकं तांश्च कामान्) जयते[1] प्राप्नोति । तस्मात् कारणाद् (भूतिकामः) ऐश्वर्यकामो मनुष्यः (आत्मज्ञं०) आत्मानं परमेश्वरं जानाति [यस्] तं संन्यासिनमेव सर्वदार्चयेत् सत्कुर्य्यात् । तस्यैव सङ्गेन सत्कारेण च मनुष्याणां सुखप्रदा लोकाः कामाश्च सिद्धा भवन्तीति । तद्भिन्नान् मिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान् पाषण्डिनः[2] कोऽपि नैवार्चयेत् । कुतः ? तेषां सत्कारस्य निष्फलत्वाद् दुःखफलत्वाच्चेति ।।

भाषार्थ—(प्राजापत्या०) अर्थात् इस इष्टि में शिखासूत्रादि का होम करके गृहस्थ आश्रम को छोड़के विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करे ।।

(यं यं लोक०) वह शुद्ध मन से जिस-जिस लोक और कामना की इच्छा करता है, वे सब उसकी सिद्ध हो जाती हैं । इसलिये जिसको ऐश्वर्य की इच्छा हो, वह आत्मज्ञ अर्थात् ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करे ।।

ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं । क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिये, और पूर्ण विद्या को पढ़कर उससे संसार की उन्नति करने के लिये गृहाश्रम भी अवश्य करें । तथा विद्या और संसार के उपकार के लिये एकान्त में बैठकर जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है, उसका ज्ञान अच्छी प्रकार करें, और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें । फिर उनके सब सन्देहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय कराने के लिये संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें । क्योंकि इसके विना संपूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन है ।

[—: **इति संन्यासाश्रमविषयः संक्षेपतः** :—]

इति वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

१. द्रष्टव्या पूर्वपृष्ठस्था द्वितीया टिप्पणी । २. एतद्विषये २७८ तमे पृष्ठे तृतीया टिप्पणी द्रष्टव्या ।

अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः

ये पञ्चमहायज्ञा मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः सन्ति, तेषां विधानं संक्षेपतोऽत्र लिखामः। तत्र ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकारः—साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च सर्वैः कर्त्तव्यम्। तत्राध्ययनाध्यापनक्रमो यादृशः पठनपाठनविषय उक्त[1] स्तादृशो ग्राह्यः। सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने[2] यादृश उक्तस्तादृशः कर्तव्यः। तथा अग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्त[3] स्तादृश एव कर्त्तव्यः।

अत्र ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ १ ॥

य० अ० ३। मं० १ ॥

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे। देवाँ२ऽ आ सादयादिह ॥ २ ॥

य० अ० २२। मं० १७ ॥

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य[4] दाता।

वसोर्वसोर्वसुदानं एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ ३ ॥

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य[4] दाता।

वसोर्वसोर्वसुदानं एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा[5] ऋधेम ॥ ४ ॥

अथर्व० कां० १९। अनु० ७। म० ३,४ ॥[6]

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकानिर्माणकालात् (१९३३ वि०) पूर्वं ग्रन्थकृता १९३२ वैक्रमाब्दे सत्यार्थप्रकाशस्य प्रथमसंस्करणं प्रकाशितमभूत्, तस्य तृतीयसमुल्लासे यः पठनपाठनविधिस्तमभिलक्ष्यायं संकेतो ज्ञेयः।

२. अयमपि संकेतः १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते 'सभाष्यसन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधिः' नाम्नि ग्रन्थे यः सन्ध्योपासनविधिर्लिखितस्तं प्रति वर्तते, न तु १९३४ वैक्रमाब्दे वाराणसीतः प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधिनाम्नि ग्रन्थे विद्यमानं सन्ध्योपासनविधिं प्रति। यतः १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशितः पञ्चमहायज्ञविधिग्रन्थस्त्वेतस्माद ग्रन्थाद् औत्तरकालिकः। एतद्विषयेऽस्माभिः 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नाम्नि ग्रन्थे ५६तमे पृष्ठे विस्तरेण लिखितं तत् तत्रैव द्रष्टव्यम्।

३. अयमपि संकेतः १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधिग्रन्थे प्रतिपादितदेवयज्ञविधानं प्रति वर्तते। ४ ~~लेखकप्रमादात् 'सोमनस्य' इत्यपपाठो~~ वै० य० मुद्रितेषूपलभ्यते। अपपाठत्वे चास्य अनुदात्तान्नकारात् परस्य 'स्य' शब्दस्य स्वरितत्वदर्शनात् स्पष्टमेव।

५. राथह्विटनीसंस्करणानुसारी पाठः, अन्यसंस्करणेषु 'शतंहिमा' इत्येवं पठ्यते, स स्वरदोषात् प्रमादजन्यः पाठः। ६. अथर्व० १९।५५।३,४॥

भाष्यम्—(समिधाग्निं०) हे मनुष्या ! वाय्वोषधिवृष्टिजलशुद्ध्या परोपकाराय (घृतैः) घृतादिभिश्शोधितैर्द्रव्यैः समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत, नित्यं प्रदीपयत। (अस्मिन्) अग्नौ (हव्या) होतुमर्हाणि पुष्टिमधुरसुगन्धरोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि (आ जुहोतन) आ समन्ताज्जुहुत। एवमग्निहोत्रं नित्यं (दुवस्यत) परिचरत। अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत ॥ १ ॥

(अग्निं दूतं) अग्निहोत्रकर्त्तैवमिच्छेदहं वायौ मेघमण्डले च भूतद्रव्यस्य[1] प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् (पुरो दधे) सम्मुखतः स्थापये। कथम्भूतमग्निं ? (हव्यवाहम्) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति हव्यवाट् तं (उपब्रुवे) अन्यान् जिज्ञासून् प्रत्युपदिशानि (देवां २ ॥ ०) सोऽग्निरेतदग्निहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेहास्मिन् संसार आसादयाद् आसमन्तात् प्रापयति।

यद्वा—हे परमेश्वर ! (दूतम्) सर्वेभ्यः सत्योपदेशकं (अग्निम्) अग्निसंज्ञकं त्वां (पुरो दधे) इष्टत्वेनोपास्यं मन्ये। तथा (हव्यवाहम्) ग्रहीतुं योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं तद् वहति प्रापयतीति तं त्वा (उपब्रुवे) उपदिशानि। स भवान् कृपया (इह) अस्मिन् संसारे (देवान्) दिव्यगुणान् (आसादयात्) आ समन्तात् प्रापयतु ॥ २ ॥

(नः) अस्माकमयं (अग्निः) भौतिकः परमेश्वरश्च (गृहपतिः०) गृहात्मपालकः प्रातःसायं[2] परिचरितः सूपासितश्च (सौमनसस्य[3] दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दातास्ति। तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च दातास्ति। अत एव परमेश्वरः 'वसुदानः' इति नाम्नाऽऽख्यायते। हे परमेश्वरैव भूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव। तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर ! एवं त्वा त्वामिन्धानाः प्रकाशमाना वयं (तन्वम्) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्य्याम। तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्यामः ॥३॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः। अत्र विशेषस्त्वयम्—एवमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः (शतहिमाः) शतं हिमा हेमन्तर्त्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत् स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्धेमहि। एवं कृतेन कर्मणा नोऽस्माकं कदाचिद्धानिर्न भवेदितीच्छामः ॥ ४ ॥

अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैकां वेदिं सम्पाद्य, काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च संगृह्य, तत्र वेद्यां पलाशाम्रादिसमिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य, तत्र पूर्वोक्तद्रव्यस्य[5] प्रातःसायङ्कालयोः प्रातरेव वोक्त[4]मन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्य्यात्।

---

१. भौतिकद्रव्यस्येत्यभिप्रायः। यद्वाऽत्र 'हव्यद्रव्यस्य' इत्येवं पाठो द्रष्टव्यः।

२. उभयोर्मन्त्रयोः समानार्थकभागयोरेकीकृत्यायं निर्देशः। अत एवोत्तरमन्त्रव्याख्याने तत्र विशिष्टपाठस्यैव ग्रन्थकृता व्याख्यानं कृतम्।

३. द्र०—पृष्ठ २८७, टि० ४। ४. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ५६।

५. पूर्वनिर्दिष्टे १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधाने देवयज्ञप्रकरणे ये मन्त्रा निर्दिष्टास्तान् प्रत्ययं संकेतो ज्ञेयः। अत एवेह 'उक्त' पदनिर्देशोऽवकल्पते। अस्मिन् ग्रन्थे त्वनुपदं वक्ष्यन्ते।

भाषार्थ—अब पञ्चमहायज्ञ अर्थात् जो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहियें, उनका विधान संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से प्रथम एक 'ब्रह्मयज्ञ' कहाता है, जिसमें अङ्गों के सहित वेदादिशास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना तथा सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातःकाल और सायङ्काल में ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। इनमें पठन-पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन-पाठन-विषय में विस्तारपूर्वक कह आये हैं[1] वहां देख लेना। तथा सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र का विधान जैसा 'पञ्चमहायज्ञविधि[2]' पुस्तक में लिख चुके है, वैसा जान लेना।

अब आगे ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का प्रमाण लिखते हैं—(समिधाग्निं०) हे मनुष्यो! तुम लोग वायु औषधी और वर्षाजल की शुद्धि से सबके उपकार के अर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं, और समिधा अर्थात् आम्र व ढाक आदि काष्ठों से अतिथिरूप अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो। फिर उस अग्नि में होम करने के योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित अर्थात् दुग्ध, घृत, शर्करा, गुड़, केशर[3], कस्तूरी आदि और रोगनाशक जो सोमलता आदि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं, उनका अच्छी प्रकार नित्य अग्निहोत्र करके सबका उपकार करो॥१॥

(अग्निं दूतं०) अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों के उपकार करनेवाले पदार्थों को पवन और मेघमण्डल में पहुंचाने के लिये अग्नि को सेवक की नाईं अपने सामने स्थापन करता हूं। क्योंकि वह अग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश में पहुंचानेवाला है इसी से उसका नाम 'हव्यवाट्' है। जो उस अग्निहोत्र को जा[न]ना चाहैं, उनको मैं उपदेश करता हूं कि वह अग्नि उस अग्निहोत्र कर्म्म से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से (इह) इस संसार में (देवां२॥०) श्रेष्ठ गुणों को पहुंचाता है।

दूसरा अर्थ[4]—हे सब प्राणियों को सत्य उपदेशकारक परमेश्वर! जो कि आप अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं, मैं इच्छापूर्वक आपको उपासना करने के योग्य मानता हूं। ऐसी कृपा करो कि आपको जानने की इच्छा करनेवालों के लिये भी मैं आपका शुभगुणयुक्त विशेषज्ञानदायक उपदेश करूं। तथा आप भी कृपा करके इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुंचावें॥२॥

---

१. यह संकेत वि० सं० १९३१ में प्रकाशित 'सत्यार्थप्रकाश' तृतीयसमुल्लास में निर्दिष्ट पठनपाठनविधि की ओर है।

२ यह संकेत भी वि० सं० १९३१ में प्रकाशित 'पञ्चमहायज्ञविधि' की ओर है। १९३४ में पुनः प्रकाशित संशोधित संस्करण भूमिका-लेखन के पश्चात् छपा है। द्र०—'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' पृष्ठ ५८।

३. प्रथम तथा अन्य कुछ संस्करणों में 'केशरि' अपपाठ है। उत्तर संस्करणों में पाठ शोधन कर देने पर भी वै० य० मुद्रित नवम संस्करण में पुनः 'केशरि' अपपाठ बनाकर 'केशर॥ सं०॥' ऐसी टिप्पणी दी है।

४. अग्निहोत्र प्रकरण में अध्यात्मपरक द्वितीय अर्थ लिखकर ग्रन्थकार ने यह दर्शाया है कि कर्मकाण्ड में याज्ञिक प्रक्रियानुसारी अर्थ का विषय होने पर भी कर्मकाण्ड के साथ अध्यात्मचिन्तन आवश्यक है। उसके विना शुष्क कर्मकाण्ड निष्प्रयोजन ही रहता है। कर्मकाण्ड और पदार्थज्ञानकाण्ड की समाप्ति भी अध्यात्मज्ञान में ही होती है। यही वेद का चरम लक्ष्य है, यह ग्रन्थकार ने बहुत स्थानों पर स्पष्ट किया है।

(सायंसायं०) प्रतिदिन प्रातःसायं[1] श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर, (सौमनसस्य दाता) आरोग्य आनन्द और वसु अर्थात् धन का देनेवाला है । इसीसे परमेश्वर (वसुदानः) अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है । हे परमेश्वर ! आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो । यहां भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने योग्य है । (वयं त्वे०) हे परमेश्वर ! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आपको मान करते हुए अपने शरीर से (पुषेम) पुष्ट होते हैं, वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुए पुष्ट हों ॥३॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो । परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि—अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्य्यन्त, अर्थात् सौ वर्षों तक धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों ॥४॥

अग्निहोत्र करने के लिये ताम्र वा मिटटी की वेदी बनाके काष्ठ चांदी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्यस्थाली अर्थात् घतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके, उस वेदी में ढाक वा आम्र आदि वृक्षों की समिधा स्थापन करके, अग्नि को प्रज्वलित करके, पूर्वोक्त पदार्थों का प्रातःकाल और सायङ्काल अथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें ।

अथाग्निहोत्रे होमकरणमन्त्राः—

सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा ॥ १ ॥

सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ २ ॥

ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या । जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥[2]

इति प्रातःकालमन्त्राः ॥

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥

अग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ २ ॥

अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रं मनसोच्चार्य्य तृतीयाहुतिर्देया ॥ ३ ॥

सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥[2]

इति सायङ्कालमन्त्राः ।

१. द्र०—संस्कृतपदार्थ । वै० य० मुद्रित में 'प्रात.काल' अपपाठ है ।

२. यजुः ३।९,१० मन्त्रयोः यथाकालं विनियोगः ।

भाष्यम्—(सूर्य्यो०) यश्चराचरात्मा, ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः, सूर्य्यः सर्व-प्राणः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजगदुपकारायैकाहुतिं दद्मः ।।१।।

(सूर्य्यो व०)यो वर्च्चः सर्वविदां ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां वर्च्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा सर्वात्मा सूर्य्यः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ।।२।।

(ज्योतिः सू०) यः स्वयम्प्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्य्यो जगदीश्वरोऽस्ति, तस्मै० ।।३।।

(सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्य्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्य्य-प्रकाशवत्योषसाऽथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोऽस्ति, सः (जुषाणः) सम्प्रीत्या वर्त्तमानः सन् (सूर्य्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् (वेतु) विद्यादिसद्गुणेषु जात-विज्ञानान् करोतु, तस्मै० ।।४।।

इमाश्चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्ति ।

अथ सायङ्कालाहुतयः— (अग्निर्ज्योतिः०) यो ज्ञानस्वरूपो ज्योतिषां ज्योतिरग्निः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ।।१।।

(अग्निर्वर्च्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ।।२।।

'अग्निर्ज्योतिर्' इत्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया । तदर्थश्च पूर्ववत् ।।४।।

(सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति, यश्चेन्द्रवत्या वायुचन्द्रवत्या रात्र्या सह वर्त्तते सोऽग्निः (जुषाणः) सम्प्रीतोऽस्मान् (वेतु) नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु, तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ।।४।।

एताभिः [आहुतिभिः] सायङ्कालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति, एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा[1] ।

भाषार्थ—(सूर्यो ज्यो०)जो चराचर का आत्मा, प्रकाशस्वरूप, और सूर्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करनेवाला है, उसकी प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं ।।१।।

(सूर्यो वर्च्चो०) सूर्य जो परमेश्वर है, वह हम लोगों को सब विद्याओं का देनेवाला, और हमसे उनका प्रचार करानेवाला है, उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं ।।२।।

(ज्योतिः सू०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करनेवाला सूर्य अर्थात् संसार का ईश्वर है, उसकी प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं ।।३।।

(सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और दिन के साथ संसार का परमहितकारक है, वह हम लोगों को विदित होकर हमारे किये हुए होम को ग्रहण करे ।।४।।

इन चार आहुतियों से प्रातःकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं ।

---

१. इतोऽग्रे वै० य० मुद्रितेषु सर्वसंस्करणेषु ~~'(सर्वं वै) हे परमेश्वर !……'~~ इत्यादिपाठ उपलभ्यते, स लेखकप्रमादाद् अस्थाने पतित इति कृत्वाऽस्माभिरयं पाठोऽग्रे 'सर्वं वै पूर्ण९ स्वाहा' मन्त्रप्रकरणे यथास्थानं नीतः । एवमेवेह 'तथैतरेय…… दर्शिताः' पाठोऽप्यस्थाने पठितोऽग्रे यथाप्रकरणं यथास्थानं प्रापितः ।

अब सायङ्काल की आहुति के मन्त्र कहते हैं—(अग्निर्ज्योर्ो०) अग्नि जो ज्योतिस्वरूप परमश्वर है, उसकी आज्ञा से हम लोग परोपकार के लिये होम करते हैं। और उसका रचा हुआ यह भौतिक अग्नि इसलिये है कि वह उन द्रव्यों को परमाणुरूप करके वायु और वर्षाजल के साथ मिलाके शुद्ध करदे। जिससे सब संसार को सुख और आरोग्यता की वृद्धि हो ॥१॥

(अग्निर्वर्च्चो०) अग्नि परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला, और भौतिक अग्नि आरोग्यता और बुद्धि का बढ़ानेवाला है। इसलिये हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं। यह दूसरी आहुति है ॥[२॥]

तीसरी मौन होके प्रथम मन्त्र से करनी ॥[३॥]

और चौथी (सजूर्देवेन०) जो अग्नि परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और रात्रि के साथ संसार का परमहितकारक है, वह हमको विदित होकर हमारे किये हुए होम का ग्रहण करे ॥[४॥]

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थाः समानमन्त्राः—

ओम्भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥१॥

ओम्भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥२॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥३॥

ओम्भूर्भुवःस्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥४॥

ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥५॥

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा ॥६॥

इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः[1]।

[2]तथैतरेयब्राह्मणे पञ्चमपञ्जिकायामेकत्रिंशत्तमायां कण्डिकायां च सायंप्रातरग्निहोत्रमन्त्रा 'भूर्भुवःस्वरोम्' इत्यादयो दर्शिताः।

भाष्यम्—एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीश्वरस्य नामान्येव वेद्यानि। एषामर्था गायत्र्यर्थे[3] द्रष्टव्याः।

१. द्र०—शिक्षावल्ली अनुवाक ५॥ २. अयं पाठो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु सायंकालिक-मन्त्रव्याख्यानानन्तरं पठ्यते। तस्य तत्र प्रयोजनाभावादस्थाने पाठ इति कृत्वेह यथास्थानमानीतः।

३. अयं संकेतः १९३१ वैक्रमाब्दे बम्बईनगरात् प्रकाशिते सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधाननाम्नि पुस्तके व्याख्यातस्य गायत्रीमन्त्रस्यार्थं प्रति वर्तते। अस्मिन् भूमिकाग्रन्थे यत्रापि पञ्चमहायज्ञविधानस्य निर्देशो वर्तते स १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशितं ग्रन्थं प्रत्येव वर्तते, न १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशितं पञ्चमहायज्ञविधिग्रन्थं प्रतीत्युक्तं पुरस्तात् (पृष्ठ २८७)। १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशितो ग्रन्थस्त्वेतत्प्रकरणलेखनानन्तरं प्राकाश्यं गत इति।

([1]सर्वं वै०) हे जगदीश्वर ! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते, तद्भवत्कृपयाऽलं भवत्विति हेतोरेतत् कर्म तुभ्यं समर्प्यते ।।

अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं दानं यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम्, ईश्वराज्ञापालनार्थं वा[2] । सुगन्धि-पुष्टि-मिष्ट-बुद्धिवृद्धि-शौर्य्य-धैर्य्य-बलरोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्धया पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव । अतस्तत्कर्मकर्तॄणां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमीश्वरानुग्रहश्च भवत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम् ।

भाषार्थ—इन मन्त्रों में जो भूः इत्यादि नाम हैं, वे ईश्वर के ही जानो । गायत्री मन्त्र के अर्थ[3] में इनके अर्थ कर दिये हैं ।

इस प्रकार प्रातःकाल और सायङ्काल सन्ध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों से होम करके अधिक होम करने की इच्छा हो, तो 'स्वाहा' शब्द अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से करे ।

जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ होत्र हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे 'अग्निहोत्र' कहते हैं । जो-जो केशर[4], कस्तूरी आदि सुगन्धि, घृत दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़ शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि बल तथा धैर्य्यवर्धक और [सोमलत्यादि] रोगनाशक पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उसी से सब जीवों को परम सुख होता है । इस कारण अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है, और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है । ऐसे-ऐसे लाभों के अर्थ अग्निहोत्र का करना अवश्य उचित है ।

—: इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः :—

अथ तृतीयः पितृयज्ञः—

तस्य द्वौ भेदौ स्तः—एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवान् ऋषीन् पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत् तर्पणम् । तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं

---

१. अयं पाठोऽपि पूर्ववत् वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु सायंकालिकमन्त्रव्याख्यानन्तरम् अस्थान उपलभ्यते । अस्माभिरयमत्र यथास्थानं प्रापितः । १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधौ त्वयं पाठो यथाप्रकरणमेवोपलभ्यते ।

२. 'ईश्वराज्ञापालनार्थं वा' इत्ययं पाठः १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधानेऽपि वर्तते, १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधौ नोपलभ्यते ।

३. यह संकेत १९३१ वैक्रमाब्द में बम्बई से प्रकाशित 'सन्ध्यादिसभाष्यपञ्चमहायज्ञविधान' ग्रन्थस्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ की ओर है । इस भूमिका ग्रन्थ में जहां-जहां भी 'पञ्चमहायज्ञविधान' का उल्लेख है, वह १९३१ वैक्रमाब्द में प्रकाशित ग्रन्थ की ओर है, यह हम पूर्व (पृष्ठ २८९) लिख चुके हैं, क्योंकि १९३४ में प्रकाशित पञ्चमहायज्ञविधि ग्रन्थ इस लेख (सं० १९३३) के पश्चात् छपा है ।

४. वै० य० मुद्रित कुछ संस्करणों में 'केशरि' अपपाठ है ।

वेदितव्यम् । तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत् कर्म संघटयते, नैव मृतकेषु । कुतः, तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात् । तदर्थकृतकर्मणः[1] प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च । तस्माद् विद्यमानाभिप्रायेणैतत् कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात् सर्वमेतत् कर्तुं शक्यत इति । तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति—देवाः, ऋषयः, पितरश्च । तत्र देवेषु प्रमाणम्—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ १ ॥ य० अ० १९ । मं० ३९ ॥

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत् सत्यम् । तस्मात् ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥[२॥]
श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ ॥[2]

विद्वांसो हि देवाः ॥ [३॥] श० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ६ ॥[3]

अर्थर्षिप्रमाणम्—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ १ ॥ य० अ० ३१ । मं० ९ ॥

अथ यदेवानुब्रूवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥ [२॥] श० कां० १ । अ० ७ । ब्रा० ५ ॥[4]

अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ [३॥] श० कां० १ । अ० ४ । ब्रा० ५ ॥[5]

भाष्यम्—(जातवेदः) हे परमेश्वर ! (मा) मां (पुनीहि) सर्वथा पवित्रं कुरु । भवन्निष्ठा भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं

१. तदर्थं कृतं तदर्थकृतम्, तदर्थकृतं च कर्म च तदर्थकृतकर्म, तस्य ।

२. शत० १।१।१।४,५॥ ३. शत० ३।७।३।१०॥ वै० य० मुद्रितेषु १-५ संस्करणेषु इह ब्राह्मणसंख्या ६ निर्दिश्यते । तथैव पञ्चमहायज्ञविधावपि दृश्यते, साऽसाध्वी । अत्र ३ संख्या साध्वी द्रष्टव्या । ६ संख्या तु प्रपाठकविभागानुरोधेन सम्भवति, परन्त्विह न प्रपाठकनिर्देशोऽपि त्वध्यायनिर्देशः क्रियते ।

४. शत० १।७।२।३॥ मूले ब्राह्मणस्य ५ संख्या तु प्रपाठकानुसारी द्रष्टव्या ।

५. शत० १।४।२।२।३॥ इह ब्राह्मणस्य ५ संख्याया निर्देशो न प्रपाठकानुसारी, न च अध्यायानुसारीत्युभवतो भ्रष्टो वर्तते ।

कुर्वन्तु । तथा (पुनन्तु मन०) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु । तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु ॥[१॥]

(द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः—देवो मनुष्यश्चेति । तत्र सत्यं चैवानृतं च कारणे स्तः । (सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं सत्यमानं सत्यकर्म तदेव देवा आश्रयन्ति । तथैवानृतवचनमनृतमानमनृतं कर्म चेति मनुष्याश्चेति । अत एव योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति, स देवः परिगण्यते । यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतमुपैति, स मनुष्यश्च । अतः सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्य्याच्च । यः सत्यव्रतो देवोऽस्ति, स एव यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च ॥ [२॥]

[(विद्वा०)] तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति ॥[३॥]

(तं यज्ञम्०) इति सृष्टिविद्याविषये व्याख्यातः[1] ॥[१॥]

(अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं सर्वविद्यां पठित्वा यदनुवचनमध्यापनं कर्मानुष्ठानमस्ति, तदृषिकृत्यं विज्ञायते । तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणैवर्षयः सेवनीया जायन्ते । यत्[2] तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेवाकर्तृभ्य एव सुखकारी भवति । यः सर्वविद्याविद् भूत्वाऽध्यापयति तमेवानूचानमृषिमाहुः ॥[२॥]

(अथार्षेयं प्रवृ०) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते । य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा[3]‡ नित्यं विद्यामधीते, स विद्वान् महावीर्यो भूत्वा यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति । तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्य्यम् ॥[३॥]

भाषार्थ—अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं । उसके दो भेद हैं—एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध । उनमें से जिस कर्म करके विद्वान्‌रूप देव ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, सो 'तर्पण' कहाता है । तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है, उसी को 'श्राद्ध' जानना चाहिये । यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मरे हुओं में नहीं । क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है, इसलिये उनकी सेवा नहीं हो सकती । तथा जो उनके लिये कोई पदार्थ दिया चाहे, वह भी उनको नहीं मिल सकता । इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम 'तर्पण' और 'श्राद्ध' वेदों में कहा है । क्योंकि सेवा करने के योग्य और सेवा करनेवाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है, दूसरे प्रकार से नहीं । सो तर्पण आदि कर्म से सत्कार करने के योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर । देवों में प्रमाण—

---

१. पूर्वत्र पृष्ठ १४३,१४४ । २. यदध्ययनाध्यापनाख्यं प्रियं कर्म य आचरन्तीत्यभिप्रायः ।

३. क्त्वापि च्छन्दसि (अष्टा० ७।१।३८) सूत्रे पुनः क्त्वाग्रहणात् योगविभागोऽत्र द्रष्टव्यः । तेन समासे ल्यब्भवति क्त्वा च इत्यर्थो ज्ञाप्यते ।

(पुनन्तु०) हे जातवेद परमेश्वर ! आप सब प्रकार से मुझे पवित्र कीजिये, और जो आपके उपासक आपकी आज्ञा पालते हैं, अथवा जो कि विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाते हैं वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें। और आपके दिये विशेष ज्ञान वा आपके विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) सब संसारी जीव आपकी कृपा से पवित्र होकर आनन्द में रहें [॥१॥]

(द्वयं वा०) दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञा[यें] होती हैं, अर्थात् एक देव और दूसरी मनुष्य। उनमें भेद होने के सत्य और झूठ दो कारण हैं ! (सत्यमेव०) जो कोई सत्यभाषण सत्यस्वीकार और सत्यकर्म करते हैं वे देव, तथा जो झूठ बोलते झूठ मानते और झूठ कर्म करते हैं, वे मनुष्य कहाते हैं। इसलिये झूठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना सबको उचित है। इस कारण से बुद्धिमान् लोग निरन्तर सत्य ही कहें मानें और करें। क्योंकि सत्यव्रत आचरण करनेवाले जो देव हैं, वे तो कीर्तिमानों में भी कीर्तिमान् होके सदा आनन्द में रहते हैं। परन्तु उनसे विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं ॥[२॥]

[(विद्वा०)] इससे सत्यधारी विद्वान् ही 'देव' कहाते हैं ॥[३॥]

[ऋषियों में प्रमाण—]

(त यज्ञं०) इस मन्त्र का व्याख्यान सृष्टिविद्याविषय में कर दिया है[1] ॥[१॥]

(अथ यदेवा०) जो सब विद्याओं को पढ़के औरों को पढ़ाना है, यह 'ऋषिकर्म' कहाता है। और उससे जितना कि मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण हो, उस सबकी निवृत्ति उनकी सेवा करने से होती है। इससे जो नित्य विद्यादान ग्रहण और सेवाकर्म करना है, वही परस्पर आनन्दकारक है। और यही व्यवहार निधिगोप अर्थात् विद्याकोष का रक्षक है ॥[२॥]

(अथार्षेयं प्रवृ०) विद्या पढ़के सबों को पढ़ानेवाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करनेवाला विद्वान् बहुपराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। इससे आर्षेय अर्थात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें ॥[३॥]

अत्र पितृष प्रमाणम्—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ १ ॥ य० अ० २। मं० ३४॥

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ २ ॥
य० अ० १९। मं० ५८॥

१. पूर्वत्र पृष्ठ १४४।

भाष्यम्—(ऊर्जं वहन्ती०)—सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येवं जानीयुश्चाज्ञापयेयुः[1]—(मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीनाचार्य्यादींश्च सर्वे यूयं (तर्पयत) सेवया प्रसन्नान् कुरुतेति। तथा (स्वधा स्थ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत। केन-केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह—(ऊर्जं०) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिताः प्रिया हृद्या अपः, (अमृतम्) अमृतात्मकमनेकविधं रसम्, (घृतम्) आज्यम्, (पयः) दुग्धं, (कीलालम्) संस्कारैः सम्पादितमनेकविधमन्नम्, (परिस्रुतम्) माक्षिकं मधु कालपक्वं फलादिकं च निवेद्य पितॄन् प्रसन्नान् कुर्य्यात्[2] ॥१॥

ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः, सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः, (अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतयाऽऽत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः, तथा होमकरणार्थं शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते (पितरः) विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति, (आयन्तु नः) ते अस्मत्समीपमागच्छन्तु, वयं च तत्सामीप्यं नित्यं गच्छेम। (पथिभिर्दे०) तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय 'हे पितरो! भवन्त आयन्तु' इत्युक्त्वा प्रीत्याऽऽसनादिकं निवेद्य नित्यं सत्कुर्य्याम। (अस्मिन्०) हे पितरोऽस्मिन् सत्काररूपे यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मदन्तो०) हर्षन्तोऽस्मान्‡ रक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तूपदिशन्तु ॥२॥

भाषार्थ—(ऊर्ज्जं वह०)—पिता वा स्वामी अपने पुत्र पौत्र स्त्री और नौकरों को इस प्रकार आज्ञा देवें कि—(तर्पयत मे०) जो-जो हमारे मान्य पिता पितामहादि माता मातामहादि और आचार्य तथा इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग, जो अवस्था वा ज्ञान में बड़े और मान्य करने योग्य हैं, तुम लोग उनकी (ऊर्जं०) उत्तम-उत्तम जल, (अमृतम्) रोगनाश करनेवाले उत्तम अन्न, (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो, कि जिससे वे प्रसन्न होके तुम लोगों को सदा विद्या देते रहें। क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे। (स्वधा स्थ०) और ऐसा विनय सदा रक्खो कि हे पूर्वोक्त पितर लोगो! आप हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से तृप्त हूजिये। और हम लोग जो-जो पदार्थ आप लोगों की इच्छा के अनुकूल निवेदन कर सकें, उन-उन की आज्ञा किया कीजिये। हम लोग मन वचन और कर्म से आपके सुख करने में स्थित हैं, आप किसी प्रकार का दुःख न पाइये। क्योंकि जैसे आप लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है, वैसे ही हमको भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये, कि जिससे हम लोगों को कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो ॥१॥

(आयन्तु नः०)—'पितृ' शब्द से सबके रक्षक श्रेष्ठस्वभाववाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है। क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है, वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं।

१. वै० य० मुद्रितेष्वाद्येषु संस्करणेषु 'आज्ञपेयुः' पाठः, श० मं० च 'आज्ञापेयुः' पाठः। 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' इति गणसूत्रात् (क्षीरत० १।५।४८) मारणादिभ्योऽन्यत्र मित्त्वाभावात् 'आज्ञापयेयुः' इति पदस्य साधुत्वं ज्ञेयम्। द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ २५६, पं० १०—'अहमाज्ञापयामि'।

२. वै० य० मुद्रितेषु 'कुर्यात्' अपपाठो मुद्रणप्रमादजो वा लेखकप्रमादजो वा द्रष्टव्यः। पूर्वत्र 'तर्पयत, कुरुत' इति लोटो मध्यमबहुवचनश्रवणादिहापि विधिलिङो मध्यमबहुवचनमेव मूलपाठः स्यात्, पूर्वपठितस्य 'यूयं' पदस्य संबन्धाच्च। तस्यैव लेखकप्रमादात् 'कुर्य्यात्' इति प्रथमैकवचने परिणतिः संजाता। एकवचनं चात्रासाधु इति कृत्वा पञ्चमहायज्ञविधौ 'कुर्युः' इत्येवं बहुवचने पाठः परिष्कृतः।

इसलिये जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उनके अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करनेवाले हैं, उनको 'पितर' कहते हैं। उनके सत्कार के लिये मनुष्यमात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है, कि वे उन आते हुए पितर लोगों को देखकर अभ्युत्थान अर्थात् उठके प्रीतिपूर्वक कहें कि—'आइये! बैठिये! कुछ जलपान कीजिये, और खाने-पीने को आज्ञा दीजिये। पश्चात् जो-जो बातें उपदेश करने के योग्य हैं, सो-सो प्रीतिपूर्वक समझाइये' कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्यायुक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें।

और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर! आपके अनुग्रह से (सोम्यासः) जो शान्तस्वभाव और सबको सुख देनेवाले विद्वान् लोग (अग्निष्वात्ताः) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुणवाले भौतिक अग्नि की अलग-अलग करनेवाली विद्युत्रूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं, वे इस विद्या और सेवायज्ञ में (स्वधया मदन्तः) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित होके (अवन्त्वस्मान्) हमारी सदा रक्षा करें। तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिये भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब-जब वे आवें, तब-तब उनको उत्थान नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रक्खें। तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से, निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें, और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें। ऐसे सब लोग छल और लोभादिरहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्यव्यवहार रक्खें। (पथिभिर्देवयानैः) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं—एक देवयान् और दूसरा पितृयान। अर्थात् जो विद्यामार्ग है वह देवयान, और जो कर्मोपासना मार्ग है वह पितृयान कहाता है। सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें ॥२॥

अत्र॑ पितरो मादयध्वं यथाभा॒गमावृ॑षायध्वम् ।
अमी॑मदन्त पि॒तरो॑ यथाभा॒गमावृ॑षायिषत ॥ ३ ॥

नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य॒ नमो॑ वः पितरः॒ शोषा॑य॒ नमो॑ वः पितरो॒ जीवा॑य॒ नमो॑ वः पितरः स्व॒धायै॒ नमो॑ वः पितरो॒ घोरा॑य॒ नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॒ नमो॑ वः पितरः॒ पित॑रो॒ नमो॑ वो गृ॒हान्नः॑ पितरो दत्त स॒तो वः॑ पितरो दे॒ष्मैतद्वः॑ पितरो॒ वासः॑ ॥ ४ ॥

आध॑त्त पितरो॒ गर्भं॑ कुमा॒रं पुष्क॑रस्रजम् । यथे॒ह पुरु॑षोऽस॑त् ॥ ५ ॥

य० अ० २। मं० ३१-३३ ॥

भाष्यम्—(अत्र पितरो०) हे पितरोऽत्रास्यां सभायां पाठशालायां वाऽस्मान् विद्याविज्ञानदानेनानन्दयुक्तान् कुरुत। (यथाभागम्) भजनीयं स्वं स्वं विद्यारूपं भागं (आवृषायध्वम्) विद्वद्वत् स्वीकृत्य (अमीमदन्त) अस्मिन् सत्योपदेशे विद्यादानकर्मणि हर्षेण सदोत्साहवन्तो भवत। (यथाभागमा०) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रसन्नाः सन्तो विचरत ॥ ३ ॥

(नमो वः०) हे पितरः ! रसाय सोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय, (नमो वः पितरः०) शोषायाग्निवायुविद्याप्राप्तये, (नमो वः पितरो जी०) जीवनार्थं विद्याजीविकाप्राप्तये, (नमो वः पितरः स्व०) मोक्षविद्याप्राप्तये, (नमो वः०) आपत्कालनिवारणाय, (नमो वः) दुष्टानामुपरि क्रोधधारणाय क्रोधस्य निवारणाय च, (नमो वः पितरः०) सर्वविद्याप्राप्तये च युष्मभ्यं वारं वारं नमोऽस्तु । (गृहान्न०) हे पितरः ! गृहान् गृहसम्बन्धिव्यवहारबोधान् नोऽस्मभ्यं यूयं दत्त । (सतो वः०) हे पितरः ! येऽस्माकमधिकारे विद्यमानाः पदार्थाः सन्ति, तान् वयं वो युष्मभ्यं (देष्म) दद्मो, यतो वयं कदाचिद् भवद्भ्यो विद्यां प्राप्य क्षीणा न भवेम । (एतद्वः पितरः०) हे पितरोऽस्माभिर्यद्वासो वस्त्रादिकं वस्तु युष्मभ्यं दीयते, एतद् यूयं प्रीत्या गृह्णीत ।। ४ ।।

(आधत्त पितरो०) हे पितरः ! यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत । तथा विद्यादानार्थं (पुष्करस्रजम्) पुष्पमालाधारिणं[1] (कुमारम्) ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत । (यथेह०) येन प्रकारेणेहास्मिन् संसारे विद्यासुशिक्षायुक्तः पुरुषोऽसत् स्यात् । येन च मनुष्येषूत्तमविद्योन्नतिर्भवेत्, तथैव प्रयतध्वम् ।। ५ ।।

भाषार्थ—(अत्र पितरो मा०) हे पितर लोगो ! आप यहां हमारे स्थान में आनन्द कीजिये । (यथाभागमावृ०) अपनी इच्छा के अनुकूल भोजनवस्त्रादि भोग से आनन्दित हूजिये । (अमीमदन्त पितरः) आप यहां विद्या के प्रचार से सबको आनन्दयुक्त कीजिये । (यथाभागमा) हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर अपनी प्रसन्नता के प्रकाश से हमको भी आनन्दित कीजिये ।।३।।

(नमो वः०) हे पितर लोगो ! हम लोग आपको नमस्कार करते हैं, इसलिये कि आपके द्वारा हमको रस अर्थात् विद्यानन्द, ओषधि और जलविद्या का यथावत् ज्ञान हो । तथा (नमो वः०) शोष अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या, कि जिससे ओषधि और जल सूख जाते हैं, उसके बोध होने के लिये भी हम आपको नमस्कार करते हैं । (नमो वः०) हे पितर लोगो! आपकी सत्यशिक्षा से हमलोग प्रमादरहित और जितेन्द्रिय होके पूर्ण उमर को भोगें । इसलिये हम आपको नमस्कार करते हैं । (नमो वः०) हे विद्वान् लोगो ! अमृतरूप मोक्षविद्या की प्राप्ति के लिये हम आपको नमस्कार करते हैं । (नमो०) हे पितरो ! घोर विपत् अर्थात् आपत्काल में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखों के पार उतरने के लिये हम लोग आपकी सेवा करते हैं । (नमो वः०) हे पितरो ! दुष्ट जीव और दुष्ट कर्मों पर नित्य अप्रीति करने की विद्या सीखने के लिये हम आपको नमस्कार करते हैं । (नमो वः०) हम आप लोगों को वारंवार नमस्कार इसलिये करते हैं कि गृहाश्रम आदि करने के लिये जो-जो विद्या अवश्य हैं, सो-सो सब आप लोग हमको देवें । (सतो वः०) हे पितर लोगो ! आप सब गुणों और सब संसारी सुखों के देनेवाले हैं । इसलिये हम लोग आपको उत्तम-उत्तम पदार्थ देते हैं, इनको आप प्रीति से लीजिये ।

१. ब्रह्मचारिणां स्रग्धारणं प्रतिषिद्धं धर्मशास्त्रेषु । तेनात्र लुप्तोपमया पुष्पमालेव यज्ञोपवीतमभिप्रेतं स्यात् । धर्मशास्त्रानुसारं यज्ञोपवीतमपि दैवकर्मव्यतिरिक्ते काले स्रगिव कण्ठे धार्यते । यथा सम्प्रति सर्वकालं यज्ञोपवीतं धार्यते तस्य केवलं दैवकर्मण्येव विधानं दृश्यते, न सार्वकालिकम् । भाषापदार्थोऽत्र स्पष्टः ।

तथा प्रतिष्ठा के लिये उत्तम-उत्तम वस्त्र भी देते हैं, इनको आप धारण कीजिये। और प्रसन्न होके सबके सुख के अर्थ संसार में सत्यविद्या का प्रचार कीजिये ॥४॥

(आधत्त पितरो०) हे विद्या के देनेवाले पितर लोगो ! इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रक्षा करके उत्तम विद्या दीजिये, कि जिससे वह विद्वान् होके (पुष्करस्र०) जैसे पुष्पों की माला धारण करके मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे। (यथेह पुरुषोऽसत्) अर्थात् जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि सद्गुणों से उत्तम कीर्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके, वैसा ही प्रयत्न सब आप लोग सदा कीजिये। यह ईश्वर की आज्ञा विद्वानों के प्रति है। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इसका पालन सदा करते रहें ॥५॥

ये स॒मा॒नाः सम॑नसो जी॒वा जी॒वेषु॑ माम॒काः ।
तेषा॑ᳬं श्रीर्मयि॑ कल्पताम॒स्मिँल्लो॒के श॒तᳬं समाः॑ ॥ ६ ॥ य० अ० १९ । मं० ४६ ॥

उदी॑रता॒मव॑र॒ऽ उत्परा॑स॒ऽ उन्म॑ध्य॒माः पि॒तरः॑ सो॒म्यासः॑ ।
असुं॒ यऽ ई॒युर॑वृ॒काऽ ऋ॑त॒ज्ञास्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥ ७ ॥

अङ्गि॑रसो नः पि॒तरो॒ नव॑ग्वा॒ऽ अथ॑र्वाणो॒ भृग॑वः सो॒म्यासः॑ ।
तेषां॑ व॒यᳬं सु॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒मपि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥ ८ ॥
य० अ० १९ । मं० ४९-५०॥

ये स॑मा॒नाः सम॑नसः पि॒तरो॑ यम॒राज्ये॑ ।
तेषां॑ लो॒कः स्व॒धा नमो॑ य॒ज्ञो दे॒वेषु॑ कल्पताम् ॥ ९ ॥ य० अ० १९ । मं० ४५ ॥

भाष्यम्—(ये समानाः०)—ये (मामकाः) मदीया आचार्य्यादयः, (जीवाः) विद्यमानजीवनाः, (समनसः) धर्मेश्वरसर्वमनुष्यहितकरणैकनिष्ठाः, (समानाः) धर्मेश्वरसत्यविद्यादिशुभगुणेषु समानत्वेन वर्त्तमानाः, (जीवेषु) उपदेश्येषु शिष्येषु सत्यविद्यादानाय छलादिदोषराहित्येन वर्त्तमाना विद्वांसः सन्ति, (तेषां०) विदुषां या श्रीः सत्यविद्यादिगुणाढ्या शोभास्ति, (अस्मिँल्लोके शतं०) सामयिकी लक्ष्मीः शतवर्षपर्य्यन्तं (कल्पताम्) स्थिरा भवतु। यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम ॥ ६ ॥

(उदीरतामवरे०) ये पितरोऽवकृष्टगुणाः, (उत्परासः) उत्कृष्टगुणाः, (उन्मध्यमाः) मध्यस्थगुणाः, (सोम्यासः) सोम्यगुणाः, (अवृकाः) अजातशत्रवः, (ऋतज्ञाः) ब्रह्मविदो वेदविदश्च, ते ज्ञानिनः पितरो (हवेषु) देयग्राह्यव्यवहारेषु विज्ञानदानेन (नोऽवन्तु) अस्मान् सदा रक्षन्तु। तथा (असुं य ईयुः) येऽसुं प्राणमीयुः प्राप्नुयुरर्थाद् द्वाभ्यां जन्मभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमान-

जीवनाऽऽस्युस्त एव सर्वैः सेवनीयाः, नैव मृताश्चेति। कुतः, तेषां देशान्तरप्राप्त्या सन्निकर्षाभावात् [ते][1] सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च ।। ७ ।।

(अङ्गिरसो नः०) येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः, (नवग्वाः) सर्वासु विद्यासूत्तमकर्मसु च नवीना गतयो येषां ते, [2][अत्राह निरुक्तकारः—अङ्गिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वा। (११।१९)।] (अथर्वाणः) अथर्ववेद विदो धनुर्वेदविदश्च, (भृगवः) परिपक्वज्ञानाः शुद्धाः, (सोम्यासः) शान्ताः सन्ति, (तेषां वय९ सुमतौ०) वयं तेषां यज्ञियानां[3] यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानाम्, अपीति निश्चयेन, सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे, (भद्रे) कल्याणकरे व्यवहारे, (सौमनसे) यत्र विद्यानन्दयुक्तं मनो भवति तस्मिन् (स्याम) अर्थाद् भवतां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेम ।। ८ ।।

(ये समानाः) (समनसः) अनयोरर्थ उक्तः[4]। ये (यमराज्ये) राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधिकृताः (पितरः) विद्वांसः सन्ति, (तेषां लोकः०) यो न्यायदर्शनं स्वधा अमृतात्मको लोको भवतीति, (यज्ञो०) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोऽस्ति, सोऽस्माकं मध्ये (कल्पताम्) समर्थतां प्रसिद्धो भवतु। य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति तेभ्यो (नमः) नमोऽस्तु। अर्थाद् ये सत्यन्यायाधीशास्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु ।। ९ ।।

भाषार्थ—(ये समानाः०) जो आचार्य्य (जीवाः) जीते हुए (समनसः) धर्म ईश्वर और सर्वहित करने में उद्यत, (समानाः) सत्यविद्यादि शुभगुणों के प्रचार में ठीक-ठीक विचार, और (जीवेषु) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्वविद्यादान के लिये छलकपटादिदोषरहित होकर प्रीति करनेवाले विद्वान् हैं, (तेषां०) उनकी जो श्री अर्थात् सत्यविद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्त शोभा और राज्यलक्ष्मी है, सो मेरे लिये (अस्मिल्लोके शतं समाः) इस लोक में १०० सौ वर्ष पर्य्यन्त रहे। जिससे हम लोग नित्य सुखसंयुक्त होके पुरुषार्थ करते रहें ।।६।।

(उदीरताम०) जो विद्वान् लोग (अवरे) कनिष्ठ (उन्मध्यमाः) मध्यम और (उत्परासः) उत्तम, (पितरः सोम्यासः) चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आनन्द करानेवाले, (असुं य ईयुः) प्राणविद्यानिधान, (अवृकाः) शत्रुरहित अर्थात् सब के प्रिय, पक्षपात छोड़के सत्यमार्ग में चलनेवाले, तथा (ऋतज्ञाः) जो कि ऋत अर्थात् ब्रह्म यथार्थ धर्म और सत्यविद्या के जाननेवाले हैं, (ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु) वे पितर लोग युद्धादि व्यवहारों में हमारे साथ होके अथवा उनकी विद्या देके हमारी रक्षा करें ।।७।।

---

१. अत्र वाक्यस्य सामञ्जस्याय 'ते' पदं प्रवर्धनीयम्। यद्वेह—सन्निकर्षाभावात् सेवाग्रहणेऽसमर्थत्वात् सेवितुमशक्यत्वाच्च' इत्येव पाठ ऊहनीयः।

२. इदं 'नवग्वाः' पदस्य व्याख्याने निरुक्तप्रमाणमिह लेखकप्रमादान्नष्टं स्यादिति प्रतीयते। यतो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु अग्रिमस्य 'ये नः पूर्वे०' इति दशममन्त्रस्य भाषार्थे प्रमाणमिदमुद्ध्रियते। वस्तुतः भाषार्थेऽपि तदस्थाने पठितम्, तस्मिन् मन्त्रे 'नवग्वाः' पदस्यादर्शनात्। तस्मात् स पाठोऽप्यस्यैव मन्त्रस्य भाषार्थे पठनीयः।

३. वै० य० मुद्रितेष्वाद्येषु संस्करणेषु 'यज्ञानां' इत्यपपाठः।

४. पूर्वत्रास्मिन्नेव सन्दर्भे 'ये समानाः समनसः' इत्यस्मिन् सप्तममन्त्रव्याख्याने।

(अङ्गिरसो नः) जो ब्रह्माण्डभर के पृथिव्यादि सब अङ्गों की मर्मविद्या के जाननेवाले, (नवग्वाः) नवीन-नवीन विद्याओं के ग्रहण करने और करानेवाले, [1]इसमें निरुक्तकार का प्रमाण अ० ११ खं १९ निरुक्त में लिखा है—**'अङ्गिरसो नवगतयो'** इत्यादि वहां देख लेना, (अथर्वाणः) अथर्ववेद और धनुर्वेदविद्या में चतुर, तथा दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण, (भृगवः) परिपक्वज्ञानी और तेजस्वो, (सोम्यासः) जो परमेश्वर की उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्तिस्वरूप,[2] (तेषां वयꣳ सुमतौ०) तथा यज्ञ के जानने और करनेवाले पितर हैं, तथा जिस कल्याणकारक विद्या से उनकी सुमति (भद्रे) कल्याण और (सौमनसे) मन की शुद्धि होती है, उनमें (अपि स्याम) हम लोग भी स्थिर हों, कि जिसके बोध से व्यवहार और परमार्थ के सुखों को प्राप्त होके सदा आनन्दित रहें ॥८॥

(ये समा०) जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग (यमराज्ये) अर्थात् परमेश्वर के इस राज्य में सभासद् वा न्यायाधीश होके न्याय करनेवाले, और (समनसः पितरः) सब सृष्टि के हित करने में समानबुद्धि हैं, (तेषां लोकः स्वधा) जिनका लोक अर्थात् देश सत्यन्याय को प्राप्त होके सुखी रहना है, (नमः) उनको हम लोग नमस्कार करते हैं। क्योंकि वे पक्षपातरहित होके, सत्य व्यवस्था में चलके अपने दृष्टान्त से औरों को भी उसी मार्ग में चलानेवाले हैं। (यज्ञो देवेषु कल्पताम्) यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालनरूप जो अश्वमेध यज्ञ है, सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की उन्नति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान बना रहे ॥९॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संꣳरराणो हवीꣳष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ १० ॥
बर्हिषदः पितरऽ ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
तऽ आ गतावसा शंतमेनाथा नः शं योररपो दधात ॥ ११ ॥
आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ२॥ऽ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्तऽ इहागमिष्ठाः ॥ १२ ॥

य० अ० १९ । मं० ५१,५५,५६ ॥

भाष्यम्—(ये सोम्यासः) सोमविद्यासम्पादिनः, (वसिष्ठाः) सर्वविद्यायुक्तगुणेष्वतिशयेन रममाणाः, (सोमपीथम्) सोमविद्यारक्षणं (अनूहिरे) पूर्वं सर्वा विद्याः पठित्वाऽध्याप्य तांस्ता अनुप्रापयन्ति, ते (नः पूर्वे पितरः) येऽस्माकं पूर्वे पितरः सन्ति, (तेभिः) तैः (उशद्भिः)

---

१. यहां से लेकर 'देख लेना' पर्यन्त पाठ वै० य० मुद्रित संस्करणों में अगले दशम मन्त्र के व्याख्यान के अन्त में मिलता है, वह यहां होना चाहिये। क्योंकि 'नवग्वाः' पद इस मन्त्र में पठित है, १०वें मन्त्र में यह पद नहीं है।

२. 'शान्तस्वरूप' पाठ युक्त प्रतीत होता है।

परमेश्वरं धर्मं च कामयमानैः पितृभिः सह समागमेनैव (सꣳरराणः) सत्यविद्यायाः सम्यग्दानकर्त्ता (यमः) सत्यविद्याऽव्यवस्थापकः परमेश्वरो विदितो भवति। किं कुर्वन्? (हवीꣳषि०) विज्ञानादीन्युशन् सर्वेभ्यो दातुं कामयन् सन्। अतः सर्वो जन एवमाचरन् सन् (प्रतिकाममत्तु) सर्वान् कामान् प्राप्नोतु ॥ १० ॥

(बर्हिषदः) ये बर्हिषि सर्वोत्तमे ब्रह्मणि विद्यायां च निषण्णास्ते (पितरः) विद्वांसः (अवसा शन्तमेन) अतिशयेन कल्याणरूपेण रक्षणेन सह वर्तमानाः (आगत) अस्माकं समीपमागच्छन्तु। आगतान् तान् प्रत्येवं वयं ब्रूमहे—हे विद्वांसः! यूयमागत्य (अर्वाक्) पश्चात् (इमा०) इमानि हव्यानि ग्राह्यदेयानि वस्तूनि (जुषध्वम्) सम्प्रीत्या सेवध्वम्। हे पितरः! वयं (ऊत्या) भवद्रक्षणेन (वः) युष्माकं सेवां (चकृम) नित्यं कुर्य्याम। (अथा नः श०) अथेति सेवाप्राप्तेरनन्तरं, यूयं नोऽस्माकम् शंयोर्विज्ञानरूपं सुखं दधात। किन्त्वविद्यारूपं पापं दूरीकृत्वा (अरपः) निष्पापतां दधात। येन वयमपि निष्पापा भवेमेति ॥ ११ ॥

(आहं पितॄन् सुविदत्राँ०)—ये बर्हिषदः (स्वधया) अन्नेन (सुतस्य) सोमवल्ल्यादिभ्यो निष्पादितस्य रसस्य प्राशनं (भजन्ते) सेवन्ते, (पित्वः) तत्पानं कृत्वा (त इहाग०) अस्मिन्नस्मत्सन्निहितदेशे ते पितर आगच्छन्तु। [(पितॄन्)] य ईदृशाः पितरः सन्ति तान् [(सुविदत्रान्)] विद्यादिशुभगुणानां दानकर्तॄनहं (आ अवित्सि) आ समन्ताद्वेद्मि। अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदमिडभावश्च। तान् विदित्वा सङ्गत्य च (विष्णोः) सर्वत्रव्यापकस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणं च) विविधक्रमेण जगद्रचनं, तथा (नपातं च) न विद्यते पातो विनाशो यस्य तन्मोक्षाख्यं पदं च वेद्मि। यत्प्राप्य मुक्तानां सद्यः[1] पातो न विद्यते, तदेतच्च विदुषां सङ्गेनैव प्राप्तं भवति। तस्मात् सर्वैर्विदुषां समागमः सदा कर्त्तव्य इति ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(ये नः पूर्वे पितरः०) जो कि हमारे पूर्व पितर अर्थात् पिता पितामह और अध्यापक लोग शान्तात्मा, तथा (अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) जो सोमपान के करने-कराने और वसिष्ठ अर्थात् सब विद्या में रमण करनेवाले हैं, (तेभिर्यमः सꣳर०) ऐसे महात्माओं के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्यायकारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है। हविः=जो सत्यभक्ति आदि पदार्थों की [(उशन्)] कामना और (उशद्भिः प्रतिका०) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करनेवाले, तथा जिनका आधारभूत परमेश्वर ही है, हे मनुष्य लोगो! ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सत्सङ्ग से तुम भी उसी परमात्मा के आनन्द से तृप्त हो[2] ॥१०॥

(बर्हिषदः पि०) जो ब्रह्म और सत्यविद्या में स्थित पितर लोग हैं, वे हमारी रक्षा के लिये सदा तत्पर रहें। इस प्रकार से कि हम लोग तो उनकी सेवा करें, और वे लोग हमको प्रीतिपूर्वक

१. एतेनैतत् स्पष्टं भवति, यद् यत्र यत्र मुक्तेर्नित्यत्वमुक्तं तत्र सर्वत्र सद्यः पाताभाव एव तस्य तात्पर्यम्।

२. वै० य० मुद्रित में इसके आगे "इसमें निरुक्तकार का प्रमाण अ० ११। खं० १९ निरुक्त में लिखा है—'अङ्गिरसो नवगतयो' इत्यादि लिखा है, वहाँ देख लेना" पाठ है। यह पाठ 'अङ्गिरसो न पितरो नवग्वा' इस ८ संख्यावाले मन्त्र के साथ संबन्ध रखता है, क्योंकि दशम मन्त्र में 'अङ्गिरसः' पद नहीं है। अतः यहां अस्थान में होने से हमने इसे पूर्वत्र यथास्थान रख दिया है।

विद्यादिदान से प्रसन्न कर देवें। (त आगतावसा०) हे पितर लोगो! हम काङ्क्षा करते हैं कि जब-जब आप हमारे वा हम आपके पास आवें-जावें, तब-तब (इमा [वो]हव्या) हम लोग उत्तम-उत्तम पदार्थों से आप लोगों की सेवा करें। और आप लोग भी उनको प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें। (अर्वा०) अर्थात् हम लोग तो अन्नादि पदार्थों से, और आप लोग (शंत०) हमारे कल्याणकारी गुणों के उपदेश से, (अथा न शंयोः) इसके पीछे हमारे कल्याण के विधान से (अरपः०) अर्थात् जिससे हम लोग पाप न करें, ऐसी बातों का धारण कराइये ॥११॥

(आहं पितॄन्०) मैं जानता हूं कि पितर लोग अपनी उत्तम विद्या और अपने उपदेश से सुख देनेवाले हैं। (नपातं च विक्रमणं च विष्णोः) जो मैं सबमें व्यापक परमेश्वर का विक्रमण, अर्थात् सृष्टि का रचन और नपात् अर्थात् उसके अविनाशी पद को भी (आ अवित्सि) ठीक-ठीक जानता हूं, (बर्हिषदो ये) यह ज्ञान मुझको उन्हीं पितर लोगों की कृपा से हुआ है, जिनको देवयान [तथा पितृयान] कहते हैं, और जिसकी प्राप्ति से जीव पुनर्दुःख में कभी नहीं गिरता, तथा जिसमें पूर्ण सुख प्राप्त होता है। उन दोनों मार्गों को भी मैं विद्वानों के ही संग से जानता हूं। (स्वध०) जो विद्वान् अपने अमृतरूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्यादान करते हैं, तथा उसमें आप भी (पित्वः०) आनन्दित होकर संसार में सब सुखों के देनेवाले होते हैं, वे सर्वहितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें, कि जिससे हम लोगों में नित्य ज्ञान की उन्नति हुआ करे ॥१२॥

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
तऽ आ गमन्तु तऽ इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेवन्त्वस्मान् ॥ १३ ॥
अग्निष्वात्ताः पितरऽ एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवीꣳषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिꣳ सर्ववीरं दधातन ॥ १४ ॥
येऽ अग्निष्वात्ता येऽ अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ १५ ॥

य० अ० १९। मं० ५७,५९,६० ॥

भाष्यम्—(सोम्यासः) ये प्रतिष्ठार्हाः पितरस्ते (बर्हिष्येषु) प्रकृष्टेषु (निधिषु) उत्तमवस्तुस्थापनार्हेषु (प्रियेषु) प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु (उपहूताः) निमन्त्रिताः सन्तः सीदन्तु, (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवारमागच्छन्तु। (त इह)त इहागत्यास्मत्प्रश्नान् (श्रुवन्तु) शृण्वन्तु, श्रुत्वा तदुत्तराणि (अधिब्रुवन्तु) कथयन्तु। एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन च (तेऽवन्त्वस्मान्) सदास्मान् रक्षन्तु ॥ १३ ॥

(अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत) हे पूर्वोक्ता अग्निष्वात्ताः पितरः! अस्मत्सन्निधौ प्रीत्या आगच्छत। आगत्य (सुप्रणीतयः) शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषां त एवम्भूता भवन्तः पूज्याः सन्तः (सदःसदः सदत) प्रतिगृहं प्रतिसभां चोपदेशार्थं स्थितिं भ्रमणं च कुरुत। (अत्ता हवींषि०)

प्रयत्नयुक्तानि कर्माणि, देययोग्यान्युत्तमान्नानि वा यूयं स्वीकुरुत। (बर्हिष्यथा) अथेत्यनन्तरं, बर्हिषि सदसि गृहे वा स्थित्वा (रयिं सर्ववीरं०) सर्वैर्वीरैर्युक्तं विद्यादिधनं यूयं दधातन। यतोऽस्मासु बुद्धिशरीरबलयुक्ता वीराः भवेयुः सत्यविद्याकोशश्च ॥ १४ ॥

(ये अग्निष्वात्ताः) ये अग्निविद्यायुक्ताः, (अनग्निष्वात्ताः) ये वायुजलभूगर्भादिविद्यानिष्ठाः (मध्ये दिवः) द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य सद्विद्याप्रकाशकस्य च मध्ये (स्वधया) अन्नविद्यया शरीरबुद्धिबलधारणेन च (मादयन्ते) आनन्दिता भूत्वा अस्मान् सर्वान् जनान् आनन्दयन्ति, (तेभ्यः) तेभ्यो विद्वद्भ्यो वयं नित्यं सद्विद्यां तथा (असुनीतिमेतां) सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिं च गृह्णीयाम। (यथावशम्) ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्त्या [1]सर्वोपकारेषु नियमेषु परतन्त्राः प्रत्येकप्रियेषु च स्वतन्त्रा भवन्तु। यतः (स्वराट्) स्वयं राजते प्रकाशते स्वान् राजयति प्रकाशयति वा स स्वराट् परमेश्वरः, (तन्वं कल्पयाति) तनुं विद्वच्छरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयाति, कल्पयतु निष्पादयतु। यतोऽस्माकं मध्ये बहवो विद्वांसो भवेयुः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(उपहूताः पितरः०) उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं कि वे हमारे समीप आके (बर्हिष्येषु०) उत्तम आसनों पर बैठकर, जो कि बहुमूल्य और देखने में प्रिय हों, हमको उपदेश करें। (त आगमन्तु) जब वे पितर आवें, तब सब लोग उनका इस प्रकार से सम्मान करें कि—आप आइये, उत्तम आसन पर बैठिये। (इह श्रुवन्तु) यहां हमारी विद्या की बातें और प्रश्न सुनिये। (अधिब्रुवन्तु०) इन प्रश्नों के उत्तर दीजिये, और मनुष्यों को ज्ञान देके उनकी रक्षा कीजिये ॥१३॥

(अग्निष्वात्ताः पितर एह०) हे अग्निविद्या के जाननेवाले पितर लोगो! आप उपदेशक होकर हमारे घरों में आकर उपदेश और निवास कीजिये। फिर वे पितर कैसे होने चाहियें कि—(सुप्रणीतयः) उत्तम-उत्तम गुणयुक्त होके (बर्हिषि०) सभा के बीच में सत्य-सत्य न्याय करनेहारे हों। तथा (हवी०) वे ही दान और ग्रहण के योग्य विद्यादि गुणों का दान और ग्रहण करनेवाले हों। (रयिं सर्ववीरं दधातन) विद्यादि जो उत्तम धन है, कि जिससे वीरपुरुषयुक्त सेना की प्राप्ति होती है, उसके उपदेश से हम को पुष्ट करें। ऐसे ही उन विद्वानों के प्रति भी ईश्वर का यह उपदेश है कि वे लोग देश-देश और घर-घर में जाके सब मनुष्यों को सत्यविद्या का उपदेश करें ॥ १४ ॥

(ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः) जो पितर अग्निविद्या और सोमविद्या के जाननेवाले, तथा (मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते) जो कि दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं, (तेभ्यः स्वराडसु०) उनके हितार्थ स्वराट्, जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है, वह असुनीति अर्थात् प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है। इसलिये हम प्रार्थना करते हैं कि (यथा-

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सर्वोपकारेषु नियमेषु स्वतन्त्राः, प्रत्येकप्रियेषु च परतन्त्रा भवन्तु' इत्यपपाठः। द्र०—आर्यसमाजस्य दशमो नियमः—'सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।'

वशं तन्वं कल्पयाति) हे परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से उनके शरीर सदा सुखी तेजस्वी और रोगरहित रखिये, कि जिससे हमको उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे ।।१५।।

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशꣳसे सोमपीथं यऽआशुः ।
ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ।। १६ ।।
ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ२।। ऽ उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञꣳ सुकृतं जुषस्व ।। १७ ।।
इदं पितृभ्यो नमोऽ अस्त्वद्य ये पूर्वासो यऽ उपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनꣳ सुवृजनासु विक्षु ।। १८ ।।

यजु० अ० १९ । ६१,६७,६८ ।।

भाष्यम्—(अग्निष्वात्ता०) हे मनुष्याः ! यथा वयं, ऋतुविद्यावतोऽर्थाद् यथासमयमुद्योगकारिणोऽग्निष्वा[त्ताः] पितरः सन्ति तान् (हवामहे) आह्वयामहे, तथैव युष्माभिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्य्यम् । (सोमपीथं य आशुः) ये सोमपानमश्नन्ति, ये च (नाराशꣳसे) नरैः प्रशस्येऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशलाः सन्ति, (ते नो विप्रासः) ते विप्रा मेधाविनो नोऽस्मान्[१] (सुहवा०) सुष्ठुतया ग्रहीतारो भवन्तु । (सोमपीथं०) ये सोमविद्यादानग्रहणाभ्यां तृप्ताः, एषां संगेन (वयꣳ स्याम पतयो०) सत्यविद्याचक्रवर्तिराज्यश्रीणां पतयः पालकाः स्वामिनो भवेम ।। १६ ।।

(ये चेह पितरो०) ये पितरो विद्वांस इहास्मत्सन्निधौ वर्तन्ते, ये चेहास्मत्समक्षे न सन्ति अर्थाद् देशान्तरे तिष्ठन्ति, (याँश्च विद्म) यान् वयं जानीमः, (याँ उ च न०) दूरदेशस्थितया यांश्च वयं न जानीमस्तान् सर्वान्, हे (जातवेदः) परमेश्वर ! (त्वं वेत्थ) त्वं यथावज्जानास्यतो भवान् तेषामस्माकं च सङ्गं निष्पादय[तु] । (स्वधा०) योऽस्माभिस्सुकृतः सम्यगनुष्ठितो यज्ञोऽस्ति, त्वं स्वधाभिरन्नाद्याभिः सामग्रीभिः सम्पादितं यज्ञं सदा जुषस्व सेवस्व । येनास्माकमभ्युदयनिःश्रेयसकरं क्रियाकाण्डं सम्यक् सिध्येत् । (यति ते) ये यावन्तः परोक्षा विद्यमाना विद्वांसः सन्ति, तानस्मान् प्रापय ।। १७ ।।

(इदं पितृभ्यः०) ये पितरोऽद्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्त्तन्ते, (पूर्वासः०) पूर्वमधीत्य विद्वांसः सन्ति, (ये पार्थिवे रजसि) ये च पृथिवीसम्बन्धिभूगर्भविद्यायां (आनिषत्ताः) आ समन्तान्निषण्णाः सन्ति, (ये वा नूनꣳ सु०) ये च सुष्ठुबलयुक्तासु प्रजासभाध्यक्षाः सभासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादिकर्मणे[२]ऽधिकृताः सन्ति, ते चास्मान् (ईयुः) प्राप्नुयुः । इत्थंभूतेभ्यः पितृभ्योऽस्माकमिदं सततं (नमोऽस्तु) ।। १८ ।।

१. शेषत्वविवक्षाभावे कर्मत्वम् ।
२. उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसीति नियमेन सम्प्रदानत्वविवक्षया चतुर्थी ।

भाषार्थ – (अग्निष्वात्तानृतुमतो०) हे मनुष्य लोगो ! जैसे हम लोग अग्निविद्या और समय-विद्या जाननेवाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं, वैसे ही तुम लोग भी उनके पास जाते और उनको अपने पास सदा बुलाते रहो, जिससे तुम्हारी सब दिन विद्या बढ़ती रहे। (नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः) जो सोमलतादि ओषधियों के रसपान तथा रक्षा से मनुष्यों को श्रेष्ठ करनेवाले हैं, उनसे हम लोग सत्यशिक्षा लेके आनन्दित हों । (ते नो विप्राः सुहवा०) वे विद्वान् लोग हमको सत्यविद्या का ग्रहण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहें।(वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम्) जिससे कि हम लोग सुविद्या से चक्रवर्ति राज्य की श्री आदि उत्तम पदार्थों को प्राप्त, तथा उनकी रक्षा और उन्नति करने में भी समर्थ हों ॥१६॥

(ये चेह पितरो०) हे जातवेद परमेश्वर ! जो पितर लोग हमारे समीप और दूर देश में हैं, (याँश्च विद्म) जिनको समीप होने से हम लोग जानते, और (याँ२।। उ च न प्रविद्म) जिन को दूर होने के कारण नहीं भी जानते हैं, (यति ते) जो इस संसार के बीच में वर्तमान हैं, (त्वं वेत्थ०) उन सबको आप यथावत् जानते हैं। कृपा करके उनका और हमारा परस्पर सम्बन्ध सदा के लिये कीजिये। (स्वधाभिर्यज्ञꣳ सुकृतं०) और आप अपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार और परमार्थरूप श्रेष्ठ यज्ञों को प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये, कि जिससे हम लोगों को सब सुख प्राप्त होते रहें ॥१७॥

(इदं पितृभ्यो न०) हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं, ([ये] अद्य पूर्वासो य उ परास ईयुः) जो कि प्रथम आप विद्वान् होके हम लोगों को भी विद्या देते हैं, अथवा जो कि विरक्त और संन्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते हैं। तथा (ये पार्थिवे राजस्या निषत्ताः) जो कि पार्थिव अर्थात् भूगर्भविद्या और सूर्यादि लोकों के जाननेवाले हैं। तथा (ये वा नूनꣳ सु०) जो कि निश्चय करके प्रजाओं के हित में उद्यत और उत्तम सेनाओं के बीच में बड़े चतुर हैं, उन सभों को हम लोग नमस्कार करते हैं, इसलिये कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहें ॥१८॥

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत ऽआ वह पितॄन् हविषेऽ अत्तवे ॥ १९ ॥ य० अ० १९ । मं० ७० ॥

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः [1]पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥ २० ॥

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ २१ ॥ य० अ० १९ । मं० ३६,३७ ॥

१. प्रथमसंस्करणेऽवसाननिर्देशेऽपि यथासंहितं साधुस्वरो निर्दिश्यते ।

भाष्यम्—(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे परमेश्वर ! वयं त्वां कामयमाना इष्टत्वेन हृदयाकाशे, न्यायाधीशत्वेन राष्ट्रे सदा स्थापयामः। (उशन्तः समिधिमहि) हे जगदीश्वर ! त्वां शृण्वन्तः श्रावयन्तः सम्यक् प्रकाशयेमहि। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—(हविषे अत्तवे) सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनाद्युत्तमपदार्थदानायानन्दभोगाय च। (उशन्नुशत आवह पितॄन्) सत्योपदेशाविद्याकामयमानान् कामयमानस्संस्त्वमस्मान् आवहासमन्तात् प्रापय ॥ १९ ॥

(पितृभ्यः०) स्वां स्वकीयाममृताख्यां मोक्षविद्यां कर्त्तुं शीलं येषां, तेभ्यो वसुसंज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो जनकेभ्यश्च (स्वधा०) अन्नाद्युत्तमवस्तु दद्मः। ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते [1]वसुसंज्ञकाः। (पितामहेभ्यः०) ये चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ते पितामहाः, (प्रपितामहेभ्य०) येऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षप्रमितेन ब्रह्मचर्येण विद्यापारावारं प्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्या, अर्थात् सत्यविद्याद्योतकाः, (नमः) तेभ्योऽस्माकं सततं नमोऽस्तु। (अक्षन् पितरः०) हे पितरः ! भवन्तोऽक्षन्नत्रैव भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन्। 'अमीमदन्त पितरः' इति पूर्वं व्याख्यातम्[2]। (अतीतृपन्त पितरः) हे पितरोऽस्मत्सेवयाऽऽनन्दिता भूत्वा तृप्ता भवत। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरः ! यूयमुपदेशेनाविद्यादिदोषविनाशादस्मान् शुन्धध्वं पवित्रान् कुरुत। [3]अत्र पुरुषो वाव यज्ञः[4] इत्याकारकेण छान्दोग्योपनिषत्प्रमाणेन विदुषां वसुरुद्रादित्यसंज्ञा वेदितव्याः ॥ २० ॥

(पुनन्तु मा पितरः) भो पितरः पितामहाः प्रपितामहाश्च ! भवन्तो मां मनःकर्मवचनद्वारा वारंवारं पुनन्तु, पवित्रव्यवहारकारिणं कुर्वन्तु। केन पुनन्त्वित्याह—(पवित्रेण) पवित्रकर्मानुष्ठानकरणोपदेशेन, (शतायुषा) शतवर्षपर्य्यन्तजीवननिमित्तेन ब्रह्मचर्य्येण मां पुनन्तु। अग्रे पुनन्त्विति क्रियात्रयं योजनीयम्। येनाहं (विश्वमायुर्व्यश्नवै) सम्पूर्णमायुः प्राप्नुयाम् ॥२१॥

भाषार्थ—(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे अग्ने परमेश्वर ! हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आपको अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित, और (उशन्तः समिधीमहि) आप का ही सर्वत्र प्रकाश करते रहें। (उशन्नुशत आवह पितॄन्) हे भगवन् ! आप हमारे कल्याण के अर्थ पूर्वोक्त पितरों को नित्य प्राप्त कीजिये, कि (हविषे अत्तवे) हम लोग उनकी सेवा में विद्या लेने के लिए स्थिर रहें ॥ १९ ॥

(पितृभ्यः स्वधा०) जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या पढ़के सबको पढ़ाते हैं, उन पितरों को हमारा नमस्कार है। (पितामहेभ्यः०) जो चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम से वेदादि विद्याओं को पढ़के सबके उपकारी और अमृतरूप ज्ञान के देनेवाले होते हैं, (प्रपिता-

---

१. द्रष्टव्यम्—वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्। प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥ मनु० ३।२८४॥

२. पूर्वत्र 'अत्र पितरः' इति व्याख्याने, पृष्ठ २९८।

३. अयं पाठो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु उत्तरमन्त्रव्याख्यानान्ते 'प्राप्नुयाम्' पदात् परमुपलभ्यते। तत्र वस्त्रादिपदानां संबन्धाभावादिह प्रकरणे यथास्थानमानीतः, भाषार्थस्तु इहैवोपलभ्यते।

४. छा० उ० ३। १६ ॥

महेभ्यः०) जो अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त जितेन्द्रियता के साथ सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़के हस्तक्रियाओं से भी सब विद्या के दृष्टान्त साक्षात् देखके दिखलाते, और जो सबके सुखी होने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं, उनका मान भी सब लोगों को करना उचित है।

पिताओं का नाम वसु है, क्योंकि वे सब विद्याओं में वास करने के लिये योग्य होते हैं। ऐसे ही पितामहों का नाम रुद्र है, क्योंकि वे वसुसंज्ञक पितरों से दूनी अथवा शतगुणी विद्या **और** बलवाले होते हैं। तथा प्रपितामहों का नाम आदित्य है, क्योंकि वे सब विद्याओं और सब गुणों में सूर्य्य के समान प्रकाशमान होके, सब विद्या और लोगों को प्रकाशमान करते हैं। इन तीनों का नाम वसु रुद्र और आदित्य इसलिये है कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्यों में रहने नहीं देते। इसमें **'पुरुषो वाव यज्ञः०'** यह छान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण लिख दिया है, सो देख लेना।

(अक्षन् पितरः) हे पितर लोगो ! तुम विद्यारूप यज्ञ को फैलाके सुख भोगो। तथा (अमीमदन्त पितरः) हमारी सेवा से अत्यन्त प्रसन्न रहो। (अतीतृपन्त पितरः) हमारी सेवा से तृप्त होकर हमको भी आनन्दित और तृप्त करते रहो। तथा जिस पदार्थ को तुम चाहो, अथवा हम आपकी सेवा में भूलें, तो आप लोग हमको शिक्षा करो। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितर लोगो ! आप हमको धर्मोपदेश और सत्य विद्याओं से शुद्ध करें कि जिससे हम लोग आपके साथ मिलके सनातन परमात्मा की भक्ति अपनी शुद्धि के अर्थ प्रेम [से] करें॥ २०॥

(पुनन्तु मा पितरः०) जो पितर लोग शान्तात्मा और दयालु हैं, वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें। (पुनन्तु मा पितामहाः०) इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह भी मुझको अपनी उत्तम विद्या पढ़ाके पवित्र करें। इसलिए कि उनकी शिक्षा को सुनके ब्रह्मचर्य्य धारण करने से सौ वर्ष पर्य्यन्त आनन्दयुक्त उमर होती रहे। इस मन्त्र में दो वार पाठ केवल आदर के लिये है॥ २१॥

इत्यादि अन्य मन्त्र भी इन्हीं विषयों के पुष्टिकारक हैं। उन सभी का अर्थ सर्वत्र इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये। तथा जहां-कहीं अमावास्या में पितृयज्ञ करना लिखा है, वहां भी इसी अभिप्राय से है कि जो कदाचित् नित्य उनकी सेवा न बन सके, तो महीने-महीने अर्थात् अमावास्या में मासेष्टि होती है, उसमें उन लोगों को बुलाके अवश्य सत्कार करें।

—: इति पितृयज्ञः समाप्तः :—

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते—

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं[1] भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्—

---

१. क्षारलवणरहितमित्यर्थः। क्षारशब्देन 'हैडम्बिका राजमाषा माषा मुद्गा मसूरिका। लङ्क्याढक्याश्च निष्पावास्तिलाद्याः क्षारसंज्ञिताः।' (आश्व० गृह्य गार्ग्यनारायण टीका १।८।१०) इति वचनेन धान्यविशेषा गृह्यन्ते। अपरे पुनः सर्जिकादिक्षारान् क्षारशब्देन गृह्णन्ति। सर्जिकादीनां लवणान्तर्भावात् धान्यविशेषाणामेव क्षारशब्देन ग्रहणं न्याय्यम्।

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्य्याद् देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥१॥ मनुस्मृतौ अ० ३ । श्लोकः ८४ ॥

[भाषार्थ—अब बलिवैश्वदेव की विधि लिखी जाती है। जो घर में पका हुआ क्षार[1] लवण से रहित अन्न है, उससे बलिवैश्वदेव कर्म करना चाहिये। जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो, उससे विधिपूर्वक नीचे लिखे मन्त्रों से देवताओं के लिए होम करना चाहिए।]

अत्र बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम्—

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ १ ॥
अथर्व० कां १९ । अनु० ७ । मं० ७ ॥[2]

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा[3] ॥२॥ य० अ० १९ । मं० ३९ ॥

भाष्यम्—(अग्ने) हे परमेश्वर ! (ते) तुभ्यं त्वदाज्ञापालनार्थं (इत्) एव (तिष्ठतेऽश्वाय घासम्) यथाऽश्वस्याग्रे पुष्कलः पदार्थः स्थाप्यते, (इव) तथैव (अहरहः) नित्यं प्रति (बलि हरन्तः) भौतिकमग्निमतिथींश्च बलीन् प्रापयन्तः, (समिषा) सम्यगिष्यते या सा समित् तया श्रद्धया, (रायस्पोषेण) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्या (मदन्तः) हर्षन्तो वयं, (अग्ने) हे परमात्मन् ! (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतिकूला भूत्वा सृष्टिस्थान् प्राणिनः (मा रिषाम) मा पीडयेम। किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा अस्माकं मित्राणि सन्तु। सर्वेषां च वयं सखायः स्म इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यमुपकारं कुर्य्याम ॥१॥

(पुनन्तु मा०) अस्य मन्त्रस्यार्थस्तर्पणविषय उक्तः[4] ॥[२॥]

भाषार्थ—(अग्ने०) हे परमेश्वर ! जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़े के आगे रखते हैं, वैसे ही आपकी आज्ञापालन के लिये (अहरहः०) प्रतिदिन भौतिक अग्नि में होम करते, और अतिथियों को (बलि०) अर्थात् भोजन देते हुए हम लोग अच्छी प्रकार वाञ्छित चक्रवर्त्ति राज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त होके (अग्ने) हे परमात्मन् ! (प्रतिवेशाः) आपकी आज्ञा से

१. क्षार शब्द से राजमाष माष (=उड़द) मूंग मसूर अरहर तिल आदि धान्यों का ग्रहण होता है।

२. अथर्व १९।५५।७॥ द्रष्टव्य राथह्विटनी-संस्करणम्।

३ वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु मन्त्रान्ते 'स्वाहा' पदमपि पठ्यते। सोऽत्र प्रमादपाठः स्वराभावात्,अनावश्यकत्वात् पूर्वत्र (पृष्ठ २९४) मन्त्रपाठेऽदर्शनात्। इत एव संक्षिप्य संगृहीते पञ्चमहायज्ञविधिप्रकरणेऽपि स्वाहापदस्यादर्शनाच्च।

४ पूर्वत्र पृष्ठ २९४,२९५ ॥

उलटे होके आपके उत्पन्न किये हुए प्राणियों को (मा रिषाम) अन्याय से दुःख कभी न देवें। किन्तु आपकी कृपा से सब जीव हमारे मित्र, और हम सब जीवों के मित्र रहें। ऐसा जानकर परस्पर उपकार सदा करते रहें ।१॥

(पुनन्तु मा०) इस मन्त्र का अर्थ तर्पणविषय (पृष्ठ २९६) में कह दिया है ॥२॥

ओमग्नये	**स्वाहा ॥ [१॥]**	**ओं सोमाय**	**स्वाहा ॥ [२॥]**
ओमग्नीषोमाभ्यां	**स्वाहा ॥ [३॥]**	**ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः**	**स्वाहा ॥ [४॥]**
ओं धन्वन्तरये	**स्वाहा ॥ [५॥]**	**ओं कुह्वै**	**स्वाहा ॥ [६॥]**
ओमनुमत्यै	**स्वाहा ॥ [७॥]**	**ओं प्रजापतये**	**स्वाहा ॥ [८॥]**
ओं सह[1] द्यावापृथिवीभ्यां	**स्वाहा ॥ [९॥]**	**ओं स्विष्टकृते[2]**	**स्वाहा ॥ [१०॥][3]**

भाष्यम्—(ओम०) अग्न्यर्थ उक्तः[4]। (ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः। (ओमग्नी०) प्राणापानाभ्याम्, अनयोरर्थो गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः[5]। (ओं वि०) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः सर्वे विद्वांसो वा। (ओं ध०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते। (ओं कु०) दर्शेष्टयर्थोऽयमारम्भः, अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा। (ओम०) पौर्णमास्येष्टयर्थोऽयमारम्भः, विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः साऽनुमतिर्वा तस्यै। (ओं० प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः। (ओं सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा ग्राह्याः, एतदर्थोऽयमारम्भः। (ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः ॥[१-१०॥]

एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिप्रदानं कुर्य्यात्—

भाषार्थ—(ओम०) अग्नि शब्द का अर्थ पीछे कह आये हैं[6]। (ओं सो०) अर्थात् सब पदार्थों को उत्पन्न पुष्ट करने और सुख देनेवाला। (ओम०) जो सब प्राणियों के जीवन का

---

१. पञ्चमहायज्ञविधेः संशोधिते संस्करणे (इत एवोद्धृते पाठे) 'सह' पदं दृश्यते। संस्कारविधेः द्वितीयतृतीयचतुर्थसंस्करणेषु 'स्वाहा' पदं नोपलभ्यते। मनुस्मृतेः ३।८६ श्लोकानुसारं तद्व्याख्यानुसारं च 'सह' पदं तत्र मन्त्रावयवरूपेण नाश्रीयते।

२. यद्यपि मनुस्मृतौ (३।८६) केवलं 'स्विष्टकृत्' पदमेव श्रूयते, तथापि तस्याग्नेर्विशेषणरूपेण प्रसिद्धत्वात् विशेष्यपदमाक्षिप्य 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इत्येवं मन्त्रपाठेन भाव्यम्। मनुव्याख्याकाराणामप्ययमेवाभिप्रायः।

३. मनु० ३।८५,८६ श्लोकयोराधारेणोहिता इमे मन्त्राः ज्ञेयाः।

४. अत्र 'उक्तः' इत्येवंरूपो यः संकेतः स प्रायेण १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशितं 'सन्ध्योपासनादिपञ्चयज्ञविधानं' लक्ष्यीकृत्य प्रयुक्तः। तदेव पञ्चयज्ञविधानं १९३४ वैक्रमाब्दे पुनः संस्कृत्य प्रकाशितमित्यतस्तत्राप्ययमर्थ उपलभ्यते। अतोऽत्रोभयोः संस्करणयोरिह पृष्ठसंख्यानिर्देशः करिष्यते। संपंमवि० (१९३१) पृष्ठ १३, पंमवि० (१९३४) पृष्ठ २८ (रा० ला० क० ट्र० सं० ९)।

५. संपंमवि० पृष्ठ १४; पंमवि० पृष्ठ २९ ॥

६. सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधान (सं० १९३१) पृष्ठ १३, पञ्चमहायज्ञविधि (सं० १९३४) पृष्ठ २८ (रा० ला० क०ट्र० सं० ९)।

हेतु प्राण तथा जो दुःखनाश का हेतु अपान। (ओं वि०) संसार के प्रकाश करनेवाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोग। (ओं घ०) जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेवाला परमात्मा। (ओं कु०) अमावास्येष्टि का करना। (ओम०) पौर्णमासेष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चितिशक्ति। (ओं प्र०) सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर। (ओं स०) सत्यविद्या के प्रकाश के लिये पृथिवी का राज्य, और अग्नि तथा भूमि से अनेक उपकारों का ग्रहण। (ओं स्वि०) इष्ट सुख का करनेवाला परमेश्वर। इन दश मन्त्रों के अर्थों से ये १० प्रयोजन जान लेना ॥[१-१०॥]

अब आगे बलिप्रदान[1] के मन्त्र लिखते हैं—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ १ ॥ ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ २ ॥
ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ ३ ॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ ४ ॥
ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ ५ ॥ ओमद्भ्यो नमः ॥ ६ ॥
ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ ७ ॥ ओं श्रियै नमः ॥ ८ ॥
ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ ९ ॥ ओं ब्रह्मपतये नमः ॥ १० ॥
ओं वास्तुपतये नमः ॥ ११ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ १२ ॥
ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः[1] ॥ १३ ॥ ओं नक्तंचारिभ्यो [भूतेभ्यो] नमः[2] ॥ १४ ॥
ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ १५ ॥ ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥१६॥[3]

—: इति नित्यश्राद्धम् :—

भाष्यम्—(ओं सा०) 'णम प्रह्वत्वे शब्दे'[4] इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम्। नित्यैर्गुणैः सह वर्त्तमानः परमैश्वर्यवानीश्वरोऽत्र गृह्यते ॥ (ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः ॥ (ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः ॥ (ओं सानुगाय०) अस्यार्थ उक्तः[5] ॥ (ओं म०) य ईश्वरा-

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'बलिदान' अपपाठ है। संस्कृत में 'वलिप्रदान' शुद्ध शब्द प्रयुक्त है।

२. मनुस्मृतेः ३।९० श्लोकानुसारं 'दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः' इत्यनेनाहनि, 'नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः' इत्यनेन रात्रौ भागः प्रदेयः। द्र०—आश्व० गृ० १।२।८,९ ॥ इह भूमिकापाठे १४शे मन्त्रे 'भूतेभ्यो' इत्यंशस्त्रुटितो लेखकप्रमादन्मुद्रणप्रमादाद्वा। संस्कारविधौ (पृष्ठ २५९ रा० ला० क० ट्र० सं० ३), सत्यार्थप्रकाशे (समु० ४, पृष्ठ १४८, रा०ला०क०ट्र० सं०) च दृश्यते।

३. इमे मन्त्रा मनुस्मृते ३।८७-९१ श्लोकानामाधारेण ऊहिताः। संस्कारविधौ (पृष्ठ २५८,२५९), सत्यार्थप्रकाशे (समु० ४, पृष्ठ १४८ रा०ला०क०ट्र० सं०) चैभिर्मन्त्रैः पूर्वादिषु दिक्षु भागस्थापनमुक्तम्।

४. क्षीरतरङ्गिणी १।७०९ ॥

५. पूर्वत्र ३११ पृष्ठे सोमशब्दार्थः।

धारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते मरुतः ।। (ओम०) अस्यार्थः 'शन्नो देवी'रित्यत्रोक्तः[1] । (ओं वन०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरोत्पादिता[2] वायुमेघादयः पदार्था अत्र ग्राह्याः । यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चोपकारग्रहणं सदा कार्यमिति बोध्यम् ।। (ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सा श्रीरीश्वरः सर्वसुखशोभावत्वात् । यद्वेश्वरेणोत्पादिता विश्वशोभा च ।। (ओं भ०) या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति सा भद्रकालीश्वरशक्तिः ।। (ओं ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः ।। (ओं वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशम्‡ तत्पतिरीश्वरः ।। (ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः[3] ।। (ओं दिवा०), (ओं नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेन्नः दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च तानि विघ्नं मा कुर्वन्तु, तैः सहाविरोधोऽस्तु नः, एतदर्थोऽयमारम्भः ।। (ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरोऽत्र ग्राह्यः ।। (ओं पि०) अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे[4] । नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामान्य‡ज्ञापनार्थश्चारम्भः ।। [१-१६।।]

भाषार्थ—(ओं सानु०) सर्वैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर और उसके गुण। (ओं सा०) सत्यन्याय करनेवाला, और उसकी सृष्टि में सत्यन्याय के करनेवाले सभासद्। (ओं सा०) सबसे उत्तम परमात्मा, और उसके धार्मिक भक्तजन। (ओं सा०)पुण्यात्माओं को आनन्द करानेवाले परमात्मा, और वे लोग। (ओं मरुत्०) अर्थात् प्राण, जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है, उनकी रक्षा करना। (ओमद्भ्यो०) इसका अर्थ 'शन्नो देवी' इस मन्त्र में लिख दिया है[5]।

(ओं व०) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि सबके पालन के हेतु सब पदार्थ, तथा जिनसे अधिक वर्षा और जिनके फलों से जगत् का उपकार होता है, उनकी रक्षा करनी। (ओं श्रि०) जो सेवा करने के योग्य परमात्मा, और पुरुषार्थ से राजश्री की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना। (ओं भ०) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है, उसका सदा आश्रय करना। (ओं ब्र०) जो वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिये करना। (ओं वा०) वास्तुपति अर्थात् जो गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर। (ओं ब्रह्म०) वेदशास्त्र का रक्षक जगदीश्वर। (ओं वि०) इसका अर्थ कह दिया है[6]।

(ओं दि०) जो दिन में और (ओं नक्त०) रात्रि में विचरनेवाले प्राणी हैं, उनसे उपकार लेना और उनको सुख देना।(सर्वात्म०)सबमें व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना। (ओं पि०) माता पिता और आचार्य्य आदि को प्रथम भोजनादि से सेवा करके पश्चात् स्वयं भोजनादि करना। 'स्वाहा' शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है[7], और 'नमः' शब्द का अर्थ यह है कि—आप अभिमान रहित होना, औ[र] दूसरे का मान्य करना ।।[१-१६]।।

१. संपंमवि० पृष्ठ २, पंमवि० पृष्ठ ८ (रा०ला०क०ट्र० सं० ६)। २. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ईश्वरो वायु०' इत्यपपाठः। हस्तलेखे 'ईश्वरोत्पादिता' इत्यस्य दर्शनात्, भाषार्थे चास्यानुवाददर्शनाच्च।

३. पूर्वत्र पृष्ठ ३११। ४. पूर्वत्र पृष्ठ २६७।

५. सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधान पृष्ठ २, पञ्चमहायज्ञविधि पृष्ठ ८ (रा ला०क०ट्र० सं० ६)।

६. पूर्वत्र पृष्ठ ३१२। ७. पूर्वत्र पृष्ठ १७४, १७५।

इसके पीछे ये छः भाग करना चाहिये—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि[1] ॥

अनेन षड् भागान् भूमौ दद्यात्[2] । एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां सम्पादयेत् ।

भाषार्थ—कुत्तों, कंगालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों, और चीटी आदि कृमियों के लिये भी छः भाग अलग-अलग बांटके दे-देना, और उनकी प्रसन्नता करना । अर्थात् सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिये ।

:— यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव पूरा हुआ :—

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते—

यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते, तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति । अथ के अतिथयः ? ये पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्मिकाः सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता नित्यभ्रमण-कारिणो मनुष्यास्तान् अतिथय इति कथयन्ति । अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्राः सन्ति, परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥

अथ० कां० १५ । अनु० २ । व० ११ । मं० १, २ ॥[3]

भाष्यम्—(तद्य०) यः पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (व्रात्यः०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिरर्थाद्यस्य गमनागमनयोरनियता तिथिः, किंतु स्वेच्छयाकस्मादागच्छेद् गच्छेच्च ॥१॥

स यदा यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् (स्वयमेनम०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत् । ततो यथायोग्यं सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत्—(व्रात्य क्वावात्सीः) हे पुरुषोत्तम ! त्वं कुत्र निवासं कृतवान् ? (व्रात्योदकम्) हे अतिथे ! जलमेतद् गृहाण । (व्रात्य तर्पयन्तु) यथा भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्मानस्माकं मित्रादींश्च तर्पयन्ति,

१. मनु ३।९२॥ वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'स्वपचां' इत्यपपाठः । सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधानादिषु सर्वग्रन्थेषु 'श्वपचां' इत्येव निरवद्यः पाठ उपलभ्यते ।

२. सत्यार्थप्रकाशानुसारमिह षड्भागस्थापनायेमे मनुस्मृत्याधारेणोहिता मन्त्रा विज्ञेयाः—**श्वभ्यो नमः, पतितेभ्यो नमः, श्वपचेभ्यो नमः, पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, कृमिभ्यो नमः ।** द्र०—स० प्र० समु० ४ पृष्ठ १४९ रालाकट्रसं०) ।

३. अथर्व १५ । ११ । १,२ ॥

तथाऽस्मदीया भवन्तं च [तर्पयन्तु ।] (व्रात्य यथा०)हे विद्वन् ! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्य्याम । यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु । (व्रात्य यथा ते) हे अतिथे ! भवान् यथेच्छति तथैव वयं तदनुकूलतया भवत्सेवाकरणे निश्चिनुयाम । (व्रात्य यथा ते) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्य्याम । यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्धया सदा सुखे तिष्ठेम ।।[२।।]

भाषार्थ—अब पांचवां 'अतिथियज्ञ' अर्थात् जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है, उसको लिखते हैं । जो मनुष्य पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छल-कपट-रहित, और नित्य भ्रमण करके विद्या धर्म का प्रचार और अविद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको 'अतिथि' कहते हैं । इसमें वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं । परन्तु उनमें से दो मन्त्र यहां भी लिखते हैं—

(तद्यस्यैवं विद्वान्) जिसके घर में पूर्वोक्त विशेषणगुणयुक्त (व्रात्य०) उत्तमगुणसहित, सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे, तो उसकी यथावत् सेवा करें । और 'अतिथि' वह कहाता है कि जिसके आने-जाने की कोई तिथि दिन निश्चित न हो ।।१।।

(स्वयमेनम०) गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को आते देखकर, बड़े प्रेम से उठके नमस्कार करके, उत्तम आसन पर बैठावें । पश्चात् पूछें कि आपको जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये । और जब वे स्वस्थचित्त हो जावें, तब पूछें कि (व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य ! अर्थात् उत्तम पुरुष, आपने कल के दिन कहां वास किया था ? (व्रात्योदकम्) हे अतिथे ! यह जल लीजिये, और (व्रात्य तर्पयन्तु) हमको अपने सत्य उपदेश से तृप्त कीजिये । कि जिससे हमारे इष्ट-मित्र लोग सब प्रसन्न होके आपको भी सेवा से संतुष्ट रक्खें । (व्रात्य यथा०) हे विद्वन् ! जिस प्रकार आपकी प्रसन्नता हो, हम लोग वैसा ही काम करें । तथा जो पदार्थ आपको प्रिय हो, उसकी आज्ञा कीजिये । और (व्रात्य यथा०) जैसे आपकी कामना पूर्ण हो, वैसी सेवा की जाय । कि जिससे आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्सङ्गपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें ।।२।।

[—ः इत्यतिथियज्ञः समाप्तः :—]

इति संक्षेपतः पञ्चमहायज्ञविषयः



अथ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं येषां येषां स्वतःपरतःप्रमाणसिद्धानां ग्रन्थानां पक्षपातरहितै रागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियाचरणैः सर्वोपकारकैरार्यैर्विद्वद्भिर्यथाङ्गीकारः कृतस्तथाऽत्रोच्यते—

य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतःप्रमाणं कर्तुं योग्याः सन्ति, ये जीवोक्तास्ते परत प्रमाणार्हाश्च[1]। ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो वेदाः स्वतःप्रमाणम्। कुतः? तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात्, तस्य सर्वज्ञत्वात्, सर्वविद्यावत्त्वात्, सर्वशक्तिमत्त्वाच्च। तत्र वेदेषु[2] वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्य्यं, सूर्यप्रदीपवत्। यथा सूर्य्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वमूर्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतः, तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति। ये ग्रन्था वेदविरोधिनो वर्त्तन्ते, नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्तुं योग्यमस्ति। वेदानां तु खलु ग्रन्येभ्यो विरोधादप्यप्रामाण्यं न भवति, तेषां स्वतःप्रामाण्यात्, तद्भिन्नानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च।

ये स्वतःप्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्भिन्नास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाणमर्हन्ति[3]। तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थ-

---

१. अयमभिप्रायो भगवता जैमिनिना मीमांसाशास्त्रस्य प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे वेदप्रामाण्याधिकरणे तृतीये पादे कल्पसूत्राद्यधिकरणे च विस्तरेण प्रतिपादितः।

२. वेदेषु वेदोक्तार्थेष्वित्यर्थः। वेदस्य कोऽर्थः प्रमाणमप्रमाणं वेति विचारे वेदप्रामाण्यादेव तत्प्रामाण्यं ज्ञेयम्, न त्वन्यग्रन्थप्रामाण्यात्तस्याप्रामाण्यमिति। यद्वा—वेदार्थेषु अन्यत्रोक्तानां वेदमन्त्राणां प्रामाण्यमेव प्रधानम्, ब्राह्मणादिप्रमाणं तु तदपेक्षया गौणमिति भावः।

३. अत्रेदं विचार्यते—यत् काश्चतस्रो मन्त्रसंहिताश्चैतादृश्यो याः शाखाप्रवक्तृनामभिर्न व्यवह्रियन्त इति? तथा सति कासां संहितानां स्वतःप्रामाण्यं स्वीक्रियते ग्रन्थकारेण, कासां च शाखात्वं मत्वा परतःप्रामाण्यमिति? अत्रोच्यते—ग्रन्थकृता याश्चतस्रः संहिता वेदत्वेनाभ्युपगतास्ता यद्यपि तत्तत्प्रवक्तृनामभिर्व्यवह्रियन्ते, यथा शाकलसंहिता, माध्यन्दिनसंहिता, कौथुमसंहिता, शौनकसंहिता चेति। तथापि तत्र द्वयोराद्ययोर्मूलत्वं प्रमाणैः सिद्धम्। भगवान् शाकल्यो न मन्त्रसंहितां प्रोक्तवानपि तु तत्पदपाठं कृतवानिति वैदिकवाङ्मयैतिह्ये स्पष्टम्। एवमेव माध्यन्दिनसंहितायाः **'एष वो अमी राजा'** (९।४०; १०।१८) इत्येवमादयः सामान्यरूपाः पाठाः अन्यशाखासु **'एष वो भरता राजा'** (तै० सं० १।१८।१०।१२), **एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा'** (काण्व सं० ११।३।३), **'एष ते जनते राजा'** (काठक सं० १५।७; मैत्रा० सं० २।६।६) इत्येवं विशिष्टरूपा उपलभ्यन्ते। अतो वैदिकेषु माध्यन्दिनसंहितैव **'सर्वसाधारणी'** इति स्वीक्रियते। तदुक्तम्—**'माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा'** इति प्रतिज्ञापरिशिष्टभाष्ये १।३, होलीरभाष्ये चोद्धृतं वसिष्ठवचनम्। अपि च माध्यन्दिनसंहिताया दीर्घपाठे (वृद्धपाठे) यो बहुत्र प्रतीकनिर्देश उपलभ्यते, स एव माध्यन्दिनप्रवचनरूपः, तद्रहितो लघुपाठो मूलपाठ इति। एवमेवान्ययोर्द्वयोः संहितयोर्विषय ऊहनीयम्।

व्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति। एवमेव यानि शिक्षा कल्पोऽथ[1] व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि, तथायुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम्, धनुर्वेदः शस्त्रास्त्रराजविद्या, गान्धर्ववेदो गानविद्या, अर्थवेदश्च शिल्पशास्त्रं, चत्वार उपवेदा अपि। तत्र चरकसुश्रुतनिघण्ट्वादय[2] आयुर्वेदे ग्राह्याः। धनुर्वेदस्य ग्रन्थाः प्रायेण लुप्ताः सन्ति। परन्तु तस्य सर्वविद्याक्रियावयवैः सिद्धत्वादिदानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति। अङ्गिरःप्रभृतिभिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्था बहव आसन्निति। गान्धर्ववेदश्च सामगानविद्यादिसिद्धः। अर्थवेदश्च विश्वकर्मत्वष्ट्र[देवज्ञ[3]]मयकृतश्चतसृसंहिताख्यो ग्राह्यः।

भाषार्थ—जो-जो ग्रन्थ सृष्टि की आदि से लेके आजतक पक्षपात और रागद्वेषरहित सत्यधर्मयुक्त सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य्य लोगों ने 'स्वतःप्रमाण' अर्थात् अपने आप ही प्रमाण, 'परतःप्रमाण' अर्थात् वेद और प्रत्यक्षानुमानादि से प्रमाणभूत हैं, जिनको जिस प्रकार करके जैसा कुछ माना है, उनको आगे कहते हैं—

इस विषय में उन लोगों का सिद्धान्त यह है कि—ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्रसंहिता हैं, वे ही स्वयंप्रमाण होने योग्य हैं, अन्य नहीं। परन्तु उनसे भिन्न भी जो-जो जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं, वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतःप्रमाण के योग्य होते हैं[4]। क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं, और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिवाला है। इस कारण से उसका कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है। और जीवों के बनाए ग्रन्थ स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं होते। क्योंकि जीव सर्वज्ञ सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं होते। इसलिये उनका कहना स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं हो सकता।

ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि—वेदविषय में जहां-कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो, वहां सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। अर्थात् जैसे सूर्य्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही

अपि च मूलवेदाः शाखाभ्यो भिन्ना आसन् इति तथ्यं तु सर्ववैदिकसम्मतम्। अत एव वेदमूलकत्वादेव तच्छाखानामपि प्रामाण्यं वैदिकैः स्मर्यते। तदुक्तं शतपथव्याख्यात्रा हरिस्वामिना—**'वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यम् इति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्,'** शत० भाष्य कां० १ हस्तलेख पृष्ठ २ (रा०ला०क० ट्रस्ट पुस्त०)। शतपथब्राह्मणे (१।४।१।३५)ऽपि वेदस्यापौरुषेयत्वं शाखापाठानां च पौरुषेयत्वं मुक्तकण्ठेनोक्तम्। विशेषस्त्वत्र आचार्यपादानां ब्रह्मदत्तजिज्ञासूनां यजुर्वेदभाष्यविवरणस्योपोद्घाते गोविन्दरामहासानन्दप्रकाशितस्य यजुर्वेदस्यास्मदभूमिकायां च द्रष्टव्यः।

१. अत्र मध्ये पठितः 'अथ' शब्दः कस्यचित् श्लोकस्य नवाक्षरपादैकदेशत्वं सूचयति। तुलना कार्या—'हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते, श्लोकात्मिकायाः पाणिनीयशिक्षायाः (आर्चपाठ ४१)पाठेन सह।

२. निघण्टुर्धन्वन्तरिप्रोक्तो ग्राह्यः, भाषार्थे तथैवोल्लेखदर्शनात्।

३. कोष्ठान्तर्गतं पदं वै० य० मुद्रितेषु(१-६ सं०)नोपलभ्यते। तथापि भाषापदार्थे दर्शनादिह आवश्यकः; तद्विना चेहोक्ताश्चतसृसंहितागणनाऽपि नोपपद्यते।

४. वेदों का स्वतः प्रामाण्य और अन्य ग्रन्थों का वेदानुकूलतया प्रामाण्य भगवान् जैमिनि ने मीमांसा दर्शन अ० १ पाद १,३ के वेदप्रामाण्य और कल्पसूत्रप्रामाण्य अधिकरणों में विस्तार से दर्शाया है।

वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो-जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते। और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो, तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते। क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं।

इसी प्रकार ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ, जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं, वे भी परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से ही प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं। मन्त्रभाग की चार संहिता कि जिनका नाम वेद है, वे सब स्वतःप्रमाण कहे जाते हैं। और उनसे भिन्न [जो] ऐतरेय शतपथ आदि प्राचीन सत्यग्रन्थ हैं, वे परतःप्रमाण के योग्य हैं। तथा ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) चार वेदों की शाखा भी वेदों के व्याख्यान होने से परतः-प्रमाण [हैं]।

तथा (आयुर्वेदः) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक सुश्रुत और धन्वन्तरिकृत निघण्टु आदि, ये सब मिलकर ऋग्वेद का उपवेद कहाता है[1]। (धनुर्वेदः) अर्थात् जिसमें शस्त्र अस्त्रविद्या के विधान-युक्त अङ्गिरा आदि ऋषियों के बनाये ग्रन्थ, जो कि अङ्गिरा भरद्वाजादिकृत संहिता हैं, जिनसे राजविद्या सिद्ध होती है। परन्तु वे ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो गये हैं, जो पुरुषार्थ से इसको सिद्ध किया चाहे, तो वेदादि विद्या-पुस्तकों से साक्षात् कर सकता है। (गान्धर्ववेदः) जो कि सामगान और नारदसंहिता आदि गानविद्या के ग्रन्थ हैं। (अर्थवेदः) अर्थात् शिल्पशास्त्र, जिसके प्रतिपादन में विश्वकर्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई हैं, ये चारों 'उपवेद' कहाते हैं।

शिक्षा पाणिन्यादिमुनिकृता[2]। कल्पो मानवकल्पसूत्रादिः। व्याकरणमष्टाध्यायीमहाभाष्य-

---

१. ग्रन्थकारेण सर्वत्रायुर्वेद ऋग्वेदस्योपवेदत्वेन स्वीकृतः। तथा चैवोल्लेखश्चरणव्यूहादिषूपलभ्यते, परन्तु सुश्रुतकश्यपसंहितादिषु आयुर्वेदोऽथर्ववेदस्योपवेदत्वेन स्वीकृतः।

२. आदिशब्देन आपिशलिशौनकगालवनारदादिप्रोक्ताः ऋषिप्रोक्ताः शिक्षाग्रन्थाः संग्राह्याः। इदमत्र विशेषतो विज्ञेयम्—ग्रन्थकृता यस्मिन् काल इयं पङ्क्तिर्लिखिताऽऽसीत् तावत्पर्यन्तं पाणिनीयशिक्षासूत्राणि नोपलब्धान्यासन्। अतएवैतदनन्तरं विरचितेऽष्टाध्यायीभाष्ये पाणिनीयत्वेन प्रसिद्धायाः श्लोकात्मिकायाः शिक्षाया एव प्रमाणान्युद्धृतानि (द्र०—अष्टा० भाष्य १।१।६)। वास्तविकी सूत्रात्मिका पाणिनीयशिक्षा तु ग्रन्थ-कृता १९३६तमे वैक्रमाब्द उपलब्धा (द्र०—ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास, वर्णोच्चारण-शिक्षा प्रकरण), तद्वत्सरान्त एव च भाषार्थसहितेयं प्राकाश्यं नीता। अपि च ग्रन्थकृता सूत्रात्मिकायाः पाणिनीयशिक्षाया यो हस्तलेख उपलब्ध आसीत्, सोऽन्ते त्रुटितोऽभूत्। अतोऽष्टमप्रकरणस्य प्रथमसूत्रस्याल्पीयांसं भागमतिरिच्य सर्वमपि प्रकरणं वर्णोच्चारणशिक्षायां नोपलभ्यते। अस्मिन् हस्तलेखे मध्येमध्येऽपि क्वचिद् ग्रन्थपात उपलभ्यते। अस्माभि-स्तस्या अपरं कोशमुपलभ्य सम्प्रत्येव पूर्णः पाठो मुद्रितः (द्र०—शिक्षासूत्राणि नाम्ना संग्रहः)। यत्तु मनोमोहन-घोषेण स्वामिदयानन्दप्रकाशितः पाणिनीयशिक्षासूत्राणां ग्रन्थः संग्रहात्मकः स्वयंकल्पितः कूटग्रन्थो न वास्तविक इत्येवं स्वप्रकाशितपाणिनीयशिक्षोपोद्घाते बहुधा प्रलपितम्, तस्योत्तरमस्माभिः **पटनानगरात्** प्रकाश्यमाणायाः **साहित्यपत्रिकायाः** सप्तमवर्षस्य चतुर्थाङ्के **'मूल पाणिनीय शिक्षा'** इति नाम्ना विस्तरेण प्रदत्तम्। तस्यैव संक्षेपेण निर्देशः **'शिक्षासूत्राणि'** नाम्नः संग्रहस्योपोद्घातेऽपि विहितः।

धातुपाठोणादिगणप्रातिपदिकगणपाठाख्यम्[1]। निरुक्तं यास्कमुनिकृतं [2]निघण्टुसहितं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम्। छन्दः पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रभाष्यम्[3]। ज्योतिषं वसिष्ठाद्यृष्युक्तं रेखाबीजगणितमयं चेति वेदानां षडङ्गानि सन्ति।

तथा षड् उपाङ्गानि—तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिव्याख्यामयं व्यासमुन्यादिकृत-भाष्यसहितं जैमिनिमुनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं ग्राह्यम्। द्वितीयं विशेषतया धर्मधर्मिविधायकं [4]प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रम्। तृतीयं पदार्थविद्याविधायकं वात्स्या-यायनभाष्यसहितं गोतममुनिकृतं न्यायशास्त्रम्। चतुर्थं यत्त्रिभिर्मीमांसावैशेषिकन्यायशास्त्रैः सर्व-पदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकज्ञानतया निश्चयो भवति, तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनमुपासनाविधायकं व्यासमुनिकृतभाष्यसहितं पतञ्जलिमुनिकृतं योगशास्त्रम्। तथा पञ्चमं तत्त्वपरिगणनविवेकार्थं भागुरिमुनिकृतभाष्यसहितं कपिलमुनिकृतं सांख्यशास्त्रम्। षष्ठं बौधायनवृत्त्यादिव्याख्यानसहितं व्यासमुनिकृतं वेदान्तशास्त्रम्। तथैव ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतैत्तिरीयैतरेयछान्दोग्यबृहदा-रण्यका दशोपनिषदश्चोपाङ्गानि[5] च ग्राह्याणि।

एवं चत्वारो वेदाः सशाखा व्याख्यानसहिताः, चत्वार उपवेदाः, षड् वेदाङ्गानि, षट् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा विंशतिः[6] भवन्ति। एतैरेव चतुर्दशविद्या[7] मनुष्यैर्ग्राह्या भवन्तीति वेद्यम्।

भाषार्थ—इसी प्रकार [पाणिन्यादि मुनिकृत शिक्षा।] मन्वादिकृत मानवकल्पसूत्रादि, आश्व-लायनादिकृत श्रौतसूत्रादि। पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ[8] और

---

१. अत्र लिङ्गानुशासनस्याप्यन्तर्भावः कर्तव्यः।

२. निघण्टुरपि यास्कप्रोक्त एवेति ग्रन्थकारस्य मतम्। एतस्मिन् विषये पण्डितभगवद्दत्तकृतः 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास—वेदों के भाष्यकार' ग्रन्थो द्रष्टव्यः।

३. पिङ्गलाचार्यकृतानां छन्दःसूत्राणां स्वोपज्ञभाष्यस्यान्यत्रोल्लेखो नोपलभ्यते।

४. भाषार्थेऽस्य विवरणे 'प्रशस्तपादकृत' स्थाने 'गोतममुनिकृत' इति दृश्यते। स किं प्रमादपाठ उत प्रशस्तपादस्यैव गोतममुनिरपरं नामेत्यस्य बोधकमिति विचारार्हम्। यदि गोतममुनिरेव प्रशस्तपादाभिधेयः स्यात्तर्हि तस्य 'अक्षपाद' नामान्तरेण तुलना कर्तुं शक्यते।

५. अत्रोपनिषदामप्युपाङ्गेष्वन्तर्भाव उक्तः। तस्य कारणं वेदान्तसूत्रेषूपनिषद्वाक्यानां विचारः। अतएव ग्रन्थकृता कानपुरनगरे प्रकाशिते विज्ञापने (सं० १६२६) 'शारीरकसूत्राणि १६ तत्रोपनिषन्मन्त्राणां व्याख्यानमस्ति' इत्युक्तम्। द्र०—ऋ० द० पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २, संस्करण २।

६. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मिलित्वा षट् भवन्ति' इति पठ्यते। स प्रत्यक्षमपपाठः, पूर्वोक्तानां मेलनेन विंशति संख्योपपद्यते।

७. चतुर्दशविद्यानामुल्लेखो ग्रन्थकृता यजुर्वेदभाष्ये (६।३४) कानपुरीये विज्ञापने च कृतः। अन्यत्र चत्वारो वेदाः, षडङ्गानि, मीमांसा, न्यायविस्तरः, पुराणं धर्मशास्त्राणि च संकलय्य चतुर्दशविद्याः परिगण्यन्ते (द्र०—वायु पु० ६१। ७८)। आस्वेव चतुर्दशविद्यासु चतुर्णामुपवेदानां परिगणणं कृत्वा अष्टादशविद्या उच्यन्ते। द्र०—वायु पु० ६१। ७६॥

८. यहां पाणिनिमुनि प्रोक्त लिङ्गानुशासन का भी अन्तर्भाव करना चाहिये।

पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण। तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त और निघण्टु[1]। वसिष्ठमुनि आदि कृत ज्योतिष सूर्य्यसिद्धान्त आदि। और (छन्दः) पिङ्गलाचार्यकृत सूत्रभाष्य [सहित] आदि, ये वेदों के छः अङ्ग भी परतःप्रमाण के योग्य हैं।

और ऐसे ही वेदों के छः उपाङ्ग, अर्थात् जिनका नाम षट्शास्त्र है। उनमें से एक—व्यासमुनि आदि कृत भाष्य सहित जैमिनिमुनिकृत पूर्व मीमांसा, जिसमें कर्मकाण्ड का विधान और धर्म धर्मी दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है। दूसरा—वैशेषिक शास्त्र, जो कि कणादमुनिकृत सूत्र और गोतममुनिकृत[2] प्रशस्तपादभाष्यादिव्याख्यासहित। तीसरा—न्यायशास्त्र, जो कि गोतममुनिप्रणीत सूत्र और वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित। चौथा—योगशास्त्र, जो कि पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र और व्यासमुनिकृत भाष्यसहित। पांचवां—सांख्यशास्त्र, जो कि कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृत भाष्यसहित। और छठा—वेदान्तशास्त्र, जो कि ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद्[3], तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जो कि बौधायनवृत्त्यादिव्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र है, ये छः वेदों के 'उपाङ्ग' कहाते हैं।

इसका यह अभिप्राय है कि जो शाखा-शाखान्तर[4] व्याख्यासहित चार वेद, चार उपवेद, छः अङ्ग और [छः]उपाङ्ग हैं, ये सब मिलके [5]बीस होते हैं। इनसे ही चौदह विद्याएं सब मनुष्यों को ग्रहण करनी चाहियें।

---

१. वर्त्तमान निघण्टु ग्रन्थ यास्क-प्रोक्त है, ऐसा ग्रन्थकार ने स्वयं प्रकाशित निघण्टु की भूमिका में भी कहा है। अनेक लोग इस बात को नहीं मानते। इस विषय पर श्री पं० भगवद्दत्तजी ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थ के 'वेदों के भाष्यकार' संज्ञक भाग में विस्तार से लिखा है। पाठकों को वह प्रकरण अवश्य देखना चाहिए।

२. संस्कृत भाग में 'गोतम मुनि' पद का निर्देश नहीं है। प्रशस्तपाद का गोतम मुनि नामान्तर अन्यत्र हमारे देखने में नहीं आया। गोतममुनि के लोकविश्रुत 'अक्षपाद' के साथ 'प्रशस्तपाद' नाम की तुलना की जा सकती है।

३. यहां उपनिषदों की भी ६ वेदाङ्गों में गणना की है। इसका कारण यह हो सकता है कि वेदान्त दर्शन में उपनिषदों के वाक्यों पर ही विचार किया गया है।

४. वैदिक वाङ्मय में 'चरण' और 'शाखा' शब्दों का प्रयोग मिलता है। चरण वेद की प्रथम मुख्य शाखा है, उसी की विभिन्न शाखायें 'शाखा' नाम से कही जाती है। यथा यजुर्वेद की शुक्ल कृष्ण शाखाओं में वाजसनेय तैत्तिरीय शब्द, प्रधान-शाखा-निमित्तक 'चरण' शब्द माने जाते हैं, और उनकी कण्वादि प्रोक्त १५ अथवा आपस्तम्ब आदि प्रोक्त शाखायें 'शाखायें' कहाती हैं। इन्हीं चरण और शाखा विभाग के लिए यहां क्रमशः 'शाखा' और 'अवान्तर शाखा' शब्द का व्यवहार किया है। विष्णु पुराण ३।४।२५ में इन्हें 'प्रतिशाखा' और 'अनुशाखा' कहा है—'इत्येताः प्रतिशाखाभ्योऽप्यनुशाखा द्विजोत्तम।' श्रीधरस्वामी ने इसकी व्याख्या में लिखा है—'अनुशाखा अवान्तरशाखाः'।

५. यहां से आगे वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'चौदह विद्या के ग्रन्थ हैं' अपपाठ है। १४ विद्याओं का उल्लेख ऋषि दयानन्द ने—यजुर्वेदभाष्य ६।३४ तथा कानपुर के सं० १९२६ में प्रकाशित विज्ञापन में भी

एतासां[1] पठनाद् यथार्थं विदितत्वान्मानसबाह्यज्ञानक्रियाकाण्डसाक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम् । एत ईश्वरोक्ता वेदास्तद्व्याख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्था आर्षा वेदानुकूलाः सत्यधर्मविद्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति । नैवंतेभ्यो भिन्नाः पक्षपातक्षुद्रविचार-स्वल्पविद्याऽधर्माचरणप्रतिपादना अनाप्तोक्ता वेदार्थविरुद्धा युक्तिप्रमाणविरहा ग्रन्थाः केनापि कदाचिदङ्गीकार्य्या इति[2] ।

ते च संक्षेपतः परिगण्यन्ते—रुद्रयामलादयस्तन्त्रग्रन्थाः । ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणानि[3] । प्रक्षिप्तश्लोकत्यागाया मनुस्मृतेर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः । सारस्वतचन्द्रिकाकौमुद्यादयो व्याकरणाभासग्रन्थाः । मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्णयसिन्ध्वादयो ग्रन्थाः । वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमारभ्य जागदीश्यन्ता न्यायाभासग्रन्थाः । योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्थाः । सांख्यशास्त्रविरुद्धा सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः । वेदान्तशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसारपञ्चदशीयोगवासिष्ठादयो ग्रन्थाः । ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्त्तचिन्तामण्यादयो मूहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायका ग्रन्थाः ।

तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धास्त्रिकण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्थाः । मार्गशीर्षैकादशीकाशी-स्थलजलसेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजडमूर्तिपूजाकरणमात्रेणैव मुक्तिभावनपापनिवारण-माहात्म्यविधायकाः सर्वे ग्रन्थाः । तथैव [4]पाषण्डिसम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च, नास्तिकत्वविधायका ग्रन्थाश्चोपदेशाश्च । ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाणपरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ति ।

भाषार्थ—इन ग्रन्थों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वतः परतः प्रमाण करना सुनना और पढ़ना सबको उचित है, इनसे भिन्नों का नहीं। क्योंकि जितने ग्रन्थ पक्षपाती क्षुद्रबुद्धि कम विद्यावाले अधर्मात्मा असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाणरहित हैं, उनको स्वीकार करना योग्य नहीं।

आगे उनमें से मुख्य-मुख्य मिथ्याग्रन्थों के नाम भी लिखते हैं—जैसे रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रन्थ। ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवत आदि पुराण, सूर्य्यगाथा आदि उपपुराण। मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक् सब स्मृतिग्रन्थ। व्याकरणविरुद्ध सारस्वतचन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रन्थ। धर्मशास्त्रविरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि। तथा वैशेषिक न्यायशास्त्रविरुद्ध तर्कसंग्रह मुक्तावल्यादि

किया है। पुराणों के अनुसार १४ विद्याओं में ४ वेद, ६ वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्रों का अन्तर्भाव होता है। इन्हीं में चार उपवेदों की गणना करने पर १८ अष्टादश विद्यायें कही जाती हैं (द्र०—वायु पु० ६१।७८-७९)।

१ एतासामर्थात् चतुर्दशविद्यानां पठनात्।

२. आयुर्वेदीयचरकसंहितायाः विमानस्थाने (८।३) कीदृशा ग्रन्था अध्येतुमध्यापयितुं च योग्या अयोग्या वेत्यतिविस्तरेण प्रतिपादितम्। तत् तत एव द्रष्टव्यम्।

३. वै० य० मुद्रितेष्वष्टसु संस्करणेषु अयमेव पाठ उपलभ्यते। नवमसंस्करणे संशोधकेन 'पुराणान्युपपुराणानि च' इत्येवं पाठः परिष्कृतः। स किंमूल इति नोक्तमत्र कोठारीत्युपह्वयेन। पुराणानां निर्देशेनैवोपपुराणानां संग्रहः स्वतःसिद्ध एव।

४. मूलपाठः 'पाखण्डि०'। स च लिपिकरस्य षकारस्य खकारोच्चारणदोषजः।

ग्रन्थ। [1]हठ[प्र]दीपिका आदि ग्रन्थ, जो कि योगशास्त्र के विरुद्ध हैं। तथा सांख्यशास्त्रविरुद्ध सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थ। वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदान्तसार पञ्चदशी योगवासिष्ठादि ग्रन्थ। ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्त्तचिन्तामण्यादि मुहूर्त्त जन्मपत्रफलादेशविधायक पुस्तक।

ऐसे ही श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र। तथा मार्गशीर्ष एकादश्यादि व्रत, काश्यादि स्थल, पुष्कर गङ्गादि जल, यात्रा माहात्म्यविधायक पुस्तक, तथा दर्शन नामस्मरण जड़मूर्तिपूजा करने से मुक्तिविधायकग्रन्थ। इसी प्रकार पापनिवारणविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रतिपादक, वेदविरुद्ध शैव शाक्त गाणपत वैष्णवादि मत के ग्रन्थ, तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उनके उपदेश। ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रन्थ हैं। इसलिए सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थ त्याग कर देने योग्य हैं।

[2]प्र०—तेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित् सत्यमप्यग्राह्यं भवितुमर्हति विषयुक्तान्नवत् ?

उ०—यथा परीक्षका विषयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति, तद्वदप्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव। कुतः ? तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्त्या ह्यसत्यार्थान्धकारापत्तेरविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानानुत्पत्तेश्चेति।

[तन्त्र-ग्रन्थानां मिथ्यात्वम्]

अथ तन्त्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते। तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति, नाथेयन्ति तेषां मतम्। यत्रेमे श्लोकाः सन्ति—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
एते पञ्च मकाराश्च मोक्षदा हि युगे-युगे ॥१॥[3]

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥२॥[4]

---

१. संस्कृतभागे इत्थमेव पठ्यते।

२. यथात्र प्रश्नोत्तररूपेण मुद्रितः पाठ उपलभ्यते, न तस्यार्थः स्पष्टीभवति। वयं त्वनुमिनुमो यदत्र कश्चिद् ग्रन्थपातो लिपिकरप्रमादात् समजनि। अस्मन्मते त्वत्रैवं पाठेन भाव्यम्—

'प्र०—किमेष्वसद्ग्रन्थेषु यत् सत्यं तत्तु ग्राह्यं भवितुमर्हति ? उ०—न। तेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित् सत्यमप्यग्राह्यं भवितुमर्हति, विषयुक्तान्नवत्। यथा परीक्षका……' इति।

अस्मिन् पाठे 'यथा परीक्षकाः……' इत्युत्तरभागो विषयुक्तान्नवत् इति दृष्टान्तस्यैव व्याख्यानरूपो ज्ञेयः। अस्माभिरूहितस्य पाठस्य भाषार्थेनापि पुष्टिर्भवति। सत्यार्थप्रकाशेऽपि ग्रन्थकृता एतादृशे प्रकरणे (पृष्ठ १०५, रालाकट्रसं०) प्रश्नोत्तररूपेण यदुक्तं तदप्यत्र तुलनीयम्।

३. कालीतन्त्रादिषु।

४. कुलार्णव तन्त्र ७।१००, स्वामी वेदानन्द।

प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः ।
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥३॥[1]

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु ।
लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः ॥४॥

मातरमपि न त्यजेत् ॥[५॥]

इत्याद्यनेकविधमल्पबुद्ध्यधर्माश्रेयस्कर्मानार्याभिहितं युक्तिप्रमाणरहितं वेदादिभ्योऽत्यन्तविरुद्धमनार्षमश्लीलमुक्तं तच्छिष्टैर्न कदापि ग्राह्यमिति । मद्यादिसेवनेन बुद्ध्यादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते, किन्तु नरकप्राप्तिरेव भवतीत्यन्यत् सुगमं प्रसिद्धं च[2] ।

भाषार्थ—कदाचित् इन ग्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि—इन असत्य ग्रन्थों में भी जो-जो सत्य बात हैं, उनका [तो] ग्रहण करना चाहिये ?

तो इसका उत्तर यह है कि—जैसे अमृत तुल्य अन्न में विष मिला हो, तो उसको छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उनसे सत्यग्रहण की आशा करने से सत्यार्थप्रकाशक वेदादि ग्रन्थों का लोप हो जाता है । इसलिये इन सत्यग्रन्थों के प्रचार के अर्थ उन मिथ्या ग्रन्थों को छोड़ देना अवश्य चाहिये । क्यों कि विना सत्यविद्या के ज्ञान कहां ? विना ज्ञान के उन्नति कैसी ? और उन्नति के न होने से मनुष्य सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं ।

अब आगे उन पूर्वलिखित अप्रमाण ग्रन्थों के संक्षेप से पृथक्-पृथक् दोष भी दिखलाये जाते हैं । देखो, तन्त्रग्रन्थों में ऐसे श्लोक लिखे हुए हैं कि—

(मद्यं मांसं०) मद्य पीना, मांस मच्छी खाना, मुद्रा अर्थात् सब के साथ इकट्ठे बैठके रोटी बड़े आदि उड़ाना, कन्या बहिन माता और पुत्रवधू आदि के साथ भी मैथुन कर लेना । इन पांच मकारों के सेवन से सब की मुक्ति होती है ॥ १ ॥

(पीत्वा-पीत्वा०) किसी मकान के चार आलयों में मद्य के पात्र धरके, एक कोने से खड़े-खड़े मद्य पीने का आरम्भ करके दूसरे में जाना, दूसरे से पीते हुए तीसरे में, और तीसरे से चौथे में जाकर पीना । यहां तक कि जब पर्य्यन्त पीते-पीते बेहोश होकर लकड़ी के समान भूमि में न गिर पड़े, तब तक बराबर पीते ही चले जाना । इस प्रकार बारंबार पीके अनेक बार उठ-उठकर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्ममरणादि दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥२॥

(प्रवृत्ते भैरवीचक्रे०) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्ठे होते हैं, तब उनमें ब्राह्मण से लेके चाण्डाल पर्य्यन्त सब स्त्री-पुरुष आते हैं । फिर वे लोग एक

१. कुलार्णव तन्त्र ८।९६, स्वामी वेदानन्द ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु इत उत्तरं मुद्रितः 'एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु…' इत्यादिपाठः प्रकरणसंगत्या अस्माभिर्भाषार्थतोऽग्रे नीतः ।

स्त्री को नंगी करके वहां उसकी योनि की पूजा करते हैं। सो केवल इतना ही नहीं, किन्तु कभी-कभी पुरुष को भी नंगा करके स्त्री लोग भी उसके लिङ्ग की पूजा करती हैं। तदनन्तर मद्य के पात्र में से एक पात्र अर्थात् प्याला भरके, उस स्त्री और पुरुष दोनों को पिलाते हैं। फिर उसी पात्र से सब वामगर्मी लोग क्रम से मद्य पीते और अन्न मांसादिक खाते चले जाते हैं। यहां तक कि जबतक उन्मत्त न हो जायें, तबतक खाना-पीना बन्द नहीं करते हैं। फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ अनेक भी मैथुन कर लेते है। जब उस स्थान से बाहर निकलते हैं, तब कहते है कि अब हम लोग अलग-अलग वर्णवाले हो गये ॥३॥

(मातृयोनिं०) उनके किसी-किसी श्लोक में तो ऐसा लिखा है कि माता को छोड़के सब स्त्रियों से मैथुन कर लेवे, इसमें कुछ दोष नहीं। और (मातरमपि न त्यजेत्) किसी-किसी का यह भी मत है कि माता को भी न छोड़ना। तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिङ्ग प्रवेश करके आलस्य छोड़कर मन्त्र को जपे, तो वह शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है ॥ ४, [५] ॥

इत्यादि अनेक अनर्थरूप कथा तन्त्रग्रन्थों में लिखी हैं। वे सब वेदादिशास्त्र युक्तिप्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं। क्योंकि मद्यादि सेवन स मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती, परन्तु ज्ञान का नाश और दुःखरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है।

एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञेषु[1], किं च नवीनेषु मिथ्याभूता बह्व्यः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्श्यन्ते[2]। तत्रैवमेका कथा लिखिता—

[१—ब्रह्मणः स्वदुहित्रा सह मैथुनम्][3]

'प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति।' सा मिथ्यैवास्ति। कुतः ? अस्याः कथाया अलंकाराभिप्रायत्वात्। तद्यथा—

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्, तस्य यद् रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् ॥१॥

ऐ० पं० ३। कण्डि० ३३, ३४॥

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता ॥२॥ शत० कां० १०। अ० २। ब्रा० २। कं० ४॥

तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ॥३॥ निरु० अ० ४। खं० २१॥

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मिथ्यापुराणसंज्ञासु' इत्यपपाठः, 'ब्रह्मवैवर्त्तादिषु' इत्यस्य विशेषणत्वात्।

२. अत्र प्रदर्शितासु कथासु काश्चन वेदभाष्यप्रचारार्थं प्रकाशिते विज्ञापनपत्रेऽपि प्रदर्शिताः। द्र०—'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन', पृष्ठ ३३-३९, द्वि० सं०।

३. इयं कथा पूर्वोक्ते विज्ञापनपत्रेऽपि व्याख्याता। द्र०—पृष्ठ ३७।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वो॑र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १ ॥

ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ३३ ॥

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यङ्गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन् ।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥ २ ॥

ऋ० मं० ३ । सू० ३१ । मं० १ ॥

भाष्यम्—सविता सूर्य्यः सूर्य्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति । तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति । यस्माद् यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्तिः । स च तां रोहितां किञ्चिदारक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्ऋष्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति । एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनद् उत्पादयति । अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत् सूर्य्यश्च । कुतः ? तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्य्येण सूर्य्याद् दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात् । यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किंचित् सूर्य्यप्रकाशेन रक्तता भवति, तस्योषा इति संज्ञा । तयोः पितादुहित्रोः समागमाद् उत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः । यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्तिर्भवति, तथैवात्रापि बोध्यम् ।

एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः पितादुहितृवत् [रूपकालंकारः] । कुतः ? पर्जन्याददभ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः । अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति । स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्य्यवज्जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति । तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते । अयमपि रूपकालङ्कारः ॥ [१–३॥]

अत्र वेदप्रमाणम्—

(द्यौर्मे पिता०) प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति, (जनिता) सर्वव्यवहाराणामुत्पादकः, अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात् । तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्री । द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरूर्ध्वं तानयोरुत्तानस्थितयोरलङ्कारः । अत्र पिता पर्जन्यो दुहितुः पृथिव्या गर्भं जलसमूहमाधात्, आ सामन्ताद धारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः ॥१॥

(शासद्वह्नि०) अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोऽस्ति । वह्निशब्देन सूर्य्यो दुहिताऽस्य पूर्वोक्तैव । स पिता स्वस्या उषसो दुहितुः सेकं किरणाख्यवीर्य्यस्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा दिवसपुत्रमजनयदिति ॥२॥

अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित् केनापि सत्या मन्तव्या इति ।

भावार्थ—इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ, जो कि व्यासजी के नाम से

संप्रदायी लोगों ने रच लिये हैं, उनका नाम पुराण कभी नहीं हो सकता, किन्तु उनको नवीन कहना उचित है। अब उनकी मिथ्यात्वपरीक्षा के लिये कुछ कथा[1] यहां भी लिखते हैं—

नवीन ग्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या करके लिखी है, जो कि प्रथम रूपलङ्कार की थी— (प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम०) अर्थात् यहां प्रजापति कहते हैं सूर्य्य को, जिसकी दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा। क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका ही संतान कहाता है। इसलिये उषा, जो कि पांच[2] घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है, वह सूर्य्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है। उन में से उषा के सम्मुख जो प्रथम सूर्य्य की किरण जाके पड़ती है, वही वीर्य्यस्थापन के समान है। उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है ॥

'प्रजापति' और 'सविता' ये शतपथ में सूर्य्य के नाम हैं ॥

तथा निरुक्त में भी रूपकालंकार की कथा लिखी है कि—पिता के समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है, उसकी पृथिवीरूप दुहिता अर्थात् कन्या है। क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही हुई है। जब वह उस कन्या में वृष्टि द्वारा जलरूप वीर्य को धारण करता है, तब उससे गर्भ रहकर ओषध्यादि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ [१-३॥]

इस 'कथा' का मूल ऋग्वेद में इस प्रकार है कि—

(द्यौर्मे पिता०) द्यौ जो सूर्य्य का प्रकाश है, सो सब सुखों का हेतु होने से मेरे पिता के समान, और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है। (उत्तान०) जैसे ऊपर नीचे वस्त्र की दो चांदनी तान देते हैं, अथवा आमने-सामने दो सेना होती हैं, इसी प्रकार सूर्य्य और पृथिवी, अर्थात् ऊपर की चांदनी के समान सूर्य्य और नीचे के बिछौने के समान पृथिवी है। तथा जैसे दो सेना आमने-सामने खड़ी हों, इसी प्रकार सब लोकों का परस्पर सम्बन्ध है। इसमें योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी, और गर्भस्थापन करनेवाला पति के समान मेघ है। वह अपने बिन्दुरूप वीर्य के स्थापन से उसको गर्भधारण कराने से ओषध्यादि अनेक संतान उत्पन्न करता है, कि जिससे सब जगत् का पालन होता है ॥१॥

(शासद्वह्नि०) सब का वहन अर्थात् प्राप्ति करानेवाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञानवृद्धि के लिये रूपकालंकार कथाओं का उपदेश किया है। तथा वही (ऋतस्य०) जल का धारण करनेवाला (नप्त्यङ्गा०) जगत् में पुत्रपौत्रादि का पालन और उपदेश करता है। (पिता यत्र दुहितुः०) जिस सुखरूप व्यवहार में स्थित होके पिता दुहिता में वीर्य स्थापन करता है, जैसा कि पूर्व लिख आये हैं, उसी प्रकार यहां भी जान लेना। जिसने इस प्रकार के पदार्थ और उनके सम्बन्ध रचे हैं, उसको हम नमस्कार करते हैं। २॥

---

१. ग्रन्थकार ने इसी प्रकार की कुछ कथाओं का निर्देश अपने वेदभाष्य के प्रचार के लिए प्रकाशित विज्ञापनपत्र में भी किया है। द्र०—'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन', पृष्ठ ३३-३६ द्वि० सं०।

२. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'तीन चार घड़ी' अपपाठ है। संस्कृत में 'पांच घड़ी' का निर्देश है।

जो यह रूपकालंकार की कथा[1] अच्छी प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यग्रन्थों में प्रसिद्ध है, इसको ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवतादि मिथ्या ग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़के लिख दिया है। तथा ऐसी-ऐसी अन्य कथा भी लिखी हैं। उन सबको विद्वान् लोग मन से त्यागके सत्यकथाओं को कभी न भूलें।

[२—इन्द्राहल्ययोः कथा[2]]

तथा च—'कश्चिद् देहधारीन्द्रो देवराज आसीत्। स गोतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान्। तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति। तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति। तस्या रामपादरजःस्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति।'

तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः[3] सन्ति। कुतः? आसामप्यलङ्कारार्थत्वात्। तद्यथा—

इन्द्रागच्छेति। गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति। तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत् प्रमुमोदयिषति॥[१॥] शत० कां० ३। अ० ३। ब्रा० ४। कं० १८॥

रेतः सोमः॥[२॥] श० कां ३। अ० ३। ब्रा० २। कं० १॥

रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते॥[३॥] निरु० अ० १२। खं० ११॥

सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते॥ [४॥] निरु० अ० २। खं० ६॥

जार आ भगम्[4] जार इव भगम्। आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता॥[५॥] निरु० अ० ३। खं० १६॥

एष एवेन्द्रो य एष तपति॥[६॥] श० कां० १। अ० ६। ब्रा० ४। कं० १८॥

---

१. यह कथा उक्त विज्ञापनपत्र में भी व्याख्यात है। द्र०—वही, पृष्ठ ३७।

२. इयं कथा पूर्वोक्ते विज्ञापनपत्रेऽपि निरूपिता। द्र०—पृष्ठ ३७, ३८। अस्मिन्नेव पत्रविज्ञापने ३५८ तमे पृष्ठे 'गोतम-अहल्याकथायाः' पृथक् पुस्तिकाया अप्युल्लेखो दृश्यते।

३. एकस्या अपि कथायाः पुराणोक्तं वैविध्यमाश्रित्य बहुवचनम्, अवान्तरकथाबहुत्वं वाऽऽश्रित्य बहुवचनम् ज्ञेयम्।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'भगः' इत्यपपाठः। ऋग्वेदे (१०।११।६) निरुक्ते च द्वितीयान्तपाठ-दर्शनात्। पूर्वोक्ते विज्ञापनपत्रेऽपि 'जार आ भगम्' इति द्वितीयान्तपाठस्यैव निर्देशाच्च। यत्त्विह वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणे शोधयित्रा 'भगमिति निरुक्ते पाठ.। सं०' इत्येवं टिप्पणी प्रदत्ता, मूले च 'जार आ भगः [ऋ० १०।११।६]' इत्येवं ऋक्संख्या निर्दिष्टा, तेन भ्रान्तिर्जायते यन्निरुक्ते तु 'भगम्' इति पाठः, ऋग्वेदे तु 'भगः' इत्येवेति। यतो वेदेऽपि 'भगम्' इत्येव पाठः, तस्माद् भ्रान्तिजनकटिप्पणीनिर्देशोऽप्ययुक्तः।

भाष्यम्—इन्द्रः सूर्य्यो य एष तपति, भूमिस्थान् पदार्थांश्च प्रकाशयति। अस्येन्द्रेति[1] नाम परमैश्वर्य्यप्राप्तेर्हेतुत्वात्। स अहल्याया जारोऽस्ति। सा सोमस्य स्त्री तस्य गोतम इति नाम। गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति 'गोतम' श्चन्द्रः। तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोऽस्ति। रात्रिरहल्या। कस्माद् ? अहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रि'रहल्यो'च्यते। स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति, स्वस्त्रियाऽहल्यया सुखयति।

अत्र स सूर्य्य इन्द्रो रात्रेरहल्याया गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते। कुतः ? अयं रात्रेर्जरयिता। 'जष् वयोहाना'विति धात्वर्थोऽभिप्रेतोऽस्ति। रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य एवेति मन्तव्यम्॥[१–६॥]

एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्कार[भूत]यां भूषणरूपायां सच्छास्त्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति, सा केनचित् कदापि नैव मन्तव्या हि, एतादृश्योऽन्याश्चापि।

भाषार्थ—अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है,[2] कि जिसको मूढ़ लोगों ने अनेक प्रकार बिगाड़के लिखा है। सो उसको ऐसे मान रक्खा है कि—

'देवों का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव था। वह गोतम ऋषि की स्त्री अहल्या के साथ जारकर्म किया करता था। एक दिन जब उन दोनों को गोतम ने देख लिया, तब इस प्रकार शाप दिया कि—हे इन्द्र ! तू हजार भगवाला हो जा। तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाषाण-रूप हो जा। परन्तु जब उन्होने गोतम से प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोक्षण कैसे वा कब होगा, तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हजार भग के स्थान में हजार नेत्र हो जायं, और अहल्या को वचन दिया कि जिस समय रामचन्द्र अवतार लेकर तेरे पर अपना चरण लगावेंगे, उस समय तू फिर अपने स्वरूप में आजावेगी।'

इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड़कर लिखी है। सत्यग्रन्थों में ऐसा नहीं है। तद्यथा—

(इन्द्रागच्छेति०) अर्थात् उनमें इस रीति से है—सूर्य का नाम इन्द्र, रात्रि का अहल्या, तथा चन्द्रमा का गोतम है। यहां रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री-पुरुष के समान रूपकालंकार है। चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब प्राणियों को आनन्द कराता है। और उस रात्रि का जार आदित्य है, अर्थात् जिसके उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है। और जार अर्थात् यह सूर्य ही रात्रि के वर्त्तमान रूप शृंगार को बिगाड़नेवाला है। इसलिये यह स्त्रीपुरुष का रूपकालंकार बांधा है, कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं, वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ-साथ रहते हैं। चन्द्रमा का नाम 'गोतम' इसलिये है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है। और रात्रि को 'अहल्या' इसलिये कहते है कि उसमें दिन लय हो जाता है। तथा सूर्य रात्रि को निवृत्त कर देता है, इसलिये वह उसका 'जार' कहाता है।

---

१. 'इन्द्रेति' अविभक्त्यन्तनिर्देशः प्रातिपदिकनिर्देशार्थः।

२. यह कथा भी पूर्वनिर्दिष्ट विज्ञापनपत्र (पृष्ठ ३७,३८) में व्याख्यात है। 'ऋ०द० के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ ३५८ (द्वि० मं०) पर 'गोतम०' संकेत से 'गोतम अहल्या कथा' के पृथक् मुद्रण का भी संकेत मिलता है।

इस उत्तम रूपकालंकारविद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड़के सब मनुष्यों में हानिकारक फल धर दिया है। इसलिये सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं को मूल से ही त्याग दें।

[३–इन्द्रवृत्रासुरकथा[1]]

'एवमेवेन्द्रः कश्चिद् देहधारी देवराज आसीत्। तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत्। वृत्रासुरेणेन्द्रो निगिलतोऽतो देवानां महद्भयमभूत्। ते विष्णुशरणं गताः, विष्णुरुपायं वर्णितवान्—मया प्रविष्टेन समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति।'

ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्। कुतः? एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात्। तद्यथा—

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री।
अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त् पर्व॑तानाम् ॥ १ ॥

अह॒न्नहिं॒ पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष।
वा॒श्रा इ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒रापः॑ ॥ २ ॥

ऋ० मं० १। सू० ३२। मं० १,२॥

भाष्यम्—(इन्द्रस्य०) सूर्य्यस्य[2] परमेश्वरस्य वा तानि वीर्य्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं कथयामि, यानि प्रथमानि पूर्वं, नु इति वितर्के, वज्री चकार। वज्री वज्रः प्रकाशः प्राणो वाऽस्यास्तीति। वीर्यं वै वज्रः॥ श० कां० ७। अ० ३॥[3] स अहिं मेघमहन् हतवान्, तं हत्वा पृथिव्यामनु पश्चादपस्ततर्द विस्तारितवान्। ताभिरद्भिः प्रवक्षणा नदीस्ततर्द जलप्रवाहेण हिंसितवान्, तटादीनां च भेदं कारितवानस्ति। कीदृश्यस्ता नद्यः? पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पद्यमानाः, यज्जलमन्तरिक्षाद्धिंसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विज्ञेयम्॥१॥

अग्रे मन्त्राणां संक्षेपतोऽर्थो वर्ण्यते—[(अह०)]—(त्वष्टा) सूर्य्यः (अहन्नहिं) तं मेघमहन् हतवान्। कथं हतवानित्यत्राह—(अस्मै) अहये वृत्रासुराय मेघाय (पर्वते शिश्रियाणम्) मेघे श्रितम् (स्वर्यम्) प्रकाशमयम् (वज्रम्) स्वकिरणजन्यं [वज्रं] विद्युत् प्रक्षिपति। येन[4] वृत्रासुरं

१. इयं कथा पूर्वोक्ते विज्ञापनपत्रेऽपि संक्षेपेण व्याख्याता। द्र०—पृष्ठ ३८,३९।

२. भगवत्पादैः सर्वत्र इन्द्रपदेन सूर्यस्य ग्रहणं क्रियते। निरुक्ते त्विन्द्रो मध्यमस्थाने भवा देवता स्वीक्रियते। वस्तुतो नैवात्र विरोधः शङ्कनीयः। यतो हि निरुक्तोक्ता इन्द्रदेवता सूर्यकिरणजन्या मध्यमस्थानीया विद्युद्रूपैव। तदुक्तं भगवता ग्रन्थकारेण—"यौ वाय्विन्द्रौ सूर्यपवनावन्तरिक्षस्थानौ सूर्यश्च द्युस्थाने" (पृष्ठ ३२७, पं० १९) इति। अत्र प्रत्यक्षं सूर्योऽन्तरिक्षस्थानीयो द्युस्थानीयश्चोक्तः। तत्रान्तरिक्षस्थानीयः सूर्यः 'कार्ये कारणशब्दोपचारः' इति न्यायेन सूर्यरश्मिजन्या विद्युत् सूर्यशब्देनोक्ता। विद्युतः सूर्यजन्यत्वमिहैवोत्तरमन्त्रव्याख्याने—'(वज्रम्) स्वकिरणजन्यं विद्युत्' इत्यनेनोक्तम्। ३. शत० ७। ३। १। १९॥

४. 'तेन' इति युक्तः पाठः। तेन वज्रप्रक्षेपेणेत्यर्थः।

मेघं (ततक्ष) कणीकृत्य भूमौ पातयति। पुनर्भूमौ गतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति। ता आपः समुद्रं (अवजग्मुः) गच्छन्ति। कथम्भूता आपः? (अञ्जः) व्यक्ताः (स्यन्दमानाः) चलन्त्यः। का इव? (वाश्रा०) वत्समिच्छवो गाव इव। आप एव वृत्रासुरस्य शरीरम्। यदिदं वृत्रशरीराख्य-जलस्य भूमौ निपातनं, तदिदं सूर्यस्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति ॥२॥

भाषार्थ—तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है[1]। इसको भी पुराणवालों ने ऐसा धरके लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जा पड़ी है। देखो कि—

'त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया। तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप में गये, और विष्णु ने उसके मारने का उपाय बतलाया कि मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊंगा। तुम लोग उस फेन को उठाके वृत्रासुर के मारना, वह मर जायगा।'

यह पागलों की सी बनाई गई पुराणग्रन्थों की कथा सब मिथ्या है। श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इनको कभी न मानें। देखो, सत्यग्रन्थों में यह कथा इस प्रकार से लिखी है कि—

(इन्द्रस्य नु०) यहां सूर्य का इन्द्र नाम है। उसके किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं, जो कि परमैश्वर्य होने का हेतु अर्थात् बड़ा तेजधारी है। वह अपनी किरणों से 'वृत्र' अर्थात् मेघ को मारता है। जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है, तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है। फिर उससे अनेक बड़ी-बड़ी नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं। कैसी वे नदी हैं कि 'पर्वत' अर्थात् मेघों से उत्पन्न होके जल ही बहने के लिये होती हैं। जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मारके आकाश से पृथिवी में गिरा देता है, तब वह पृथिवी में सो जाता है ॥ १ ॥

[(अह०)] फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके 'पर्वत' अर्थात् मेघमण्डल का पुनः आश्रय लेता है, जिसको सूर्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है। जैसे कोई लकड़ी को छील-के सूक्ष्म कर देता है, वैसे ही वह मेघ को भी बिन्दु-बिन्दु करके पृथिवी में गिरा देता है। और उसके शरीररूप जल सिमट-सिमट कर नदियों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं, कि जैसे अपने बछड़ों को गाय दौड़के मिलती हैं ॥ २ ॥

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ॥ ३ ॥
अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ॥ ४ ॥

ऋ० मण्ड० १। सू० ३२। मं० [५,७] ॥[2]

१. पूर्वनिर्दिष्ट पत्रविज्ञापन के पृष्ठ ३८,३९ पर भी यह कथा संक्षेप से व्याख्यात है।
२. प्रथमसंस्करणे 'मं०' इति निर्दिश्य मन्त्रसंख्या न प्रदत्ता, यद्वा मुद्रणदोषान्नष्टा स्यात्।

[1]अहिरिति मेघनामसु पठितम् ॥ निघण्टु अ० १ । खं० १० ॥

इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः । तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः ॥ वृत्रं जघ्निवानपववार तद् । वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्धतेर्वा । यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते ॥ निरु० अ० २ । खं० [१६], १७ ॥

भाष्यम्—(इन्द्रः) सूर्य्यः (वज्रेण) विद्युत्किरणाख्येन (महता व०) तीक्ष्णतरेण (वृत्रम्) मेघम् (वृत्रतरम्) अत्यन्तबलवन्तम् (व्यंसम्) छिन्नस्कन्धं छेदितघनजालं यथा स्यात् तथा (अहन्) हतवान् । स (अहिः) मेघः (कुलिशेन) वज्रेण (विवृक्णा०) छिन्नानि स्कन्धांसीव (पृथिव्या उपपृक्) यथा कस्यचिन्मनुष्यादेरसिना छिन्नं सदङ्गं पृथिव्यां पतति, तथैव स मेघोऽपि (अशयत) 'छन्दसि लुङ् लङ् लिटः'[2] इति सामान्यकाले लङ् ॥

[(अपाद०)] पृथिव्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्य्येणापादहस्तो व्यस्तो भिन्नाङ्गकृतो वृत्रो मेघो भूमावशयत् शयनं करोतीति ।

निघण्टौ० अ० १ । खं० १०—वृत्र इति मेघस्य नाम । इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य निवारकः । त्वष्टा सूर्य्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः । कुतः ? सूर्य्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदेन यत्कणीभूतं जलमुपरि गच्छति, तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति । तस्यैवासुर इति संज्ञात्वात् । पुनश्च तं सूर्य्यो हत्वा भूमौ निपातयति । स च भूमिं प्रविशति, नदीर्गच्छति, तद्द्वारा समुद्रमयनं कृत्वा तिष्ठति, पुनश्चोपरि गच्छति । तं वृत्रमिन्द्रः सूर्य्यो जघ्निवानपववार निवारितवान् ।

वृत्रार्थो वृणोतेः स्वीकरणीयः । मेघस्य यद् वृत्रत्वमावरकत्वं तद् वर्त्तमानत्वाद् वर्धमानत्वाच्च सिद्धमिति विज्ञेयम् ॥ [३-४॥]

भाषार्थ—[(अह०)] जब सूर्य उस अत्यन्त गर्जित मेघ को छिन्न-भिन्न करके पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई मनुष्य आदि के शरीर को काट-काट कर गिराता है । तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करनेवाला हो जाता है ।

'निघण्टु' में मेघ का नाम वृत्र है । 'इन्द्रशत्रु०'—वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य है । सूर्य का नाम त्वष्टा है, उसका संतान मेघ है । क्योंकि सूर्य की किरणों के द्वारा जल कण-कण होकर ऊपर को जाकर वहां मिलके मेघरूप हो जाता है ।

तथा मेघ का वृत्र नाम इसलिये है कि वृत्रो वृणोतेः०—वह स्वीकार करने योग्य, और प्रकाश का आवरण करनेवाला है [॥३-४॥]

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु इतः पूर्वं 'भाष्यम्' इति पाठ उपलभ्यते । स इहास्थाने इति कृत्वा मन्त्रव्याख्यानात् पूर्वं यथास्थानं नीतः । २. अष्टा० ३ । ४ ।६ ॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥ ५ ॥
नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च ।
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥ ६ ॥

ऋ० मं० १ । सू० ३२ । मं० १०,१३ ॥

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ।

'वृत्रो ह वाऽ इद्ँ सर्वं वृत्वा शिश्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी, स यदिद्ँ सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम ॥ तमिन्द्रो जघान । स हतः पूतिः सर्वत एवाऽपोऽभिसुस्राव[2] । सर्वत इव ह्ययँ समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे । ता उपर्युपर्य्यतिपुप्रुविरेऽत इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वाऽइतरासु सँसृष्टमिव, यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति, तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० ३ । कण्डि० ४, ५ ॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्य्यो द्युस्थान इति ॥ निरु० अ० ७ । खं० ५ ॥

भाष्यम्—(अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्चरन्ति । अतएवेन्द्रशत्रुर्वृत्रो मेघो भूमावशयत्, आ समन्ताच्छेते ।

(नास्मै विद्युत्०) वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्युत् तन्यतुश्चास्मै सूर्य्यायेन्द्राय न सिषेध निषेद्धुं न शक्नोति । अहिर्मेघः, इन्द्रः सूर्य्यश्च द्वौ परस्परं युयुधाते । यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्य्यप्रकाशं निवारयति । यदा सूर्य्यस्य तापरूपसेना वर्धते, तदा वृत्रं मेघं निवारयति । परन्तु मघवा इन्द्रः सूर्य्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान् भवति । अन्ततोऽस्यैव विजयो भवति न मेघस्येति ।

'वृत्रो ह वा इति'०—स वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्वाऽऽवृत्य शिश्ये शयनं करोति, तस्माद् वृत्रो नाम । तं वृत्रं मेघमिन्द्रः सूर्य्यो जघान हतवान् । स हतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः काष्ठतृणादिभिः

---

१. वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु इतः पूर्वं 'भाष्यम्' इति पाठ उपलभ्यते । सोऽस्थान इति कृत्वाऽस्माभिरग्रे मन्त्रव्याख्यानात् पूर्वं यथास्थानं स्थापितः ।

२. शतपथे तु 'एवापोऽभिप्रसुस्राव' इति पाठः । ग्रन्थकृतस्तु 'अभिसुस्राव' इत्येव पाठः, एतस्य व्याख्याने तथैव व्याख्यातत्वात् । यद्वाऽत्र व्याख्याने च 'प्र'पदं लेखकप्रमादान्नष्टं स्यात् । अग्रे ब्राह्मणपाठे 'पूतिरभिप्रास्रवत्' इत्यत्र प्रशब्दस्य दर्शनात् ।

संयुक्तः पूतिर्दुर्गन्धो भवति। पुराकाशस्थो भूत्वा सर्वतोऽपोऽभिसुस्राव, तासां वर्षणं करोति। अयं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयङ्करो भवति। अत एव तत्रस्था आपो भयप्रदा भवन्ति। इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदीसमुद्रपृथिवीगता आपः सूर्य्यद्वारेणोपर्य्युपर्य्यन्तरिक्षं पुप्रुविरे गच्छन्ति, ततोऽभिवर्षन्ति च। ताभ्य एवेमे दर्भाद्योषधिसमूहा जायन्ते।

[1]यौ वाय्विन्द्रौ [2]सूर्य्यपवनावन्तरिक्षस्थानौ सूर्य्यश्च द्युस्थान अर्थात् प्रकाशस्थः ॥५-६॥

एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्त्तव्या इति।

भाषार्थ—(अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्र के इस जलरूप शरीर से बड़ी-बड़ी नदियां उत्पन्न होके अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं। और जितना जल तालाब वा कूप आदि में रह जाता है, वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है॥

(नास्मै०) अर्थात् वह वृत्र अपने बिजली और गर्जनरूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता। इस प्रकार अलंकाररूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान [व्यवहार] करते हैं। अर्थात् जब मेघ बढ़ता है, तब तो वह सूर्य के प्रकाश को हटाता है, और जब सूर्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है, तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है। परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य ही का विजय होता है॥

'**वृत्रो ह वा०**'—जब-जब मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत होके फैलता है, तब-तब उसको सूर्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है। पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ठ, तृण तथा मलमूत्रादि युक्त होने से कहीं-कहीं दुर्गन्धरूप भी हो जाता है। फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है। तब समुद्र का जल देखने में भयंकर मालूम पड़ने लगता है। इसी प्रकार वारंवार मेघ वर्षता रहता है। 'उपर्य्युपर्य्यति०'—अर्थात् सब स्थानों से जल उड़-उड़ कर आकाश में[3] चढ़ता है। वहां इकट्ठा होकर फिर-फिर वर्षा किया करता है। उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उसी मेघ को 'वृत्रासुर' के नाम से बोलते हैं।

वायु और सूर्य्य का नाम 'इन्द्र' है। वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य्य प्रकाशस्थान में स्थित हैं। इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है, कि जिसके अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य का विजय निःसंदेह होता है॥ ५-६॥

इस सत्यग्रन्थों की अलंकाररूप कथा को छोड़के छोकरों के समान अल्पबुद्धिवाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख रक्खी हैं, उनको श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें।

---

१. पूर्वोद्धृतनिरुक्तस्य 'वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः' इति पाठस्य व्याख्यानमिदम्।

२. सूर्यशब्देनात्र सूर्यरश्मिजन्या विद्युदुक्ता। सूर्यस्य द्युस्थानीयत्वस्यास्मिन्नेव वाक्ये उक्तत्वात्। विशेषोऽत्र ३२६ पृष्ठस्थायां २ टिप्पण्यां द्रष्टव्यः।   ३. वै० य०-मुद्रित संस्करणों में 'बढ़ता' पाठ है।

[४—देवासुरसंग्रामकथा]

एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसंग्रामकथा अन्यथैव सन्ति । ता अपि बुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः । कुतः ? तासामप्यलङ्कारयोगात् । तद्यथा—

देवासुरा संयत्ता आसन् ॥१॥ श० कां० १३ । अ० ३ । ब्रा० ४ । कं० १ ॥

असुरानभिभवेम देवाः । असुरा असुरता स्थानेष्वस्ताः स्थानेभ्य इति वा, अपि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः । सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते ॥ [२ ॥] निरु० अ० ३ । खं० ८ ॥

देवानामसुरत्वमेकत्वं[1] प्रज्ञावत्त्वं वाऽनवत्त्वं वापि वासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम् ॥ [३ ॥] निरु० अ० १० । खं० ३४ ॥

सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त । स आस्येनैव देवानसृजत । ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त । तस्मै ससृजानाय दिवेवास, तदेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजानाय दिवेवास । अथ योऽयमवाङ् प्राणस्तेनासुरानसृजत । त इमामेव पृथिवीमभिसंपद्यासृज्यन्त[2] । तस्मै ससृजानाय तम इवास ॥ सोऽवेत् । पाप्मानं वा असृक्षि, यस्मै मे ससृजनाय तम इवाभूदिति । तांस्तत एव पाप्मनाविध्यत्, ते तत एव पराभवंस्तस्मादाहुर्नैतदस्ति[3] यद्दैवासुरम् । यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्, ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्, ते तत एव पराभवन्निति ॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्—'न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति । मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स' इति ॥ स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान्त्ससृजानाय तम इवास ताँ रात्रिमकुरुत ते अहोरात्रे ॥ स ऐक्षत प्रजापतिः ॥ [४ ॥]

श० कां० ११ । अ० १ । ब्रा० ६ । कं० ७-१२ ॥

देवाश्च वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः ॥ [५॥]

श० कां० १ । अ० ७ । ब्रा० २ । कं० २२ ॥

---

१. निरुक्ते ग्रन्थकृतोद्धृतः 'एकत्वं' पाठः क्वचिदुपलभ्यते, तथापि निरुक्तस्येह शुद्धः पाठः 'एकं' इत्येव द्रष्टव्यः ।
२. शतपथे '०मभिपद्यासृज्यन्त' पाठ उपलभ्यते । पूर्ववाक्य इहापि तथैव शुद्ध एव पाठ उपलभ्यते । सम्भाव्यते लिपिकरदोषान्मुद्रणदोषाद्वा पाठो भ्रष्ट इति ।
३. वै० य० मुद्रिते शतपथे इह 'तस्मादाहुर्नेतदस्ति' इत्यपपाठः ।

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः॥ यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा॥ [६॥]

श० कां० १४। अ० ४। ब्रा० १। कं० १, ३॥

ॐमिति देवा, मायेत्यसुराः॥ [७॥] श० कां १०। अ० ५। ब्रा० २। कं० २०॥

प्राणा देवाः॥ [८॥] श० कां ६। अ० ३। ब्रा० १। कं० १५॥

प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया॥[९॥] श० कां० ६। अ० ६। ब्रा० २। कं० ६॥

भाष्यम्—(देवासुरा०) देवा असुराश्च संयत्ता सज्जा युद्धं कर्त्तुं तत्परा आसन् भवन्तीति शेषः। के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते—

विद्वा᳖ँसो हि देवाः॥ श० कां० ३। अ० ७। ब्रा० ३। कं० १०॥

हीति निश्चयेन विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः। ये देवास्ते विद्यावत्त्वात् प्रकाशवन्तो भवन्ति। ये ह्यविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वात् ज्ञानरहितान्धकारिणो भवन्ति। एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्त्ततेऽयमेव दैवासुरसंग्रामः[1]।

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति॥ स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति॥ मनो ह वै देवा मनुष्यस्य [जानन्ति]॥ श० कां० १। अ० १। ब्रा० १। कं० ४,५,७॥

ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः। ये चानृतवादिनोऽनृतकारिणोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा एव। तयोरपि परस्परं विरोधो युद्धमिव भवत्येव। मनुष्यस्य यन्मनस्तद्देवाः, प्राणा असुराः, एतयोरपि विरोधो भवति। मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहो भवति, प्राणबलेन मनसश्चेति युद्धमिव प्रवर्त्तते॥ [१॥]

प्रकाशाख्यात् सोर्देवान् मनःषष्ठानीन्द्रियाणीश्वरोऽसृजत, अतस्ते प्रकाशकारकाः। असोरन्धकाराख्यात् पृथिव्यादेरसुरान् पञ्चकर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्चासृजत। एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वानुरोधेन संग्रामवदनयोर्वर्त्तमानमस्तीति विज्ञेयम्॥ [२-३॥]

(सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार०) प्रजाकामः परमेश्वर आस्येनाग्निपरमाणुमयात् कारणात् सूर्यादीन् प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत, ते देवा द्योतमाना दिवं प्रकाशं परमेश्वरप्रेरितमभिपद्य, प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त। तदेव देवानां देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु तृतीयसंस्करणं यावत् 'दैवासुरसंग्रामः' इत्येव पाठः (तुलना कार्या उत्तरत्रान्ते प्रयुक्तेन 'दैवासुरं युद्धं' पदेन)। देवाश्चासुराश्च योद्धारोऽस्य संग्रामस्येति दैवासुरः संग्रामः। ततः दैवासुरश्चासौ संग्रामश्चेति कर्मधारयसमासः। चतुर्थसंस्करणप्रभृति 'देवासुर-संग्रामः' पाठ उपलभ्यते। तत्र षष्ठीसमासो ज्ञेयः।

अथेत्यनन्तरमर्वाचीनो योऽयं प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्चेश्वरेण सृष्टस्तेनैवासुरान् प्रकाशरहितानसृजत सृष्टवानस्ति । ते पृथिवीमभिपद्यौषध्यादीन् पदार्थानसृज्यन्त । ते सर्वे सकार्य्याः प्रकाशरहितास्तयोस्तमःप्रकाशवतोरन्योऽन्यं विरोधो युद्धमिव प्रवर्त्तते । तस्मादिदमपि दैवासुरं[1] युद्धमिति विज्ञेयम् । तथैव पुण्यात्मा मनुष्यो देवोऽस्ति, पापात्मा ह्यसुरश्च । एतयोरपि परस्परं विरुद्धस्वभावाद्युद्धमिव प्रतिदिनं भवति, तस्मादेषोऽपि "देवासुरसंग्रामो[2]ऽस्तीति विज्ञेयम् । एवमेव दिनं देवो रात्रिरसुरः । एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तते ॥ [४॥]

त इमे उभये पूर्वोक्ताः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्त्तन्ते । अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सन्ति । तेषां मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्ति । वायोः पूर्वोत्पन्नत्वात् प्राणानां तन्मयत्वाच्च । तथैव जन्मतो मनुष्या सर्वेऽविद्वांसो भवन्ति, पुनर्विद्वांसश्च । तथैव वायोः सकाशा-दग्नेरुत्पत्तिः प्रकृतेरिन्द्रियाणां[3] च, तस्मादसुरा ज्येष्ठा देवाश्च कनिष्ठाः । एकत्र देवाः सूर्य्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्यादयोऽसुराः कनिष्ठाश्च । त सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात् तस्यापत्यानीव सन्तीति विज्ञेयम् । एषामपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तत इति ज्ञातव्यम् ॥ [५-६॥]

ये प्राणपोषकाः स्वार्थसाधनतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्ते ह्यसुराः । ये च परो-पकारकाः परदुःखभञ्जना निष्कपटिनो धार्मिका मनुष्यास्ते देवाश्च विज्ञेयाः । एतयोरपि परस्परं विरोधात् संग्राम इव भवति । इत्यादिप्रकारकं 'दैवासुरं युद्ध'[4]मिति बोध्यम् ॥ [७-९॥]

एवं परमोत्तमायां विद्याविज्ञापनार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रेषूक्तायां कथायां सत्यां व्यर्थपुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च या मिथ्यैव कथा वर्णिताः सन्ति, विद्वद्भि-र्नैवैताः[5] कथा कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति ।

भावार्थ—जो चौथी देवासुर संग्राम की कथा रूपकालंकार की है, इसको भी विना जाने प्रमादी लोगों ने बिगाड़ दिया है । जैसे—

---

१. वै० य० मुद्रितेषु सस्करणेषु 'देवासुरं युद्धम्' अपपाठः । उत्तरत्रास्मिन्नेव पृष्ठे (पं० १५) 'दैवासुरं युद्धम्' इति साधुपाठ उपलभ्यते । २. देवासुराणां संग्रामः, षष्ठीसमासः ।

३. अत्र सांख्यमतानुसारं 'अहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं' (सांख्य १ । ६१) चोत्पद्यन्ते, पञ्चतन्मात्रेभ्यश्च पञ्च स्थूलभूतानि । एवं च कृत्वा असुराख्यानामिन्द्रियाणामग्नेः पूर्वोत्पन्नत्वात् ज्येष्ठत्व-मुक्तम् । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरुच्यते । सा च प्रकृत्यात्मकैव । तत उत्पन्नो महान् अहंकारश्च प्रकृतिविकृतिरूपो । साम्यावस्थारूपायाः प्रकृतेरुत्पन्नत्वान्महतो विकृतित्वम्, अहंकारापेक्षया च प्रकृतित्वम् । एवमहंकारस्य महत उत्पन्नत्वात् विकृतित्वम्, तत उत्पन्नानां तन्मात्रेन्द्रियाणामपेक्षया प्रकृतित्वम् । एवं चात्र भगवता ग्रन्थकारेण प्रकृतिविकृत्युभयात्मकेऽहंकारे पदेषु पदैकदेशानिति नियमेन प्रकृतिशब्दस्य व्यवहारः कृतः । कर्मकाण्डेऽपि सर्वयज्ञानां दर्शपौर्णमासौ प्रकृतिशब्देन व्यवह्रियेते, तत्रैव कृत्स्नस्येतिकलापस्य साक्षाद् उक्तत्वात् । चातुर्मास्ये वैश्वदेवपर्वणि सामान्याङ्गानि 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इति न्यायेन दर्शपौर्णमासाभ्यामति-दिश्यन्ते । अतो वैश्वदेवपर्व दर्शपौर्णमासयोर्विकृतिः । उत्तराणि च पर्वाणि वैश्वदेवपर्वणोऽङ्गानि गृह्णन्तीति कृत्वा वैश्वदेवपर्वणः प्रकृतित्वं विज्ञायते । एवं च कृत्वा वैश्वदेवपर्व प्रकृतिविकृत्युभयात्मकमिति याज्ञिकाः संगिरन्ते । एवमेव ज्योतिष्टोमादिष्वपि प्रकृतिविकृतिभावः स्वीक्रियते ।

४. द्र०—पृष्ठ ३३५ टि० १ । ५. 'नैव ताः' इति युक्ततरः पाठः, पूर्वत्र 'याः' पदश्रवणात् ।

'एक दैत्यों की सेना थी, जिनका शुक्राचार्य पुरोहित था, और वे दक्षिण देश में रहते थे। तथा दूसरी देवों की सेना थी, कि जिनका राजा इन्द्र, सेनापति अग्नि, और पुरोहित बृहस्पति था। उन देवों के विजय कराने के लिए आर्यावर्त्त के राजा भी जाया करते थे। असुर लोग तप करके ब्रह्मा विष्णु और महादेवादि से वर मांग लेते थे। और उनके मारने के लिये विष्णु अवतार धारण करके पृथिवी का भार उतारा करते थे।'

यह सब पुराणों की गप्पें व्यर्थ जानकर छोड़ देना। और सत्यग्रन्थों की कथा जो नीचे लिखते हैं, उनका ग्रहण करना सबको उचित है। तद्यथा—

(देवासुराः सं०) देव और असुर अपने-अपने बाने में सजकर सब दिन युद्ध किया करते है। तथा इन्द्र और वृत्रासुर की जो कथा ऊपर लिख आये, सो भी 'देवासुर-संग्राम' रूप जानो। क्योंकि सूर्य की किरण 'देव'संज्ञक, और मेघ के अवयव अर्थात् बादल 'असुर'संज्ञक हैं। उनका परस्पर युद्धवर्णन पूर्व कर दिया है।

निघण्टु आदि सत्यशास्त्रों में सूर्य देव, और मेघ असुर करके प्रसिद्ध है। इन सब वचनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर-संग्राम का स्वरूप यथावत् जान लेवें। जैसे—जो लोग विद्वान्, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकर्म करनेवाले हैं वे तो 'देव', और जो अविद्वान्, झूठ बोलने, झूठ मानने और मिथ्याचार करनेवाले हैं, वे 'असुर' कहाते हैं। उनका परस्पर नित्य विरोध होना, यही उनके युद्ध के समान है। इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञानेन्द्रियां भी देव कहाते हैं। उनमें राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं। तथा सब प्राणों का नाम असुर है। उनमें राजा प्राण और अपानादि सेना है। इनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है। मन के विज्ञान बढ़ाने से प्राणों का जय, और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय हो जाता है॥ [१॥]

(सोर्दे०) सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां, उनके परस्पर संयोग[1] तथा सूर्य आदि को ईश्वर रचता है। और (असो०) अन्धकाररूप परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रियां दश प्राण और पृथिवी आदि को रचता है, जो कि प्रकाशरहित होने से 'असुर' कहाते हैं। प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इनकी भी संग्राम संज्ञा मानी है॥ [२-३॥]

तथा पुण्यात्मा मनुष्य 'देव' और पापात्मा दुष्ट लोग 'असुर' कहाते हैं। उनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है। तथा दिन का नाम 'देव' और रात्रि का नाम 'असुर' है। इनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है।

तथा शुक्लपक्ष का नाम 'देव' और कृष्णपक्ष का नाम 'असुर' है। तथा उत्तरायण की 'देव' संज्ञा और दक्षिणायन की 'असुर' संज्ञा है। इन सभों का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां-जहां ऐसे लक्षण घट सकें, वहां-वहां 'देवासुर-संग्राम' का रूपकालङ्कार जान लेना॥ [४॥]

---

१. यहां पाठ कुछ अस्पष्ट सा है।

ये सब देव और असुर प्राजापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के समान कहे जाते हैं। और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं। इनमें से जो-जो असुर अर्थात् प्राण आदि हैं, वे ज्येष्ठ कहाते हैं। क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुये हैं। तथा बाल्यावस्था में सब मनुष्य भी अविद्वान् होते होते हैं। तथा सूर्य्य ज्ञानेन्द्रिय और विद्वान् आदि पश्चात् प्रकाश होने से कनिष्ठ बोले जाते हैं ॥ [५-६ ॥]

उनमें से जो-जो मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करनेवाले तथा कपट छल आदि दोषों से युक्त हैं, वे 'असुर'। और जो लोग परोपकारी परदुःखभञ्जन तथा धर्मात्मा हैं, वे 'देव' कहाते हैं ॥ [७-६ ॥]

इस सत्यविद्या के प्रकाश करनेवाली कथा को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके सर्वत्र प्रचार करना और मिथ्या कथाओं का मन कर्म और वचन से त्याग कर देना सब को उचित है।

[५—कश्यपकथा]

एवमेव कश्यपगयादितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु ग्रन्थेषु वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो विरुद्धा उक्ताः सन्ति। तद्यथा—

'मरीचिपुत्रः कश्यप ऋषिरासीत्, तस्मै त्रयोदशकन्या दक्षप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ताः। तत्सङ्गमे दितेर्दैत्याः, अदितेरादित्याः, दनोर्दानवाः, एवमेव कद्र्वाः सर्पाः, विनतायाः पक्षिणः, तथान्यासां सकाशाद्वानरर्च्छवृक्षघासादय उत्पन्नाः।' इत्याद्या अन्धकारमय्यः प्रमाणयुक्तिविद्या-विरुद्धा असम्भवग्रस्ताः कथा उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति विज्ञेयम्। तद्यथा—

स यत्कूर्मो नाम। प्रजापतिः प्रजा असृजत, यदसृजताकरोत् तद् यदकरोत् तस्मात् कूर्म्मः, कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति ॥

श० कां० ७। अ० ५। ब्रा० १। कं० ५ ॥

भाष्यम्—(स यत्कूर्म्मः०) परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते, तस्मात् तस्य 'कूर्म्म' इति संज्ञा। 'कश्यपो वै कूर्म्मः' इत्यनेन परमेश्वरस्यैव 'कश्यप' इति नामास्ति। तेनैवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादितास्तस्मात् सर्वा इमाः प्रजाः काश्यप्य इत्युच्यन्ते। 'कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति'[1] निरुक्त्या[2] पश्यतीति पश्यः, सर्वज्ञतया सकलं जगद् विजानाति स पश्यः, पश्य एव निर्भ्रमतया-ऽतिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवातः पश्यक इति। आद्यन्ताक्षरविपर्य्ययाद् हिंसेः सिंहः, कृतेस्तर्कु रित्यादिवत्कश्यपः, इति 'हयवरट्'[3] इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति। अतः सुष्ठु विज्ञायते काश्यप्यः प्रजा इति।

---

१. द्र०—'कश्यपः पश्यको भवति यत्परिपश्यति सौक्ष्म्यात्'। तै० आ० १।८॥ २. अयमेव पाठो ग्रन्थकृता सत्यार्थप्रकाशे एकादशसमुल्लासेऽप्युद्धृतः। तत्र पाठान्ते 'निरु०' इति संकेतः क्रियते, स 'निरुक्ति' पदस्यैव ज्ञेयः। यतो हि निरुक्तं निरुक्ति निर्वचनं चेति पर्यायाः। ३. अष्टा० प्रत्याहारसूत्र ५।

भाषार्थ—जो पांचवीं कश्यप और गया पुष्करतीर्थादि कथा लोगों ने बिगाड़के प्रसिद्ध की हैं। जैसे देखो कि—

'मरीचि के पुत्र एक कश्यप ऋषि हुए थे। उनको दक्ष प्रजापति ने विवाह-विधान से तेरह कन्या दीं, कि जिनसे सब संसार की उत्पत्ति हुई। अर्थात् दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्रू से सर्प, और विनता से पक्षी, तथा औरों से वानर, ऋच्छ, घास आदि पदार्थ भी उत्पन्न हुए। इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं।' इत्यादि प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध अनेक असम्भव कथा लिख रक्खी हैं। उनको मानना किसी मनुष्य को उचित नहीं। देखिये, ये ही कथा सत्यशास्त्रों में किस प्रकार की उत्तम लिखी हैं—

(स यत्कूर्मो०) प्रजा को उत्पन्न करने से 'कूर्म', तथा उसको अपने ज्ञान से देखने के कारण परमेश्वर को 'कश्यप' भी कहते हैं। 'कश्यप' यह शब्द 'पश्यक' इस शब्द के आद्यन्ताक्षरविपर्य्यय से बनता है।

इस प्रकार की उत्तम कथा को समझके उन मिथ्या कथाओं को सब लोग छोड़ देवें, कि जिससे सबका कल्याण हो। अब देखो गयादि तीर्थों की कथाओं को—

[६—गयादितीर्थकथा]

प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं, तस्मादाहुर्बलं९ सत्यादोजीयः। इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता॥ सा हैषा गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे, तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्रीनाम॥ श० कां० १४। अ० ८। ब्रा० १५। कं० ६,७॥[1]

[2]**गय इत्यपत्यनामसु पठितम्**॥ निघं० अ० २। खं० २॥

तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति। तीर्थमेवोदयनीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति॥ श० कां० १२। अ० २। ब्रा० १। कं० १,५॥

अहिँसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः॥ इति छान्दोग्योपनिषदि[3]।

समानतीर्थे वासी॥ इत्यष्टाध्याय्याम्, अ० ४। पा० ४। सू० १०७॥ सतीर्थ्यो ब्रह्मचारीत्युदाहरणम्।

---

१ वै० य० मुद्रितेषु १-५ संस्करणेषु ब्राह्मणसंख्या १ निर्दिश्यते, ६-८ पर्यन्तं ५ संख्या च। अत्र १५ संख्या युक्ता।

२. वै० य० मुद्रितेषु १-७ संस्करणेषु उद्धरणमिदं 'तीर्थमेव०' इत्युद्धरणात् परं पठ्यते, स चास्थाने पाठः। अष्टमनवमसंस्करणयोर्यथास्थानमत्रैव निवेश उपलभ्यते।

३. मूलपाठे 'छान्दोग्योपनि०' पाठः। छा० उ० ८।१५॥

त्रयः स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति । यो विद्यां समाप्य व्रतमसमाप्य समावर्त्तते [स विद्यास्नातकः । यो व्रतं समाप्य विद्यामसमाप्य समावर्तते] स व्रतस्नातकः ।। इत्यादि पारस्करगृह्यसूत्रे[1] ।

नमस्तीर्थ्याय च ।। ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः ।। इति [2]शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम् अ० १६[3] ।।

भाष्यम्—एवमेव गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यमित्यत्रोच्यते । तद्यथा—[(प्राणो०)] प्राण एव बलमिति विज्ञायते, बलमोजीयः । तत्रैव सत्यं प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितम् । तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात् । गायत्र्यपि ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठिता, तां गायत्रीं 'गयाम्'[4] आह । प्राणानां गयेति[5] संज्ञा, 'प्राणा वै गयाः' इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम्, अर्थात् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्धधाना जीवा अनुतिष्ठेयुरित्येकं[6] गयाश्राद्धविधानम् । गयान् प्राणान् त्रायते सा 'गायत्री' इत्यभिधीयते ।

एवं गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च गयेति नामास्ति[7] । अत्रापि सर्वैर्मनुष्यैः श्रद्धातव्यम् । गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेया । मातुः पितुराचार्य्यस्यातिथेश्चान्येषां मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते । तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां चोत्तमशिक्षाकरणे ह्युपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्य्येति । अत्र श्रद्धाकरणेन विद्याप्राप्त्या मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते ।

अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावान्मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि शिल्पिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा, तस्यैव कैश्चित् स्वार्थसाधनतत्परैरुदरम्भरैर्विष्णुपदमिति नाम रक्षितं, तस्य स्थलस्य गयेति च । तद् व्यर्थमेव । कुतः? विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति, [गयपदं][8] प्राणगृहप्रजानां च । अतोऽत्रेयं तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम् । अत्र प्रमाणम्—

---

१. द्र०—पा०गृ० २।५।३२,३३,३४।। अत्रोद्धरणे '०स्नातकश्चेति' पठ्यमानश्चकारो मूलग्रन्थे नोपलभ्यते । 'यो विद्यां' इत्यारभ्य 'व्रतस्नातकः' इत्यन्तः पाठोऽर्थतोऽनुवादरूपो द्रष्टव्यः । अत्रैव च [ ] कोष्ठे प्रवर्धितः पाठो लिपिकरदोषात् मुद्रणदोषाद्वा नष्टः प्रतीयते, वाक्यार्थस्यानुपपद्यमानत्वात् संस्कृतव्याख्याने दर्शनाच्च ।

२. द्रष्टव्यः पूर्वत्र पृष्ठ १७८, टि० १ ।। ३. मन्त्र ४२, ६१ ।।

४. अत्र कश्चित् पाठभ्रंशः समजनीति प्रतीयते । नहि गयाया गायत्री नाम, अपि तु 'गयांस्तत्रे' इत्युक्तं शतपथोद्धरणे । तस्मादत्र 'सा गायत्री प्राणांस्तत्र इत्याह' पाठेन भाव्यम् ।

५ 'गयेति' अविभक्त्यन्तनिर्देशो द्रष्टव्यः । ६. अत्र 'इत्येवं' पाठो युक्तः स्यात् ।

७. 'गयः' गृहनामसु, निघण्टु ३ । ४; अपत्यनामसु, निघण्टु २।२।।

८. एतत्सन्दर्भारम्भे 'विष्णुगयेति च' वाक्ये द्वयोः पदयोरर्थविज्ञानाभाव उक्तः, तस्मादिहापि द्वयोः पदयोरर्थनिर्देश आवश्यकः । अपि च 'प्राणगृहप्रजा' इत्येतेऽर्था गयपदस्यैव न तु विष्णुपदस्य, पूर्वत्र प्राणादयोऽर्था गयपदस्यैव निर्दिष्टाः । तस्मादिह 'गयपदं' इत्यंशो लेखकप्रमादात् मुद्रणप्रमादाद्वा नष्ट इति ज्ञेयः ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ॥

यजु० अ० ५ । मं० १५ ॥

यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् । त्रेधा भावाय, पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः । समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूढमस्य पांसुरेप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा ॥

निरु० अ० १२ । खं० १९ ॥

अस्यार्थं यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता । तद्यथा—विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्त्ता तस्य विष्णुरिति[1] नाम । अत्राह निरुक्तकारः—

पृषेत्यथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा । तस्यैषा भवति—इदं विष्णुरित्यृक् ॥ निरु० अ० १२ । खं० १७ ॥[2]

वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोऽस्ति चराचरं जगत् व्यश्नुते व्याप्नोति वा, स विष्णुर्निराकारत्वात् सर्वगत ईश्वरोऽस्ति । एतदर्थवाचिकेयमृक्—

इदं सकलं जगत् त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान् । 'क्रमु पादविक्षेपे'[3] पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु निधत्ते निदधे स्थापितवान् । अर्थात् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम् । यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तत्सवमन्तरिक्षे । यच्च प्रकाशमयं सूर्य्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमयेऽग्नौ[4] वेति विज्ञेयम् । एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितम् । एषां मध्ये यत्समूढं मोहेन सह वर्तमानं ज्ञानवर्जितं जडं तत् पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वे लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम् । तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादार्हं स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम् ।

अयमेवार्थः (यदिदं किञ्च०)—इत्यनेन यास्काचार्य्येण वर्णितः । यदिदं किञ्चिज्जगद् वर्त्तते, तत् सर्वं विष्णुर्व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान् । (त्रिधा निधत्ते पदं०) त्रेधा भावाय, त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय, तदुक्तं पूर्वमेव । तस्मिन् विष्णुपदे मोक्षाख्ये समारोहणे समारोढुमर्हे गयशिरसीति प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति, तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते । यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्त्तते, तस्मिन् गयशिरसि

---

१. अत्र वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'पूषेति' अपपाठः, तस्य प्रसङ्गाभावात्, अनुपदमुद्ध्रियमाणे निरुक्तवचने 'पूषा' पदस्य पूर्वान्वयीत्वात्, निरुक्तोद्धरणव्याख्याने भाषार्थे च तथैव दर्शनाच्च । २. निरुक्तेऽयं पाठः १८ अष्टादशे खण्डे वर्तते । ३. क्षीरतरङ्गिणी १।३१६॥ ४. अग्निपदेनेह भौतिके जगति त्रिस्थानस्त्रिनामाऽग्निर्निर्दिश्यते, ज्ञानेन्द्रियजीवादिरूपेऽध्यात्मे अग्निपदेन जीवात्मा उच्यते ।

विष्णुपदे ह्रीश्वरसामर्थ्ये [सर्वं जगद्] अस्तीति। कुतः? व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात्। पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं यज्जगत् तच्चक्षुषा न दृश्यते। ये च पांसवः परमाणुसंघाताः पादैस्तद्द्रव्यांशैः सूयन्त उत्पद्यन्ते। अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्था दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते। इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः पण्डिताभासैः प्रचारित इति बोद्धव्यम्॥

तथैव वेदाद्युक्तरीत्याऽऽर्यैश्चानुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति। यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक् कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति, तानि 'तीर्थानि' मतानि। यानि च भ्रान्तै रचितपुस्तकेषु‡ जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञान्युक्तानि, तानि वेदार्थाभिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम्। तद्यथा—

(तीर्थमेव प्राय०) तत् प्रायणीयं[1] यज्ञस्याङ्गमतिरात्राख्यं व्रतं समाप्य स्नानं क्रियते। तदेव तीर्थमिति वेद्यं, येन तीर्थेन मनुष्याः प्रस्नाय शुद्धा भवन्ति। तथैव यदुदयनीयाख्यं यज्ञसम्बन्धि-सर्वोपकारकं कर्म समाप्य स्नान्ति, तदेव दुःखसमुद्रात् तारकत्वात् तीर्थमिति मन्तव्यम्॥

एवमेव (अहिंसन्०) मनुष्यः सर्वाणि भूतान्यहिंसन्, सर्वैर्भूतैर्वैरमकुर्वाणः सन् वर्त्तेत। परन्तु तीर्थेभ्यो वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्राहिंसा धर्मो मन्तव्यः। तद्यथा—यत्र यत्रापराधिनामुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्त्तव्यमेव। ये पाषण्डिनो[2] वेदसत्यधर्मानुष्ठानशत्रवश्चोरादयश्च ते तु यथापराधं हिंसनीया एव। अत्र वेदादिसत्यशास्त्राणां तीर्थसंज्ञास्ति। तेषामध्ययनाध्यापनेन तदुक्तधर्म्मकर्म्मविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसमुद्रात् तरन्त्येव। तेषु सम्यक् स्नात्वा मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः॥

तथैव (समानतीर्थे वासी) इत्यनेन समानो द्वयोर्विद्यार्थिनोरेक आचार्य्यः, समानमेकशास्त्राध्ययनं च। अत्राचार्य्यशास्त्रयोस्तीर्थसंज्ञास्ति। मातापित्रतिथीनां‡ सम्यक् सेवनेन सुशिक्षया विद्याप्राप्त्या दुःखसमुद्रान्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि दुःखात् तारकत्वादेव मन्तव्यानि। एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः सम्पादनीयेति॥

(त्रयः स्ना०) त्रय एव तीर्थेषु कृतस्नानाः शुद्धा भवन्ति। तद्यथा—यः सुनियमेन पूर्णां विद्यां पठति, स ब्रह्मचर्य्याश्रममसमाप्यापि विद्यातीर्थे स्नाति, स[3] शुद्धो भवति। यस्तु खलु द्वितीयः यत्पूर्वोक्तं ब्रह्मचर्य्यं सुनियमाचरणेन समाप्य, विद्यामसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातको भवति। यश्च सुनियमेन ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य वेदशास्त्रादिविद्यां च समावर्तते, सो[4]ऽप्यस्मिन्नुत्तमतीर्थे सम्यक् स्नात्वा यथावच्छुद्धात्मा शुद्धान्तःकरणः सत्यधर्माचारी परमविद्वान् सर्वोपकारको भवतीति विज्ञातव्यम्॥

(नमस्तीर्थ्याय च) तेषु प्राणवेदविज्ञानतीर्थेषु पूर्वोक्तेषु भवः सः तीर्थ्यः, तस्मै तीर्थ्याय परमेश्वराय नमोऽस्तु। ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति

१. 'यत् प्रायणीययज्ञस्याङ्गम्' इत्यपपाठो वै०य०मुद्रितेषु संस्करणेषु। द्रष्टव्यमुत्तरवाक्ये 'यदुदयनीयाख्य यज्ञ०' इति पाठः। २. वै०य०मुद्रितेषु संस्करणेषु 'पाखण्डिनो' इत्यपपाठो लेखकस्य षकारस्य खकारोच्चारणनिमित्तजः। ३. स विद्यास्नातक इत्यर्थः। ४. 'सोऽपि' पदेनेह विद्याव्रतस्नातकोऽभिप्रेतः।

व्यवहरन्ति, ये च पूर्वोक्तब्रह्मचर्य्यसेविनो रुद्रा महाबलाः, (सृकाहस्ताः) विद्याविज्ञाने हस्तौ येषां[1] ते (निषङ्गिणः) निषङ्गः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः खड्गो येषां ते सत्योपदेष्टारः । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति[2]' ब्राह्मणवाक्यात्[3], उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः । अत एवोक्तस्तीर्थ्य इति । सर्वेषां तारकाणां तीर्थनामात्मकत्वात्, परमतीर्थाख्यो धर्मात्मनां स्वभक्तानां सद्यस्तारकत्वात् परमेश्वर एवास्ति । एतेनैतानि तीर्थानि व्याख्यातानि ।।

प्रश्न — यैस्तरन्ति नरास्तानि जलस्थलादीनि तीर्थानि कुतो न भवन्ति ?

अत्रोच्यते—नव जलं स्थलं च तारकं कदाचिद् भवितुमर्हति, तत्र सामर्थ्याभावात् करणकारकव्युत्पत्त्यभावाच्च । जलस्थलादीनि नौकादिभिर्यानैः पद्भ्यां बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति । तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति, करणकारकान्वितानि तु नौकादीनि । यदि पद्भ्यां गमनं बाहुबलं [च] न कुर्य्यान्न च नौकादिषु तिष्ठेत्, तर्ह्यवश्यं तत्र मनुष्यो मज्जेन्महद् दुःखं च प्राप्नुयात् । तस्माद् वेदानुयायिनामार्य्याणां मते काशीप्रयागपुष्करगङ्गायमुनादि[नगर]नदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिध्यति । किन्तु वेदविज्ञानरहितैरुदरम्भरैः सम्प्रदायस्थैर्जीविकाधीनैर्वेदमार्गविरोधिभिरल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितग्रन्थेषु तीर्थसंज्ञया प्रसिद्धीकृतानि सन्तीति ।

ननु—'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती'ति[4] गङ्गादिनदीनां वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति, त्वय कथं न मन्यते ?

अत्रोच्यते—मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति । ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति । ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति, तावत् तासां मान्यं करोमि, न च पापनाशकत्वं दुःखात् तारकत्वं च । कुतः ? जलस्थलादीनां तत्सामर्थ्याभावात् । इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेष्वेव तीर्थेषु गम्यते, नान्यत्रेति ।

अन्यच्च, इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति[5] । तासां योगसमाधौ[6]

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'तेषां' ते इत्यपपाठः । २. बृह० उ० ३ । ६ । २६।।

३. बृहदारण्याख्यमुपनिषच्छतपथब्राह्मणस्य चतुर्दशकाण्डे पठ्यते, इत्यतस्तस्या ब्राह्मणत्वम् । आरण्यकानि पृथग्रूपेण पठ्यमानान्यपि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव । ४. ऋ० १०।७५।५।।

५. नदीसूक्ते पठितैर्गङ्गादिपदैरिडापिङ्गलादिनाडीनां ग्रहणं नोपपद्यत इति चेन्न । नहीह नदीपदं भूमिस्थजलधारावाचकमेव, एवमेव पठितानि गङ्गादीनि पदान्यपि न लोके प्रसिद्धानां गङ्गादिनदीनां ग्राहकाणि । कुत इति चेत्? वैदिकपदानां यौगिकत्वात् । अपि च, पदार्थनिश्चय उपक्रमोऽप्यन्यतमं साधनमिति मीमांसकाः संगिरन्ते (द्र०—मीमांसा ३।३।२) । तदनुसारमिहार्थनिश्चयाय सूक्तस्योपक्रमे (प्रथममन्त्रे) 'प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः' इति पाठो महत्साहाय्यं विदधाति । एतेन विस्पष्टं ज्ञाप्यते यदस्मिन् सूक्ते यासां गङ्गादीनां नदीनां वर्णनं विद्यते न ता भूमिस्था जलधारा एव, अपि त्विमाः सूक्तोक्ता गङ्गाद्या नद्यो दिवि अन्तरिक्षे पृथिव्यां च त्रिष्वपि स्थानेषु वर्तन्त इति । ताश्च दिवि सप्तविधाः किरणाः, अन्तरिक्षे परिवहभेदेन वर्तमानाः सप्तविधा मेघाः, पृथिव्यां च सप्तविधजलवत्यो जलधारा गृह्यन्ते । एवमेव 'यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे' इति न्यायेन सप्तविधा एव गङ्गाद्या नद्योऽध्यात्मे=शरीरे सप्तविधनाडीरूपा गृह्यन्ते । अतएवेह ग्रन्थकारोऽध्यात्मपक्षमाश्रित्य गङ्गादिपदैरिडादीनां नाडीनां ग्रहणं करोति ।

६. अत्र कश्चित् पाठभ्रंशोऽजनीति ज्ञायते । अस्मन्मते तु तासां मध्ये योगसमाधिना परमेश्वरस्य

परमेश्वरस्य ग्रहणात्। तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव। तासामिडादीनां धारणा-
सिध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात्। एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानु-
वर्त्तनात्[1]।

एवमेव—'सितासिते [सरिते] यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति०।'[2] एतेन परिशिष्ट-
वचनेन केचिद् गङ्गायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति। 'सङ्गथे' इति पदेन गङ्गायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थ-
मिति संज्ञां कुर्वन्ति। तन्न सङ्गच्छते—कुतः? नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं
परमेश्वरं सूर्य्यलोकं वोत्पतन्ति गच्छन्ति, किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः। अत्रापि[3]
'सित'शब्देनेडायाः, 'असित'शब्देन पिङ्गलायाश्च ग्रहणम्। यत्र तु खल्वेतयोर्नाड्योः सुषुम्णायां
समागमो मेलनं भवति, तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्य-
विज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। अतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं, न च तयोः[4]। अत्र प्रमाणम्—
सितमिति वर्णनाम[5], तत्प्रतिषेधोऽसितम्॥ निरु० अ० ९। खं० २६॥ सितं शुक्लवर्णमसितं तस्य
निषेधः। तयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्य्यादिपृथिव्यादिपदार्थयोर्यत्रेश्वरसामर्थ्ये समागमोऽस्ति, तत्र
कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो दिवं पूर्वोक्तं गच्छन्त्येव।

भाषार्थ—छठी यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रक्खा है। "लोगों ने मगध देश में
एक स्थान है, वहां फल्गु नदी के तीर पाषाण पर मनुष्य के पग का चिह्न बनाके उसका
'विष्णुपद' नाम रख दिया है। और यह बात प्रसिद्ध कर दी है कि यहां श्राद्ध करने से पितरों की
मुक्ति हो जाती है।" जो लोग आंख के अंधे गांठ के पूरे उनके जाल में जा फसते हैं, उनकी गया-
वाले उल्टे उस्तरे से खूब हजामत बनाते हैं। इत्यादि प्रमाद से उनके धन का नाश कराते हैं।
वह परधनहरण पेटपालक ठगलीला केवल झूठ की ही गठरी है। जैसा कि सत्यशास्त्रों में लिखी
हुई आगे की कथा देखने से सबको प्रगट हो जावेगा—

(प्राणो वै बलं०) इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त श्रद्धा से गया-संज्ञक प्राण

ग्रहणात्' इति पाठो युक्तो ज्ञेयः। भाषार्थोऽपीममेव पाठं संकेतयति।

१. अस्मात् सूक्तात् पूर्वसूक्तयोरिन्द्रस्य परमात्मनो वर्णनाद् अस्मिन् सूक्ते परमेश्वरस्यानुवृत्तिरुक्ता
ग्रन्थकृता।

२. ग्रन्थकृताऽत्र 'उत्पतन्ति' पदादुत्तरत्र बिन्दुनिर्देशः कृतः, तेन मन्त्रपूर्तिरत्र कार्येति
द्योत्यते। तथा चायमुत्तरार्धः—'**ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते**' इति। मन्त्रोऽयमस्यैव
सूक्तस्य परिशिष्टे पठ्यते। द्र०—परिशिष्ट २२ (सातवलेकरीयमृक्संस्करणम्)।

३. वैदिकपरिशिष्टरूपा मन्त्रा अपि प्रमाणभूता इत्ययमर्थो ग्रन्थकृताऽस्य परिशिष्टवचनस्य प्रमाणत्वेनो-
पन्यासात्, तस्य साध्वर्थप्रदर्शनप्रयासाच्च ज्ञाप्यते। १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधा-
नान्ते लक्ष्मीसूक्तस्य व्याख्यानादपि परिशिष्टमन्त्राणां प्रामाण्यं ज्ञाप्यते। परिशिष्टवचनानि परतः प्रामाण्यमर्हन्ति,
न वेदवत् स्वतः प्रामाण्यम्। अत एवात्र पठितानि कतिपयानि परिशिष्टानि तदेकदेशा वा अप्रमाणार्हा अपि
सन्ति।

४. न च तयोः—'लोकप्रसिद्धयोर्नद्योः' इति शेषः।

५. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सितासितमिति' इत्येवमपपाठो दृश्यते, व्याख्याने 'सितमिति' पाठस्यैव
व्याख्यानात्, निरुक्ते तथैवोपलम्भाच्च।

आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है। प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है। क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है। और उसका प्रतिपादन करनेवाला गायत्री मन्त्र है कि जिसको "गया' कहते हैं। किसलिये कि उनका अर्थ जानके श्रद्धासहित परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। तथा प्राण का भी नाम 'गया' है। उसको प्राणायाम की रीति से रोकके परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करनेवाला है। इसलिये ईश्वर का नाम 'गायत्री' और 'गायत्री' का नाम "गया' है।

तथा निघण्टु में घर सन्तान और प्रजा इन तीनों का नाम भी 'गया' है। मनुष्यों को इनमें अत्यन्त श्रद्धा करनी चाहिये। इसी प्रकार माता-पिता आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सबके उपकार और उन्नति के कामों की सिद्धि करने में जो अत्यन्त श्रद्धा करनी है, उसका नाम 'गयाश्राद्ध' है।

तथा अपने सन्तानों को सुशिक्षा से विद्या देना, और उनके पालन में अत्यन्त प्रीति करनी, इसका नाम भी 'गयाश्राद्ध' है।

तथा धर्म से प्रजा का पालन, सुख की उन्नति, विद्या का प्रचार, श्रेष्ठों की रक्षा, दुष्टों को दण्ड देना, और सत्य की उन्नति आदि धर्म के काम करना, ये सब मिलकर अथवा पृथक्-पृथक् भी 'गयाश्राद्ध' कहाते हैं।

इस अत्यन्त श्रेष्ठ कथा को छोड़के विद्याहीन पुरुषों ने जो मिथ्या कथा बना रक्खी है, उसको कभी न मानना।

और जो वहां पाषाण के ऊपर मनुष्य के पग का चिह्न बनाकर उसका नाम 'विष्णुपद' रक्खा है, सो सब मूल से ही मिथ्या है। क्योंकि व्यापक परमेश्वर, जो सब जगत् का करनेवाला है, उसी का नाम 'विष्णु' है।

देखो यहां निरुक्तकार ने कहा है कि—(पूषेत्यथ०)—'विष्लृ' धातु का अर्थ व्यापक होने, अर्थात् सब चराचर जगत् में प्रविष्ट रहना, वा जगत् को अपने में स्थापन करलेने का है। इसलिये निराकार ईश्वर का नाम 'विष्णु' है।

'**क्रमु पादविक्षेपे**' यह धातु दूसरी वस्तु को पगों से दबाना वा स्थापन करना, इस अर्थ को बतलाता है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है। अर्थात् भारसहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु [वायु] आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में, तथा प्रकाशमान सूर्य्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में। इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है। फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूढ़ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है, वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल

१. यहां भी संस्कृतपाठ के समान कुछ पाठ भ्रष्ट हुआ है। द्र०— पृष्ठ ३४०, टि० ४।

के बीच में स्थित है। सो यह केवल परमेश्वर ही की महिमा है कि जिसने ऐसे-ऐसे अद्भुत पदार्थ रचके सबको धारण कर रक्खा है।

(यदिदं किंच०)—इस 'विष्णुपद' के विषय में यास्कमुनि ने भी इस प्रकार व्याख्यान किया है कि यह सब जगत् सर्वव्यापक परमेश्वर ने बनाकर, त्रिधा=इसमें तीन प्रकार की रचना दिखलाई है। जिससे मोक्षपद को प्राप्त होते हैं, वह 'समारोहण' कहाता है। सो विष्णुपद गयशिर अर्थात् प्राणों के परे है। उसको मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होके, प्राण से प्रिय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं, अन्य मार्ग से नहीं। क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है, उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। उसमें से सूक्ष्म जो जगत् का भाग है, सो आंख से दीखने योग्य नहीं हो सकता। किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल हो जाता है, तभी वह नेत्रों से देखने में आता है। यह दोनों प्रकार का जगत् जिसके बीच में ठहर रहा है, और जो उसमें परिपूर्ण हो रहा है, ऐसे परमात्मा को 'विष्णुपद' कहते हैं।

इस सत्य अर्थ को न जानके अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पग का चिह्न बनाकर उसका नाम 'विष्णुपद' रख छोड़ा है, सो सब मिथ्या बातें हैं॥

तथा तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा जानके अज्ञानियों ने जगत् के लूटने और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये मिथ्याचार कर रक्खा है। सो ठीक नहीं, क्योंकि जो-जो सत्य तीर्थ हैं, वे सब नीचे लिखे जाते हैं—

देखो 'तीर्थ' नाम उनका है कि जिनसे जीव दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हों। अर्थात् जो-जो वेदादिशास्त्रप्रतिपादित तीर्थ हैं, तथा जिनका आर्यों ने अनुष्ठान किया है, जो कि जीवों को दुःखों से छुड़ाके उनके सुखों के साधन हैं, उनही को 'तीर्थ' कहते हैं।

वेदोक्त तीर्थ ये हैं—(तीर्थमेव प्राय०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है, उसको 'तीर्थ' कहते हैं। क्योंकि उस कर्म से वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है। इस कारण उन कर्मों के करनेवाले मनुष्यों को भी सुख और शुद्धि प्राप्त होती है॥

तथा (अहिंसन्०) सब मनुष्यों को इस 'तीर्थ' का सेवन करना उचित है कि अपने मन से वैरभाव को छोड़के सबके सुख करने में प्रवृत्त होना, और किसी संसारी व्यवहार के वर्त्तावों में दुःख न देना। परन्तु (अन्यत्र तीर्थेभ्यः) जो-जो व्यवहार वेदादिशास्त्रों में निषिद्ध माने हैं, उनके करने में दण्ड का होना अवश्य है। अर्थात् जो-जो मनुष्य अपराधी, पाखण्डी अर्थात् वेदशास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान के शत्रु, अपने सुख में प्रवृत्त, और परपीड़ा में प्रवर्त्तमान हैं, वे सदैव दण्ड पाने के योग्य हैं। इससे वेदादि सत्य-शास्त्रों का नाम 'तीर्थ' है, कि जिनके पढ़ने-पढ़ाने और उनमें कहे हुए मार्गों में चलने से मनुष्य लोग दुःखसागर को तरके सुखों को प्राप्त होते हैं॥

(समानतीर्थे०) इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेदादिशास्त्रों को पढ़नेवाला जो आचार्य्य है उसका, वेदादिशास्त्रों तथा माता-पिता और अतिथि का भी नाम 'तीर्थ' है। क्योंकि उनकी सेवा करने से जीवात्मा शुद्ध होकर दुःखों से पार हो जाता है। इससे इनका भी 'तीर्थ' नाम है॥

(त्रयः स्नातका०) इन तीर्थों में स्नान करने के योग्य तीन पुरुष होते हैं। एक तो वह कि—जो उत्तम नियमों से वेद-विद्या को पढ़के, ब्रह्मचर्य को विना समाप्त करे भी विद्या का पढ़ना पूरा करके ज्ञानरूपी 'तीर्थ' में स्नान करके शुद्ध हो जाता है। दूसरा—जो कि पच्चीस, तीस, छत्तीस, चवालीस अथवा अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त नियम के साथ पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य को समाप्त करके और विद्या को विना समाप्त किये भी विवाह करता है। वह व्रतस्नातक अर्थात् उस ब्रह्मचर्य 'तीर्थ' में स्नान करके शुद्ध हो जाता है। और तीसरा यह है कि—नियम से ब्रह्मचर्य्याश्रम तथा वेदादि-शास्त्रविद्या को समाप्त करके, समावर्त्तन अर्थात् उसी के फलरूपी उत्तम 'तीर्थ' में भले प्रकार स्नान करके यथायोग्य पवित्रदेह, शुद्ध अन्तःकरण, श्रेष्ठविद्या, बल और परोपकार को प्राप्त होता है॥

(नमस्तीर्थ्याय०) उक्त प्राण वेद विज्ञानादि तीर्थों में होनेवाला 'तीर्थ्य' कहाता है। उस तीर्थ्यरूप परमेश्वर को हमारा नमस्कार है। जो विद्वान् लोग वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सत्य-कथनरूप तीर्थों का प्रचार करते हैं, तथा जो चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम सेवन करते हैं, वे बड़े बलवाले होकर 'रुद्र' कहाते हैं। (सृकाहस्ता०) जिनके सृका अर्थात् विज्ञानरूप हस्त तथा निषङ्ग=संशय की काटनेवाली उपदेशरूप तलवार है, वे सत्य के उपदेशक भी 'रुद्र' कहाते हैं। तथा उपनिषदों से प्रतिपादन किया हुआ, उपदेश करने योग्य जो परमेश्वर है, उसको 'परमतीर्थ' कहते हैं। क्योंकि उसी की कृपा और प्राप्ति से जीव सब दुःखों से तर जाते हैं॥

प्रश्न – जिनसे मनुष्य लोग तर जाते हैं, अर्थात् जल और स्थान विशेष, वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते?

उत्तर – नहीं। क्योंकि उनमें तारने का सामर्थ्य ही नहीं [है]। और 'तीर्थ' शब्द करणकारक-युक्त लिया जाता है। जो जल वा स्थानविशेष अधिकरण वा कर्मकारक होते हैं, उनमें नाव आदि अथवा हाथ और पग मे तरते हैं। इससे जल वा स्थल तारनेवाले कभी नहीं हो सकते। किसलिये कि जो जल में हाथ वा पग न चलावें, वा नौका आदि पर न बैठें, तो कभी नहीं तर सकते। इस युक्ति से भी काशी, प्रयाग, गङ्गा, यमुना, समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते। इस कारण से सत्यशास्त्रोक्त जो तीर्थ हैं, उन्हीं को मानना चाहिये, जल और स्थानविशेष को नहीं।

प्रश्न—(इमं मे गङ्गे०) यह मन्त्र गङ्गा आदि नदियों को तीर्थ विधान करनेवाला है। फिर इनको तीर्थ क्यों नहीं मानते?

उत्तर—हम लोग उनको नदी मानते हैं। और उनके जल में जो-जो गुण हैं, उनको भी मानते हैं। परन्तु पाप छुड़ाना और दुःखों से तारना, यह उनका सामर्थ्य नहीं। किन्तु यह सामर्थ्य तो केवल पूर्वोक्त तीर्थों में ही है। तथा इस मन्त्र में 'गङ्गा' आदि नाम इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, कूर्म्म और जाठराग्नि की नाड़ियों के हैं। उनमें योगाभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं। क्योंकि उपासना में नाड़ियों ही के द्वारा धारण करनी होती है। इस हेतु से इस मन्त्र में उनकी गणना की है। इसलिये उक्त नामों से नाड़ियों का ही ग्रहण करना योग्य है॥

(सितासिते०)—सित इडा और असित पिङ्गला, ये दोनों जहां सुषुम्णा में मिली हैं,[१] उसमें परमयोगी लोग योगाभ्यास से स्नान करके शुद्ध हो जाते हैं। फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। इसमें निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि—'सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के वाची हैं।' इस अभिप्राय से विरुद्ध मिथ्या अर्थ करके लोगों ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से ग्रहण कर लिया है।

[मूर्तिपूजानामस्मरणयोर्मिथ्यात्वम्]

तथैव यत्तन्त्रपुराणादिग्रन्थेषु मूर्तिपूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति, तदपि मिथ्यैवास्तीति वेद्यम्। कुतः? वेदादिषु सत्येषु ग्रन्थेषु तस्य विधानाभावात्। तत्र तु प्रत्युत निषेधो वरीवर्तते[२]। तद्यथा—

न तस्य॑ प्रति॒मा॑ऽ अस्ति॒ यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यशः॑।
हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भऽ इत्ये॒ष मा मा॑ हिꣳसी॒दित्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒तऽ इत्ये॒षः॥ १॥

यजुः० अ० ३२। मं० ३॥

भाष्यम्—(यस्य) पूर्णस्य पुरुषस्याजस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य ([नाम] महद्यशः) यस्याज्ञापालनाख्यं महाकीर्त्तिकरं धर्म्यं सत्यभाषणादिकर्त्तुमर्हं कर्माचरणं नामस्मरणमस्ति, (हिरण्यगर्भः)[३] यो हिरण्यानां सूर्य्यादीनां तेजस्विनां गर्भ उत्पत्तिस्थानम्, [(मा मा०)] तस्य[४] सर्वैर्मनुष्यैर्मा मा हिꣳसीदित्येषा प्रार्थना कार्या। (यस्मान्न०) यो यतः कारणान्नैवैषः कस्यचित्सकाशात् कदाचिदुत्पन्नो, नैव कदाचिच्छरीरधारणं करोति। [(न तस्य०)] नैव तस्य प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः, प्रतिकृतिः, प्रतिमानं, तोलनसाधनं, परिमाणं, मूर्त्यादिकल्पनं किञ्चिदप्यस्ति, परमेश्वरस्यानुपमेयत्वाद् अमूर्त्तत्वाद् अपरिमेयत्वान्निराकारत्वात् सर्वत्राभिव्याप्तत्वाच्च[५]॥ [१॥]

इत्यनेन प्रमाणेन मूर्तिपूजननिषेधः।

स पर्य॑गाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णम॑स्नावि॒रꣳ शु॒द्धमपा॑पविद्धम्।
क॒विर्म॑नी॒षी प॑रि॒भूः स्व॑य॒म्भूर्या॑थातथ्य॒तोऽर्था॒न् व्यद॑धाच्छाश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः॥२॥

य० अ० ४०। मं० ८॥

---

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में भाषा-पाठ अन्यथा है। २. वै० य० मुद्रिते प्रथमसंस्करणे शताब्दीसंस्करणं षष्ठसप्तमाष्टमेषु चायं पाठ उपलभ्यते। द्वितीयादारभ्य पञ्चमसंस्करणपर्यन्तं नवमे च 'वरीवृत्यते' पाठो दृश्यते। उभावपि प्रमादपाठौ। 'वरीवर्तीति' शुद्धः पाठोऽत्र द्रष्टव्यः, यङ्लुकः शपो लुग्विधानात् परस्मैपदनियमाच्च।

३. यजुर्वेदभाष्ये ग्रन्थकृता 'हिरण्यगर्भः' आदीनामितिपदेन निर्दिष्टानां पाठानां प्रतीकत्वं पक्षान्तरं उक्तम्।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'यस्य' प्रमादपाठः। ५. नात्र हेतुहेतुमतां यथासंख्यं निर्देशः। तेनात्रेत्थं सम्बन्धो ज्ञेयः—परमेश्वरस्यानुपमेयत्वात् प्रतिनिधिर्नास्ति, अमूर्तत्वात् प्रतिकृतिर्न, अपरिमेयत्वात् प्रतिमानं न, सर्वत्राभिव्याप्तत्वात् परिमाणं न, निराकारत्वात् मूर्त्यादिकल्पनं च नेति।

भाष्यम्—यः (कविः) सर्वज्ञः, (मनीषी) सर्वसाक्षी, (परिभूः) सर्वोपरि विराजमानः, (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूपः परमेश्वरः (शाश्वतीभ्यः) नित्याभ्यः (समाभ्यः) प्रजाभ्यो वेदद्वाराऽन्तर्यामितया च (याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्) विहितवानस्ति, (स पर्य्यगात्) सर्वव्यापकोऽस्ति। यत् (शुक्रम्) वीर्य्यवत्तमम, (अकायम्) मूर्तिजन्मधारणरहितम्, (अव्रणम्) छेदभेदरहितम्, (अस्नाविरम्) नाडीबन्धनादिविरहम्, (शुद्धम्) निर्दोषम्, (अपापविद्धम्) पापात् पृथग्भूतम्, यदीदृशलक्षणं ब्रह्म [तत्] सर्वैरुपासनीयमिति मन्यध्वम् ॥[२॥]

इत्यनेनापि शरीरजन्ममरणरहित ईश्वरः प्रतिपाद्यते। तस्मादयं नैव केनापि मूर्त्तिपूजने योजयितुं शक्य इति।

प्रश्नः—वेदेषु प्रतिमाशब्दोऽस्ति न वा ?

उतरम्—अस्ति।

प्रश्नः—पुनः किमर्थो निषेधः ?

उत्तरम्—नैव प्रतिमार्थेन मूर्त्तयो गृह्यन्ते। किं तर्हि ? परिमाणार्था गृह्यन्ते।

अत्र प्रमाणानि—

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज ॥३॥ अथर्व कां० ३। व १०। मं० ३॥[1]

मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहूर्त्ताः ॥[४॥] श० कां० १०। प्र० ३। ब्रा० २। कं २०॥[2]

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥[५॥]

सामवेदीय-तवलकारोपनिषदि, खंड १। मं० ४॥

इत्यादिमन्त्रपञ्चकं[3] मूर्त्यादिनिषेधकमिति बोध्यम्।

भाष्यम्—[(संवत्सर०)] विद्वांसः संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते, वयमपि त्वा[4] तामेवोपास्महे। अर्थाद्याः संवत्सरस्य त्रीणि शतानि षष्टिश्च रात्रयो भवन्ति, यत एताभिरेव संवत्सरः परिमीयते, तस्मादेतासां 'प्रतिमा' संज्ञेति। [(सा न०)] यथा सेयं रात्रिर्नोऽस्माकं

१. अथर्व का० ३। सू० १०। मं० ३॥

२. शत० का० १०। अ० ४। ब्रा० ३। कं० २० इति शुद्धो निर्देशो ज्ञेयः।

३. अर्थाद् 'यद्वाचा' इत्यारम्य 'यत्प्राणेन' इति पर्यन्तं मन्त्रपञ्चकम्।

४. 'त्वां' इत्यपपाठो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु, मन्त्रे 'त्वा' पदस्य दर्शनात्।

रायस्पोषेण धनपुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां (संसृज) सम्यक् सृजेत्, तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेय-मिति ॥[३॥]

(मुहूर्ता०) तथा ये संवत्सरस्य दशसहस्राण्यष्टौ शतानि घटिकाद्वयात्मका मुहूर्ताः सन्ति, तेऽपि 'प्रतिमा' शब्दार्था विज्ञेयाः ॥[४॥]

(यद्वाचा०) यदसंस्कृतवाण्या अविषयं येन वाणी विदितास्ति, [(तदेव०)] तद् ब्रह्म हे मनुष्य ! त्वं विद्धि। यद् इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवैतद् ब्रह्मास्ति। किन्तु विद्वांसो यन्निराकारं सर्वव्यापकमजं सर्वनियन्तृ सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपासते, त्वयापि तदेवोपासनीयं, नेतरदिति ॥[५॥]

प्र०—किञ्च भोः ! मनुस्मृतौ—'प्रतिमानां च भेदकः'[1]; 'दैवतान्यभिगच्छेत्तु'[2]; 'देवता-ऽभ्यर्चनं चैव'[3]; 'देवतानां च कुत्सनम्'[4]; 'देवतायतनानि च'[5]; 'देवतानां छायोल्लङ्घननिषेधः'[6]; 'प्रदक्षिणानि कुर्वीत देवब्राह्मणसन्निधौ'[7]; 'देवतागारभेदकान्'[8] उक्तानामेतेषां वचनानां का गतिरिति ?

उ०—अत्र 'प्रतिमा'शब्देन रक्तिकामाषसेटकादीनि तोलनसाधनानि गृह्यन्ते। तद्यथा—'तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात् सुलक्षितम्' ॥ मनु० अ० ८। श्लोकः ४०३, इत्यनया मनूक्तरीत्यैव प्रतिमाप्रतीमानशब्दयोरेकार्थत्वात् तोलनसाधनानि गृह्यन्त इति बोध्यम्। अत एव प्रतिमाना-मधिकन्यूनकारिणे दण्डो देय इत्युक्तः। विद्वांसो देवास्ते यत्राधीयतेऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि 'दैवतानि' इत्युच्यन्ते। देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि 'दैवतानि देवतायतनानि च' सन्तीति बोध्यम्। विदुषामेवाभ्यर्चनं सत्करणं कर्त्तव्यमिति। नैवैतेषां केनचिदपि निन्दा छायोल्लङ्घनं स्थानविनाशश्च कर्त्तव्यः। किन्तु सर्वैरेतेषां सामीप्यगमनं, न्यायप्रापणं, दक्षिणपार्श्वे स्थापनं, स्वेषां वामपार्श्वे स्थितिश्च कार्य्येति।

एवमेव यत्र यत्रान्यत्रापि प्रतिमादेवदेवतायतनादिशब्दाः सन्ति, तत्र तत्रैवमर्था विज्ञेयाः। ग्रन्थभूयस्त्वभिया नात्र ते लेखितुं शक्या इति। एतावतैव मूर्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिनिषेधा बोध्याः।

भाषार्थ—अब इसके आगे जो नवीन कल्पित तन्त्र और पुराण ग्रन्थ हैं, उनमें पत्थर आदि की मूर्तिपूजा, तथा नाना प्रकार के नामस्मरण, अर्थात् राम-राम, कृष्ण-कृष्ण, काष्ठादि माला, तिलक इत्यादि का विधान करके उनको अत्यन्त प्रीति के साथ जो मुक्ति पाने के साधन मान रक्खें हैं, ये सब बातें भी मिथ्या ही जानना चाहियें। क्योंकि वेदादि सत्य ग्रन्थों में इन बातों का कहीं चिह्न भी नहीं पाया जाता है, किन्तु उनका निषेध ही किया है। जैसे—

---

१. मनु० ६। २८५ ॥ २. मनु० ४। १५३ ॥ तत्र 'दैवान्य०' पाठः।
३. मनु० २। १७६ ॥ ४. मनु० ४। १६३ ॥ ५. मनु० ८। २४८ ॥
६. द्र०—मनु० ४। १३० ॥ ७. द्र०—मनु० ४। ३९ ॥ ८. मनु० ९। २८० ॥

(न तस्य०)—'पूर्ण' जो किसी प्रकार से कम नहीं, 'अज' जो जन्म नहीं लेता, और 'निराकार' जिसकी किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं, इत्यादि लक्षणयुक्त जो परमेश्वर है, जिसकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन और उत्तम कीर्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं, उनका करना ही जिसका 'नामस्मरण' कहाता है। (हिरण्यगर्भ०) जो परमेश्वर तेजवाले सूर्य्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है, जिसकी प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है कि—(मा मा हिꣳसी०) हे परमात्मन्! हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिये। कोई कहे कि इस निराकार सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये? तो उत्तर यह है कि—(यस्मान्न०) अर्थात् जो परमेश्वर किसी माता-पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता [है] और न होगा, और न वह कभी शरीर धारण करके बालक जवान और वृद्ध होता है, (न तस्य०) उस परमेश्वर की 'प्रतिमा' अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिबिम्ब वा सदृश, अर्थात् जिसको तस्वीर कहते हैं, सो किसी प्रकार नहीं है। क्योंकि वह अमूर्त[1], अनन्त=सीमारहित, निराकार और सब में व्यापक है। इससे निराकार ही की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये॥ [१॥]

कदाचित् कोई शङ्का करे कि—शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है? तो यह बात समझनी चाहिये कि—जो प्रथम जन्म लेकर शरीर धारण करेगा, और फिर वह वृद्ध होकर मर जायेगा, तब किसकी पूजा करोगे? इस प्रकार मूर्तिपूजन का निषेध वेद से सिद्ध हो गया।

तथा (स पर्य्यगाच्छु०)—जो परमेश्वर (कविः) सबका जाननेवाला, (मनीषी) सबके मन का साक्षी, (परिभूः) सबके ऊपर विराजमान, और (स्वयंभूः) अनादिस्वरूप है, [(याथात०)] जो अपनी अनादिस्वरूप प्रजा को अन्तर्यामिरूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है, (स पर्य्यगात्) सो सब में व्यापक, (शुक्रम्) अत्यन्त पराक्रमवाला, (अकायम्) सब प्रकार के शरीर से रहित, (अव्रणम्) कटना और सब रोगों से रहित, (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक्, (शुद्धम्) सब दोषों से अलग, और (अपापविद्धम्) सब पापों से न्यारा, इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है, वही सबको उपासना के योग्य है, ऐसा ही सबको मानना चाहिये॥ [२॥]

क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीर धारण करके जन्म-मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर [के] विषय में पाया ही गया। इससे इसकी पत्थर आदि की मूर्त्ति बनाके पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता।

(संवत्सरस्य०) विद्वान् लोग संवत्सर की, जिस (प्रतिमां०) क्षण आदि काल के विभाग करनेवाली रात्रि की उपासना करते हैं, हम लोग भी उसी का सेवन करें। जो एक वर्ष की ३६० तीन सौ साठ रात्रि होती हैं, इतनी रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है। इसलिये इन रात्रियों की भी 'प्रतिमा' संज्ञा है। (सा न आयु०) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोग सत्कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक सम्पूर्ण आयुयुक्त सन्तानों को उत्पन्न करें॥ [३॥]

इसी मन्त्र का भावार्थ कुछ शतपथ ब्राह्मण में भी है, कि—(मुहूर्त्ता०) एक संवत्सर के

---

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'मूर्तिरहित' पाठ है।

१०८०० मुहूर्त्त होते हैं। ये भी 'प्रतिमा' शब्द के अर्थ में समझने चाहियें। क्योंकि इनसे भी वर्ष का परिमाण होता है ॥[४॥]

(यद्वाचा०) जो कि अविद्यायुक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता, जो सब की वाणियों को जानता है, हे मनुष्यो ! तुम लोग उसी को परमेश्वर जानो। और न कि मूर्त्तिमान् जगत के पदार्थों को, जोकि उसके रचे हुए हैं। अर्थात् निराकार व्यापक सब पदार्थों का नियम करनेवाला और सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म है, उसी की उपासना तुम लोग करो। यह उपनिषत्कार ऋषियों का मत है ॥[५॥]

प्र०—क्योंजी ! मनुस्मृति में जो **'प्रतिमानां'** इत्यादि वचन हैं, उनसे तो यह बात मालूम होती है कि जो कोई प्रतिमा को तोड़े, उसको राजा दण्ड देवे। तथा देवताओं के पास जाना, उनकी पूजा करना, उनकी छाया का उल्लंघन नहीं करना, और उनकी परिक्रमा करना, इत्यादि प्रमाणों से तो मूर्त्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है, फिर आप कैसे नहीं मानते हैं ?

उ०—क्यों भ्रम में पड़े हुए हो, होश में आओ। और आंखे खोलकर देखो कि 'प्रतिमा' शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्त्ति लेते हो, सो यह केवल तुम्हारी अज्ञानता अर्थात् कम समझ है। क्योंकि मनुस्मृति में तो 'प्रतिमा' शब्द करके (तुलामान०) रत्ति, छटांक, पाउ, सेर और पसेरी आदि तोल के साधनों को ग्रहण किया है। क्योंकि 'तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतिमान वा प्रतिमा अर्थात् बाट इनकी परीक्षा राजा लोग छठे-छठे मास अर्थात् छः-छः महीने में एक बार किया करें। कि जिससे उनमें कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट-बढ़ न कर सकें। और कदाचित् कोई करे, तो उसको दण्ड देवें।'

फिर (देवताभ्यर्चनं०) इत्यादि वचनों से यह बात समझ लेनी चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् मनुष्यों का नाम 'देव' कहा है, [देव ही देवता कहाते हैं।] जिन स्थानों में विद्वान् लोग पढ़ते-पढ़ाते और निवास करते हैं, उन स्थानों को 'देवतायतन' कहते हैं। वहां जाना, बैठना, और उन लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सबका अवश्य करने चाहियें। (देवतानां च कुत्सनम्) उन विद्वानों की निन्दा, उनका अपमान, और उनके स्थानों में किसी प्रकार का बिगाड़ व उपद्रव आदि दोष की बातें कभी न करना चाहिये। किन्तु (दैवतान्यभि०) सब मनुष्यों को उचित है कि उनके समीप जाकर अच्छी-अच्छी बातों को सीखा करें। (प्रदक्षिण०) उनको मान्य के लिए दाहिनी दिशा मे बैठाना। क्योंकि यह नियम उनकी प्रतिष्ठा के लिये बांधा गया है।

ऐसे अन्यत्र भी जहां-कहीं प्रतिमा और देवता अथवा उनके स्थानों का वर्णन हो, इसी प्रकार निर्भ्रमता से वहां समझ लेना चाहिये। यहां सबका संग्रह इसलिये नहीं किया कि ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता। ऐसा ही सत्यशास्त्रों से विरुद्ध कण्ठी और तिलकधारणादि मिथ्या कल्पित विषयों को भी समझकर मन कर्म और वचन से त्याग कर देना अवश्य उचित है।

[ग्रहपूजाया मिथ्यात्वम्]

एवमेव सूर्य्यादिग्रहपीडाशान्तये बालबुद्धिभिर् 'आ कृष्णेन रजसा०'[1] इत्यादिमन्त्रा गृह्यन्ते।

१. यजुः ३३। ४३॥

अयमेषां भ्रम एवास्तीति। कुतस्तत्र तेषामर्थानामग्रहणात्। तद्यथा—तत्र 'आकृष्णेन रजसा०' इति मन्त्रस्यार्थ आकर्षणानुकर्षणप्रकरण उक्तः[1]। 'इमं देवा असपत्नम्०'[2] इत्यस्य राजधर्मविषये[3] चेति।

अ॒ग्निर्मू॒र्द्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः॑ पृथि॒व्या अ॒यम्।
अ॒पाꣳ रेताꣳसि जिन्वति ॥ ३ ॥[4] य० अ० १५। मं० १२॥

उद्बु॑ध्यस्वाग्ने॒ प्रति॑ जागृहि॒ त्वमि॑ष्टापू॒र्त्ते सꣳसृ॑जेथाम॒यं च॑।
अ॒स्मिन्त्स॒धस्थे॒ऽअध्युत्त॑रस्मि॒न् विश्वे॑ देवा॒ यज॑मानश्च सीदत ॥ ४ ॥
य० अ० १५। मं० ५४॥

भाष्यम्—(अयमग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य च (पतिः) पालयितास्ति। (मूर्द्धा) सर्वोपरि विराजमानः, (ककुत्पतिः) तथा ककुभां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालयितास्ति। 'व्यत्ययो बहुलम्'[5] इति सूत्रेण भकारस्थाने तकारः। (अपाꣳ रेताꣳसि) अयमेव जगदीश्वरो भौतिक[6]श्चापां प्राणानां जलानां च रेतांसि वीर्य्याणि (जिन्वति) पुष्णाति। एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्य्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रक्षकः पुष्टिकर्त्ता चास्ति ॥३॥

(उद्बुध्यस्वाग्ने) हे अग्ने परमेश्वर ! अस्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव। (प्रतिजागृहि) अविद्यान्धकारनिद्रातस्सर्वान् जीवान् पृथक्कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान्‡ कुरु। (त्वमिष्टापूर्त्ते०) हे भगवन् ! अयं जीवो मनुष्यदेहधारी धर्मार्थकाममोक्षसामग्र्याः पूर्तिं सृजेत् समुत्पादयेत्, त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः। एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्थाभ्यामिष्टापूर्त्ते संसृष्टे भवेताम्। (अस्मिन् सधस्थे) अस्मिन् लोके शरीरे च, (अध्युत्तरस्मिन्) परलोके द्वितीये जन्मनि च (विश्वे देवा यजमानश्च सीदत) सर्वे विद्वांसो यजमानो विद्वत्सेवाकर्त्ता च कृपया सदा सीदन्तु वर्त्तन्ताम्। यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुरिति। 'व्यत्ययो बहुलम्'[7] इत्यनेन सूत्रेण पुरुषव्यत्ययः ॥[४]

भाषार्थ—इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यों ने **'आकृष्णेन रजसा०'** इत्यादि मन्त्रों का सूर्य्यादि-ग्रहपीड़ा की शान्ति के लिये ग्रहण किया है। सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है। मूल अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं। क्योंकि उन मन्त्रों में ग्रहपीड़ा निवारण करना, यह अर्थ ही नहीं है।

१. पूर्वत्र पृष्ठ १६२, १६३॥ २. यजुः ९। ४०॥ ३. पूर्वत्र पृष्ठ २६२,२६३॥

४. यद्यप्यत्र १ एका संख्या, उत्तरमन्त्रान्ते च २ द्विसंख्या वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषूपलभ्यते, तथापि ते संख्ये प्रमादपाठे, उत्तरत्र भाष्ये भाषार्थे च सर्वत्र ३, ४ प्रभृतीनां संख्यानां दर्शनात्। अत्र प्रतीकनिर्देशेन निर्दिष्टौ पूर्वोक्तौ 'आकृष्णेन०; इमं देवा०' द्वौ मन्त्रौ परिगणय्य भाष्ये संख्यानिर्देशस्योपलम्भात्। यत्तु अष्टमनवम-संस्करणयोरिमे १, २ संख्ये दृष्ट्वोत्तरत्र भाष्ये भाषार्थे च सर्वत्र संख्यान्तरनिर्देशः कृतः, सोऽस्मन्मतेऽसाधुर्ज्ञेयः।

५. अष्टा० ३। १। ८५॥ ६. अग्निरिति शेषः। यथाक्रममत्र 'प्राणानां जलानां' पदाभ्यां सह सम्बन्धः। अर्थात् जगदीश्वरः प्राणानां भौतिकश्च जलानाम्। ७. अष्टा० ३। १। ८५॥

'आकृष्णेन०' इस मन्त्र का अर्थ आकर्षणानुकर्षण प्रकरण[1] तथा **'इमं देवा०'** इसका अर्थ राजधर्म-विषय[2] में लिख दिया है ॥१,२॥

(अग्निः) यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर वा भौतिक है, वह (दिवः) प्रकाशवाले, और (पृथिव्याः) प्रकाशरहित लोकों का पालन करनेवाला, तथा (मूर्धा) सब पर विराजमान, और (ककुत्पतिः) दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है। 'व्यत्ययो बहुलम्'[3] इस सूत्र से 'ककुभ्' शब्द के भकार को तकारादेश[4] हो गया है। (अपाᳬ रेताᳬसि जिन्वति) वही जगदीश्वर प्राण और जलों के वीर्य्यों को पुष्ट करता है। इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्य्यरूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करनेवाला है ॥३॥

(उद्बुध्यस्वाग्ने) हे परमेश्वर! हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिये। (प्रति जागृहि) अविद्या की अन्धकाररूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके विद्यारूप सूर्य के प्रकाश से प्रकाशमान कीजिये। कि जिससे (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन्! मनुष्यदेह धारण करनेवाला जो जीव है, जैसे वह धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्ति कर सके, वैसे आप इष्ट सिद्ध कीजिये। (अस्मिन् सधस्थे) इस लोक और इस शरीर, तथा (अध्युत्तरस्मिन्) परलोक और दूसरे जन्म में (विश्वे देवा यजमानश्च सीदत) आपकी कृपा से सब विद्वान् और यजमान, अर्थात् विद्या के उपदेश के ग्रहण और सेवन करनेवाले मनुष्य लोग सुख से वर्त्तमान सदा बने रहें। कि जिससे हम लोग विद्या से युक्त होते रहें। **'व्यत्ययो बहुलम्'**[5] इस सूत्र से 'संसृजेथाम्' 'सीदत' इन प्रयोगों में पुरुषव्यत्यय अर्थात् प्रथमपुरुष की जगह मध्यमपुरुष हुआ है ॥[४॥]

बृह॑स्पते॒ऽअति॒ यद॒र्यो॒ऽ अर्हा॑द् द्यु॒मद् वि॒भाति॒ क्रतु॑म॒ज्जने॑षु ।
यद् दी॒दय॒च्छव॑सऽऋतप्रजात॒ तद॒स्मासु॒ द्रवि॑णं धेहि चि॒त्रम् ॥ ५ ॥

य० अ० २६ । मं० ३ ॥

अन्ना॑त् परि॒स्रुतो॒ रसं॒ ब्रह्म॑णा॒ व्य॑पिब॒त्क्षत्रं॒ पयः॒ सोमं॑ प्र॒जाप॑तिः ।
ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ᳬ शु॒क्रमन्ध॑स॒ऽ इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ६ ॥

यजुः० अ० १९ । मं० ७५॥

भाष्यम्—(बृहस्पते) हे बृहतां वेदानां पते पालक! (ऋतप्रजात) वेदविद्याप्रतिपादित जगदीश्वर! त्वं (जनेषु) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा, (क्रतुमत्) भूयांसः क्रतवो भवन्ति यस्मिंस्तत्, (द्युमत्) सत्यव्यवहारप्रकाशो विद्यते यस्मिंस्तत्, (दीदयच्छवसः) दानयोग्यं शवसो बलस्य प्रापकं, (यदर्यो अर्हात्) येन विद्यादिधनेन युक्तः सन्, अर्य्यः स्वामी राजा वणिग्जनो वा, धार्मिकेषु जनेषु (विभाति) प्रकाशते, (चित्रम्) यद्धनमद्भुतं (तदस्मासु द्रविणं धेहि) तदस्मदधीनं द्रविणं धनं कृपया धेहीत्यनेन मन्त्रेणेश्वरः प्रार्थ्यते ॥५॥

१. पूर्वत्र पृष्ठ १६३,१६४॥ २. पूर्वत्र पृष्ठ २६४। ३. अष्टा० ३। १। ८५॥
४. वै०य० मुद्रित संस्करणों में षष्ठसंस्करणपर्यन्त 'ककुभ् शब्द के दकार को भकारादेश' ऐसा विपरीत पाठ है। ५. अष्टा० ३। १। ८५॥

(क्षत्रम्) यत्र यद्राजकर्म क्षत्रियो वा, (ब्रह्मणा) वेदविद्भिश्च सह (पयः) अमृतात्मकं, (सोमम्) सोमाद्योषधिसम्पादितं, (रसम्) बुद्ध्यानन्दशौर्य्यधैर्य्यबलपराक्रमादिसद्गुणप्रदं (व्यपिबत्) पानं करोति, तत्र स सभाध्यक्षो राजन्यः (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन (सत्यम्) धर्मं राजव्यवहारं च, (इन्द्रियम्) शुद्धविद्यायुक्तं शान्तं मनः, (विपानम्) विविधराजधर्मरक्षणं, (शुक्रम्) आशुसुखकरं, (अन्धसः) शुद्धान्नस्येच्छाहेतुं, (पयः) सर्वपदार्थसारविज्ञानयुक्तं, (अमृतम्) मोक्षसाधकं, (मधु) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तं, (इन्द्रस्य) परमैश्वर्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्यामिन ईश्वरस्य कृपया (इन्द्रियम्) विज्ञानयुक्तं मनः प्राप्य (इदम्) सर्वं व्यावहारिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति। (प्रजापतिः) परमेश्वर एवमामाज्ञापयति—यः क्षत्रियः प्रजापालनाधिकृतो भवेत्, स एवं प्रजापालनं कुर्यात्। (अन्नात् परिस्रुतः) स चामृतात्मको रसोऽन्नाद् भोज्यात् पदार्थात् परितः सर्वतः स्रुतश्च्युतो युक्तो वा कार्य्यः। यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येत्, तथैव क्षत्रियेण कर्त्तव्यम् ॥[६॥]

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे वेदविद्यारक्षक! (ऋतप्रजात) वेदविद्या से प्रसिद्ध जगदीश्वर! आप (तदस्मासु द्रविणं धेहि) जो सत्यविद्यारूप अनेक प्रकार का (चित्रम्) अद्भुत धन है, सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिये। कैसा वह धन है कि (जनेषु) विद्वानों और लोकलोकान्तरों में (क्रतुमत्) जिससे बहुत से यज्ञ किये जायं, (द्युमत्) जिससे सत्य व्यवहार के प्रकाश का विधान हो, (शवसः) बल की रक्षा करनेवाला, और (दीदयत्) धर्म और सबके सुख का प्रकाश करनेवाला, तथा (यदर्य्यो०) जिससे धर्मयुक्त योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त होकर (विभाति) धर्मव्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है। उस सम्पूर्ण विद्यायुक्त धन को हमारे बीच में निरन्तर धारण कीजिये। ऐसे इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है ॥५॥

(क्षत्रम्) जो राजकर्म अथवा क्षत्रिय है, वह सदा न्याय से (ब्रह्मणा) वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन करे। इसी प्रकार (पयः) जो अमृतरूप, (सोमम्) सोमलता आदि ओषधियों का सार, तथा (रसम्) जो बुद्धि, आनन्द, शूरता, धीरज, बल और पराक्रम आदि उत्तमगुणों का बढ़ानेवाला है, उसको (व्यपिबत्) जो राजपुरुष अथवा प्रजास्थ लोग वैद्यकशास्त्र की रीति से पीते हैं, वे सभासद् और प्रजास्थ मनुष्य लोग (ऋतेन) वेदविद्या को यथावत् जानके, (सत्यम्) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (इन्द्रियम्) शुद्धविद्यायुक्त शान्तस्वरूप मन, (विपानम्) यथावत् प्रजा का रक्षण, (शुक्रम्) शीघ्र सुख करनेहारा, (अन्धसः) शुद्ध अन्न की इच्छायुक्त, (पयः) सब पदार्थों का सार, विज्ञानसहित (अमृतम्) मोक्ष के ज्ञानादि साधन, (मधु) मधुरवाणी और शीलता आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं, (इदम्) उन सबसे परिपूर्ण होकर (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से (इन्द्रियम्) विज्ञान को प्राप्त होते हैं। (प्रजापतिः) इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार और विज्ञानविद्या को प्राप्त होके, धर्म से प्रजा का पालन किया करो। (अन्नात् परिस्रुतः) उक्त अमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो, कि जिससे प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो ॥६॥

शन्नो देवीरभिष्टयऽ आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ ५ ॥[1]

य० अ० ३६। मं० १२॥

कया नश्चित्रऽ आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता ॥ ६ ॥[2]

य० अ० २७। मं० ३९॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्य्याऽ अपेशसे। समुषद्भिरजायथा ॥ ७ ॥

य० अ० २९। मं० ३७॥

भाष्यम्—'आप्लृ व्याप्तौ'[3] अस्माद् धातोरप्छब्दः सिध्यति, स नियतस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च। 'दिवु क्रीडाद्यर्थः', (देवीः) देव्य आपः, सर्वप्रकाशकः सर्वानन्दप्रदः, सर्वव्यापक ईश्वरः (अभिष्टये[4]) इष्टानन्दप्राप्तये, (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये, (नः) अस्मभ्यं, (शम्) कल्याणकारिका भवन्तु, स ईश्वरो नः कल्याणं भावयतु प्रयच्छतु। ता आपो देव्यः सः एवेश्वरो नोऽस्माकमुपरि (शंयोः) सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु। अत्र प्रमाणम्—

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
असंच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

अथर्व० कां० १०। अ० ४। व० २२। मं० १०॥[5]

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्छब्देन परमात्मनो ग्रहणं क्रियते। तद्यथा—

(आपो ब्रह्म जना विदुः) विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति। (यत्र लोकांश्च कोशांश्च) यस्मिन् परमेश्वरे सर्वान् भूगोलान् निधींश्च, (असच्च यत्र सच्च) यस्मिश्चानित्यं कार्य्य जगदेतस्य [नित्यं] कारणं च स्थितं जानन्ति। (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोऽस्ति,[6] विद्वंस्त्वं ब्रूहीति पृच्छ्यते। (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादिपदार्थानामाभ्यन्तरेऽन्तर्य्यामिरूपेणावस्थितोऽस्तीति भवन्तो जानन्तु ॥ ५ ॥

(कया) उपासनारीत्या (शचिष्ठया[7]) अतिशयेन सत्कर्मानुष्ठानप्रकारया, (वृता) शुभगुणेषु वर्त्तमानया, (कया) सर्वोत्तमगुणालंकृतया सभया प्रकाशितः, (चित्रः) अद्भुतानन्तशक्तिमान्, (सदावृधः) सदानन्देन वर्धमान इन्द्रः परमेश्वरः, (नः) अस्माकं (सखा) मित्रः‡ (आभुवत्) यथाभिमुखो भूत्वा (ऊती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रक्षको भवेत्, तथैवास्माभिः स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीय इति ॥ ६ ॥

१. इह मन्त्रे वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु '०रभीष्टय०' इत्यपपाठः, वेदभाष्ये पञ्चमहायज्ञविधौ च शुद्धपाठस्योपलम्भात्। २. इह मन्त्रे वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सचिष्ठया' इत्यपपाठो वेदभाष्ये शुद्धपाठस्योपलम्भात्। ३. क्षीरतरङ्गिणी ५। १७॥ ४. द्रष्टव्या अस्यैव पृष्ठस्य प्रथमा टिप्पणी। ५. अथर्व १०। ७। १०॥ ६. द्र०—पृष्ठ १२, टि० ३॥ ७. द्र०—अस्यैव पृष्ठस्य द्वितीया टि०।

हे (मर्त्या) मनुष्याः ! (उषद्भिः) परमेश्वरं कामयमानैस्तदाज्ञायां वर्त्तमानैर्विद्वद्भिर्युष्माभिः सह समागमे कृते सत्येव (अकेतवे) अज्ञानविनाशाय (केतुम्) प्रज्ञानम्, (अपेशसे) दारिद्र्य-विनाशाय (पेशः) चक्रवर्त्तिराज्यादिसुखसम्पादकं धनं च (कृण्वन्) कुर्वन् सन् जगदीश्वरः (अजायथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम् ।। ७ ।।

भाषार्थ—(शन्नो देवी०) 'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातु से 'अप्' शब्द सिद्ध होता है। सो वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। तथा 'दिवु' धातु के क्रीड़ा आदि अर्थ हैं, उससे 'देवी' शब्द सिद्ध होता है। (देवीः) अर्थात् जो ईश्वर सबका प्रकाश और सबको आनन्द देनेवाला, (आपः) सर्वव्यापक है, (अभिष्टये) वह इष्ट आनन्द और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये, (नः) हमको सुखी होने के लिये (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) हो। वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) वृष्टि करे।

इस मन्त्र में 'आपः' शब्द से परमात्मा के ग्रहण होने में प्रमाण यह है कि—(आपो ब्रह्म जना विदुः) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि 'आपः' परमात्मा का नाम है। (प्रश्न)—(यत्र लोकांश्च कोशांश्च) सुनो जी ! जिसमें पृथिव्यादि सब लोक सब पदार्थ स्थित, (असच्च यत्र सच्च) तथा जिससे अनित्य कार्य जगत् और [नित्य] सब वस्तुओं का कारण, ये सब स्थित हो रहे हैं, (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) वह सब लोकों का धारण करनेवाला कौन पदार्थ है ? (उत्तर)—(अन्तः) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्यामिरूप से परिपूर्ण भर रहा है। ऐसा जानकर आप लोग उस परमेश्वर को अपने ही अन्तःकरण में खोजो ।।५।।

(कया) जो किस उपासनारीति (शचिष्ठया) और सत्यधर्म के आचरण से सभासद सहित (वृता) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्तमान, (कया) सुखरूप वर्त्तिसहित सभा से प्रकाशित (चित्रः) अद्भुतस्वरूप, (सदावृधः) आनन्दस्वरूप, और आनन्द बढ़ानेवाला परमेश्वर है, वह (नः) हमारे आत्माओं में (आभुवत्) प्रकाशित हो। (ऊती) तथा किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करे ? कि (उषद्भिः समजायथाः) हे अग्ने जगदीश्वर ! आपकी आज्ञा में जो रमण करनेवाले हैं, उन्हीं पुरुषों से आप जाने जाते हैं। और उन्हीं धार्मिक पुरुषों के अन्तःकरण में आप अच्छे प्रकार प्रकाशित होते रहो ।।६।।

हे विज्ञानस्वरूप ! अज्ञान के दूर करनेहारे ब्रह्मन् ! आप (केतुं कृण्वन्) हम सब मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिये। तथा (अकेतवे) अज्ञान और (अपशसे) दरिद्रता के दूर करने के अर्थ [(पेशः)] विज्ञान धन और चक्रवर्ति राज्य धर्मात्माओं को देते रहिये। कि जिससे (मर्याः) जो आपके उपासक लोग है, वे कभी दुःख को न प्राप्त हों ।।७।।

इति ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोऽस्त्याहोस्विन्नेति ?

सर्वेषामस्ति । वेदानामीश्वरोक्तत्वात् सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात् सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्च । यद्यद्धि खलु परमेश्वररचितं वस्त्वस्ति, तत्तत् सर्वं सर्वार्थमस्तीति विजानीमः । अत्र प्रमाणम्—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्याᳪ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय [च] । प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ।। १ ।। य० अ० २६ । मं० २ ।।

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—परमेश्वरः सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीयाः पाठ्या इत्याज्ञां ददाति । तद्यथा—(यथा) येन प्रकारेण (इमाम्) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदादिवेदचतुष्टयीं (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां (वाचम्) वाणीं (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय (आवदानि) आसमन्ताद् उपदिशानि, तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयी वागुपदेष्टव्येति ।

अत्र कश्चिदेवं ब्रूयात्—जनेभ्यो द्विजेभ्य इत्यध्याहार्य्यं, वेदाध्ययनाध्यापने तेषामेवाधिकारत्वात् ।

नैव शक्यम्—उत्तरमन्त्रभागार्थविरोधात्[1] । तद्यथा कस्य कस्य वेदाध्ययनश्रवणेऽधिकारोऽस्तीत्याकांक्षायामिदमुच्यते—

(ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां, (अर्य्याय) वैश्याय, (शूद्राय), (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय, (स्वायः) स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च । सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयी श्राव्येति ।[2] (प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह०) यथाहमीश्वरः पक्षपातं विहाय सर्वोपकारकरणेन सह वर्त्तमानः सन्, देवानां विदुषां प्रियः दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च भूयासं स्याम्, तथैव भवद्भिः सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वोपकारं सर्वप्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणी श्राव्येति । यथायं (मे) मम कामः समृध्यते, तथैवैवं कुर्वतां भवताम् (अयं कामः समृध्यताम्) इयमिष्टसुखेच्छा समृध्यतां

---

१. मन्त्रस्योत्तरभागस्य विरोधादित्यर्थः । अत्रैवं विग्रहः कार्यः—मन्त्रस्य भागो मन्त्रभागः, उत्तरश्चासौ मन्त्रभागश्च उत्तरमन्त्रभागः, तस्यार्थः, तेन विरोधात् ।

२. अयं मन्त्रः सर्वेषां मनुष्याणां सामान्येन वेदाध्ययनेऽधिकारं द्योतयति इति ग्रन्थकारप्रतिपादितोऽभिप्रायोऽन्यैरपि विगतमत्सरैर्विद्वद्भिश्चाङ्गीकृतः । तथा चाह सत्यव्रतसामश्रमी ऐतरेयालोचने—'शूद्राय वेदाधिकारे साक्षात् वेदवचनपि प्रदर्शितं स्वामीदयानन्देन—यथेमां वाचं······इति' (पृष्ठ १७) । एवमन्येऽप्याहुः ।

सम्यग् वर्धताम् । यथादः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति (उप मादो नमतु) तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्ट-सुखमुपनमतु सम्यक् प्राप्नोत्विति ।

मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यम् । यथा मया वेदविद्या सर्वार्था प्रकाशिता, तथैव युष्माभिरपि सर्वार्थोपकर्त्तव्या । नात्र वैषम्यं किञ्चित् कर्त्तव्यमिति । कुतः ? यथा मम सर्वप्रियार्था पक्षपातरहिता च प्रवृत्तिरस्ति, तथैव युष्माभिराचरणे कृते मम प्रसन्नता भवति, नान्यथेति । अस्य मन्त्रस्यायमेवार्थोऽस्ति । कुतः ? 'बृहस्पते अति यदर्यः'[1] इत्युत्तरस्मिन् मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात् ।। १ ।।

भाषार्थ—प्र०—वेदादिशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने, सुनने और सुनाने में सब मनुष्यों का अधिकार है वा नहीं ?

उत्तर—सब का है । क्योंकि जो ईश्वर की सृष्टि है,[2] उसमें किसी का अनधिकार नहीं हो सकता । देखिये कि जो-जो पदार्थ ईश्वर से प्रकाशित हुए हैं, सो-सो सबके उपकारार्थ हैं ।

प्रश्न—वेदों के पढ़ने का अधिकार केवल तीन वर्णों को ही है । क्योंकि शूद्रादि को वेदादि-शास्त्र पढ़ने का निषेध किया जाता है । और द्विजों के पढ़ाने में भी केवल ब्राह्मण ही का अधिकार है ।

उत्तर—यह बात सब मिथ्या है । इसका विवेक और उत्तर वर्णविभाग विषय में कह आये है । वहां यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम शूद्र, अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है । उनके पढ़ने-पढ़ाने का निषेध इसलिये किया है कि उनको विद्याग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती है ।

प्रश्न—परन्तु क्या सब स्त्री-पुरुषों का वेदादिशास्त्र पढ़ने-सुनने का अधिकार है ?

उत्तर—सबको है । देखो, इसमें यजुर्वेद का यह प्रमाण लिखते हैं—

(यथेमां वाचं कल्याणीं०)—इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने-पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है, और विद्वानों को उनके पढ़ाने का । इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि—हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूं, उसी प्रकार से तुम भी उनको पढ़के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो । क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सब-की कल्याण करनेवाली है । तथा (आवदानि जनेभ्यः) जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूं, वैसे ही सदा तुम भी किया करो ।

प्रश्न—'जनेभ्यः' इस पद से द्विजों ही का ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि जहां-कहीं सूत्र और स्मृतियों में पढ़ने का अधिकार लिखा है, वहां केवल द्विजों ही का ग्रहण किया है ?

उत्तर—यह बात ठीक नहीं है । क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता, तो मनुष्यमात्र को उनके पढ़ने का अधिकार कभी न देता । जैसा कि इस मन्त्र [के उत्तरार्ध] में प्रत्यक्ष विधान है—

१. यजुः २६ । ३।। द्रष्टव्या अस्य व्याख्या, पृष्ठ ३५४ । २. अर्थात् ईश्वर के रचे हुए पदार्थ ।

(ब्रह्मराजन्याभ्या॑ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय) अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मण वर्ण के लिये है, वैसा ही क्षत्रिय, अर्य्य=वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिये भी बराबर है। क्योंकि वेद ईश्वर-प्रकाशित है। जो विद्या का पुस्तक होता है, वह सबका हितकारक [होता] है। और ईश्वररचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं। इसलिये उसका जानना सब मनुष्यों को उचित है। क्योंकि वह माल सबके पिता का सब पुत्रों के लिये है, किसी वर्णविशेष के लिये नहीं। (प्रियो देवानाम्) जैसे मैं इस वेदरूप सत्यविद्या का उपदेश करके विद्वानों के आत्माओं में प्रिय हो रहा, तथा (दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्) जैसे दानी वा शीलवान् पुरुष को प्रिय होता हूं, वैसे ही तुम लोग भी पक्षपातरहित होकर वेदविद्या को सुनाकर सबको प्रिय होवो। (अयं मे कामः समृध्यताम्) जैसे यह वेदों का प्रचाररूप मेरा काम संसार के बीच में यथावत् प्रचरित होता है, इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो, कि जिससे उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे। (उप मादो नमतु) जैसे मुझमें अनन्त विद्या से सब सुख हैं, वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा, उसको भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा।

यही इस मन्त्र का अर्थ ठीक है। क्योंकि इससे अगले मन्त्र '**बृहस्पते अति यदर्य्य०**'[1] में भी परमेश्वर ही का ग्रहण किया है। इससे सबके लिये वेदाधिकार है ॥१॥

वर्णाश्रमा अपि गुणकर्माचारतो हि भवन्ति। अत्राह मनुः—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च ॥१॥ मनु० अ० १०। श्लो० ६५॥

भाष्यम्—शूद्रः[2] **पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणभावं प्राप्नोति। योऽस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव। एवमेव कुचर्य्याऽधर्माचरणनिर्बुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापरसेवादिशूद्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मण**[3]**श्चेत् स शूद्रतामेति शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव। एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम्। अर्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव ॥ १ ॥**

एवमेवापस्तम्बसूत्रे[4]**ऽप्यस्ति—**

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥
प्रश्न २। पटल ५। खं० ११। सू० १०,११॥

भाष्यम्—सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते, समन्तात् प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः। जातिपरिवृत्तावित्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोतीति ॥१॥

---

१. यजुः २६। ३॥
२. शूद्रकुलोत्पन्न इति भावः।
३. ब्राह्मणकुलोत्पन्न इति भावः।
४. 'धर्मसूत्रे' इत्यभिप्रायः।

[1]एवमेवासत्यलक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो जघन्यं स्वस्मादधः स्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते, जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत्। अर्थाद् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति, एवमेवाधर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेश्चेति ॥[२॥]

यत्र यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः—शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वाद् विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात् तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति, निष्फलत्वाच्चेति[2]।

भाषार्थ—वर्णाश्रमव्यवस्था भी गुणकर्मों के आचारविभाग से होती है। इसमें 'मनुस्मृति' का भी प्रमाण है कि—(शूद्रो ब्राह्मणता०) शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। अर्थात् गुणकर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो, तो ब्राह्मण रहता है। तथा जो ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो, तो वह क्षत्रिय वैश्य और शूद्र हो जाता है। वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता, और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है। वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना।

जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का अधिकार न होता, तो वह ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता? इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पच्चीसवें वर्ष वर्णों का अधिकार ठीक-ठीक होता है। क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती है। इसलिये उसी समय गुणकर्मों की ठीक-ठीक परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है।

तथा 'आपस्तम्बसूत्र' में भी ऐसा लिखा है-(धर्मचर्यया०) अर्थात् धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व-पूर्व वर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं। सो केवल कहने ही मात्र को नहीं, किन्तु जिस-जिस वर्ण को जिन-जिन कर्मों का अधिकार है, उन्हीं के अनुसार (आपद्यते जातिपरिवृत्तौ) वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥१॥

(अधर्मचर्यया०) तथा अधर्माचरण करके पूर्व-पूर्व वर्ण नीचे-नीचे के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के पढ़ने-सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है ॥२॥

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'एवमेव स लक्षणेना०' इत्यपपाठः, पदानामन्वयाभावात्।
२. अक्रमोऽयं चकारः, तस्यैवं योजना कार्या—'श्रावणं च व्यर्थमेवास्ति निष्फलत्वादिति'।

अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या[1] स्थानप्रयत्नस्वर[2]ज्ञानायाक्षरोच्चारणोपदेशः कर्त्तव्यः। येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात्। तद्यथा—'प' इत्यस्योच्चारणमोष्ठौ संयोज्यैव कार्य्यम्। अस्यौष्ठौ स्थानं, स्पृष्टः प्रयत्न इति वेद्यम्। एवमेव सर्वत्र।

अत्र महाभाष्यकारः पतञ्जलिमहामुनिराह—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ १॥

महाभा० अ० १। पा० १। आ० १॥

भाष्यम्—नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽक्षराणां यथावत् प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति। यथा गानकर्त्ता षड्जादिस्वरालापनेऽन्यथोच्चारणं कुर्य्याच्चेत् स तस्यैवापराधो भवेत्, तद्वद् वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्त्तव्यम्। अन्यथा दुष्टः शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति। यथावदुच्चारणमुल्लङ्घ्योच्चारिते शब्दे वक्तुरपराध एव विज्ञायते—त्वं मिथ्याप्रयोगं कृतवानिति। नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभिप्रेतमर्थमाह[3]। तद्यथा—

सकलम्-शकलम्, सकृत्-शकृदिति। सकलशब्दः सम्पूर्णार्थवाची, शकल इति खण्डवाची च। एवं सकृदित्येकवारार्थवाची, शकृदिति मलार्थवाची च। अत्र सकारोच्चारणे कर्त्तव्ये शकारोच्चारणं क्रियते चेद्, एवं शकारोच्चारणे कर्त्तव्ये सकारोच्चारणं च, तदा स शब्दः स्वविषयं नाभिधत्ते। स वाग्वज्रो भवति। यमर्थम्मत्वोच्चारणं क्रियते, स शब्दस्तदभिप्रायनाशको भवति। तद्वक्तारं यजमानं तदधिष्ठातारं च हिनस्ति, तेनार्थेन हीनं करोति। यथेन्द्रशत्रुरयं शब्दः स्वस्यापराधाद् विपरीतफलो जातः। तद्यथा—

इन्द्रः सूर्य्यलोकस्तस्य शत्रुरिव मेघः। अत्र इन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषसमासार्थमन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्युदात्तकरणाद् बहुव्रीहिः समासः कृतो भवति। अस्मिन् विषये तुल्ययोगितालङ्कारेण मेघ-सूर्य्ययोर्वर्णनं कृतमिति, ततोऽर्थवैपरीत्यं जायते। उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति। तत्र यस्येच्छा सूर्य्यस्य[4] ग्रहणेऽस्ति, तेनेन्द्रशत्रुशब्दः तत्पुरुषसमासेना-

---

१. शिक्षा प्रथमं वेदाङ्गम्, तद्रीत्या। अस्यैव 'वर्णोच्चारणशिक्षा' इति स्पष्टं नामकरणम्।

२. स्वर उदात्तादिरूपः।

३. 'यदर्थमसावुच्चारितः' इति शेषः।

४. अत्र 'सूर्यस्य ग्रहणे' 'यस्य च मेघस्य' अनयोः पाठयोः 'सूर्यस्य' 'मेघस्य' पदयोः परस्परं व्यत्यासो

न्तोदात्त[1] उच्चारणीयः । यस्य च मेघस्य[2], तेन बहुव्रीहिसमासमाश्रित्याद्युदात्तस्वरश्चेति नियमोऽस्ति । अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते । अतः कारणात् स्वरोच्चारणं वर्णोच्चारणं च यथावदेव कर्त्तव्यमिति ॥ १ ॥

भाषार्थ पठनपाठन के आदि में लड़कों और लड़कियों को ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सबको प्रिय लगें। जैसे 'प' इसके उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये—एक स्थान, और दूसरा प्रयत्न का। पकार का उच्चारण ओठों से होता है, परन्तु दो ओठों को ठीक-ठीक मिला ही के पकार बोला जाता है। इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है। और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यञ्जन मिला हो, तो उसको भी उसी-उसी स्थान मे प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है। इसका सब विधान व्याकरण और शिक्षाग्रन्थ[3] में लिखा है।

फिर इस विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा है कि—[(दुष्टः०)]। स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहाता है। अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता। तथा (स वाग्वज्रो०) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के विना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेहारा नहीं होता, वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती। किन्तु गान का करनेवाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे, तो वह अपराध उसी का समझा जाता है। इसी प्रकार वेदादिग्रन्थों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये। और जो उलटा उच्चारण किया जाता है, वह (दुष्टः शब्दः) दुःख देनेवाला और झूठ[4] समझा जाता है। जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो, किन्तु उससे विपरीत किया जाय, तो वह दोष बोलनेवाले का गिना जाता है। और विद्वान् लोग बोलनेवाले से कहते हैं कि—'तूने इस शब्द का शुद्ध उच्चारण नहीं किया। इससे यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता।'

जैसे '**सकल**' और '**शकल**' में देख लो। अर्थात् 'सकल' शब्द सम्पूर्ण का बोधक, और जो उसमें तालव्य का उच्चारण किया जाय, तो वही फिर 'खण्ड' का वाचक हो जाता है। ऐसे ही '**सकृत्**' और '**शकृत्**' में दन्त्य सकार के उच्चारण से 'एकवार[5] क्रिया' और उसी को तालव्य उच्चारण करने से 'विष्ठा' का बोध होता है[6]। इसलिये शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही

लेखकप्रमादात् समजनि । नहि तत्पुरुषसमासे सूर्यप्राधान्यं संभवति, तस्योत्तरपदप्रधानत्वात् । बहुव्रीहौ च 'इन्द्रः=सूर्यः शत्रुः=शातयिता यस्य' इत्यर्थे यद्यपि बहुव्रीहेरन्यपदार्थप्रधानत्वाद् वृत्रस्य=मेघस्य प्राधान्यं प्रतीयते, तथापि इन्द्रः (=सूर्यः) तस्य शातयिता इत्यर्थस्य गम्यमानत्वात शातयितृशात्यमानयोश्च शातयितुरुत्कृष्टत्वात् सूर्यस्यैवोत्कृष्टत्वं द्योत्यते । यथामुद्रितपाठस्तु न कथमपि संबध्यते ।

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'कर्मधारयसमासेन' इत्यपपाठः ।

२. द्र०—पूर्वपृष्ठस्था टि० ४ ॥

३. अर्थात् वर्णोच्चारण की शिक्षा देनेवाला 'शिक्षा' नामक प्रथम वेदाङ्ग ।

४. अर्थात् अपशब्द ।

५. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'प्रथम' अपपाठ है ।

६. यदपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम् । स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत् ॥

ठीक-ठीक अर्थ का बोध होता है। क्योंकि विपरीत उच्चारण से वह वज्र के समान वक्ता के अभिप्राय का नाश करनेवाला होता है। सो यह दोष बोलनेवाले का ही गिना जाता है।

जैसे—'इन्द्रशत्रुः' यहां इकार में उदात्तस्वर बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्य पदार्थ का बोध होता है, तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुष समास और उत्तरपदार्थ का बोध हो जाता है। सूर्य्य का 'इन्द्र' और मेघ का 'वृत्रासुर' नाम है। इसके सम्बन्ध में वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन 'तुल्ययोगितालङ्कार' से किया है। जो इन्द्र[1] अर्थात् सूर्य की उत्तमता[2] चाहे, वह समस्तपद के स्थान में अन्तोदात्त उच्चारण करे। और जो मेघ की वृद्धि चाहे, वह आद्युदात्त उच्चारण करे। इसलिये स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिये ॥[१॥]

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थयोजनादिनामपि शिक्षा कर्त्तव्यैव। अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति। परन्तु यो न पठति, तस्मात् स्वयं पाठमात्रकार्य्यप्युत्तमो भवति। यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः[3]। यश्चैवं वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति, स उत्तमतमः[3]। अत्र प्रमाणानि—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ २॥

ऋ० मण्ड० १। सू० १६४। मं० ३९॥

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ ३॥

---

१. यहां भी संस्कृत के समान '**इन्द्र अर्थात् सूर्य की उत्तमता**' और '**मेघ की वृद्धि**' पाठ लेखकप्रमाद से परस्पर में विपरीत स्थान पर लिखे गए हैं। क्योंकि अन्तोदात्त स्वर तत्पुरुषसमास का होता है। तत्पुरुषसमास में उत्तरपद की प्रधानता होती है। अतः अन्तोदात्त उच्चारण करने पर वृत्र की वृद्धि जानी जाएगी। इसी प्रकार इन्द्रशत्रु पद आद्युदात्तस्वरवाला बहुव्रीहिसमास में पूर्वपदप्रकृतिस्वर से होता है। यद्यपि बहुव्रीहि में उत्तरपद का प्राधान्य होने से 'इन्द्र=सूर्य शत्रु=शातयिता है जिस वृत्र=मेघ का' यहां मेघार्थ की ही प्रधानता प्रतीत होती है, पुनरपि बहुव्रीहि के विग्रह से 'इन्द्र=सूर्य शत्रु=शातयिता=नाश करनेवाला' है, यह अर्थ जाना जाता है। इस अर्थ के द्वारा इन्द्र=सूर्य वृत्र का शत्रु=शातयिता नाशक और वृत्र=मेघ नष्ट होनेवाला है, यह स्पष्ट हो जाता है। नाशक और नष्ट होनेवाला, इन दोनों में नाशक ही श्रेष्ठ होता है। इसलिए बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ के प्रधान होने से 'इन्द्र शत्रु है जिसका' उस मेघ की वृद्धि होने पर भी इन्द्र का नाशयितृ धर्म तो व्यक्त हो ही जाता है। अतः सूर्य की उत्तमता=श्रेष्ठता बहुव्रीहिसमास में ही सम्भव है।

२. 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' वाक्य में। वृद्धि=उत्तमता श्रेष्ठता।

३. उत्तमशब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम्, तस्मादातिशायिकौ तरप्तमपौ प्रत्ययौ। उत्तमस्याव्युत्पन्नत्वं महाभाष्ये (४।१।७८) स्वीकृतम्।

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥४॥ निरु० अ० १ । खं० १८ ॥
उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ५ ॥
उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ६ ॥
ऋ० मण्ड० १० । सू० ७१ । मं० ४,५ ॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—अत्रार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति ।

(ऋचो अक्षरे०) यस्मिन् विनाशरहिते परमोत्कृष्टे व्योमवद् व्यापके ब्रह्मणि चत्वारो वेदाः पर्य्यवसितार्थाः सन्ति । ऋगुपलक्षणं चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम् । तत किं ब्रह्मेति[1] ? अत्राह—यस्मिन् विश्वेदेवाः—सर्वे विद्वांसो मनुष्या इन्द्रियाणि च, सूर्य्यादयश्च सर्वे लोका अधिनिषेदुर्यदाधारेण निषण्णाः स्थितास्तद् ब्रह्म विज्ञेयम् । (यस्तं न वेद०) यः खलु तं[2] न जानाति, सर्वोपकारकरणार्थायामीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्त्तते, स पठितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति ? नैवायं कदाचिद् वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः । (य इत्तद्विदुस्त इमे समासते) ये चैवं तद् ब्रह्म विदुस्त एव धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं सम्यक् प्राप्नुवन्ति । तस्मात् सार्थकमेव वेदादीनामध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥२॥

(स्थाणुरयं०) यः पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं न जानाति, तं विज्ञायाऽपि धर्मं नाचरति, स मनुष्यः स्थाणुः काष्ठस्तम्भवद् भवति अर्थाज्जडवत् विज्ञेयो भारवाहश्च । यथा कश्चिन्मनुष्यः पशुश्च भारमात्रं वहंस्तन्न भुङ्क्ते, किन्तु तेनोढं घृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चिद भाग्यवानन्यो मनुष्यो भुङ्क्ते । योर्थविज्ञानशून्यमध्ययनं करोति स भारवाहवत् (किलाभूत्) भवतीति मन्तव्यम् ।(योऽर्थज्ञ०) योऽर्थस्य ज्ञाता, वेदानां शब्दार्थसम्बन्धविद् भूत्वा धर्माचरणो भवति, स वेदार्थज्ञानेन (विधूतपाप्मा) पापरहितः सन् मरणात् प्रागेव सकलं सम्पूर्णं भद्रं भजनीयं सुखम् अश्नुते प्राप्नोति । पुनश्च शरीरं त्यक्त्वा नाकमेति सर्वदुःखरहितं मोक्षाख्यं ब्रह्मपदं प्राप्नोति । तस्माद् वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठानपूर्वकमेवाध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ ३ ॥

(यद् गृहीतमविज्ञातं) येन मनुष्येण यदर्थज्ञानशून्यं वेदाद्यध्ययनं[3] क्रियते, किं तु (निगदेनैव) पाठमात्रेणैव (शब्द्यते) कथ्यते, तत् (कर्हिचित्) कदाचिदपि (न ज्वलति) न प्रकाशते । कस्मिन् किमिव ? (अनग्नाविव शुष्कैधः) अविद्यमानाग्निके स्थले शुष्कं सम्प्राप्तं[4] प्रज्वलन-

१. 'किं तद् ब्रह्मेति' भावः । २. तमक्षरं ब्रह्मेत्यर्थः ।
३. अत्राद्यशब्देन वेदातिरिक्तानां ग्रन्थानां संग्रहो द्रष्टव्यः ।
४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सांप्रतं' इत्यपपाठो लेखकप्रमादजन्यः ।

मिन्धनमिव। यथाऽनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेनापि दाहप्रकाशा न जायन्ते, तादृशमेव तदध्ययनमिति ॥४॥

(उत त्वः पश्यन्न ददर्श०) अपि खल्वेको वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति। (उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्) उ इति वितर्के, कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दमुच्चारयन्नपि न शृणोति, तदर्थं न जानाति। यथा तेनोच्चारिता श्रुताऽपि वाक् अविदिता भवति, तथैवाऽर्थज्ञानविरहमध्ययनमिति मन्त्राऽर्द्धेना-विद्वल्लक्षणमुक्तम्। (उतो त्वस्मै) यो मनुष्योऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदानामध्ययनं करोति, तस्मै (वाक्) विद्या (तन्वम्) शरीरं स्वस्वरूपं (विसस्रे) विविधतया प्रकाशयति। कस्मै का किं कुर्वतीव? (जायेव पत्य उशती सुवासाः) यथा शोभनानि वासांसि वस्त्राणि धारयन्ती पतिं कामयमाना स्त्री स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं प्रकाशयति, तथैवार्थज्ञानपूर्वकाध्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं स्वस्वरूपमीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्य्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥५॥

(सख्ये) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभावकर्मणि (उत त्वम्) अन्यमनूचानं पूर्णविद्यायुक्तं, (स्थिरपीतम्) धर्मानुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं प्राप्तं येन तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रम् (आहुः) वदन्ति, (नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु) ईदृशं विद्वांसं कस्मिंश्चिद् व्यवहारे केऽपि न हिंसन्ति, तस्य सर्वप्रियकारकत्वात्। तथैव नैव केचित् प्रश्नोत्तरादयो व्यवहारा वाजिनेषु विरुद्ध-वादिषु शत्रुभूतेष्वपि मनुष्येष्वेनमर्थविज्ञानसहितस्याध्येतारं मनुष्यं हिन्वन्ति। तस्य सत्यविद्यान्वि-तया कामदुहा वाचा सह वर्त्तमानत्वेन सत्यविद्याशुभलक्षणान्वितत्वात्। इत्यनेन मन्त्रपूर्वार्धेन विद्वत्प्रशंसोच्यते। अथैतन्मन्त्रोत्तराऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमाह—(अधेन्वा चरति) यतो यो ह्यविद्वान् (अपुष्पाम्) कर्मोपासनानुष्ठानाचारविद्यारहितां (अफलाम्) धर्मेश्वरविज्ञानाचारविरहां वाच (शुश्रुवान्) श्रुतवान्, तयाऽर्थज्ञानसुशिक्षारहितया[1] भ्रमसहितया (मायया) कपटयुक्तया वाचा-ऽस्मिल्लोके चरति, नैव स मनुस्यजन्मनि स्वार्थपरोपकाराख्यं च फलं किञ्चिदपि प्राप्नोति। तस्मादर्थज्ञानापूर्वकमेवाध्ययनमुत्तमं भवतीति ॥६॥

भाषार्थ—ऐसे लड़कों और लड़कियों को बोलने-सुनने, चलने-बैठने-उठने, खाने-पीने, पढ़ने-विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोड़ने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये। क्योंकि अर्थज्ञान के विना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु कुछ भी नहीं पढ़नेवाले से तो पाठमात्र जाननेवाला ही श्रेष्ठ है। जो वेदों को अर्थसहित यथावत् पढ़के शुभ गुणों का ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है, वही सबसे उत्तम होता है।

इस विषय में वेदमन्त्रों के बहुत प्रमाण हैं। जैसे—(ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्०)। यहां इन मन्त्रों से अर्थज्ञान के विना पढ़ने का निषेध किया जाता है। प्र०—जिसका विनाश कभी नहीं होता, और जो सबसे श्रेष्ठ, आकाशवत् व्यापक, सबमें रहनेवाला परमेश्वर है, जिसमें चारों वेद पर्यवसित है, अर्थात् जो चारों वेदों द्वारा प्रतिपाद्य है[2], वह ब्रह्म क्या वस्तु है? उ०—(यस्मिन्

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'तयार्थशिक्षारहितया' अपपाठो लेखकप्रमादजन्यः। अस्माभिः स्वीकृतः पाठो हस्तलेखे दृश्यते।

२. वै० यं० मुद्रित संस्करणों में 'जिसने अर्थसहित चारों वेद विद्यमान तथा जिसका उत्पन्न किया हुआ सब जगत् है' पाठ है। यह संस्कृत से विपरीत है।

देवा०) जिसमें सम्पूर्ण विद्वान् लोग, सब इन्द्रियां, सब मनुष्य और सब सूर्यादि लोक स्थित हैं, वह परमेश्वर कहाता है। जो मनुष्य वेदों को पढ़के ईश्वर को न जाने, तो क्या वेदार्थ जानने का फल उसको प्राप्त हो सकता है? कभी नहीं। इसलिये जैसा वेदविषय में लिख आये हैं, वैसा व्यवहार करनेवाले मनुष्य अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो कोई पाठमात्र ही पढ़ता है, वह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता। इस कारण से जो कुछ पढ़ें, सो अर्थज्ञानपूर्वक ही पढ़ें ॥ २ ॥

(स्थाणु०) जो मनुष्य वेदों को पढ़के उनके अर्थ को नहीं जानता, वह उनके सुख को न पाकर भार उठानेवाले पशु अथवा वृक्ष के समान है, जो कि अपने फल फूल डाली आदि को विना गुण-बोध के उठा रहे हैं। किन्तु जैसे उनके सुख को भोगनेवाला कोई दूसरा भाग्यवान् मनुष्य होता है, वैसे ही पाठ के पढ़नेवाले भी परिश्रमरूप भार को तो उठाते हैं, परन्तु उनके अर्थज्ञान से आनन्दस्वरूप फल को नहीं भोग सकते। (योऽर्थज्ञ:०) और जो अर्थ का जाननेवाला है, वह अधर्म से बचकर, धर्मात्मा होके, जन्ममरणरूप दुःख का त्याग करके, सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है। क्योंकि जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है, वह (नाकमेति) सर्वदुःखरहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है। इसी कारण वेदादिशास्त्रों को अर्थज्ञानसहित पढ़ना चाहिये ॥३॥

(यद् गृहीत०) जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन किया करता है, उसका वह पढ़ना अन्धकाररूप होता है। (अनग्नाविव शुष्कैधो०) जैसे अग्नि के विना सूखे ईंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता, वैसे ही अर्थज्ञान के विना अध्ययन भी ज्ञानप्रकाशरहित रहता है। वह पढ़ना अविद्या-रूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता ॥४॥

(उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत०) विद्वान् और अविद्वान् का यही लक्षण है कि जिस किसी को पढ़-सुनके भी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो, वह 'मूर्ख' अर्थात् अविद्वान् है। (उतो त्वस्मै०) और जो मनुष्य शब्द अर्थ सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान ले, वह पूर्ण 'विद्वान्' कहाता है। ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्दरूप फल भी होता है। (जायेव पत्य उशती सुवासाः) अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है, वैसे ही अर्थ जाननेवाले विद्वान् हो को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है ॥५॥

(उत त्वं सख्ये०) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें। अर्थात् जैसे सम्पूर्ण मनुष्यों के [साथ] मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं, वैसे ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष है, उसको अच्छी प्रकार सुख दे। कि जिससे तुझे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे। 'विद्वान्' नाम उसका है जो कि अर्थसहित विद्या को पढ़के वैसा ही आचरण करे, कि जिससे धर्म अर्थ काम मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके। इसी को 'स्थिरपीत' कहते हैं। ऐसा जो विद्वान् है, वह संसार को सुख देनेवाला होता है। (नैनं हि०) उस को कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता। क्योंकि जिसके हृदय में विद्यारूप सूर्य प्रकाशित हो रहा है, उसको दुःखरूप चोर दुःख कभी नहीं दे सकते। (अधेन्वा च०) और जो कोई अविद्यारूप अर्थात् अर्थ

और अभिप्रायरहित वाणी को सुनता और कहता है, उसको कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु शोकरूप शत्रु उसको सब दिन दुःख ही देते रहते हैं। क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए अर्थज्ञानसहित ही पढ़ने से मनचाहा सुखलाभ होता है॥ ६॥

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्याय्यीमहाभाष्याध्ययनम्, ततः [कल्प] निघण्टुनिरुक्त-छन्दोज्योतिषां[1] वेदाङ्गानाम्, ततो मीमांसावैशेषिकन्याययोगसांख्यवेदान्तानां वेदोपाङ्गानां षण्णां शास्त्राणाम्, तत ऐतरेयशतपथसामगोपथब्राह्मणानामध्ययनं च कृत्वा वेदार्थपठनं कर्त्तव्यम्। यद्वा—एतत् सर्वमधीतवद्भिः कृतं वेदव्याख्यानं दृष्ट्वा च वेदार्थज्ञानं सर्वैः कर्त्तव्यमिति।

कुतः, 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'[2] इति। **यो मनुष्यो वेदार्थान्न वेत्ति, स नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वक्तुमर्हति। कुतः, सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः। नहि तमविज्ञाय कस्यचित् सत्यविद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति। यद्यत् किञ्चिद् भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च, तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्[3]। कुतः! यद्यद् यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमस्ति। तद्द्वारैवाऽन्यत्र कुत्रचित् सत्य-प्रकाशो भवितुं योग्यः। अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति।**

भाषार्थ—मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजना-सहित व्याकरण अष्टाध्यायी धातुपाठ उणादिगण गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा,[4] कल्प, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग; मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र जो वेदों के उपाङ्ग, अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक-ठीक जाना जाता है। तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़के, अथवा जिन्होंने उन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़के जो सत्य-सत्य वेद-व्याख्यान किये हों, उनको देखके वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें।

---

१. अत्र षट्स्वङ्गेषु शिक्षाया अध्ययनं पूर्वमुक्तम्। व्याकरणनिरुक्तछन्दोज्योतिषामध्ययनमिह प्रतिपादितम्। 'कल्प' शब्दो लिपिकरप्रमादान्नष्टः स्यात्, भाषार्थे कल्पाध्ययनमप्युक्तत्वात्। निघण्टुनिरुक्तशब्दाभ्यां निरुक्तनामाङ्गमुच्यते। निघण्टुर्नाम मूलग्रन्थः, निरुक्तं च तद्भाष्यम्। यथा व्याकरणप्रसङ्गेऽष्टाध्यायीमहाभाष्ययोर्व्याख्येयव्याख्यानग्रन्थयोः सह निर्देशस्तथैवेहापि ज्ञेयम्।

२. द्र०—शाटचायनोप० ४, इतिहासोप० २०।

३. 'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'। मनु १२।९७॥
'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्॥ महाभारत अनु० १२२। ४॥
'निसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्॥ याज्ञवल्क्य

४. यहां 'शिक्षा' पद का निर्देश व्यर्थ है। शिक्षा के अध्ययन का विधान आरम्भ में कर दिया है। संस्कृत में भी शिक्षा पद नहीं है।

क्योंकि 'नावेदवित्०'[1] वेदों को नहीं जाननेवाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता। और जो-जो जहां-जहां भूगोल में वा पुस्तकों अथवा मन में सत्य ज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा, वह सब वेदों में से ही हुआ है[2]। क्योंकि जो-जो सत्य विज्ञान है, सो-सो ईश्वर ने वेदों में धर रक्खा है। इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है। और विद्या के विना पुरुष अन्धे के समान होता है। इससे सम्पूर्ण विद्याओं के मूल वेदों को विना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को वेदादिशास्त्र अर्थज्ञानसहित अवश्य पढ़ने चाहियें।

इति पठनपाठनविषयः संक्षेपतः



१. देखो पूर्व पृष्ठ ३६८ की टि० २।

२. देखो पूर्व पृष्ठ ३६८ की टि० ३।

अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः

प्रश्नः—किंच भो! नवीनं भाष्यं त्वया क्रियते, आहोस्वित् पूर्वाचार्यैः कृतमेव प्रकाश्यते? यदि [1][नवीनं रच्यते, तर्हि तस्य स्वकल्पनाप्रसूतत्वात् न केनापि ग्राह्यं भवितुमर्हति। यदि] पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते, तर्हि तत् पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति?

उत्तरम्—पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते। तद्यथा—यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्, तथा यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि[2] कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट् शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति। एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते। न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति।

प्रश्न—किमनेन फलं भविष्यतीति?

उत्तरम्—यानि [3]रावणोवटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि, यानि चैतदनुसारेणेङ्गलेण्डशारमण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि, तथैवार्य्यावर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया[4] व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च, तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति, [5]टीकानामधिकदोषप्रसिद्ध्या त्यागश्च। परन्त्ववकाशाभावात् तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते। तद्यथा—

[सायणभाष्य-दोष-निदर्शनम्]

यत् सायणाचार्येण वेदानां [6]परममर्थमविज्ञाय 'सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डपराः सन्ति'[7]

१. कोष्ठान्तर्गतः पाठो लिपिकरप्रमादान्मुद्रणप्रमादाद्वा नष्टः। उभयत्र 'यदि' पदस्य प्रयोगाद् दृष्टिदोषरूपः प्रमादः सुकरः।

२. वेदाङ्गानि न साक्षाद् वेदव्याख्यानानि, किन्तु यथा शरीराङ्गानि शरीरोपकारकाणि भवन्ति, तथैव वेदाङ्गान्यपि वेदोपकारकाणि वेदार्थज्ञाने साक्षात् साहाय्यभूतानि सन्ति। तस्मादिह व्याख्यानशब्दः लक्षणया व्याख्यानसाधने प्रवृत्तः। एवमुत्तरत्र उपाङ्गोपवेदादिग्रन्थानां विषयेऽपि द्रष्टव्यम्।

३. रावणोऽयं न लङ्केशः, दाक्षिणात्योऽयं कश्चिद् विद्वान्। एतद्भाष्यविषये वैदिकवाङ्मयैतिह्यं (पं० भगवद्दत्तकृतं, भाग २) द्रष्टव्यम्।

४. 'प्राकृतभाषया' पदेन 'सम्भवतः तस्मिन् काले प्रकाशमाणस्य वेदार्थयत्नाख्यग्रन्थस्य विषये संकेतः स्यात्। वेदार्थयत्ने ऋग्वेदस्य संस्कृताङ्गलभाषाभ्यां सह मराठीभाषायामपि व्याख्यानमभूत्। वेदार्थयत्नस्य प्रकाशनमपि ग्रन्थकारीयर्ग्यजुभाष्यमिव अङ्कश एवाजायत।

५. महीधरादिविरचितानां टीकानामित्यर्थः।

६. परममर्थम् अध्यात्ममित्यर्थः।

७. प्रायेण सर्वेष्वपि वेदभाष्योपोद्घातेष्वयमर्थः सायणेनोक्तः।

इत्युक्तम्[1], तदन्यथास्ति। कुतः, तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्। तच्च पूर्वं संक्षेपतो लिखितमस्ति। एतावतैवास्य कथनं व्यर्थमस्तीत्यवगन्तव्यम्।

इन्द्रं मित्रं०[2] अस्य मन्त्रस्यार्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः। तद्यथा—तेनात्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया। अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवति। एवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम्। एवमेव यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः, तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति,[3] विशेषणस्यैकवारमेवेति। तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायत्वात्। इदं सायणाचार्य्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम्। निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव[4] वर्णितः। तद्यथा—'इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि०॥' निरु० अ० ७। खं० १८॥ स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति। तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम्।

तथा च—[5]'तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते, 'यथा राज्ञः पुरोहितः [7]सदभीष्टं सम्पादयति, [8]यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितम्' इत्युक्तम्।

इदमपि पूर्वापरविरुद्धमस्ति। तद्यथा—'सर्वैर्नामभिः परमेश्वर एव हूयते' चेत् पुनस्तेन होमसाधक आहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः। तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव।

कोऽपि ब्रूयात्—सायणाचार्य्येण[9] 'यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते, तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः' इत्युक्तत्वाददोष इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—यदीन्द्रादिभिर्नामभिः परमेश्वर एवोच्यते, तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता। तद्यथा—'अज एकपात्'[10]; 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्'[11] इत्यादिमन्त्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात् तत्कथनमसदस्ति।

एवमेव सायणाचार्य्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति। अग्रे यत्र-यत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं करिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यदोषान् प्रकाशयिष्याम इति।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'क्रियाकाण्डतत्पराः' इत्यपपाठः। २. ऋ० १। १६४। ४६॥

३. विशेषणेन सह संयोगार्थमिति शेषः। ४. अस्यायं भावः—इन्द्रादीन्यपेक्ष्याग्निशब्दो विशेष्यत्वेन, सद्वस्तुनो ब्रह्मणोऽपेक्षया विशेषणत्वेन वर्णित इति।

५. इदं वाक्यं सायणीयर्ग्वेदभाष्योपोद्घातारम्भे 'तद् यद् इदमाहुः' इति उपनिषदोद्धरणानन्तरं पठ्यते।

६. इदं वाक्यम् 'अग्निमीळे' (ऋ० १। १। १) मन्त्रव्याख्याने पठ्यते।

७. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सदभीष्टं' इत्यपपाठः।

८. इदमपि वाक्यम् 'अग्निमीळे' मन्त्रव्याख्यान एव पठ्यते।

९. इदं वचनमृग्वेदस्य सायणभाष्योपोद्घातस्यादौ 'तस्माद्यज्ञात्' मन्त्रव्याख्याने पठितम्।

१०. ऋ० ७। ३५। १३॥ ११. यजुः ४०। ८॥

भाषार्थ—प्रश्न—क्योंजी ! जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो, सो पूर्व आचार्यों के भाष्य के समान बनाते हो, वा नवीन । जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है, तब तो बनाना व्यर्थ है । क्योंकि वे तो पहिले से ही बने-बनाये हैं । और जो नया बनाते हो, तो उसको कोई भी न मानेगा । क्योंकि जो विना प्रमाण के केवल अपनी ही कल्पना से बनाना है, यह बात कब ठीक हो सकती है ?

उत्तर—यह भाष्य प्राचीन आचार्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है । परन्तु जो रावण[1], उवट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं, वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं । मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता । क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी । और जो यह मेरा भाष्य बनता है, सो तो वेद वेदाङ्ग ऐतरेय शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है । क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है, यही इस में अपूर्वता है । क्योंकि जो-जो [ग्रन्थ]प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिनाये हैं, वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं । वैसे ही ग्यारहसौ सत्ताईस=११२७ वेदों की शाखा भी उनके व्याख्यान ही हैं । उन सब ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त यह भाष्य बनाया जाता है ।

और दूसरा इसके अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इसमें कोई बात अप्रमाण वा अपनी [कल्पित] रीति से नहीं लिखी जाती । और जो-जो भाष्य उवट, सायण, महीधरादि ने बनाये हैं, वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं । तथा जो-जो इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी[2] और बंगाली आदि भाषाओं में वेदव्याख्यान बने हैं, वे भी अशुद्ध हैं।

जैसे देखो—सायणाचार्य्य ने वेदों के [परम=] श्रेष्ठ अर्थ[3] को नहीं जानकर कहा है कि 'सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं ।'

यह उनकी बात मिथ्या है । इसके उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में संक्षेप से लिख चुके हैं, सो देख लेना ।

ऐसे ही सायणाचार्य्य ने (इन्द्रं मित्रं०) इस मन्त्र का अर्थ भी भ्रान्ति से बिगाड़ा है । क्योंकि उन ने इस मन्त्र में विशेष्य-विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समझकर 'इन्द्र' शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया, और मित्रादि शब्द उसके विशेषण ठहराये हैं । यह उनको बड़ा भ्रम हो गया । क्योंकि इस मन्त्र में 'अग्नि' शब्द विशेष्य और इन्द्रादि शब्द उसके ही विशेषण हैं । इसलिये विशेषणों [में एक] का विशेष्य के साथ अन्वय होकर पुनः दूसरे-दूसरे विशेषण के साथ

१. यह रावण लङ्काधिपति नहीं है, अपितु दाक्षिणात्य विद्वान् है । इसके विषय में विशेष जो जानना चाहें, वे श्री पं० भगवद्दत्तकृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग २ में देखें ।

२. ऋ० द० के काल में '**वेदार्थयत्न**' के नाम से ऋग्वेद का भाष्य अङ्कशः छपता था । उसमें संस्कृत और अंग्रेजी भाषा के साथ मराठी भाषा में भी मन्त्र-व्याख्यान छपता था ।

३. अर्थात् अध्यात्मपरक अर्थ ।

विशेष्य का अन्वय कराना होता, और विशेषण का एक वार विशेष्य के साथ अन्वय होता है। इसी प्रकार जहां-जहां एक के सैकड़ों वा हजारों विशेषण होते हैं, वहां-वहां भी विशेष्य का सैकड़ों वा हजारों वार उच्चारण[1] होता है। वैसे ही इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द को दो बार उच्चारण किया, और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे हैं। यह बात सायणाचार्य्य ने नहीं जानी। इससे उनकी यह भ्रान्ति सिद्ध होती है। इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है—(इममेवाग्निं०)। यहां अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद् वस्तु ब्रह्म ही के हैं। क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं।

ऐसे सायणाचार्य्य ने और भी बहुत मन्त्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं। तथा उनने—'सब पुरुषों से परमेश्वर हो पुकारा जाता है,[2] जैसे राजा का पुरोहित राजा ही के हित का काम सिद्ध करता है। अथवा जो अग्नि यज्ञ के सम्बन्धी पूर्व[3] भाग में [आहवनीय के रूप में] हवन करने के लिये [स्थित] है,' ऐसा कहा है।[4]

यह सायणाचार्य्य का कथन अयोग्य और पूर्वापरविरोधी होकर आगे-पीछे के सम्बन्ध को तोड़ता है। क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण करते हैं, तो फिर जिस [भौतिक] अग्नि में हवन करते हैं, उसको किस लिये ग्रहण किया है?

और कदाचित् कोई कहे कि सायणाचार्य्य ने [5]'यद्यपि इन्द्रादि देव ही वहां-वहां बुलाए जाते हैं, फिर भी परमेश्वर के ही इन्द्रादिरूप से उपस्थित होने से कुछ भी विरोध नहीं आ सकता।' [ऐसा कहा है, इसलिए कोई दोष नहीं है।]

इसका उत्तर यह है कि - जब इन्द्रादि नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण है, तो वह निराकार, सर्वशक्तिमान्, व्यापक और अखण्ड होने से जन्म लेकर भिन्न-भिन्न व्यक्तिवाला कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वेदों में परमेश्वर का एक **अज** और **अकाय** अर्थात् शरीरसम्बन्धरहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है। इससे सायणाचार्य्य का कथन सत्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार सायणाचार्य्य ने जिस-जिस मन्त्र का अन्यथा व्याख्यान किया है, सो सब क्रमपूर्वक आगे उन मन्त्रों के व्याख्यान में लिख दिया जायेगा।

---

१. विशेषण के साथ अन्वय-द्योतन के लिये।

२. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'सब मन्त्रों से परमेश्वर का ग्रहण कर रखा है' संस्कृतविरुद्ध अपपाठ है। यहां सायण के तीन वाक्य उद्धृत किए गए हैं। उनके पते संस्कृतभाग की टिप्पणी में दर्शा दिए हैं।

३. अर्थात् वेदि के पूर्व भाग में। वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'प्रथम' अपपाठ है।

४. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'है, उसी रूप से ईश्वर स्थित है' भाषार्थ सायणाभिप्राय से विरुद्ध स्वकल्पित है।

५. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'जो सायणाचार्य ने वहां इन्द्रादि देवताओं का ही ग्रहण किया हो तो उससे कुछ भी' पाठ है, यह सायणीय भाष्य का विपरीत अनुवाद है।

[महीधरभाष्य-दोष-प्रदर्शनम्]

एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं [1]विवरणं कृतं तस्यापीह दोषा दिग्दर्शनवत् प्रदर्श्यन्ते—

भाषार्थ—इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यन्त विरुद्ध व्याख्यान किया है। उसमें से सत्यासत्य की परीक्षा के लिये उसके कुछ दोष यहां भी दिखलाते हैं—

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥ १ ॥

यजुः० अ० २३। मं० १९ ॥

भाष्यम्—अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने [2]तेनोक्तम्—[3]"अस्मिन्मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति। तद्यथा महिषी यजमानस्य पत्नी यज्ञशालायां पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते। शयाना सत्याह—हे अश्व ! गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः, अहम् आ अजानि आकृष्य क्षिपामि। त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि' ॥[१॥]

भाषार्थ—(गणानां त्वा०) इस मन्त्र में महीधर[4] ने कहा है कि—गणपति शब्द से घोड़े का ग्रहण है। सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि 'सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे, और सोती हुई घोड़े से कहे कि—हे अश्व ! जिससे गर्भ धारण होता है, ऐसा जो तेरा वीर्य्य है, उसको मैं खैंच के अपनी योनि में डालूं, तथा तू उस वीर्य्य को मुझमें स्थापन करनेवाला है ॥[१॥]

अथ सत्योऽर्थः—गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यं, ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति, प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति। ऐत० पं० १। कं० २१ ॥

प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः ॥ क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः ॥ क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम् ॥ ज्योतिर्वै हिरण्यम् ॥

श० कां० १३। अ० २। ब्रा० २। कं० १४, १५, १७, १९ ॥

न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद ॥

श० कां १३। अ० २। ब्रा० ३। कं० १ ॥

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'विवर्णं' अपपाठः। महीधरस्यार्थविषयिकी विशिष्टा टिप्पणी प्रकरणान्ते द्रष्टव्या।

२. महीधरेणेति शेषः। ३. अस्मिन् प्रकरणे निर्दिष्टो महीधरस्यार्थस्तद्भाष्यस्य संक्षेपरूपो ज्ञेयः।

४. महीधर के अर्थों के सम्बन्ध में विशेष टिप्पणी प्रकरण के अन्त में देखें।

राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति ॥ क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं[1] करोति ॥ अथो क्षत्रं वा अश्वः क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं, क्षत्रमेव तत् क्षत्रेण समर्धयति ॥ विशमेव तद्विशा समर्धयति ॥

शः कां० १३ । अ० २ । ब्रा० २ । कं० १६, १५, १७, १९ ॥

गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति । पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतदतोऽन्येवास्मै ह्नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति, त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्धुवते, त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते, षड् वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते ॥ अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति, ये यज्ञे धुवनं तन्वते, नवकृत्वः परियन्ति, नव वै प्राणाः, प्राणानेवात्मन् दधते, नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधमिति, प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन् धत्ते ॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ८। कं० ४,५॥

भाष्यम्—(गणानां त्वा०) वयं गणानां गणनीयानां पदार्थसमूहानां गणपतिं पालकं स्वामिनं (त्वा) त्वां परमेश्वरं (हवामहे) गृह्णीमः। तथैव सर्वेषां प्रियाणामिष्टमित्रादीनां मोक्षादीनां च प्रियपतिं त्वेति पूर्ववत्। एवमेव निधीनां विद्यारत्नादिकोशानां निधिपतिं त्वेति पूर्ववत्। वसत्यस्मिन् सर्वं जगद्वा यत्र वसति स वसुः परमेश्वरः, तत्सम्बुद्धौ हे वसो परमेश्वर! त्वम्[2] सर्वान् कार्य्यान् भूगोलान् स्वसामर्थ्ये गर्भवद्दधातीति स गर्भधस्तं त्वामहं भवत्कृपया आजानि सर्वथा जानीयाम्। (आ त्वमजासि) हे भगवन्! त्वं तु आ समन्ताज्ज्ञातासि। पुनर्गर्भधमित्युक्त्या वयं प्रकृतिपरमाण्वादीनां गर्भधानामपि गर्भधं त्वां मन्यामहे। नैवातो भिन्नः कश्चिद् गर्भधारकोऽस्तीति।

एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे[3] गणपतिशब्दार्थो वर्णितः—(ब्राह्मणस्पत्यं०) अस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य पतेर्भावो वर्णितः। ब्रह्म वै बृहस्पतिरित्युक्तत्वात् तेन ब्रह्मोपदेशेनैवैनं जीवं यजमानं वा सत्योपदेष्टा विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं करोति। आत्मनो भिषजं वैद्यमिच्छतीति। यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः, सप्रथश्च—प्रकृत्याकाशादिना प्रथेन[4] स्वसामर्थ्येन वा सह वर्त्तते स सप्रथः, तदिदं नामद्वयं तस्यैवास्तीति।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु '०मनुवर्त्तमानं' इत्यपपाठः। तथैवैतद्व्याख्यानेऽप्यपपाठः।

२. वै० य० मुद्रिते प्रथमसंस्करणे 'परमेश्वरपरत्वम्' इत्यपपाठः। स च द्वितीयसंस्करणे यथावत् शोधितः सन् आपञ्चमसंस्करणमुपलभ्यते। तदनु शताब्दीसंस्करणे शोधितं पाठमपसार्याऽपपाठः पुनः सन्निवेशितः। स चापपाठो नवमसंस्करणपर्यन्तमनुवर्तते।

३. ऐतरेयं च शतपथं चैतरेयशतपथम्, **अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्** (अष्टा० २।४।५) इति नियमेनैकवद्भावः। तत एतरेयशतपथं च तद् ब्राह्मणं चैतरेयशतपथब्राह्मणं, तस्मिन्। 'ऐतरेयशतपथब्राह्मणयो-' रिति सुगमः पाठो वात्र द्रष्टव्यः।

४. 'प्रथेन व्यापकेन प्रकृत्याकाशादिना स्वसामर्थ्येन वा सह वर्तते' इत्येवमभिप्रायो ज्ञेयः।

प्रजापतिः परमेश्वरो वै इति निश्चयेन 'जमदग्निसंज्ञो'ऽस्ति । अत्र प्रमाणम्—

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा, प्रज्वलिताग्नयो वा, तैरभिहुतो भवति ॥

निरु० अ० ७ । खं० २४ ॥

इमे सूर्य्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामर्थ्यादेव प्रज्वलिता भवन्ति । सूर्य्यादिभिः कार्य्यैस्तन्नियमैश्च कारणाख्य ईश्वरोऽभिहुतश्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति । यः स जमदग्निः परमेश्वरः (सोऽश्वमेधः) स एव परमेश्वरोऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोऽर्थः ।

अथापरः—क्षत्र वाऽश्वो विडितरे पशवः इत्यादि । यथाऽश्वस्यादेक्षयेतर इमेऽजादयः पशवो न्यूनबलवेगा भवन्ति, तथा राज्ञः सभासमीपे विट् प्रजा निर्बलैव भवति । तस्य राज्यस्य यद्धिरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत् स्वरूपं भवति । यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मो वर्णितः, तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसम्बन्धो वर्ण्यते ।

नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया[1] स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद, किन्त्वीश्वरानुग्रहेणैव जानाति । 'अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वः' ॥ श० कां० १३ । अ० ३ । ब्रा० ३ । कं० ५ ॥ अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत् सोऽश्व ईश्वर इत्युक्तत्वादीश्वरस्यैवात्राश्वसंज्ञाऽस्तीति ।

अन्यच्च (राष्ट्रं वा) राज्यमश्वमेधसंज्ञं भवति । तद्राष्ट्रे राज्यकर्मणि ज्योतिर्दधाति । तत्कर्मफलं क्षत्राय राजपुरुषाय भवति । तच्च स्वसुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां [2]स्ववर्त्तमानामनुकूलां करोति । अथो इत्यनन्तरं क्षत्रमेवाश्वमेधसंज्ञकं भवति । तस्य यद्धिरण्यमेतदेव रूपं भवति । तेन हिरण्याद्यन्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव सम्यग् वर्धते, न च प्रजा । सा तु स्वतन्त्रस्वभावान्वितया विशा समर्धयति । अतो यत्रैको राजा भवति, तत्र प्रजा पीडिता जायते । तस्मात् प्रजासत्तयैव राज्यप्रबन्धः कार्य्य इति ।

(गणानां०) स्त्रियोऽप्येनं राज्यपालनाय विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणाख्यं यज्ञं परितः सर्वतः प्राप्नुयुः । प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्धये यदपह्नवाख्यं कर्माचरन्ति, अतः कारणाद् एतद् एतासामन्ये विद्वांसो दूरीकुर्वन्ति । अथो इत्यनन्तरं य एनं विचालयन्ति, तानप्यन्ये च दूरीकुर्य्युः । एवमस्य त्रिवारं रक्षणं सर्वथा कुर्य्युः । एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणेन चात्मशरीरबलानि सम्पादयेयुः । ये नराः पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति, नैव तेभ्यः प्राणा बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति । तस्मान् मनुष्यस्तं गर्भधं परमेश्वरमहमाजानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत् । (प्रजा वै पशवः०) ईश्वरसामर्थ्य[रूप]गर्भात् सर्वे पदार्था जाता इति योजनीयम् । यश्च पशूनां प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति, स इमां सर्वां प्रजामात्मनि अतति सर्वत्र व्याप्नोति, तस्मिन् जगदीश्वरे वर्त्तत इति, धारयति ॥[१॥]

इति संक्षेपतो गणानां त्वेति मन्त्रस्यार्थो वर्णितः । अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम् ।

---

१. अञ्जसा=सरलतया विशेषप्रयत्नाभावेनेत्यर्थः । 'सहजतया' इति हस्तलेखे पाठः ।

२ अत्र 'स्ववर्त्मानुकूलां' पाठः साधुः स्यात् ।

भाषार्थ (गणानां त्वा०) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि यह मन्त्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करता है। जैसे ब्रह्म का नाम बृहस्पति, ईश्वर तथा वेद का नाम भी ब्रह्म है। जैसे अच्छा वैद्य रोगी को औषध देके दुःखों से अलग कर देता है, वैसे ही परमेश्वर भी वेदोपदेश करके मनुष्य को विज्ञानरूप ओषधि देके अविद्यारूप दुःखों से छुड़ा देता है। जो कि—'प्रथ' अर्थात् विस्तृत सब में व्याप्त, और सप्रथ' अर्थात् आकाशादि विस्तृत पदार्थों के साथ भी व्यापक हो रहा है। इसी प्रकार से यह मन्त्र ईश्वर के नामों को यथावत् प्रतिपादन कर रहा है। ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी—राज्यपालन का नाम 'अश्वमेघ', राजा का नाम 'अश्व', और प्रजा का नाम घोड़े से भिन्न 'पशु' रक्खा है। राज्य की शोभा धन है, और ज्योति का नाम 'हिरण्य' है।

तथा 'अश्व' नाम परमेश्वर का भी है। क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज[1] सामर्थ्य से नहीं जान सकता, किन्तु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है, वही उनके लिये स्वर्गसुख को जनाता, और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा हैं, उनको सब स्वर्गसुख देता है।

तथा (राष्ट्रमश्वमेधः०) राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा ही का काम, और उसी सभा का नाम राजा है। वही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है। क्योंकि राज ही से राज्य और प्रजा से ही प्रजा की वृद्धि होती है।

(गणानां त्वा०) जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करनेहारा है, (त्वा) उसको (हवामहे) हम लोग पूज्यबुद्धि से ग्रहण करते हैं। (प्रियाणां०) जो कि हमारे इष्ट मित्र और मोक्षसुखादि का प्रियपति, तथा हम को आनन्द में रख कर सदा पालन करनेवाला है, उसी को हम लोग अपना उपास्यदेव जानके ग्रहण करते है। (निधीनां त्वा०) जो कि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है, उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं। तथा जो कि व्यापक होके सब जगत् में और सब जगत् उसमें बस रहा है, इस कारण से उस को 'वसु' कहते हैं। हे वसु परमेश्वर ! जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादिकारण में गर्भ धारण करते हैं, अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों को आप ही रचते हैं, इसी हेतु से आप का नाम 'गर्भध' है। (आहमजानि) मैं ऐसे गुणसहित आपको जानूं। (आ त्वा०) जैसे आप सब प्रकार से सब को जानते हैं, वैसे ही मुझको भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिये। (गर्भधं) दूसरी वेर 'गर्भधं' शब्द का पाठ इसलिये है कि जो-जो प्रकृति और परमाणु आदि कार्यद्रव्यों के गर्भरूप हैं, उनमें भी सब जगत् के गर्भरूप बीज को धारण करनेवाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाला कोई भी नहीं है॥

[2](गणानां त्वा०) स्त्रीलोग भी राज्यपालन के लिये विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती रहें। जो इस यज्ञ को प्राप्त होके भी सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म्म में मिथ्याचरण करती हैं, उनके इस कर्म को विद्वान् लोग प्रसन्न नहीं करते। और जो पुरुष सन्तानादि की शिक्षा में आलस्य करते

१. हस्तलेख में 'सहजता' पाठ है। २. यह व्याख्यांश वै० य० मुद्रित संस्करणों में '(गणानां त्वा०) जो परमात्मा' इत्यादि व्याख्यान से पूर्व छपा है, तथापि संस्कृतपाठानुसार यहां होना चाहिये।

हैं, अन्य लोग उनको बांधकर ताड़ना देते हैं। इस प्रकार तीन, छः वा नव वार इसकी रक्षा से आत्मा शरीर और बल को सिद्ध करें। जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं, उनके बलादि गुण कभी नष्ट नहीं होते। (आहमजानि०) प्रजा के कारण का नाम 'गर्भ' है उस के समतुल्य वह सभा और प्रजा के पशुओं को अपने आत्मा में धारण करे। अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे, वैसे ही प्रजा और उसके पशुओं का भी सुख चाहे ॥ [१॥]

यही अर्थ ऐतरेय [और] शतपथ ब्राह्मण में कहा है। विचारना चाहिये कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है? जैसे यह दोष खण्डित हुआ, वैसे इस भाष्य की प्रवृत्ति से इन सब मिथ्या दोषों की निवृत्ति हो जायगी।

ताऽ उभौ चतुरः पदः संप्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु ॥ २ ॥ य० अ० २३। मं० २०॥

महीधरस्यार्थः—**'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति। महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति' ॥[२॥]**

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—'यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को पकड़ कर आप ही अपनी योनि में डाल देवे ॥ २ ॥

सत्योऽर्थः—ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञपयन्ति। तस्मादेवमाह वृषा वाजी रतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुध्यै ॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ८। कं० ५॥

भाष्यम्—आवां राजप्रजे, धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि सदैव मिलिते भूत्वा सम्यक् विस्तारयेवहि। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—स्वर्गे सुखविशेषे, लोके द्रष्टव्ये भोक्तव्ये, प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाय। येन सर्वान् प्राणिनः सुखैराच्छादयेवहि। यस्मिन् राज्ये पशुं पशुस्वभावमन्यायेन परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेशदण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति, सैष एव सुखयुक्तो देशो हि स्वर्गो भवति। तस्मात् कारणादुभयस्य सुखायोभये[1] विद्यादिसद्गुणानामभिवर्षकं वाजिनं विज्ञानवन्तं जनं प्रति विद्याबले सततमेव [2]दधात्वित्याहायं मन्त्रः ॥[२॥]

भाषार्थ—(ता उभौ०) राजा और प्रजा हम दोनों मिलके धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में प्रवृत्त रहें। किस प्रयोजन के लिये? कि दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिये। जिससे हम दोनों परस्पर तथा सब

१. प्रथमाबहुवचनान्तम्। २. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'दधात्विति' अपपाठः, 'उभये' इत्यस्य बहुवचनान्तत्वात्। यद्वा—'दधात्विति' पाठे 'उभयः' प्रथमान्तः कल्पनीयः।

प्राणियों को सुख से परिपूर्ण कर देवें। जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं, वही देश सुखयुक्त होता है। इससे राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की सदा सेवा करें, और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें। इस अर्थ का कहनेवाला 'ता उभौ०' यह मन्त्र है। इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है॥[२॥]

यकासकौ शंकुन्तिकाहलगिति वञ्चति।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका॥[३॥] य० अ० २३। मं० २२॥

महीधरो वदति—'अध्वर्य्वादयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते। अङ्गुल्या योनिं प्रदेशयन्नाह—स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः। [(गभे)] भगे योनौ शकुनिसदृश्यां यदा पसो लिङ्गमाहन्ति आगच्छति, [पसः] पुंस्प्रजननस्य नाम, हन्तिर्गत्यर्थः। यदा भगे शिश्नमागच्छति, तदा (धारका) धरति लिङ्गमिति धारका योनिः (निगल्गलीति) नितरां गलति वीर्य्यं क्षरति, यद्वा शब्दानुकरणं गग्गलेति शब्दं करोति'॥[३॥]

यकोऽसकौ०॥[४॥] य० अ० २३। मं० २३॥

'कुमारी अध्वर्य्युं प्रत्याह। अङ्गुल्या लिङ्गं प्रदेशयन्त्याह—अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते'॥[४॥]

भाषार्थ—महीधर का अर्थ - 'यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उपहासपूर्वक संवाद करते हैं। इस प्रकार से कि अंगुली से योनि को दिखलाके हंसते हैं। (आहलगिति०) जब स्त्रीलोग जल्दी-जल्दी चलती हैं, तब उनकी योनि में हलहला शब्द, और जब भग लिङ्ग का संयोग होता है, तब भी हलहला शब्द होता, और योनि और लिङ्ग से वीर्य्य झरता है।'॥[३॥]

(यकोऽसकौ०) 'कुमारी अध्वर्यु का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का अग्र भाग हैं, सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है।

अथ सत्योऽर्थः—'यकासकौ शकुन्तिकेति। विड् वै शकुन्तिकाहलगिति वञ्चतीति। विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति। विड् वै गभो राष्टं पसो, राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः'॥

श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९। कं० ६॥

भाष्यम्—(विड् वै०) यथा श्येनस्य समीपेऽल्पपक्षिणी निर्बला भवति, तथैव राज्ञः समीपे (विट्) प्रजा निर्बला भवति। (आहलगिति वञ्चतीति) राजानो विशः प्रजाः (वै) इति निश्चयेन राष्ट्राय राजसुखप्रयोजनाय सदैव वञ्चन्तीति। (आहन्ति०) विशो गभसंज्ञा भवति, पसाख्यं राष्ट्रं, राज्यं प्रजया स्पर्शनीयं भवति। यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद्धननं

पीडां करोति, यस्माद्राष्ट्री एको राजा मतश्चेत्तर्हि विशं प्रजां घातुको भवति, तस्मात् कारणादेको मनुष्यो राजा कदाचिन्नैव मन्तव्यः। किन्तु सभाध्यक्षः समाधीनो यः सदाचारी शुभलक्षणान्वितो विद्वान् स प्रजाभी राजा मन्तव्यः। अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्यातीवदुष्टोऽर्थोस्तीति विचारणीयम्॥ [३-४॥]

भाषार्थ—(यकासकौ०) प्रजा का नाम 'शकुन्तिका' है। कि जैसे बाज के सामने छोटी-छोटी चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है, वैसे ही राजा के सामने प्रजा की। (आहलगिति०) जहां एक मनुष्य राजा होता है, वहां प्रजा ठगी जाती है। (आहन्ति गभे पसो०) तथा प्रजा का नाम 'गभ', और राज्य का नाम 'पस है। जहां एक मनुष्य राजा होता है, वहां वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है। इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करनेवाला भी कहते हैं। इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये। किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्यप्रबन्ध होना चाहिये।

'यकासकौ०' इत्यादि मन्त्रों के शतपथप्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगों के बनाये हुए अर्थों का अत्यन्त विरोध है॥ [३–४॥]

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः।

प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत्॥[५॥] य० अ० २३। मं० २४॥

महीधरस्यार्थः—'**ब्रह्मा महिषीमाह–महिषि हये हये महिषि ! ते तव माता च पुनस्ते तव पिता यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः, तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिङ्गमतंसयत् तंसयति प्रक्षिपति। एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम्। लिङ्गमुत्थानेनालङ्करोति, वा तव भोगेन स्निह्यामीति वदन्नेवं तवोत्पत्तिः**'॥[५॥]

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—'अब ब्रह्मा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि—जब तेरे माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिङ्ग को तेरी माता के भग में डाल दिया, तब तेरी उत्पत्ति हुई। उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है, इससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य हैं'॥ [५॥]

अथ सत्योऽर्थः—**'माता च ते पिता च त इति। इयं वै मातासौ पिताभ्यामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति। श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रꣳ श्रियमेवैनꣳ राष्ट्रस्याग्रं गमयति। प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳसयदिति। विड् वै गभो राष्ट्रं मुष्टी, राष्ट्रमेवाविश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः'**॥ ५॥

श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९। कं० ७॥

भाष्यम्—(माता च ते०) **हे मनुष्य ! इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति। ओषध्याद्य-**

नेकपदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात् । असौ द्यौः प्रकाशो विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति । सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात् । विद्वान् ताभ्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति । (अग्रं वृक्षस्य०) या श्रीविद्याशुभगुणरत्नादिशोभान्विता च लक्ष्मीः, सा राष्ट्रस्याग्रमुत्तमाङ्गं भवति । सैवैनं जीवं श्रियं शोभां गमयति, यद् राष्ट्रस्याग्रमग्र्यं मुख्य सुखं च । (प्रतिलामीति०) विट् प्रजा गभाख्याऽर्थादैश्वर्य्यप्रदा, (राष्ट्रं मुष्टी०) राजकर्म मुष्टिः, यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति, तथैवैको राजा चेत् तर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रिय हरत्येव । यस्माद् राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य आहन्ति, तस्माद् राष्ट्री विशं घातुको भवति । अस्मादर्थान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्धोऽस्ति, तस्मात् स नैव केनापि मन्तव्यः ॥५॥

भाषार्थ—सत्य अर्थ (माता च ते०) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार के मान्य करानेवाली, और सूर्य्यलोक, विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान हैं । क्योंकि सूर्यलोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक, और विज्ञानदानसे पण्डित, तथा परमात्मा सबका पालन करनेवाला है । इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान लोग जीवों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त करा देते हैं । (अग्रं वृक्षस्य०) श्री जो लक्ष्मी है, सो ही राज्य का अग्रभाग अर्थात् सिर के समान है । क्योंकि विद्या और धन ये दोनों मिलके ही जीव को शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त कर देते हैं । (प्रतिलामीति०) फिर प्रजा का नाम 'गभ' अर्थात् ऐश्वर्य की देनेवाली, और राज्य का नाम 'मुष्टि' है । क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है, कि जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे । वैसे ही जहां अकेला मनुष्य राजा होता है, वहां वह पक्षपात से अपने सुख के लिये जो-जो प्रजा की श्रेष्ठ गुण देनेवाली लक्ष्मी [है, उस] को ले लेता है, अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीड़ा देनेवाला होता है । इसलिये एक को राजा कभी मानना न चाहिये । किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यक्ष सहित सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिये । इस अर्थ से भी महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है ॥ [५ ॥]

[1]ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय गिरौ भारꣳ हरन्निव ।

अथास्यै मध्यमेधताꣳ शीते वाते पुनन्निव ॥ ६ ॥ य० अ० २३ । मं० २६ ॥

महीधरास्यार्थः—'यथा अस्यै अस्या वावाताया मध्यमेधतां योनिप्रदेशो वृद्धिं यायात्, यथा योनिर्विशाला भवति, तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः । दृष्टान्तान्तरमाह—यथा शीतले वायौ वाति पुनन् धान्यपवनं कुर्वाणः कृषीवलो धान्यपात्रं ऊर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः' ॥ [६ ॥]

यदस्याऽ अꣳहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत् ।

मुष्काविदस्याऽ एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ [॥ ७] य० अ० २३ । मं० २८ ॥

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ऊर्ध्वमे०' इत्यपपाठः, यजुर्भाष्ये ग्रन्थकृता 'ऊर्ध्वामे०' पाठस्यैव स्वीकृतत्वात् ।

'यत् यदा अस्याः परिवृक्तायाः कृधु ह्रस्वं स्थूलं च शिश्नमुपातसत् उपगच्छत् योनिं प्रति गच्छेत्, तंसं उपक्षये, तदा मुष्कौ वृषणौ इत एव अस्याः योनेरुपरि एजतः कम्पेते। लिङ्गस्य स्थूलत्वाद् योनेरल्पत्वाद् वृषणौ बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः—गोशफे जलपूर्णे गोखुरे शकुलौ मत्स्याविव, यथा उदकपूर्णे गोः पदे मत्स्यौ कम्पेते' ॥[७॥]

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—"[1]पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खैंचके बढ़ा लेवें। (यदस्या अँहु०) परिवृक्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य्य निकल जाता है, जब छोटा वा बड़ा लिङ्ग उसकी योनि में डाला जाता है, तब योनि के ऊपर दोनों अण्डकोश नाचा करते हैं, क्योंकि योनि छोटी और लिङ्ग बड़ा होता है। इसमें महीधर दृष्टान्त देता है कि—जैसे गाय के खुर के बने हुए गढ़े के जल में दो मच्छी नाचें, तथा जैसे खेती करने वाला मनुष्य अन्न और भुस अलग-अलग करने के लिये चलते वायु में एक पात्र में भरके ऊपर को उठाके कंपाया करता है, वैसे ही योनि के ऊपर अंडकोश नाचा करते हैं' ॥ [६–७ ॥]

अथ सत्योऽर्थः—"[2]ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयेति। श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति ॥ गिरौ भारँ हरन्निवेति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः, श्रियमेवास्मै राष्ट्रँ संनह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति। अथास्यै मध्यमेधतामिति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यँ श्रियमेव राष्ट्रं मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति ॥ शीते वाते पुनन्निवेति। क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति' ॥[६-७॥] श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ६। कं० २-५ ॥

भाष्यम्—(ऊर्ध्वमेना०) हे नर! त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रियमुच्छ्रापय, सेव्यानुत्कृष्टां कुरु। एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगुणमुच्छ्रयितुं शक्यम्। (गिरौ भारँ हर०) कस्मिन् किमिव, गिरि शिखरे प्राप्त्यर्थं भारवद्वस्तूपस्थापयन्निव। कोऽस्ति राष्ट्रस्य भार इत्यत्राह—'श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः' इति। सभाव्यवस्थयास्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नह्य सम्बध्य राष्ट्रमनुत्तमं[3] कुर्य्यात्। अथो इत्यनन्तरमेवं कुर्वन् जनोऽस्मिन् संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधिनिदधाति सर्वोपरि नित्यं धारयतीत्यर्थः। (अथास्यै०) किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमित्याकाङ्क्षायामुच्यते—'श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्' तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याऽऽभ्यन्तरे दधाति, सुसभया सर्वां प्रजां सुभोगयुक्तां करोति। कस्मिन् किं कुर्वन्निव (शीते वाते पुनन्निवेति) राष्ट्रस्य क्षेमो रक्षणं शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय क्षेमं सुसभया रक्षणं कुर्य्यात्। अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्य व्याख्यानमत्यन्तं विरुद्धमस्तीति ॥ [६-७ ॥]

भाषार्थ—श्री नाम विद्या और धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम 'अश्वमेध' है। ये ही श्री और राज्य को उन्नति कराते हैं। (गिरौ भारँ हरन्निव) राज्य का भार श्री है, क्योंकि इसीसे

१. भाषानुवाद ठीक नहीं है।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ऊर्ध्वमे०' इत्यपपाठः, ग्रन्थकर्तु-र्यजुर्भाष्ये 'ऊर्ध्वामे०' पाठस्यैव दर्शनात्।

३. नास्त्युत्तमं यस्मात्तद् अनुत्तमं श्रेष्ठतममित्यर्थः।

राज्य की वृद्धि होती है। इसलिये राज्य में विद्या और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि होने के अर्थ उसका भार अर्थात् प्रवन्ध श्रेष्ठपुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिए। क्योंकि (अथास्यै०) श्री राज्य का आधार, और वही राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर देती है। इस में दृष्टान्त यह है कि—(शीते वाते०) अर्थात् राज्य को रक्षा करने का नाम 'शीत' है, क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है, तभी उसकी उन्नति होती है।

प्र०—राज्य का भार कौन है ? उ०—(श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः०) क्योंकि वही[1] श्री धन के भार से युक्त करके राज्य को उत्तमता को पहुंचाती है। (अथो०) इस के अनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश अथवा संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रबन्ध को सब में स्थापन कर देते हैं। (अथास्यै०)प्र०—उस राज्य का मध्य कौन है ? उ०—प्रजा की ठीक-ठीक रक्षा, अर्थात् उसका नियमपूर्वक पालन करना, यही उसको रक्षा में मध्यस्थ है। (गिरौ भारꣳ हरन्निव) जैसे कोई मनुष्य बोझ उठाके पर्वत पर ले जाता है, वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त कर देती है ॥ [६–७ ॥]

यद्देवासो॑ ल॒लाम॑गुं॒ प्र विष्टी॒मिन॑मावि॒षुः ।

स॒क्थ्ना दे॑दिश्यते॒ नारी॑ स॒त्यस्या॑क्षि॒भुवो॒ यथा ॥८॥ य० अ० २३। मं० २९॥

महीधरस्यार्थः—'(यत्) यदा (देवासः) देवाः दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवाः होत्रादयः ऋत्विजो (ललामगुं) लिङ्गं (प्र अविशुः) योनौ प्रवेशयन्ति। ललामेति सुखनाम, ललामं[2] सुखं गच्छति प्राप्नोति ललामगुः शिश्नः, यद्वा ललामं[2] पुण्ड्रं गच्छति ललामगुः लिङ्गम्, योनिं प्रविशदुत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः। कीदृशं ललामगुं (विष्टीमिनं) शिश्नस्य योनिप्रदेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः। यदा देवाः शिश्नक्रीडिनो भवन्ति, ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति, तदा (नारी) (सक्थ्ना) ऊरुणा ऊरुभ्यां (देदिश्यते) निर्दिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते। भोगसमये सर्वस्य नार्यङ्गस्य नरेण व्याप्तत्वादूरुमात्रं लक्ष्यते। इयं नारीतीत्यर्थः।' ॥[८॥]

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—[3]'(यद्देवासो०) जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज लोग ऐसा हंसते और अंडकोश नाचा करते हैं, तब तक घोड़े का लिङ्ग महिषी की योनि में काम करता है, और उन ऋत्विजों के भी लिङ्ग स्त्रियों की योनि में प्रवेश करते हैं। और जब लिङ्ग खड़ा होता है, तब कमल के समान हो जाता है। जब स्त्री-पुरुष का समागम होता है, तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से थक जाती है' ॥ [८ ॥]

अथ सत्योऽर्थः—(यद्देवासो०) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं कृत्वेमं (विष्टीमिनम्) विविधतया आर्द्रीभावगुणवन्तं (ललामगुम्) सुखप्रापकं विद्यानन्दं (प्राविशुः)

१. अर्थात् राज्यव्यवस्था ही। २. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ललाम' इत्यविभक्त्यन्तोऽपपाठः।
३. भाषानुवाद ठीक नहीं है।

प्रकृष्टतया समन्ताद् व्याप्नुवन्ति, तथैव तैस्तेन सह वर्त्तमानेयं प्रजा देदिश्यते। यथा नारी वस्त्रै-राच्छाद्यमानेन सक्थ्ना वर्त्तते, तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयेति ॥[८॥]

भाषार्थ—जैसे विद्वान् लोक प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं, वैसे ही उसी आनन्द से प्रजा को भी युक्त करते हैं। विद्वान लोगों को चाहिये कि जैसे स्त्री अपने जंघा आदि अंगों को सदा वस्त्रों से ढांप रखती है, इसी प्रकार अपने सत्योपदेश विद्या धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें ॥[८॥]

यद्ध॒रि॒णो यव॒मत्ति॒ न पु॒ष्टं प॒शु मन्य॑ते।
शू॒द्रा यदर्य॑जारा॒ न पोषा॑य धनायति ॥[९॥] य० अ० २३। मं० ३०॥
[1]यद्ध॒रि॒णो यव॒मत्ति॒ न पु॒ष्टं ब॒हु मन्य॑ते।
शू॒द्रो यदर्या॑यै जा॒रो न पोष॒मनु॑ मन्यते ॥[१०॥] य० अ० २३। मं० ३१॥

महीधरस्यार्थः—'क्षत्ता पालागलीमाह–शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री, यदा अर्य्यजारा भवति, वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति, तदा शूद्रः पोषाय न धनायते पुष्टिं न इच्छति, मद्भार्य्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते, किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः ॥

[2](यद्धरिणो०) पालागली क्षत्तारमाह—यत् यदा शूद्र अर्य्यायै अर्य्यायाः वैश्याया जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते, मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते, किन्तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः ॥९-१०॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—'(यद्धरिणो०) क्षत्ता सेवकपुरुष शूद्रवासी से कहता है कि—जब शूद्र की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है, तब वह इस बात को तो नहीं विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ व्यभिचार कराने से पुष्ट हो गई। किन्तु वह इस बात को विचारके दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी हो गई ॥

[2](यद्धरिणो०) अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि—जब शूद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्यभिचार कर लेता है, तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट हो गई, किन्तु नीच ने समागम कर लिया, इस बात को विचारके कलेश मानता है' ॥[९-१०॥]

अथ सत्योऽर्थः—'यद्धरिणो यवमत्तीति। विड् वै यवो राष्ट्रं हरिणो विशमेव राष्ट्राद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति। न पुष्टं पशु मन्यत इति। तस्माद् राजा पशून्न पुष्यति। शूद्रा यदर्य्यजारा न पोषाय धनायतीति। तस्माद् वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति' ॥
श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९। कं० ८॥

१. वै० य० मुद्रितेष्वयं मन्त्रो न पठ्यते, अर्थस्त्वस्य महीधरकृत उद्ध्रियते। तस्माल्लेखकप्रमादान्मुद्रण-दोषाद्वा मन्त्रपाठोऽत्र नष्ट इति प्रतीयते।
२. एकत्रिंशत्तममन्त्रप्रतीकनिर्देशः।

भाष्यम्—[1] (यद्धरिणो०) विट् प्रजेव यवोऽस्ति। राज्यसम्बन्ध्येको राजा हरिण इव उत्तम-पदार्थहर्त्ता भवति। यथा मृगः क्षेत्रस्थं सस्यं भुक्त्वा प्रसन्नो भवति, तथैवैको राजापि नित्यं स्वकीय-मेव सुखमिच्छति। अतः स राष्ट्राय स्वसुखप्रयोजनाय विशं प्रजामाद्यां भक्ष्यामिव करोति। यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणेच्छां करोति, नैव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं जीवितुं[2] वा मन्यते। तथैव स्वसुखसम्पादनाय प्रजायां कश्चिन्मत्तोऽधिको न भवेदितीच्छां सदैव रक्षति। तस्मादेको राजा प्रजां न पुष्यति नैव रक्षयितुं समर्थो भवतीति। यथा च यदा शूद्रा अर्य्यजारा भवति, तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति, पुष्टो न भवति। तथैको राजापि प्रजां यदा न पुष्यति, तदा सा नैव पोषाय धनायति, पुष्टा न भवति। तस्मात् कारणाद् वैशीपुत्रं भीरु[3] शूद्रीपुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चति, नैवैतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः। अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्तादर्थान्महीधरकृतोऽर्थोऽतीवविरुद्धो-ऽस्ति ॥९-१०॥

भाषार्थ—[4] (यद्धरिणो०) यहां प्रजा का 'यव' और राजा का नाम 'हरिण' है। क्योंकि जैसे मृग पशु पराये खेत में जवों को खाकर आनन्दित होते हैं, वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है। अथवा (न पुष्टं पशु मन्यत०) जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मारके उसका मांस खा जाता है, वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करने-हारा होता है। क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है। और शूद्र तथा वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है। इसलिये किसी एक मूर्ख वा लोभी को कभी सभाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये। इस सत्य अर्थ से महीधर उलटा ही चला है ॥[९-१०॥]

उत्स॑क्थ्या॒ऽअव॑ गु॒दं धे॑हि॒ सम॒ञ्जिं चा॑रया वृषन्।
य स्त्री॒णां जी॑व॒भोज॑नः ॥ [११ ॥] य० अ० २३। मं० २१॥

महीधरस्यार्थः—'यजमानोऽश्वमभिमन्त्रयते। हे वृषन्! सेक्तः अश्व! उत् ऊर्ध्वे सक्थिनो ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या गुदमव गुदोपरि रेतो धेहि वीर्यं धारय। कथम्? तदाह अञ्जि लिङ्गं सञ्चारय योनौ प्रवेशय। योऽञ्जिः स्त्रीणां जीवभोजनः। यस्मिन् लिङ्गे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय' ॥[११॥]

भाषार्थ—(उत्सक्थ्या०) इस मन्त्र पर महीधर ने टीका की है कि—'यजमान घोड़े से कहता है, हे वीर्य के सेचन करनेवाले अश्व! तू मेरी स्त्री के जंघा ऊपर को करके उसकी गुदा के ऊपर वीर्य डाल दे, अर्थात् उसकी योनि में लिङ्ग चला दे। वह लिङ्ग किस प्रकार का है, कि

१. ग्रन्थकृतेह 'त्रिंशदेकत्रिंशन्मन्त्रयोः प्रायेण समानत्वादर्थोऽपीह सहैव निर्दिश्यते।
२. 'जीवयितु' युक्तः पाठो द्रष्टव्यः।
३. अयं संकेत एकत्रिंशन्मन्त्रार्थविषयको वर्तते।
४. तीसवें और इकतीसवें दोनों मन्त्रों के प्रायः समान होने से दोनों का इकट्ठा संक्षेप से अर्थ किया है।

जिस समय योनि में जाता है, उस समय उसी लिङ्ग से स्त्रियों का जीवन होता है, और उसी से वे भोग को प्राप्त होती हैं। इससे तू उस लिङ्ग को मेरी स्त्री की योनि में डाल दे' [।।११।।]

अथ सत्योऽर्थः—**(उत्सक्थ्या०) हे वृषन् सर्वकामानां वर्षयितः प्रापक ससभाध्यक्षविद्वान् ! त्वमस्यां प्रजायामञ्जि ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं संचारय सम्यक् प्रकाशय। (य स्त्रीणां जीवभोजनः) कामुकः सन् नाशमाचरति, तं त्वमवगुदमधःशिरसं कृत्वा ताडयित्वा कारागृहे[1] धेहि। यथा स्त्रीणां मध्ये या काचित् उत्सक्थी व्यभिचारिणी स्त्री भवति, तस्यै सम्यग्दण्डं ददाति, तथैव त्वं तं जीवभोजनं परप्राणनाशकं दुष्टं दस्युं दण्डेन समुच्चारय ।।[१२।।]**

भावार्थ—(उत्सक्थ्या०) परमेश्वर कहता है कि हे कामना की वृष्टि करनेवाले और उसको प्राप्त करानेवाले सभाध्यक्षसहित विद्वान् लोगो ! तुम सब एक सम्मति होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढ़ाके न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो। तथा जो कोई दुष्ट (जीवभोजनः) स्त्रियों में व्यभिचार करनेवाला, चोरों में चोर, ठगों में ठग, डाकुओं में डाकू प्रसिद्ध, दूसरों को बुरे काम सिखानेवाला इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त स्त्री को ऊपर पग और नीचे शिर करके उसको टांग देना, इत्यादि अत्यन्त दुर्दशा करके मार डालना चाहिये, क्योंकि इससे अत्यन्त सुख का लाभ प्रजा में होगा ।।[१२।।]

एतावतैव खण्डनेन महीधरकृतस्य 'वेददीपा'ख्यस्य खण्डनं[2] सर्वैर्जनैर्बोद्धव्यमिति। यदा मन्त्रभाष्यं मया विधास्यते, तत्रास्य महीधरकृतस्य भाष्यस्यान्येऽपि दोषाः प्रकाशयिष्यन्ते। यदि ह्यार्य्यदेशनिवासिनां सायणमहीधरप्रभृतीनां व्याख्यास्वेतादृशी मिथ्या गतिरस्ति, तर्हि यूरोप-

१. वै० य० मुद्रितयो प्रथमद्वितीयसंस्करणयोः 'कालाग्रहे' पाठः। अयं द्वितीयसंस्करणे संशोधनपत्रे 'कारागृहे' इत्येवं शोधितः। तदनुसारं च पञ्चमसंस्करणपर्यन्तं 'कारागृहे' शुद्धः पाठो मुद्रितः। शताब्दीसंस्करण-शोधकेन पण्डितविश्वनाथेन शुद्धं पाठममि प्रथमसंस्करणवद् अशुद्धं पठित्वा 'कालाग्रहे' (कारागृहे?)' इत्येवं शुद्धः पाठः स्वसंशोधनरूपेणोपस्थापितः। तत आरभ्याद्य यावत् तथैव मुद्र्यते :

२. महीधरेणोक्तमन्त्राणां यादृशो भ्रष्टोऽर्थः स्वभाष्ये लिखितस्तथैव शतपथब्राह्मणेऽपि दृश्यते। यादृशश्च ग्रन्थकृता सत्योऽर्थः प्रदर्शितः सोऽपि तत्रोपलभ्यते। शतपथे उभयथा व्याख्याने महीधरव्याख्यानस्यैव दोषनिदर्शनं ग्रन्थकृता केन हेतुना कृतम् इत्युदेति शङ्का। तस्या इयं समाधिः—यादृशो महीधरेणार्थः कृतः स शतपथे **'एतेऽउक्त्वा यदध्रिगोः परिशिष्टं भवति'** (शत० १३।५।२) इत्युक्त्वा निर्दिश्यते। यादृशश्च ग्रन्थकृता साध्वर्थः प्रदर्शितः, स अस्मात् परिशिष्टात् पूर्वं यथाप्रकरणं यथास्थानं च व्याख्यातः। तदेवं शतपथ एवोभयथा व्याख्यानदर्शनात् **'अध्रिगोः परिशिष्टं भवति'** इति परिशिष्टरूपेण निन्दितार्थस्योल्लेखात् प्रकरणान्तरव्यवधानाच्च ज्ञायते यदयमश्लीलार्थः शतपथ उत्तरकालं प्रक्षिप्तः। एतच्चास्य प्रकरणस्यादौ परिशिष्टशब्दनिर्देशात् पुनरुक्ति-दोषाच्च स्पष्टमेव। महीधरेण विद्यमानेऽपि शतपथे साध्वर्थे तमुपेक्ष्य परिशिष्टशब्देन निर्दिष्टे प्रक्षेपांशे लिखितोऽश्लीलोऽर्थ एव स्वभाष्ये निर्दिष्ट इति कृत्वा महीधरकृतार्थस्यैव ग्रन्थकृता समालोचना विहिता, न तु शतपथे परिशिष्टप्रकरणोक्तस्यार्थस्य। यतस्तस्य परिशिष्टशब्देन प्रक्षेपत्वं विस्पष्टमेवेति। एवमेव कात्ययनादि-श्रौतसूत्रनिर्दिष्टाश्लीलार्थपरस्य विनियोगस्यापि गतिर्ज्ञेया। ते ग्रन्थाः शतपथे प्रक्षेपानन्तरं वा रचिताः, तेष्वेव ग्रन्थेषु साध्वर्थपरं विनियोगं निष्काश्याश्लीलार्थपरो विनियोगो निवेशित इति न शक्यते वक्तुम्।

खण्डनिवासिनामेतदनुसारेण स्वदेशभाषायां [कृतानां] वेदार्थव्याख्यानानमनर्थगतेस्तु का कथा ? एवं जाते सति ह्येतदाश्रयेण देशभाषया यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति ? इति सज्जनैर्विचारणीयम् ।

नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्तुमार्य्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते । तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च । तस्मात् तद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्त्तव्या । किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णा सन्ति, नैव किञ्चित् तेषु मिथ्यात्वमस्ति । तदेतच्च सर्वे मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति, यदा चतुर्णां वेदानां निर्मितं भाष्यं यन्त्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं भविष्यति । एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृतया तुल्या द्वितीया विद्याऽस्तीति सर्वे विज्ञास्यन्तीति बोध्यम् ।

भाषार्थ—आगे कहां तक लिखें, इतने ही से सज्जन पुरुष अर्थ और अनर्थ[2] की परीक्षा कर लेवें । परन्तु मन्त्रभाष्य में महीधर आदि के और भी दोष प्रकाश किये जायंगे । और जब इन्हीं लोगों के व्याख्यान अशुद्ध हैं, तब यूरोपखण्डवासी लोगों ने जो उन्हींको सहायता लेकर अपनी देशभाषा में वेदों के व्याख्यान किये हैं, उनके अनर्थ का तो क्या ही कहना है ? तथा जिन्होंने उन्हींके अनुसारी व्याख्यान किये हैं [उनकी अशुद्धि की गणना ही क्या है] । इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है ।

परन्तु जिस समय चारों वेद का भाष्य बन कर और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञान-गोचर होगा, तब सब किसी को उत्तम विद्या पुस्तक वेद का परमेश्वर-रचित होना भूगोलभर में विदित हो जावेगा । और यह भी प्रगट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्य पुस्तक वेद ही है, वा कोई दूसरा भी हो सकता है । ऐसा निश्चय जान के सब मनुष्यों की वेदों में परमप्रीति होगी । इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में जान लेना ।

इतिभाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः संक्षेपतः

---

१. ग्रन्थकृता वेदभाष्यनिर्मितेः प्राक् चत्वारोऽपि वेदा सम्यगालोड्य तद्भाष्यलेखनसाहाय्याय चतुर्णामपि वेदानां विषयानुक्रमो निर्धार्य ग्रन्थरूपेण संकलितः । स च अमुद्रित एव परोपकारिणीसभायाः कालगृहे काल यापयान् गतवर्षं एव ततो मुक्तिं लब्ध्वा प्राकाश्यं प्राप्तः । अनेन चतुर्वेदविषयानुक्रमेण चतुर्णामपि वेदानां ग्रन्थकारेण विरचयिष्यमाणस्य भाष्यस्य स्वरूपं सम्यग् विज्ञातं भवति ।

२. महीधर ने जैसा अश्लील अर्थ किया है, वैसा शतपथ में भी मिलता है । फिर ग्रन्थकार ने महीधर के अर्थों का ही खण्डन क्यों किया ? शतपथ का निर्देश क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है कि—शतपथ में उक्त प्रकार का अश्लील अर्थ **'अध्रिगोः परिशिष्टं भवति'** निर्देश करके लिखा है । 'परिशिष्ट' शब्द से स्पष्ट है कि यह अर्थ शतपथ में पीछे से घुसेड़ा गया है । इतना ही नहीं, इसका प्रक्षेपपना तो शतपथ में पूर्वत्र यथा-प्रकरण साधु अर्थों के विधान से भी स्पष्ट है । अन्यथा शतपथकार पूर्व उत्तम अर्थ का निर्देश ही न करते, और यही अश्लील अर्थ यथास्थान पूर्व ही रख देते । इससे स्पष्ट है कि महीधर ने परिशिष्ट शब्द और पुनरुक्ति दोष की ओर ध्यान न देकर साध्वर्थ की (जो उसी ग्रन्थ में निर्दिष्ट हैं) उपेक्षा करके अश्लीलार्थ ही स्वीकार किया है । इससे ग्रन्थकार ने महीधर आदि के अर्थों की ही आलोचना की है, शतपथ की नहीं । क्योंकि उसमें परिशिष्ट शब्द के प्रयोग से उनका प्रक्षेपत्व स्पष्ट है । कात्यायन आदि श्रौतसूत्रों में भी इन्हीं अश्लील अर्थों का ही संकेत मिलता है । उससे प्रतीत होता है कि उनकी रचना शतपथ में परिशिष्टांश के प्रक्षेप के पीछे हुई है अथवा उनमें शतपथोक्त साध्वर्थ द्योतक विनियोग को उत्तरकाल में निकालकर अश्लीलार्थपरक विनियोग डाला गया है ।

अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्ड-विनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्[1]। पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो[2] मन्त्रार्थानुसृत[3]स्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।

तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते। कुतोऽस्यैकत्र विशेषस्तु पातञ्जलयोगशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोऽस्तीत्यतः। एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि। कुतः? अस्य विशेषस्तु सांख्यवेदान्तोपनिषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः। एवं [यत्र] काण्डत्रयेण[4] बोधान्निष्पत्त्युपकारौ गृह्येते, तच्च विज्ञानकाण्डम्। परन्त्वेतत्काण्डचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तरस्तद्व्याख्यानेषु ग्रन्थेष्वस्ति। स एव सम्यक् परीक्ष्याविरुद्धोऽर्थो ग्रहीतव्यः। कुतः? मूलाभावे शाखादीनामप्रवृत्तेः।

एवमेव व्याकरणादिभि[5]र्वेदाङ्गैर्वैदिकशब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यमुच्चारणं

---

१. एतेन सन्दर्भेणैतत् स्पष्टं भवति यद् ग्रन्थकारो भगवान् दयानन्दः श्रौतगृह्यधर्मसूत्रेषु प्रतिपादितं कर्मकाण्डं यथावत् स्वीकरोति। गृह्यसूत्रोक्तकर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं संस्कारविधिग्रन्थनिर्माणात् विस्पष्टमेवानुमतम्। श्रौतसूत्रोक्तकर्मकाण्डस्य प्रामाण्यमपि यत्रतत्र स्वग्रन्थेषु यज्ञादिनिरूपणे '**अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्त**'शब्दनिर्देशात् विज्ञापितं भवति। यतो हि 'अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ता यज्ञाः' श्रौतसूत्रेष्वेव पठ्यन्ते। अपि च संस्कारविधौ श्रौत-दर्शपौर्णमासेष्ट्योः प्रयोगार्हाणां पात्राणां निर्देशादपि तत्प्रामाण्यं स्वीक्रियते इति विज्ञापितं भवति।

अस्मिन् वाक्ये '**यथार्थं विनियोजितत्वात्**' पदाभ्यामपि श्रौतसूत्रस्थस्य कर्मकाण्डस्य याथार्थ्यं सूचितम्। इदं त्वत्रावधेयम्—इदं यथार्थवचनं सापेक्षमिह प्रयुक्तम्। तेन यद्यत् कर्म वेदाविरोधि तस्यैव याथार्थ्यमत्र ग्राह्यं, न वेदविरुद्धस्य। अयमेवार्थो 'वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतः' पदाभ्यामुत्तरं विस्पष्टीकृतः।

२. वेदप्रमाणविपरीतो विनियोगः कर्मकाण्डं वा न प्रमाणम्। तदुक्तं भगवता जैमिनिना—'**विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्**' (१।३।३)।

३. मन्त्रार्थानुसृत एव विनियोगः प्रमाणम् इत्यर्थः '**यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति**' इति [गोपथ-] ब्राह्मणवचनेनाप्युच्यते। अयमेव चाभिप्रायः उक्तब्राह्मणवचनमुद्ध्रियमाणेन यास्केनाप्यनुमोद्यते (निरु० १।१५)। एतेन मन्त्रार्थाननुसृतो विनियोगोऽप्रमाणम् इति द्योतितं भवति। तेन नवग्रहपूजापूजासूक्तः '**शन्नोदेवी**' इत्यादि-मन्त्राणां विनियोगोऽप्रमाणम्।

४. 'काण्डत्रयस्य' इति पाठः साधुः स्यात्।

५. आदिशब्देनात्र शिक्षानिरुक्तनाम्नोर्वेदाङ्गयोर्ग्रहणं द्रष्टव्यम्। तेन शिक्षाव्याकरणनिरुक्तशास्त्रेषु

च। तत्र यथार्थमुक्तत्वादत्र न वर्ण्यते । एवं पिङ्गलसूत्रच्छन्दोग्रन्थे[६] यथालिखितं छन्दोलक्षणं विज्ञातव्यम् । 'स्वराः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥१॥ पिङ्गलशास्त्रे अ० ३ । सू० ६४ ॥' इति पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रानुसारेण प्रतिच्छन्दः स्वरा लेखिष्यन्ते[१] । कुतः ? इदानीं यच्छन्दोऽन्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्व वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धेः । एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यकविद्यादयो विशेषा विज्ञेयाः । तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमन्त्रार्थभाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते । एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन सयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसन्देहनिवृत्तिर्भविष्यति ।

अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां[२] सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते । यत्र यत्र व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र तत्र लेखिष्यते । येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम् । संहितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्य्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतम्, अनेनात्रानर्थो महान् जातः । तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति । यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणर्षिमुनिमहर्षिमहामुनिभिराय्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेय-

---

शब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानम्, अर्थविज्ञानम्, शब्दोच्चारणविज्ञानं च यथार्थं विहितमस्ति । तस्मात्कारणादिह नोच्यन्ते तानि च तत एव ज्ञेयानि, इति भावः ।

६. तत्तद्वेदसम्बद्धा अनेके छन्दोग्रन्थाः पार्थक्येनोपलभ्यन्ते । तद्यथा ऋग्वेदस्य कात्यायनीयर्क्सर्वानुक्रमणी, शौनकीया छन्दोनुक्रमणी च, यजुर्वेदस्य कात्यायननाम्ना प्रसिद्धीकृता सर्वानुक्रमणी, सामवेदस्य निदानसूत्रान्तर्गता छन्दोविचितिः, अथर्ववेदस्य च बृहत्सर्वानुक्रमणी प्रसिद्धा वर्तन्ते । सामवेदस्य नैगेयशाखाया अप्यनुक्रमणी ग्रन्थ उपलभ्यते । प्राचीना वेदभाष्यकारा ऋग्यजुषोः कात्यायनसर्वानुक्रमण्यनुसारमेव प्रायेण छन्दोनिर्देशं कुर्वन्ति । तत्परित्यज्य किमर्थं ग्रन्थकारः पिङ्गलछन्दोग्रन्थं प्राधान्येनोपससारेति जायते विचारणा । अत्रोच्यते— ऋग्वेदस्य सर्वानुक्रमण्याः परित्यागे द्वे कारणे । तत्र प्रथमं तस्यां यज्ञकर्मोपयोगिछन्दोनिर्देशात् अर्थज्ञाने तच्छन्दसामनुपयोगित्वात् (अयमर्थोऽस्माभिः स्वकीये 'वैदिकछन्दोमीमांसा' ग्रन्थस्याष्टादशाध्याये विस्तरेण निरूपितः, स तत एव द्रष्टव्यः) । शुक्लयजुषः सर्वानुक्रमण्याः कूटग्रन्थत्वाच्च (अस्या कूटग्रन्थत्वं वैदिकछन्दोमीमांसाग्रन्थस्य भूमिकायां, वेदसंज्ञामीमांसायां च सम्यगुपपादितम्) ग्रन्थकारेणानयोः सर्वानुक्रमण्योराश्रयो छन्दोनिर्देशे नैव कृतः । द्वितीयमिदं कारणं यद् वेदाङ्गत्वेन पिङ्गलछन्दोग्रन्थ एव सर्वैराश्रीयते, अतस्तस्याश्रयणमेवोचितम् । पिङ्गलसूत्रस्य च वेदाङ्गत्वं तस्य सर्ववेदसाधारणत्वान्मन्यते । तथा चोक्तं निदानसूत्रान्तर्गतछन्दोविचित्या व्याख्यात्रा पेत्ताशास्त्रिणा—

'याष्षट् पिङ्गलनागाद्यैः छन्दोविचितयः कृताः । तासां पिङ्गलनागीया सर्वसाधारणी भवेत् ॥' इति ।

१. प्राचीनैराचार्यैः प्रतिमन्त्रमृषिदैवतछन्दांस्युक्तानि, षड्जादिस्वरनिर्देशो न केनापि भाष्यकारेण कृतः । तस्माद् अयं ग्रन्थकारस्य विशिष्टः प्रयत्नो द्रष्टव्यः ।

२. भूमिकायां वेदभाष्ये च यः प्राकृतभाषायामर्थ उपलभ्यते स ग्रन्थकारेण स्वाश्रितैः पण्डितैर्निर्मापित इति तदीयपत्रव्यवहारेण विस्पष्टं ज्ञायते । ग्रन्थकृता तु संस्कृतभाग एव रचितः । तस्मात् स एव प्रमाणीभूतो न भाषार्थः । बहुत्र भाषार्थः संस्कृताद् भिद्यते, वैपरीत्यं च भजते ।

ब्राह्मणादिषूक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते ।

अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयो: श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाण: सम्भवोऽस्ति, तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते । परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति । कुत: ? **निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्मिन् कार्य्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात्, कार्य्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च । यत्र खलु व्यावहारिकोऽर्थो भवति, तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च । एकमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तस्मिन् कार्य्यार्थसम्बन्धात् सोऽप्यर्थ आगच्छतीति ।**

भाषार्थ—इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थद्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे । परन्तु[1] कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहां-तहां जो-जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्तपर्यन्त करने चाहियें, उनका वर्णन यहां नहीं किया जायगा । क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है[2] । उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ जा सकता है । इसीलिये जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है, उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं ।

ऐसे ही उपासनाकाण्डविषयक मन्त्रों के विषय में भी पातञ्जल, सांख्य, वेदान्तशास्त्र और उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना । परन्तु केवल मूलमन्त्रों ही के अर्थानुकूल का अनुष्ठान और प्रतिकूल का परित्याग करना चाहिये । क्योंकि जो-जो मन्त्रार्थ वेदोक्त हैं, सो सब स्वत:प्रमाणरूप और ईश्वर के कहे हुए हैं । और जो-जो वेदों से भिन्न हैं, वे केवल वेदार्थ के अनुकूल होने से ही प्रामाणिक हैं, ऐसे न हों तो नहीं ।

ऐसे ही व्याकरणादिशास्त्रों के बोध से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, एकश्रुति आदि स्वरों का ज्ञान और उच्चारण तथा पिङ्गल सूत्र से छन्दों और षड्जादि स्वरों का ज्ञान अवश्य करना चाहिए । जैसे 'अ॒ग्निमी॑ळे०' यहां अकार के नीचे अनुदात्त का चिह्न, 'ग्नि' उदात्त है इसलिये उस पर चिह्न नहीं लगाया गया है । 'मी' के ऊपर स्वरित का चिह्न, है, 'ळे' में प्रचय अर्थात् एकश्रुति स्वर है, यह बात ध्यान में रखना । इसी प्रकार जो-जो व्याकरणादि के विषय लिखने के योग्य

---

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में' पाठ है । इस पाठ से कर्मकाण्डविषयक श्रौतसूत्रादि आर्ष ग्रन्थों की हीनता द्योतित होती है । वस्तुत: ये ऋषियों के द्वारा रचित हैं, साधारण लोगों द्वारा रचे हुए नहीं हैं ।

२. यद्यपि यहां श्रौतगृह्यसूत्रोक्त मन्त्र-विनियोग अथवा कर्मकाण्ड के लिये 'यथार्थ' शब्द का निर्देश किया है, परन्तु यह यथार्थता सापेक्ष है । इन ग्रन्थों का लेख जहां तक वेदानुकूल है, वहीं तक उनकी यथार्थता माननी चाहिये । यह अभिप्राय ग्रन्थकार ने 'जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल' वाक्य में वेदानुकूल शब्द से स्वयं स्पष्ट कर दिया है । भगवान् जैमिनि ने भी **'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्'** (१ । ३ । ३) सूत्र द्वारा वेदविरुद्ध श्रौतगृह्याद्युक्त कर्म का अप्रामाण्य कहा है ।

होंगे, वे सब संक्षेप में आगे लिखे जायंगे, क्योंकि मनुष्यों को उनके समझने में कठिनता होती है। इसलिये उनके साथ में अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के भी विषय लिखे जायेंगे, कि जिनके सहाय से वेदों का अर्थ अच्छी प्रकार विदित हो सके।

इस भाष्य में पद-पद का अर्थ पृथक्-पृथक् क्रम से लिखा जायगा, कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई हैं, उन सब की निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायगा। तथा जो सायण माधव[1] महीधर और अङ्गरेजो वा अन्य भाषा में उलथे वा भाष्य किये जाते वा किये गये हैं, तथा जो-जो देशान्तर-भाषाओं में टीका हैं, उन अनर्थ व्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुखलाभ पहुंचेगा। क्योंकि विना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे [ग्रन्थ] प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में सत्य और असत्य कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है, ऐसे ही यहां भी समझ लेना चाहिये। इत्यादि प्रयोजनों के लिये इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है।

[इस वेदभाष्य में जिस जिस-मन्त्र का **पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों अर्थों का श्लेषादि अलंकार द्वारा सप्रमाण सम्भव होगा, उस-उसके दो-दो अर्थ करेंगे**[3]**। परन्तु ईश्वर का एक भी मन्त्र के अर्थ में अत्यन्त त्याग नहीं होता।** किस कारण? निमित्त कारण ईश्वर के इस कार्य जगत् में सर्वत्र व्याप्त होने से और कार्य का ईश्वर के साथ सम्बन्ध होने से। जहां पर केवल व्यावहारिक अर्थ किया है, वहां भी ईश्वर की रचना के अनुकूल ही पृथिव्यादि द्रव्यों का सद्भाव होने से उसका निर्देश स्वतः प्राप्त हो जाता है। जैसे किसी कार्यद्रव्य की प्रशंसा से कारीगर की प्रशंसा स्वयं जानी जाती है। इसी प्रकार पारमार्थिक ईश्वरपरक अर्थ करने पर भी उसके साथ कार्यद्रव्य का कृतिरूप सम्बन्ध होने से वह अर्थ भी जाना जाता है।]

इति प्रतिज्ञाविषय संक्षेपतः

---

१. 'यहां सायण माधव' परस्पर सम्बद्धपद है। सायण माधव का अनुज है। सायण ने अनेक ग्रन्थ लिख कर अपने ज्येष्ठ भ्राता माधव के नाम से प्रसिद्ध किये हैं। वेदव्याख्याताओं में दो माधव नाम के अन्य आचार्य भी प्रसिद्ध हैं। एक सायण से प्राचीन सामवेद व्याख्याता माधव, दूसरा ऋग्वेद व्याख्याता वेङ्कट माधव।

२. ऋषि दयानन्द ने आरम्भ में प्रति मन्त्र दो-दो अर्थ किये थे। तदानुसार उन्होंने सं० १९३३ में ऋग्वेदभाष्य का एक नमूने का २४ पृष्ठों का अङ्क छपवाया था उसमें प्रथम सूक्त सम्पूर्ण और द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र के द्वितीय अर्थ (संस्कृत भाग) का कुछ भाग था। इसी प्रकार दो-दो अर्थोंवाला ऋग्भाष्य कुछ सूक्तों तक हस्तलिखित रूप में परोपकारिणी सभा के संग्रह में विद्यमान है। अभी गत वर्ष परोपकारिणी सभा ने नमूने के अङ्क का नया संस्करण छापा है उसमें सूक्त २,३ का वह अर्थ नहीं है जो सं० १९३३ के नमूने के अङ्क में दूसरे सूक्त के प्रथम मन्त्र का छपा था।

अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः

प्रश्नः—अथ किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति ?

उत्तरम्—भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय ।

प्र०—कास्ताः ?

उ०—त्रिधा गानविद्या भवति, गानोच्चारणविद्याया द्रुतमध्यमविलम्बितभेदयुक्तत्वात् । यावता कालेन[1] द्रुतवृत्तावुच्चारणं क्रियते, ततो मध्यमायामुच्चारणे द्विगुणः, विलम्बितायामुच्चारणे त्रिगुणश्च कालो गच्छतीति । अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतसृषु संहितासु पाठः कृतोऽस्ति । तद्यथा—"ऋग्भिस्स्तुवन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिर्गायन्ति[2] ।' ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोऽस्ति, तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययाऽनेकविधोपकारग्रहणाय[3] विधानं कृतमस्ति, तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्य्यन्तं विद्याविचारः । एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोऽस्ति तस्य पूर्त्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः । एतदाद्यर्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति ।

(प्रश्नः) वेदानां चतुःसंहिताकरणे किं प्रयोजनमस्तीति ?

(उत्तरम्) यतो विद्याविधायकानां मन्त्राणां प्रकरणशः पूर्वापरसन्धानेन सुगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरेतदर्थं संहिताकरणम् ।

प्र०—वेदेष्वष्टकमण्डलाध्यायसूक्तषट्क[4]काण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुवाकविधानं किमर्थं कृतमस्ति ।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ह्रस्वस्वरोच्चारणं क्रियते, ततो दीर्घोच्चारणे द्विगुणः, प्लुतोच्चारणे त्रिगुणः' इत्यपपाठो दृश्यते । कुत इति चेत् ? द्रुतमध्यमविलम्बितवृत्तीनामुच्चारणकाले वक्तव्ये ह्रस्वादीनामुच्चारणकालनिर्देशवचनस्याप्रासङ्गिकत्वात् । भाषापदार्थोऽप्यस्माभिः संशोधितं पाठं पोषयति । महाभाष्यकृत् त्वासां वृत्तीनां कालविभागमेवमन्वाचष्टे—'ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते मध्यमायाम् । ये च मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते विलम्बितायाम् । महा० १ । १ । ६९ ॥ इमं ग्रन्थं कैयट एवं स्पष्टयति—द्रुतं श्लोकमृचं वोच्चारयति वक्तरि नाडिकाया यस्या नव पानीयपलानि स्रवन्ति, तस्या एव मध्यमायां वृत्तौ द्वादशपलानि स्रवन्ति । नवानां त्रिभागास्त्रीणि पलानि तदधिकानि नव द्वादश सम्पद्यन्ते । विलम्बितायां तु वृत्तौ षोडश पलानि स्रवन्ति इति ।

२. तुलनीयम्—निरुक्त १३ । ७ ॥

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'विद्योपकार०' इत्यपपाठः ।

४. 'षट्क'संज्ञो न वेदेषु कश्चिद् विभाग उपलभ्यते ।

उ०—अत्र ब्रूमः—अत्राष्टकादीनां विधानमेतदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनं,[1] मन्त्रपरिगणनं, प्रतिविद्यं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेत्, एतदर्थमेतद्विधानं कृतमस्तीति।

प्र०—किमर्था ऋग्यजुःसामाथर्वाणः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थसंख्यायाः क्रमेण परिगणिताः सन्ति ?

उ०—अत्रोच्यते—न यावद् गुणगुणिनोः साक्षाज्ज्ञानं भवति, नैव तावत्संस्कारः प्रीतिश्च। न चाभ्यां विना प्रवृत्तिर्भवति, तया विना[2] सुखभावश्चेति। एतद्विद्याविधायकत्वाद् ऋग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योऽस्ति। एवं च यथा पदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रिययोपकारेण सर्वजगद्धितसम्पादनं कार्य्यं भवति, यजुर्वेद एतद्विद्याप्रतिपादकत्वाद् द्वितीयः परिगणितोऽस्तीति बोध्यम्। तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति, कश्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायकत्वात् तृतीयो गण्यत इति। एवमेवाथर्ववेदस्त्रय्यन्तगतविद्यानां परिशेषरक्षणविधायकत्वाच्[3] चतुर्थः परिगण्यत इति।

अतो गुणज्ञानक्रियाविज्ञानोन्नतिशेषविद्यारक्षणानां पूर्वापरसहभावे संयुक्तत्वात् क्रमेणर्ग्यजुस्सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति। 'ऋच स्तुतौ,'[4] 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु'[5], 'साम सान्त्वने'[6], 'षो अन्तकर्मणि'[7], थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः॥ निरु० अ० ११। ख० १८॥ चर संशये'[8], अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवारणार्थो गृह्यते। एवं धात्वर्थोक्तप्रमाणेभ्यः क्रमेण वेदाः परिगण्यन्ते चेति वेदितव्यम्।

भाषार्थ—प्र०—वेदों के चार विभाग क्यों किये हैं ?

उ०—भिन्न-भिन्न विद्या जनाने के लिये। अर्थात् जो तीन प्रकार की गानविद्या है, एक तो यह कि—उदात्त और षड्जादि स्वरों का उच्चारण ऐसी शीघ्रता से करना, जैसा कि ऋग्वेद के स्वरों का उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है। दूसरी—मध्यमवृत्ति, जैसे कि यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दूने काल में होता है। तीसरी—विलम्बितवृत्ति है, जिसमें प्रथमवृत्ति से तिगुना काल लगता है। जैसा कि सामवेद के स्वरों के उच्चारण वा गान में। फिर उन्हीं तीनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है। परन्तु इसका द्रुतवृत्ति में उच्चारण अधिक होता है[9]। इसलिये वेदों के चार विभाग हुए हैं।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'पठनपाठनमन्त्रपरिगणनं' इत्यपपाठः।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सुखाभावश्चेति' अपपाठः।

३. अनेन प्रकारेण यत्र यत्र त्रयो वेदा उक्तास्तत्र तेषामेव पारिशेष्याद् अथर्ववेदस्य तेष्वेवान्तर्भावमाश्रित्य त्रित्वमुक्तमिति ज्ञेयम्। ४. क्षीरतरङ्गिणी ६। २३॥ ५. क्षीरत० १। ७२६॥

६. द्र०—क्षीरत० १०। २६५॥ इह 'सान्तने' 'सान्त्वने' 'सान्त्वप्रयोगे' वति त्रिविधः पाठः।

७. क्षीरत० ४। ३७॥ ८. क्षीरत० १०। १८३॥

९. साम्प्रतिक वैदिक द्रुतवृत्ति से अथर्ववेद को पढ़ते हैं। क्योंकि वर्त्तमान अथर्ववेदी मूलतः ऋग्वेदी थे। मराठा साम्राज्य के अभ्युदयकाल में पेशवाओं ने लुप्तप्राय अथर्ववेद के पठन-पाठन का पुनरुद्धार किया। जिन ऋग्वेदियों ने अथर्ववेद के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया, उन्हें पेशवा अधिकारियों ने ग्रामदानादि से सत्कृत

तथा कहीं-कहीं एक मन्त्र का चार वेदों में पाठ करने का यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकार की गानविद्या में गाया जावे। तथा प्रकरण भेद से कुछ-कुछ अर्थभेद भी होता है इसलिये कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है।

ऐसे ही 'ऋग्भिस्तु०' ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है जिससे। उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त हो सके। क्योंकि विना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो सकता। और आरम्भ के विना यह मनुष्यजन्म व्यर्थ ही चला जाता है। इसलिये ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है।

तथा यजुर्वेद में क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है, सो [उसमें] ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है। क्योंकि जैसा कि ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है, वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याओं के ठीक-ठीक विचार करने से संसार में व्यवहारी पदार्थों से [अनेकविध] उपयोग सिद्ध करना होता है। जिनसे लोगों को नाना प्रकार का सुख मिले। क्योंकि जबतक कोई क्रिया विधिपूर्वक न की जाय, तबतक उसका अच्छी प्रकार भेद नहीं खुल सकता। इसलिये जैसा कुछ जानना वा कहना, वैसा ही करना भी चाहिये। तभी ज्ञान का फल और ज्ञानी की शोभा होती है।

तथा यह भी जानना अवश्य है कि जगत् का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है। एक—आत्मा और दूसरा शरीर का, अर्थात् विद्यादान से आत्मा, और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीर का उपकार होता है। इसलिये ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिन से मनुष्य लोग ज्ञान और क्रियाकाण्ड को पूर्ण रीति से जान लेवें। तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति, और अथर्ववेद से सर्व संशयों की निवृत्ति होती है। इसलिये इनके चार विभाग किये हैं।

प्र०—वेदों की चार संहिता करने का क्या प्रयोजन है?

उ०—विद्या के जनानेवाले मन्त्रों के प्रकरण से जो पूर्वापर का ज्ञान होना है, उससे वेदों में कही हुई सब विद्या सुगमता से जानली जाय, इत्यादि प्रयोजन [चार] संहिताओं के करने में हैं।

प्र०—अच्छा अब आप यह तो कहिये कि वेदों में जो अष्टक, अध्याय, मण्डल, सूक्त, षट्क[1], काण्ड, वर्ग, दशति, त्रिक और अनुवाक रक्खे हैं, ये किसलिये हैं?

उ०—इनका विधान इसलिये है कि जिससे पठन-पाठन[2] और मन्त्रों की गिनती विना कठिनता के जानली जाय। तथा सब विद्याओं के पृथक्-पृथक् प्रकरण निर्भ्रमता के साथ विदित होकर सब विद्याव्यवहारों में गुण और गुणी के ज्ञानद्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होने से

किया। सम्प्रति जो भी अथर्ववेदी उपलब्ध होते हैं, वे इसी परम्परा के हैं। अथर्व की अध्ययन-परम्परा लुप्त हो जाने से ही अथर्ववेद में पाठभेद वा पाठभ्रंश बहुधा उपलब्ध होते हैं।

१. वेदों में 'षट्क' नाम का कोई विभाग नहीं मिलता, अतः यह चिन्त्य है।

२. द्र०—पृष्ठ ३६३, टि० १।

अनुवृत्तिपूर्वक आकाङ्क्षा योग्यता आसत्ति और तात्पर्य सबको विदित हो सके। इत्यादि प्रयोजन के लिये अष्टकादि [विभाग] किये हैं।

[1]प्र०—प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः, तीसरा साम, और चौथा अथर्ववेद, इस क्रम से चार वेद क्यों गिने हैं?

उ०—जब तक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्य को नहीं होता, तब पर्य्यन्त उनमें प्रीति से प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और इसके विना शुद्ध क्रियादि के अभाव से मनुष्यों को सुख भी नहीं हो सकता था। इसलिये वेदों के चार विभाग किये हैं, कि जिससे प्रवृत्ति हो सके। क्योंकि जैसे इस गुणज्ञान विद्या को जनाने से पहिले ऋग्वेद की गणना योग्य है, वैसे ही पदार्थों के गुणज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत् का अच्छी प्रकार से हित भी सिद्ध हो सके। इस विद्या के जनाने के लिये यजुर्वेद की गिनती दूसरी वार की है। ऐसे ही ज्ञान कर्म और उपासनाकाण्ड की वृद्धि वा फल कितना और कहां तक होना चाहिये, इसका विधान सामवेद में लिखा है, इस-लिये उसको तीसरा गिना है। ऐसे ही तीन वेदों में जो-जो विद्या हैं, उन सब के शेष भाग की पूर्ति का विधान, सब विद्याओं की रक्षा, और संशय-निवृत्ति के लिये अथर्ववेद को चौथा गिना है।

सो गुणज्ञान, क्रियाविज्ञान, इनकी उन्नति, तथा रक्षा को पूर्वापर क्रम से जान लेना। अर्थात् ज्ञानकाण्ड के लिये ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिये यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिये सामवेद और शेष विद्याओं वा रक्षा के प्रकाश करने के लिये अथर्ववेद, [इन] की प्रथम, दूसरी, तीसरी और चौथी संख्या बांधी है। क्योंकि (ऋच स्तुतौ), (यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु), (षो अन्तकर्मणि) और (साम सान्त्वप्रयोगे), (थर्वतिश्चरतिकर्मा०) इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की ये चार संज्ञा रक्खी हैं। तथा अथर्ववेद का प्रकाश ईश्वर ने इस-लिये किया है कि जिससे तीनों वेदों को अनेक विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकार से हो सके।

[ऋषि-देवता-छन्दः-स्वर-निर्देशप्रयोजनम्]

प्रश्नः—प्रत्येकमन्त्रस्योपरि ऋषिदेवताछन्दःस्वराः किमर्था लिख्यन्ते?

उत्तरम्—यतो वेदानामीश्वरोक्तयनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद् विदितस्तस्मात् तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति। कुतः, यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशः कृतः[2], तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्यमस्त्यतः। अत्र प्रमाणम्—

---

१. यह प्रश्न और उत्तर वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'इसलिये इनके चार विभाग किये' (पृष्ठ ३९४ पं० २०) से आगे मिलता है, परन्तु संस्कृतपाठ के अनुसार इसे यहां होना चाहिये।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'प्रकाशितत्वात्' इत्यपपाठः। यतः 'यैः' पदेन सह 'प्रकाशितत्वात्' पदं न सम्बद्ध्यते।

'यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा । अर्थं वाचः पुष्पफलमाह । याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा । साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च । बिल्मं भिल्मं भासनमिति वैतावन्तः समानकर्माणो धातवो धातुर्दधातेरेतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानं नैघण्टुकमिदं देवतानाम प्राधान्येदमिति तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत् ॥ निरु० अ० १ । खं० २० ॥

(यो वाचं०) यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने करोति तदफलं भवति । (प्रश्नः) वाचो वाण्याः किं फलं भवतीति ? (उत्तरम्) अत्राह—विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम् । य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति । कीदृशास्ते ? साक्षात्कृतधर्माणः । यैः सर्वा विद्या यथावद् विदितास्त ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान् सम्प्रादुः, मन्त्रार्थांश्च प्रकाशितवन्तः । कस्मै प्रयोजनाय ? उत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचाराय । ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञपनायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं त ऋषयः समाम्नासिषुः, सम्यगभ्यासं कारितवन्तः[1] । येन वेदं वेदाङ्गानि [च] यथार्थविज्ञानतया सर्वे मनुष्या जानीयुः । ये समानार्थाः समानकर्माणो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियते, अस्यार्थस्यैतावन्ति नामधेयानि, एतवतामर्थानामिदमभिधानार्थमेकं नाम, अर्थादेकस्यार्थस्यानेकानि नामान्यनेकेषामेकं नामेति तन्नैघण्टुकं व्याख्यानं विज्ञेयम् । यत्रार्थानां द्योत्यानां पदार्थानां प्राधान्येन

---

१. प्रायेण सर्वैरपि निरुक्तव्याख्याख्यातृभिः'समाम्नासिषुः' इत्यस्यार्थः 'रचितवन्तः' इत्येवं कृतः । अयमर्थो धात्वर्थाद् विपरीतः । 'म्ना अभ्यासे' इत्येव स्मर्यते वैयाकरणैः । न चान्यत्र क्वचिदपि समाङ्पूर्वस्य म्नाधातो रचनार्थे प्रयोग उपलभ्यते, तस्मात् 'रचितवन्तः' इत्यर्थोऽसाधुरेव । ग्रन्थकृता तु 'समाम्नासिषुः' इत्यस्यान्तर्णीतण्यर्थत्वमाश्रित्य धात्वर्थानुसारं 'सम्यगभ्यासं कारितवन्तः' इत्यर्थो निर्दिष्टः । स च धात्वर्थानुरोधात् समीचीनः (रचितवन्त इत्यर्थे यास्कानभिमतं वेदस्य पौरुषेयत्वमपि प्रसज्यते) । निरुक्तस्य 'निरुक्तश्लोकवार्तिकम्' नाम प्राचीनमेकं व्याख्यानं कतिपयवर्षेभ्यः प्रागुपलब्धम् (अस्य प्रतिलिपिरस्मत्सकाशे विद्यते, अचिरात् प्रकाशमेष्यति) । तस्मिन् निरुक्तस्यैतत् प्रकरणमित्थं व्याख्यायते—

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविधि । उपदेशेन सम्प्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च ॥
अपरे ये ततो न्यूना ग्लायन्नेते सकृच्छ्रुतौ । सम्यगभ्यस्तवन्तस्तु वेदान् साङ्गान् यथाविधि ॥
प्रथमाः प्रतिभानेन द्वितीयास्तूपदेशतः । अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थान् प्रतिपेदिरे ॥
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गान्यपि यत्नतः ॥

श्लोकवार्तिक अ० १, पाद ६, श्लोक १९०, १९१, १९५-१०७, २०४ ॥

यत्तु ग्रन्थकर्तुर्ऋग्वेदभाष्ये 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः' (१।१।२) इति मन्त्रव्याख्यायाम् उक्तोद्धरणस्य व्याख्याने 'समाम्नासिषुः' पदस्य 'सम्यगभ्यासार्थं रचितवन्तः' इत्यर्थ उपलभ्यते, स मुद्रणपत्र (प्रूफ) संशोधकद्वारा परिवर्तितोऽपपाठः । हस्तलेखे तु भूमिकावत् शुद्ध एव पाठ उपलभ्यते ।

स्तुतिः क्रियते, तत्र सैवेयं मन्त्रमयी देवता विज्ञेया। यच्च मन्त्राद् भिन्नार्थस्यैव सङ्केतः प्रकाश्यते, तदपि नैघण्टुकं व्याख्यानमिति ॥

अतो नैव कश्चिन्मनुष्यो मन्त्रनिर्मातेति विज्ञेयम्। एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति, तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोऽस्ति। तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति, स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्। एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिछन्दोऽस्ति, तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम्। तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्त्तुं योग्यमस्ति, तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम्।

भाषार्थ— प्र०—प्रति मन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छन्द और स्वर किसलिये लिखते हैं?

उ०—ईश्वर जिस समय आदिसृष्टि[1] में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे। फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस-उस का नाम उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है। और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है, इसलिये विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं।

इस विषय में अर्थसहित प्रमाण लिखते हैं—

(यो वाचं०) जो मनुष्य अर्थ को समझे विना अध्ययन वा श्रवण करते हैं, उनका सब परिश्रम निष्फल होता है। प्र०—वाणी का फल क्या है? उ०—अर्थ को ठीक-ठीक जानके उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना, वाणी का फल है। और जो लोग इस नियम पर चलते हैं, वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् 'ऋषि' कहलाते हैं। इसलिये जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था, वे ही ऋषि हुए थे। उन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है। प्र०—किस प्रयोजन के लिये? उ०—वेदप्रचार की परम्परा स्थिर रहने के लिये। तथा जो लोग वेदशास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं, वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें, इसलिये [उन्होंने] निघण्टु और निरुक्त आदि [2]ग्रन्थों का अच्छे प्रकार अभ्यास कराया कि जिससे सब मनुष्य वेद और वेदाङ्गों को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश करें। 'निघण्टु' उसको कहते हैं कि जिसमें तुल्य अर्थ और तुल्य कर्मवाले धातुओं की व्याख्या, एक पदार्थ के अनेक नाम तथा अनेक अर्थों का एक नाम से प्रकाश, और मन्त्रों से भिन्न अर्थों का संकेत हैं। और 'निरुक्त' उसका नाम है कि जिसमें वेदमन्त्रों की व्याख्या है॥

और जिन-जिन मन्त्रों में जिन-जिन पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है, उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहियें। अर्थात् जिस-जिस मन्त्र का जो-जो अर्थ होता है, वही उसका देवता

१. द्रष्टव्यं पूर्वत्र (पृष्ठ २४, टि० १)।

२. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'ग्रन्थ भी बना दिये जिनके सहाय से' अपपाठ है। क्योंकि यह संस्कृत-पाठ से विपरीत है। विशेष विचार संस्कृत टिप्पणी (पृष्ठ ३९६ टि० १) में किया है।

कहाता है। सो यह इसलिये है कि जिससे मन्त्रों को देखके उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थ ज्ञान हो जाय। इत्यादि प्रयोजन के लिये देवता शब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है।

ऐसे ही जिस-जिस मन्त्र का जो-जो छन्द है, सो भी उसके साथ इसलिये लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे। तथा कौन-कौनसा छन्द किस-किस स्वर में गाना चाहिये, इस बात को जनाने के लिये उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं। जैसे गायत्री छन्दवाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये। ऐसे ही और-और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गान-विद्या में भी प्रवीण हों। इसीलिये वेद में प्रत्येक मन्त्रों के साथ उनके षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं।

[अग्निवाय्विन्द्रादीनां क्रमेण वर्णनप्रयोजनम्]

प्र०—वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः किमर्थः कृतोऽस्ति ?

उ०—पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थम्, विद्यासङ्ग्यनुषङ्गिप्रतिविद्यानुषङ्गिबोधार्थं चेति। तद्यथा—

अग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं भवति। यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानव्यापकत्वादयो गुणा विज्ञातव्या भवन्ति, यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात् प्रथमं[1] गृह्यते, तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानन्तबलवत्वादिगुणा वायुशब्देन प्रकाश्यन्ते। यथा शिल्पविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्त्तद्रव्याधारकत्वात् तदनुषङ्गित्वाच्च भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति, तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति। यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्य्यवत्त्वादिगुणा विदिता भवन्ति, तथा भौतिकेन [2]वायुनाप्युत्तमैश्वर्य्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते। एतदर्थमिन्द्रशब्दस्य ग्रहणं कृतमस्ति। अश्विशब्देन शिल्पविद्यायां यानचालनादिविद्याव्यवहारे जलाग्निपृथिवीप्रकाशादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्ति। एतदर्थमग्निवायुग्रहणानन्तरमश्विशब्दप्रयोगो वेदेषु कृतोऽस्ति। एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्त्वशब्दार्थसम्बन्धरूपवेदोपदेष्टृत्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वाग्व्यवहाराश्च। इत्यादिप्रयोजनायाग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां ग्रहणं [क्रमेण] कृतमस्ति। एवमेव सर्वत्रैव वैदिकशब्दार्थव्यवहारज्ञानं सर्वैर्मनुष्यैर्बोध्यमस्तीति विज्ञाप्यते।

भाषार्थ—प्र०—वेदों में क्रमवार[3] अग्नि वायु इन्द्र सरस्वती आदि शब्दों का प्रयोग किसलिये किया है ?

---

१. अग्निशब्दः पूर्ववाक्यात् संबध्यते।

२. इन्द्रशब्देनेह वायुर्गृहीतः। तत् कथमिति चेत् ? नैरुक्तपक्षे अन्तरिक्षदेवताया विकल्प उच्यते—'वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः' (निरु० ७।५)। देवताविकल्पे च ये नैरुक्ता वायुदेवतामामनन्ति ते इन्द्रादिपदान् वाय्वर्थत्वेन व्याचक्षते। इन्द्रदेवतां स्वीकुर्वाणाः वाय्वादिपदान् इन्द्रपरत्वेन व्याचक्षते। तथा ह्याह निरुक्तसमुच्चयकारो वररुचिः 'इन्द्रं क्रतुम्··· । नैरुक्तपक्षेऽपि इन्द्र दानादिगुण! इन्द्रो मध्यस्थानो वायुरुच्यते' पृष्ठ (८४ अस्मत्संस्क० २)। अनयैव प्रक्रियया ग्रन्थकारेणापीहेन्द्रशब्देन वायुर्गृहीतः।

३. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'अनेक बार' संस्कृतपाठ और प्रकृत सन्दर्भ के विपरीत पाठ है।

उ०—पूर्वापर विद्याओं के जनाने के लिये। अर्थात् जिस जिस विद्या में जो जो मुख्य और गौण हेतु हैं, उनके प्रकाश के लिये ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वापर सम्बन्ध से किया है। क्योंकि अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक आदि कितने ही अर्थों का ग्रहण होता है। इस प्रयोजन से कि उसका अनन्त ज्ञान, अर्थात् उसकी व्यापकता आदि गुणों का बोध मनुष्यों को यथावत् हो सके। फिर इसी अग्नि शब्द से पृथिव्यादि भूतों के बीच में जो प्रत्यक्ष अग्नि तत्त्व है, वह शिल्पविद्या का मुख्य हेतु होने के कारण उसका ग्रहण प्रथम ही किया है।

तथा ईश्वर के सब को धारण करने और उसके अनन्त बल आदि गुणों का प्रकाश जनाने के लिये वायु शब्द का ग्रहण किया गया है। तथा शिल्पविद्या में अग्नि का सहायकारी और मूर्त्त द्रव्य का धारण करनेवाला मुख्य वायु ही है। इसलिये प्रथम सूक्त में अग्नि का और दूसरे में वायु का ग्रहण किया है। तथा ईश्वर के अनन्त गुण विदित होने और भौतिक वायु से योगाभ्यास करके विज्ञान तथा शिल्पविद्या से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के लिये इन्द्र शब्द का ग्रहण तीसरे स्थान में किया है। क्योंकि अग्नि और वायु की विद्या से मनुष्यों को अद्भुत-अद्भुत कला-कौशलादि बनाने की युक्ति ठीक-ठीक जान पड़ती है।

तथा अश्विशब्द का ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में इसलिये किया हैं कि उससे ईश्वर की अनन्त क्रियाशक्ति विदित हो। क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि यान चलाने के लिये जल अग्नि पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य होते हैं। अर्थात् जितने कलायन्त्र विमान नौका और रथ आदि यान होते हैं, वे सब पूर्वोक्त प्रकार से पृथिव्यादि पदार्थों से ही बनते हैं। इसलिये अश्वि शब्द का पाठ तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में किया है। तथा सरस्वती नाम परमेश्वर की अनन्त वाणी का है, कि जिससे उसकी अनन्त विद्या जानी जाती है। तथा जिस करके उसने सब मनुष्यों के हित के लिये अपनी अनन्तविद्यायुक्त वेदों का उपदेश भी किया हैं, इसलिये तीसरे सूक्त और पांचवें स्थान में सरस्वती शब्द का पाठ वेदों में किया है। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना।

[अग्निवाय्वादिपदैरीश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणम्]

प्र०—वेदानामारम्भेऽग्निवाय्वादिशब्दप्रयोगैः प्रसिद्धिर्जायते, [यद्] वेदेषु भौतिकपदार्थानामेव तत्तच्छब्दैर्ग्रहणं भवति। यत आरम्भे खल्वीश्वरशब्दप्रयोगो नैव कृतोऽस्ति ?

उ०—'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति **महाभाष्यकारेण पतञ्जलिमहामुनिना** 'लण्'[1] इति [2]**सूत्रव्याख्यानोक्तन्यायेन सर्वसन्देहनिवृत्तिर्भवतीति। कुतः, वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणग्रन्थेष्वग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्व्याख्यानस्य विद्यमानत्वात्। तथेश्वरशब्दप्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वथा सन्देहनिवृत्तिर्न भवति। ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते, तथा**

---

१. अष्टा० प्रत्याहार सूत्र ६॥

२. अत्र 'सूत्रव्याख्यान उक्तम्। एतेन न्यायेन' इति पाठोऽत्र साधु स्यात्।

सामर्थ्यवतो [1]राज्ञः [2]कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वर इति नामास्ति। तयोर्मध्यात् कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति शङ्कायां व्याख्यानत एव सन्देहनिवृत्तिर्भवत्यत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो ग्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति। एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद्दोषो भवतीति। अन्यथा कोटिशः श्लोकैस्सहस्रैर्ग्रन्थैरपि विद्यालेखपूर्त्तिरत्यन्तासम्भवास्ति। अतः कारणादग्न्यादिशब्दैर्व्यावहारिकपारमार्थिकयोर्विद्ययोर्ग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्पग्रन्थैश्च भवतीति मत्वेश्वरेणाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः। यतोऽल्पकालेन पठनपाठनव्यवहारेणाल्पपरिश्रमेणैव मनुष्याणां सर्वा विद्या विदिता भवेयुरिति।

परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैस्सर्वविद्योद्देशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम्। तथा च येऽग्न्यादयः शब्दार्थाः संसारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वैरीश्वरप्रकाशः क्रियते। कुतः? ईश्वरोऽस्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम्।

एवं चतुर्वेदस्थविद्यानां मध्यात् काश्चिद्विद्या अत्र भूमिकायां संक्षेपतो लिखिताः। इतोऽग्रे मन्त्रभाष्यं विधास्यते। तत्र यस्मिन् मन्त्रे या या विद्योपदिष्टाऽस्ति, सा सा तस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे यथावत् प्रकाशयिष्यते[3]।

भाषार्थ—प्र०—वेद के आरम्भ में अग्नि वायु आदि शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जगत् में जिन पदार्थों का नाम अग्नि आदि प्रसिद्ध है, उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये। और इसीलिये लोगों ने उन शब्दों से संसार के अग्नि आदि पदार्थों को मान भी लिया है। नहीं तो उचित था कि जो-जो शब्द जहां-जहां होना चाहिये था, वहां-वहां उसी का ग्रहण करते, कि जिससे कभी किसी को भ्रम न होता। अथवा आरम्भ में उन शब्दों की जगह ईश्वर परमेश्वरादि शब्दों ही का ग्रहण करना था।

उ०—यूं तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है, परन्तु जब व्याख्यानों के द्वारा मन्त्रों के पद-पद का अर्थ खोल दिया गया है, तब उनके देखने से सन्देह आप से आप ही निवृत्त हो जाते हैं। क्योंकि शिक्षा आदि अङ्ग वेदमन्त्रों के पद-पद का अर्थ ऐसी रीति से खोलते हैं कि जिससे वैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का सन्देह शेष नहीं रह सकता। और जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी विना व्याख्यान के सन्देह की निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्यवाले राजादि मनुष्यों का भी हो सकता है, और किसी किसी[4] की ईश्वर संज्ञा ही होती है। तथा जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दों का ही प्रयोग करते तो, भी अनेक कोटि श्लोक

---

१. तथा च व्यवह्रियते—'नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मशास्त्रकाराः पठन्ति—गर्गाः शतं दण्डयन्तामिति'। महाभाष्य १।१।१॥
२. व्यक्तिविशेषस्यापीत्यर्थः।
३. ग्रन्थकृता स्वजीवनावधौ यजुर्वेदस्य सम्पूर्णस्य ऋग्वेदस्य सप्तममण्डलस्य एकषष्टितमस्य सूक्तस्य द्वितीयमन्त्रपर्यन्तं भाष्यं विरचितम्। तेनाविशिष्टस्यर्ग्वेदस्य सामाथर्वयोश्च कस्मिन् मन्त्रे सूक्ते वा का विद्योपदिष्टेति विज्ञानार्थं ग्रन्थकारकृतश्चतुर्वेदविषयानुक्रमो द्रष्टव्यः। ग्रन्थोऽयं सम्प्रति मुद्रित उपलभ्यते।
४. अर्थात् 'व्यक्ति विशेष की'।

और हजारह ग्रन्थ वेदों के बन जाने का सम्भव था। परन्तु विद्या का पारावार फिर भी नहीं आता, और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़-पढ़ा सकते। इस प्रयोजन अर्थात् सुगमता के लिये ईश्वर ने अग्न्यादि शब्दों का प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातें सिद्ध करनेवाली विद्याओं का प्रकाश किया है, कि जिस से मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्याओं को जान लें।

इसी मुख्य हेतु से सब के सुखार्थ परमकरुणामय परमेश्वर ने अग्न्यादि सुगम शब्दों के द्वारा वेदों का उपदेश किया है। इसलिये अग्न्यादि शब्दों के अर्थ जो संसार में प्रसिद्ध हैं, उनसे भी ईश्वर का ग्रहण होता है। क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर ही के जानने और जनाने के लिये हैं।

इस प्रकार चारों वेदों में जो-जो विद्या हैं, उन में से कोई-कोई विद्या तो इस वेदभाष्य की भूमिका में संक्षेप से लिख दी है। शेष सब इस के आगे जब मन्त्रभाष्य में जिस-जिस मन्त्र में जिस-जिस विद्या का उपदेश है, सो-सो उसी-उसी मन्त्र के व्याख्यान में यथावत् प्रकाशित कर देंगे[1]।

इति प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः



१. ऋग्वेद के अवशिष्ट भाग एवं साम और अथर्ववेद में कहां क्या उपदिष्ट है, इसके परिज्ञान के लिये ग्रन्थकारकृत **चतुर्वेद-विषयसूची** देखनी चाहिए। यह अब छप गई है।

अथ वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः

अथ निरुक्तकारः संक्षेपतो वैदिकशब्दानां विशेषनियमानाह—

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च । तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य ॥ अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना । अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि । अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ॥

निरु० अ० ७ । खं० १, २ ॥

अयं नियमः वेदेषु सर्वत्र सङ्गच्छते । तद्यथा—सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति । केचित् परोक्षाणां, केचित् प्रत्यक्षाणां, केचिदध्यात्मं[1] वक्तुमर्हाः । तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति, अपरेषु मध्यमस्य, तृतीयेषूत्तमपुरुषस्य च । तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ स्तः । यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति, तत्र मध्यमपुरुषयोगा भवन्ति । यत्र च स्तोतव्या अर्थाः परोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षास्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवतीति ।

अस्यायमभिप्रायः—व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति । तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च । अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः । परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति । तत्रेदं बोध्यम्—जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव [तस्य] प्रयोजनमिति[2] ।

इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्य्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः ।

भाषार्थ—अब इसके आगे वेदस्थ प्रयोगों के विशेष नियम संक्षेप से कहते हैं—जो-जो नियम निरुक्तकारादि ने कहे हैं, वे बराबर वेदों के सब प्रयोगों में लगते हैं—(तास्त्रिविधा ऋचः०) वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं। कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को, और कोई अध्यात्म[1] अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को।

---

१. निरुक्त के इस प्रकरण में उक्त 'आध्यात्मिकी' ऋचाओं का अभिप्राय 'अहम्' तथा उत्तम पुरुष से युक्त ऋचाओं तक ही सीमित है। वेदार्थविषयक 'आध्यात्मिक' का इसके साथ सम्बन्ध नहीं है। अधियज्ञ आधिदैविक आध्यात्मिक अर्थ तो अन्य ऋचाओं का भी हो सकता है।

२. महाभाष्यकारेण 'अचेतनेषु चेतनवद् उपचारः' इत्युक्तम् (३।१।७)। तदनुसारमपि जडपदार्थेषु सम्बोधनविभक्तिर्मध्यमपुरुषप्रयोगो गौण इत्युक्तं भवति।

उसमें परोक्ष अर्थ के कहनेवाले मन्त्रों में प्रथम पुरुष, अर्थात् अपने और दूसरे के कहनेवाले जो [सः] अर्थात् 'सो' और 'वह' आदि शब्द हैं, तथा उनकी क्रियाओं के अस्ति, भवति, करोति, पचति इत्यादि प्रयोग हैं। एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहनेवालों में मध्यमपुरुष, ['त्वम्'] अर्थात् 'तू' 'तुम' आदि शब्द, और उनकी क्रिया के असि, भवसि, करोषि, पचसीत्यादि प्रयोग हैं। तथा अध्यात्म अर्थ के कहनेवाले मन्त्रों में उत्तमपुरुष ['अहम्'] अर्थात् 'मैं' 'हम' आदि शब्द, और उनकी अस्मि, भवामि, करोमि, पचामि इत्यादि क्रिया आती हैं। तथा जहां स्तुति करने के योग्य परोक्ष और स्तुति करनेवाले प्रत्यक्ष हों, वहां भी मध्यमपुरुष का प्रयोग होता है।

यहां यह अभिप्राय समझना चाहिये कि—व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम अपनी-अपनी जगह होते हैं। अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम [ही], चेतन में मध्यम वा उत्तम [ही] होते हैं। सो यह तो लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है। परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों, तो वहां निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है[1], दूसरा प्रयोजन[2] नहीं है।

परन्तु इस नियम को नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदों के भाष्यकारों, तथा उन्हीं के बनाये हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने भी जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है, सो यह उनकी भूल है। और इसी से वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है, जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है।

इति वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः



१. लोक में मूर्ख से लेकर विद्वान् तक सभी जड़ पदार्थों के विषय में चेतनवत् व्यवहार करते हैं। तादृश व्यवहार करते हुए वे उन पदार्थों को चेतन नहीं मानते। कवि लोग भी जड़ पदार्थों का ठीक उसी प्रकार निर्देश करते हैं, जैसे किसी चेतन का निर्देश किया जा रहा हो। यदि साम्प्रतिक व्यवहार में जड़ों का चेतनवत् व्यवहार करने पर यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा व्यवहार करनेवाला इन्हें चेतन ही मानता है। तो मन्त्रों में यदि जड़ पदार्थों का चेतनवत् व्यवहार मिलता है, तो उससे पाश्चात्यों की यह कल्पना करना कैसे युक्त हो सकती है कि—प्राचीन ऋषि इन्हें चेतन मानकर पूजते थे। महाभाष्यकार ने स्पष्ट कहा है—'लोक व्यवहार में अचेतन का भी चेतनवत् प्रयोग होता है। जैसे—'किनारा गिरना चाहता है' (महा० ३। १। ७) यही अभिप्राय वेद में भी जानना चाहिये।

२. अर्थात् प्रार्थना उपासना प्रयोजन नहीं है।

अथ संक्षेपतः स्वरव्यवस्थाविषयः

अथ वेदार्थोपयोगितया[1] संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। ते स्वरा द्विविधाः—उदात्त-षड्जादिभेदात् सप्त सप्तैव सन्ति। तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलि-प्रदर्शितानि लिख्यन्ते—

स्वयं राजन्त इति स्वराः[2]।

आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता, अणुता खस्य[3], कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य[4]।

त्रैस्वर्येणाधीमहे त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे। कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः, कैश्चिदुभयगुणैः। तद्यथा—शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति[5]।

त एते तन्त्रे तरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति। उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते यः उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः[6]।

---

१. उदात्तादयः स्वरा वेदार्थे कथमुपयोगिनो जायन्ते, तेषां परित्यागे च कथं वेदार्थो दूषितो भवतीति विषयेऽस्माभिः स्वविरचिते वैदिकस्वरमीमांसाग्रन्थे 'वेदार्थ में स्वर की विशेष सहायता और उसकी उपेक्षा के दुष्परिणाम' नाम्नि अध्याये विस्तरेण प्रतिपादितम्। वस्तुतोऽस्माकं वैदिकस्वरमीमांसाग्रन्थो अस्यैव वाक्यस्य व्याख्यारूपो विद्यते।

२. महाभाष्य १।२।२९॥

३. वै० य० मुद्रिते संस्करणे 'कण्ठस्य' इत्यपपाठः, अत्र व्याख्येयपदयोर्निर्देशात्। अनुदात्तलक्षण-व्याख्यानेऽपि 'उरुता खस्य' इत्येव निर्दिश्यते।

४. महाभाष्य १।२।२९-३०॥

५. महाभाष्य १।२।३१॥

६. महाभाष्य १।२।३३॥

अ० १ । पा० २ । उच्चैरुदात्त[1] इत्याद्युपरि[2] ॥

तथा षड्जादयः सप्त—'[स्वराः] षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥' पिङ्गलसूत्रे अ० ३ । सू० ६४ ॥

एषां लक्षणव्यवस्था गान्धर्ववेद-प्रसिद्धा ग्राह्या । अत्र तु ग्रन्थभूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या ।

भाषार्थ—अब वेदार्थ के उपयोगहेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते है—जो कि उदात्त और षड्ज आदि भेद से चौदह १४ प्रकार के हैं, अर्थात् सात उदात्तादि और सात षड्जादि। उनमें से उदात्तादिकों के लक्षण, जो कि महाभाष्यकार पतञ्जलि महामुनिजी ने दिखलाये हैं, उनको कहते हैं—

(स्वयं राजन्त०) आप ही अर्थात् जो कि विना सहाय दूसरे के प्रकाशमान हैं, वे 'स्वर' कहाते हैं।

(आयामः) अङ्गों को रोकना, (दारुण्यम्) वाणी को रूखा करना, अर्थात् ऊंचे 'स्वर' से बोलना, और (अणुता) कण्ठ को भी रोक देना, ये सब यत्न शब्द के उदात्त विधान करनेवाले होते हैं, अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल बोला जाता है। तथा (अन्वव०) गात्रों का ढीलापन, (मार्दवम्) स्वर की कोमलता, (उरुता) कण्ठ को फैला देना, ये सब यत्न शब्द के अनुदात्त करनेवाले हैं।

(त्रैस्वर्य्येणा०) हम सब लोग तीन प्रकार के स्वरों से बोलते हैं। अर्थात् कहीं उदात्त, कहीं अनुदात्त और कहीं उदातानुदात्त, अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार अक्षरों का उच्चारण करते हैं। जैसे श्वेत और काला रङ्ग अलग-अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिलाकर जो रङ्ग उत्पन्न हो, उसका नाम तीसरा होता है, अर्थात् खाखी वा आसमानी। इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग-अलग हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो, उसको 'स्वरित' कहते हैं।

विशेष अर्थ के दिखलानेवाले 'तरप्' प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं। अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति।

उक्त रीति से इन सातों स्वरों को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिये।

अब षड्जादि स्वरों को लिखते हैं, जो कि गानविद्या के भेद हैं—(स्वराः षड्जऋषभ०) अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इनके लक्षण व्यवस्था-सहित, जो कि गान्धर्ववेद अर्थात् ज्ञानविद्या के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं, उनको देख लेना चाहिये। यहां ग्रन्थ बढ़ जाने के कारण नहीं लिखते।

इति स्वरव्यवस्थाविषयः संक्षेपतः

---

1. महा० १ । २ । २९ ॥

२ आदिशब्देनोत्तरसूत्राणि निर्दिश्यन्ते । उपर्युक्ताः पाठा यस्मिन् यस्मिन् सूत्रभाष्ये वर्तन्ते, तेषां निर्देशोऽस्माभिर्यथोद्धरणं कृतः ।

अथ व्याकरणनियमविषयः

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति, त इदानीं प्रदर्श्यन्ते । तद्यथा—

वृद्धिरादैच् ॥ १ ॥ अ० १ । १ । १ ॥

'उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते । तद्यथा—स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन, पदत्वात् कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति' इति भाष्यवचनम् ।

अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्य्यद्वयं वेदेष्वेव भवति, नान्यत्र ॥१॥

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥ २ ॥ अ० १ । १ । ५५ ॥

प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न काञ्चित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या' इति भाष्यम् ।

अनेनार्थप्राधान्यं भवति, न विभक्तेरिति बोध्यम्[1] ॥ २ ॥

---

१. विभक्तिरित्युपलक्षणं वचनस्य लिङ्गस्य च । तथा चोच्यते वैयाकरणैः—सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् । यदि सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रं, तत्र किमु वेदे न ? अर्थात् सूत्रेष्विव मन्त्रेष्वपि लिङ्गवचनमतन्त्रमप्रधानमिति मन्तव्यम् । तत्र वचनातन्त्रत्वे प्रमाणान्तरमप्युच्यते—

(क) 'त्रीन् वा' इति कातीयश्रौतसूत्रं (२ । ३ । ३१) व्याचक्षाणः कर्क आह—'तत्र (त्रीन् पक्षे) मन्त्रो न स्यात् द्विवचनान्तत्वात् ('पवित्रे स्थः इति मन्त्रः), पवित्रद्वयपक्षे च कृतार्थत्वात् । स्याद्वाऽर्थानभिधानसामर्थ्यात्, प्रातिपदिकार्थस्य विद्यमानत्वात् । द्विवचनस्यासमवायान्नेति चेत् ? मा भूत् समवायः । गुणो हि संख्या, प्रातिपदिकार्थः प्रधानभूतः न च गुणानभिधाने न प्राधान्यमभिधास्यतीति शक्यत उत्स्रष्टुम् । तस्मात् त्रित्वपक्षेऽपि मन्त्रः प्रवर्तत एव ।'

(ख) अग्निषोमीयः प्रकृतावेकः पशुः । तत्र प्रकृतौ क्वचित् 'अदितिः पाशं प्रमुमोक्तु' इति मन्त्रः पठ्यते, क्वचिच्च बहुपाशाभिधायी 'अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु' इति । तत्र प्रकृतौ पठितस्य बहुपाशाभिधायिनो मन्त्रस्य कथं निर्वाह इति विचारणायां जैमिनिराचार्यः सिद्धान्तयति—'विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात् समत्वात्, गुणे त्वन्याय्यकल्पनैकदेशत्वात्' (६ । ३ । १५) इति । व्याचक्षते च शबरस्वामी—'पाशप्रातिपदिकार्थस्य प्रकृतौ विद्यमानत्वादुत्कर्षो न न्याय्यः । ......बहूनप्यसौ पाशान् वदन् बहुत्वाधिष्ठानं द्रव्यं (पाशं) प्रकाशयत्येव । ......तत्प्रातिपदिकेन करिष्यते । गुणे त्वन्याय्यकल्पना स्याद् इति, न प्रधाने । गुणश्च विभक्त्यर्थः ।

न वेति विभाषा ॥ ३ ॥ अ० १ । १ । ४४ ॥

'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः' इति भाष्यसूत्रम्[1] । लौकिकवैदिकेषु शब्देषु सार्वत्रिकः समानोऽयं नियमः ॥ [३ ॥]

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥ ४ ॥ अ० १ । २ । ४५ ॥

'बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति । तद्यथा—इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः; कन्दुः, कोष्ठः, कुसूल इति । एकश्च शब्दो बह्वर्थः । तद्यथा—अक्षाः, पादाः, माषाः' । सार्वत्रिकोऽयमपि नियमः । यथाग्न्यादयः शब्दा वेदेषु बह्वर्थवाचकास्त इव[2] बहव एकार्थाश्च ॥ [४॥]

ते प्राग्धातो ॥ ५ ॥ अ० १ । ४ । ८० ॥

'छन्दसि परव्यवहितवचनं च' । अनेन वार्त्तिकेन गत्युपसर्गसंज्ञकाः शब्दाः क्रियायाः परे पूर्वे दूरे व्यवहिताश्च भवन्ति । यथा आयातमुपनिष्कृतम्,[3] उप प्रयोभिरागतम्[4] ॥ [५ ॥]

भाषार्थ—अब चारों वेद में व्याकरण के जो-जो सामान्य नियम हैं, उनको यहां लिखते हैं—

(उभ०) वेदों में एक शब्द के बीच में 'भ' तथा 'पद' ये दोनों संज्ञा होती हैं। जैसे 'ऋक्वता' इस शब्द में पद संज्ञा के होने के चकार के स्थान में ककार हुआ, और भ संज्ञा के होने से ककार के स्थान में गकार नहीं हुआ ॥ [१॥]

(प्रातिपदिक०) वेदादिशास्त्रों में जो-जो शब्द पढ़े जाते हैं, उन सबके बीच में यह नियम है कि जिस विभक्ति के साथ वे शब्द पढ़े हों, उसी विभक्ति से अर्थ कर लेना, यह बात नहीं है। किन्तु जिस विभक्ति से शास्त्रमूल युक्ति और प्रमाण के अनुकूल अर्थ बनता हो, उस विभक्ति का आश्रय करके अर्थ करना चाहिये[5] ॥ [२॥]

प्रधानं प्रातिपदिकार्थः । प्रातिपदिकार्थविशेषो विभक्त्याऽभिधीयते । ……तस्माद् यत्र प्रातिपदिकार्थस्तत्र विभक्त्यर्थो भविष्यति । एवं लिङ्गस्याप्यतन्त्रत्वं द्रष्टव्यम् ।

१. वृत्तिसूत्रशब्देन पाणिनीयसूत्राणि लक्ष्यन्ते, एवं भाष्यसूत्रशब्देन वार्तिकानि । एतस्मिन् विषयेऽस्माभिः स्वीये 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थे विस्तरेण लिखितं, तत्तत्रैव द्रष्टव्यम् । (भाग १ पृष्ठ २९२-२९४ सं० ३) ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'त एव' इत्यपपाठः । नह्यग्न्यादय एवैकार्थवाचकाः । यथा भाष्ये एकार्था बह्वर्थाश्च शब्दाः पार्थक्येन निर्दशिताः, तथाऽत्रापि शब्दभेदेनैव एकार्थता बह्वर्थता वा ज्ञेया । तेनात्र 'त इव' पाठः साधुः । अस्यायमभिप्रायः—यथाग्न्यादयो बह्वर्थवाचकास्त इव वेदे बहवः शब्दा एकार्थाश्च ज्ञेया इति ।

३. ऋ० १ । २ । ६ ॥ ४. ऋ० १ । २ । ४ ॥

५. यहां इतना और भी जानना चाहिये कि लिङ्ग और वचन का अन्यथा निर्देश होने पर भी शास्त्रमूल युक्ति और प्रमाणसिद्ध अर्थ करना चाहिये। व्याकरणशास्त्र में तो बहुधा कहा जाता है कि सूत्रों में लिङ्ग और वचन अप्रधान हैं, अर्थात् प्रातिपदिकार्थ ही प्रधान होता है। वेद में वचन की अप्रधानता को दर्शानेवाले दो प्रमाण संस्कृत टिप्पणी में लिखे हैं।

क्योंकि—(अर्थग०) वेदादिशास्त्रों में शब्दों के प्रयोग इसलिये होते हैं कि उनके अर्थों को ठीक-ठीक जानके उनसे लाभ उठावें। जब उनसे भी अनर्थ प्रसिद्ध हो, तो वे शास्त्र किसलिये माने जावें ? इसलिये यह नियम लोकवेद में सर्वत्र घटता है ।।[३।।]

(बहवो हि०) तीसरा नियम यह है कि वेद तथा लोक में बहुत शब्द एक अर्थ के वाची होते, और एक शब्द भी बहुत अर्थों का वाची होता है। जैसे अग्नि, वायु, इन्द्र आदि बहुत शब्द एक परमेश्वर अर्थ के वाची, और इसी प्रकार वे ही शब्द संसारी पदार्थों के नाम होने से अनेकार्थ हैं। अर्थात् इसी प्रकार के एक-एक शब्द कई-कई अर्थों के वाची हैं। [इसी प्रकार अनेक शब्द वेद में एक अर्थ के भी वाचक हैं] ।।[४।।]

(छन्दसि०) व्याकरण में जो-जो गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द हैं, वे वेद में क्रिया के आगे पीछे दूर अर्थात् व्यवधान में भी होते हैं। जैसे 'उप प्रयोभिरागतम्', यहां 'आगतम्' क्रिया के साथ 'उप' लगता, तथा 'आयातमुप०' यहां 'उप' 'आयातम्' क्रिया के पूर्व लगता है, इत्यादि। इसमें विशेष यह है कि लोक में पूर्वोक्त शब्द क्रिया के पूर्व ही सर्वत्र लगाये जाते हैं ।।[५।।]

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ।। ६ ।। अ० २ । ३ । ६२ ।।

'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या । या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति[1] । तस्या इति प्राप्ते ।'

एवमन्यत्रापि । अनेन चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः । महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि । अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वाच्छन्दो-ग्रहणमनर्थकं स्यात् ।। [६ ।।]

बहुलं छन्दसि ।। ७ ।। अ० २ । ४ । ३९ ।।

अनेन अद्धातोः स्थाने घस्लृ आदेशो बहुलं भवति । घस्तान्नूनम्[2], सग्धिश्च मे[3], आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम्[2], इत्याद्युदाहरणं ज्ञेयम् ।। [७ ।।]

बहुलं छन्दसि ।। ८ ।। अ० २ । ४ । ७३ ।।

वेदविषये शपो बहुलं लुग्भवति । वृत्रं हनति[4], अहिः शयते । अन्येभ्यश्च भवति—त्राध्वं नो देवाः[5] । [महाभाष्यकारस्य नियमेन शपो लुकि श्यनादीनामपि लुग् भवति । यतः शपः स्थाने श्यनादय आदेशा विधीयन्ते[6] । शप् सामान्यत्वात् सर्वस्यो धातुभ्यो भवति । तस्य शपो लुकि

१. द्र०—तै० सं० २ । ५ । १ ।। महाभाष्योद्धरणे 'जायते' पदमानुषङ्गिकं भाष्यकारेण वाक्यपूर्त्यर्थं सम्बद्धम् । संहितायां तु 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वस्तिस्रो रात्रीः' इत्येव पाठः ।

२. यजुः २१ । ४३ ।।

३. यजुः १८ । ९ ।।

४. ऋ० ८ । ८९ । ३ ।।

५. ऋ० २ । २९ । ६ ।।

६. द्र०—महा० ३ । १ । ६७ ।। 'एवं तर्हि शबादेशा श्यनादयः करिष्यन्ते ।'

श्यनादयो न प्राप्नुवन्ति स्थानिनोऽभावात्। एवमेव श्लुविषयेऽपि ज्ञेयम् ॥८॥][1]

बहुलं छन्दसि ॥ ६ ॥ अ० २।४।७६॥

वेदेषु शपः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति। दाति प्रियाणि[2], धाति प्रियाणि। अन्येभ्यश्च भवति—पूर्णां विवष्टि[3]; जनिमा विवक्ति, इत्यादीन्युदाहरणाणि सन्तीति बोध्यम् ॥[६॥]

भाषार्थ—(या खर्वेण०) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में षष्ठी विभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है, लौकिक ग्रन्थों में नहीं। इसमें ब्राह्मणों के उदाहरण इसलिये दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मानके, अर्थात् वेद में[4] जो व्याकरण के कार्य होते हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं। और जो ऐसा न मानें, तो 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती, फिर 'चतुर्थ्यर्थे०' इस सूत्र में 'छन्दः' शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाय ॥[६॥]

(बहुलं०) इस सूत्र से 'अद्' धातु के स्थान में 'घस्लृ' आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है ॥ [७॥]

(बहुलं०) वेदों में 'शप्' प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है, और कहीं नहीं भी होता। जैसे 'वृत्रं हनति' यहाँ 'शप्' का लुक् प्राप्त था, सो भी न हुआ, तथा 'त्राध्वं०' यहां त्रैङ् धातु से प्राप्त नहीं था, परन्तु हो गया। महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यनादि का लुक् होता है, क्योंकि शप् के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है। शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है, जब शप् का लुक् हो गया तो श्यनादि प्राप्त ही नहीं होते। ऐसे ही श्लु के विषय में भी समझ लेना ॥ [८॥]

(बहुलं०) वेदों में शप् प्रत्यय के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होता है, अर्थात् उक्त से भी नहीं होता और अनुक्त से भी हो जाता है। जैसे 'दाति०' यहां शप् के स्थान में श्लु प्राप्त था परन्तु न हुआ, और 'विवष्टि' यहां प्राप्त नहीं [था,] फिर [भी] हो गया ॥[६॥]

सिब्बहुलं लेटि ॥ १० ॥ अ० ३।१।३४॥

'सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः। सविता धर्म साविषत्, प्रण आयूंषि तारिषत्[5]।' अयं लेटि विशिष्टो नियमः ॥[१०॥]

छन्दसि शायजपि ॥ ११ ॥ अ० ३।१।८४॥

---

१. पाठोऽयमत्र नोपलभ्यते। परन्त्वस्य भाषार्थस्य विद्यमानत्वात् पाठोऽयं कथंचिन्नष्टः स्यात्। इममेव च नियममाश्रित्य ग्रन्थकारो वेदभाष्येऽनेनैव सूत्रेण श्यनादीनां लुकम्, अभावं वा वक्ष्यति।

२. ऋ० ४।८।३॥

३. ऋ० ७।१६।११॥

४. वै य० मुद्रित संस्करणों में 'इनमें' अपपाठ है।

५. ऋ० १।२५।१८॥

शायच्छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम्। क्व सर्वत्र ? हौ चाहौ च। किं प्रयोजनम् ? मही अस्कभायत्, यो अस्कभायत्, उद्‌गभायत्, उन्मथायतेत्येवमर्थम्। अयं लोटि मध्यमपुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियमः ॥[११॥]

व्यत्ययो बहुलम् ॥ १२ ॥ अ० ३। १। ८५ ॥

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्त्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥

व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति। अनेन विकरणव्यत्ययः।

(१) सुपां व्यत्ययः, (२) तिङां व्यत्ययः, (३) वर्णव्यत्ययः, (४) लिङ्गव्यत्ययः, (५) पुरुषव्यत्ययः, (६) कालव्यत्ययः, (७) आत्मनेपदव्यत्ययः, (८) परस्मैपदव्यत्ययः, (९) स्वरव्यत्ययः, (१०) कर्त्तृव्यत्ययः, (११) [1]यङ्व्यत्ययश्च।

एषां क्रमेणोदाहरणानि—(१) युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः[2], दक्षिणायामिति प्राप्ते। (२) चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति[3], तक्षन्तीति प्राप्ते। (३) त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्, शुधितमिति प्राप्ते। (४) मधोस्तृप्ता इवासते, मधुन इति प्राप्ते। (५) अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः[4], वियूयादिति प्राप्ते। (६) श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन, आधाता यष्टेति प्राप्ते। (७) ब्रह्मचारिणमिच्छते[5], इच्छतीति प्राप्ते। (८) प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति, युध्यत इति [प्राप्ते]। आधाता यष्टेति लुट्प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगौ [तयोः स्थाने आधास्यमानेन यक्ष्यमाणेन भवतः।] 'व्यत्ययो भवति स्यादीनाम्' इत्यस्योदाहरणं, तासि प्राप्ते स्यो विहितः ॥१२॥

बहुलं छन्दसि ॥ १३ ॥ अ० ३। २। ८८ ॥

अनेन क्विप्प्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते। मातृहा, मातृघातः इत्यादीनि ॥[१३॥]

छन्दसि लिट् ॥ १४ ॥ अ० ३। २। १०५ ॥

वेदेषु सामान्यभूते लिड् विधीयते। अहं द्यावापृथिवी आततान ॥[१४।]

लिटः कानज्वा ॥ १५ ॥ अ० ३। २। १०६ ॥

१. यङ् इति प्रत्याहारः, तेन 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) इत्यस्य यकारमारभ्य 'लिङ्याशिष्यङ्' (३।१।८६) इति अङो ङकारपर्यन्तं विहिता सर्वे विकरणा गृह्यन्ते।
२. ऋ० १। १६४। ९ ॥
३. ऋ० १। १६२। ६ ॥
४. ऋ० ७। १०४। १५ ॥
५. अथर्व ११। ५। १७ ॥

वेदविषये लिटः स्थाने कानजादेशो वा भवति। अग्निं चिक्यानः[1], अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श। प्रकृतेऽपि लिटि पुनर्ग्रहणात् परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति ॥[१५]

क्वसुश्च ॥ १६ ॥ अ० ३। २। १०७॥

वेदे लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति। पपिवान्, जग्मिवान्। न च भवति—अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श ॥[१६॥]

क्याच्छन्दसि ॥ १७ ॥ अ० ३। २। १७०॥

क्यप्रत्ययान्ताद् धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्त्तृषु उकारप्रत्ययो भवति। मित्रयुः, संस्वेदयुः, सुम्नयुः। 'निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकस्यापि ग्रहणं भवति'[2] इत्यनया परिभाषया क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन ग्रहणं भवति ॥[१७॥]

भाषार्थ—(सिब्बहुलं०) लेट् लकार में जो सिप् प्रत्यय होता है, वह वेदों में बहुल करके णित्संज्ञक होता है, कि जिससे वृद्धि आदि कार्य हो सकें। जैसे—'साविषत्' यहां सिप् को णित् मानके वृद्धि हुई है। यह लेट् में वेद-विषयक विशेष नियम है ॥[१०॥]

(शायच्छन्दसि०) वेद में 'हि' प्रत्यय के परे [रहने पर] 'श्ना' प्रत्यय के स्थान में जो 'शायच्' आदेश विधान किया है, वह 'हि' से अन्यत्र भी होता है ॥[११॥]

(व्यत्ययो०) वेदों में जो व्यत्यय अर्थात् विपरीतभाव बहुधा होता है, वह भाष्यकार पतञ्जलिजी ने नव प्रकार से माना है। वे सुप् आदि ये हैं—सुप्; तिङ्; वर्ण; लिङ्ग—पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग; पुरुष—प्रथम, मध्यम और उत्तम; काल—भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान; [पद—] आत्मनेपद और परस्मैपद; वर्ण—वेदों में अचों के स्थान में हल् और हलों के स्थान [में] अच् के आदेश हो जाते हैं; स्वर—उदात्तादि का व्यत्यय; कर्त्ता का व्यत्यय; और [3]यङ् का व्यत्यय होते हैं। इन सबके उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं, वहां देख लेना ॥[१२॥]

(बहुलम्०) इससे क्विप् प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है ॥[१३॥]

(छन्दसि०) इस सूत्र से लिट् लकार वेदों में सामान्य भूतकाल में भी होता है ॥[१४॥]

(लिटः का०) इस सूत्र से वेदों में लिट् लकार के स्थान में कानच् आदेश विकल्प करके होता है। इसके 'आततान' इत्यादि उदाहरण बनते हैं। 'छन्दसि०' इस सूत्र में से लिट् की अनुवृत्ति हो जाती, फिर लिट्ग्रहण इसलिये है कि 'परोक्षे लिट्' [(अष्टा० ३। २। ११५)] इस लिट् के स्थान में भी कानच् आदेश हो जावे ॥[१५॥]

---

१. तै० सं० ५। २। ३। ६॥ २ परिभाषावृत्ति सीरदेव ५३।

३. यङ् यह प्रत्याहार ग्रहण है। इससे 'सार्वधातुके यक् (३। १। ६७) के यकार से 'लिङ्याशिष्यङ्' (३। १। ८६) के अङ् के ङकारपर्यन्त सभी विकरणों का ग्रहण होता है।

(क्वसुश्च०) इस सूत्र से वेदों में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हो जाता है ।।[१६।।]

(क्या०) इस सूत्र से वेदों में क्यप्रत्ययान्त धातु से 'उ' प्रत्यय हो जाता है ।।[१७।।]

कृत्यल्युटो बहुलम् ।। १८ ।। अ० ३ । ३ । ११३ ।।

कृल्ल्युट इति वक्तव्यम्, कृतो बहुलमिति वा पादहारकाद्यर्थम् । पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः ।

अनेन धातोर्विहिताः कृतसंज्ञकाः प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः । अयं लौकिवैदिक-शब्दानां सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति वेद्यम् ।।[१८।।]

छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ।। १६ ।। अ० ३ । ३ । १२६ ।।

ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच् प्रत्ययो भवति । उ०—सूपसदनोऽग्निः ।। [१६ ।।]

अन्येभ्योऽपि दृश्यते ।। २० ।। अ० ३ । ३ । १३० ।।

अन्येभ्यश्च धातुभ्यो युच् प्रत्ययो दृश्यते । उ०—सुदोहनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम् ।।[२०।।]

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ।। २१ ।। अ० ३ । ४ । ६ ।।

वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ् लङ् लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति । उ०—लुङ्—अहं तेभ्योऽकरं नमः[1] । लङ्—अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः[2] । लिट्—अद्या[3] ममार[4] ।। [२१ ।।]

लिङर्थे लेट् ।। २२ ।। अ० ३ । ४ । ७ ।।

यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शकीच्छार्थेषूर्ध्वमौहूर्तिकेष्वर्थेषु लिङ् विधीयते, तत्र वेदेष्वेव लेट् लकारो वा भवति । उ०—जीवाति शरदः शतम्[5] इत्यादीनि ।।[२२ ।।]

उपसंवादाशङ्कयोश्च ।। २३ ।। अ० ३ । ४ । ८ ।।

उपसंवादे आशङ्कायां च गम्यमानायां वेदेषु लेट् प्रत्ययो भवति । उ०—उपसंवादे—अहमेव पशूनामीशै । आशङ्कायाम्—नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम[6] ।। मिथ्याचरणेन नरकपात आशङ्क्यते ।। [२३ ।।]

लेटोऽडाटौ ।। २४ ।। अ० ३ । ४ । ६४ ।।

---

१. यजुः १६ । ८ ।।
२. द्र०—आश्व० श्रौ० ३ । ६ । १६ ।।
३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'अद्य' इत्यपपाठः ।
४. ऋ० १० । ५५ । ५ ।।
५. ऋ० १० । ८५ । ३६ ।।
६. ऋ० खिल १० । १०६ । १ ।।

लेटः पर्यायेण अट् आट् आगमौ भवतः ।। [२४ ।।]

आत ऐ ।। २५ ।। अ० ३ । ४ । ९५ ।।

छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहितस्य लेडादेशस्य द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति । उ०—मन्त्रयैते; मन्त्रयैथे ।। [२५ ।।]

वैतोऽन्यत्र ।। २६ ।। अ० ३ । ४ । ९६ ।।

'आत ऐ' इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति । उ०—अहमेव पशूनामीशै, ईशे वा ।। [२६ ।।]

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ।। २७ ।। अ० ३ । ४ । ९७ ।।

लेटः स्थान आदिष्टस्य तिबादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति । उ०—तरति, तराति, तरत्, तरात्; तरिषति, तरिषाति, तरिषत्, तरिषात्; तारिषति, तारिषाति, तारिषत्, तारिषात्; तरसि, तरासि, तरः, तराः; तरिषसि, तरिषासि, तरिषः, तरिषाः; तारिषसि, तारिषासि, तारिषः, तारिषाः; [तरमि,][1] तरामि, [तरम्,] तराम्; [तरिषमि,] तरिषामि, [तरिषम्,] तरिषाम्; [तारिषमि,] तारिषामि, [तारिषम्,] तारिषाम् । एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेड्विषये बोध्यम् ।। [२७ ।।]

स उत्तमस्य ।। २८ ।। अ० ३ । ४ । ९८ ।।

लेट उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति । [[2]करवव, करववः,] करवाव, करवावः; [करवम, करवमः], करवाम, करवामः ।। २८ ।।

भाषार्थ—[(कृत्यल्युटो०) इस पर वार्त्तिककार ने कहा है कि 'कृल्ल्युटो बहुलम् अथवा कृतो बहुलम्' ऐसा कहना चाहिए । जिससे पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः आदि में 'ण्वुल् आदि प्रत्यय कर्म आदि में भी हो जायें । इस वचन से धातु से विहित कृत् प्रत्यय कारकमात्र में वेद आदि में होते हैं । यह लौकिक वैदिक शब्दों का सार्वत्रिक नियम है, ऐसा जानना चाहिये ।।१८।।]

(छन्दसि०) इस सूत्र से ईषत्, दुर्, सु ये पूर्वपद लगे हों, तो गत्यर्थक धातुओं से वेदों में युच् प्रत्यय होता है ।।[१९।।]

(अन्येभ्यो०)और धातुओं से भी वेदों में युच् प्रत्यय देखने में आता है । जैसे—'सुदोहनाम्' यहां सुपूर्वक 'दुह' धातु से युच् प्रत्यय हुआ है ।।[२०।।]

(छन्दसि०) जो तीन लकार लोक में भिन्न-भिन्न कालों में होते हैं, वे वेदों में लुङ्, लङ् और लिट् लकार ये सब कालों में विकल्प करके होते हैं ।।[२१।।]

---

१. उत्तमपुरुषस्य अडागमे 'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) इति दीर्घत्वं न प्रवर्तते । यञादित्वस्याभावात् । ततः 'अतो गुणे' (६ । १ । ९४) इति पररूपे दीर्घाभावो वेद्यः । २. पूर्ववदडागमे दीर्घाभावः ।

(लिङर्थे०) अब लेट् लकार के विषय में जो सामान्य सूत्र हैं, उनको यहां लिखते हैं। यह लेट् लकार वेदों में ही होता है। सो वह लिङ् लकार के जितने अर्थ हैं उनमें, तथा उपसंवाद और आशङ्का इन अर्थों में लेट् लकार होता है ॥[२२-२३॥]

(लेटो०) लेट् को क्रम से अट् और आट् आगम होते हैं, अर्थात् जहां अट् होता है, वहां आट् नहीं होता। जहां आट् होता है, वहां अट् नहीं होता ॥[२४॥]

(आत ऐ) लेट् लकार में प्रथम और मध्यम पुरुष के 'आताम्' के आकार को ऐकार आदेश हो जाता है। जैसे—'मन्त्रयैते' यहां आ के स्थान में ऐ हो गया है ॥[२५॥]

(वैतोऽन्यत्र) यहां लेट् लकार के स्थान में जो एकार होता है, उसके स्थान में [विकल्प से] ऐकार आदेश हो जाता है ॥[२६॥]

(इतश्च०) यहां लेट् के तिप्, सिप् और मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता हैं ॥[२७॥]

(स उत्त०) इस सूत्र से लेट् लकार के उत्तम पुरुष के वस् मस् के सकार का विकल्प करके लोप हो जाता है ॥[२८॥]

यह लेट् का विषय थोड़ासा लिखा, आगे किसी को सब जानना हो, तो वह अष्टाध्यायी पढ़के जान सकता है, अन्यथा नहीं।

तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ॥ २९ ॥

अ० ३। ४। ९॥

धातुमात्रात् तुमुन्प्रत्ययस्यार्थे से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन् इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेऽवेव भवन्ति।

'कृन्मेजन्तः'[1] इति सर्वेषामव्ययत्वम्। सर्वेषु नकारोऽनुबन्धः स्वरार्थः, ककारो गुणवृद्धि-निषेधार्थः, ङकारोऽपि, शकारः शिदर्थः। से—वक्षे रायः। सेन्—तावामेषे रथानाम्[2]। असे असेन्—क्रत्वे दक्षाय जीवसे[3]। क्से कसेन्—[प्रेषे,][4] श्रियसे[5]। अध्यै अध्यैन्—कर्मण्युपाचरध्यै। कध्यै—इन्द्राग्नी आहुवध्यै[6]। कध्यैन्—श्रियध्यै। शध्यै शध्यैन्—पिबध्यै[7], सह मादयध्यै[8], अत्र शित्वात् पिबादेशः। तवै—सोममिन्द्राय पातवै। तवेङ्—दशमे मासि सूतवे[9]। तवेन्—स्वर्देवेषु गन्तवे[10] ॥२९॥

शकि णमुल्कमुलौ ॥ ३० ॥ अ० ३। ४। १२॥

---

१. अष्टा० १। १। ३८॥
२. ऋ० १। ६६। ३॥
३. अथर्व ६। १९। २॥
४. यजुः ५। ७॥
५. ऋ० ५। ५९। ३॥
६. यजुः ३। १३॥
७. ऋ० ७। ९२। २॥
८. यजुः ३। १३॥
९. ऋ० १०। १८४। ३॥
१०. यजुः १५। ५५॥

शक्नोतौ धातावुपपदे धातुमात्रात् तुमर्थे वेदेषु णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः। णकारो वृद्ध्यर्थः, ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः, लकारः स्वरार्थः। अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्, विभक्तुमित्यर्थः ॥[३०॥]

ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ॥ ३१ ॥ अ० ३।४।१३॥

ईश्वरशब्द उपपदे वेदे तुमर्थे वर्त्तमानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः।[तोसुन्—]ईश्वरोऽभिचरितोः; कसुन्—ईश्वरो विलिखः॥[३१॥]

कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः ॥ ३२ ॥ अ० ३।४।१४॥

कृत्यानां मुख्यतया भावकर्मणी द्वावर्थौ[1] स्तोऽर्हादयश्च[2]। तत्र वेदविषये तवै, केन्, केन्य, त्वन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति। तवै—परिधातवै; केन्—नावगाहे; केन्य—दिदृक्षेण्यः[3] शुश्रूषेण्यः; त्वन्—कर्त्वं हविः[4] ॥[३२॥]

भाषार्थ—(तुमर्थे०) इस सूत्र से वेदों में 'से' इत्यादि १५ पन्द्रह प्रत्यय सब धातुओं से हो जाते हैं॥ [२९ ॥]

(शकि०) शक धातु का प्रयोग उपपद हो, तो धातुमात्र से 'णमुल्' 'कमुल्' ये दोनों प्रत्यय वेदों में हो जाते हैं। इस के होने से 'विभाजम्' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं॥ [३० ॥]

(ईश्वरे०) वेदों में ईश्वर शब्दपूर्वक धातु से 'तोसुन्' 'कसुन्' ये प्रत्यय होते हैं॥[३१॥]

(कृत्यार्थे०) इस सूत्र से वेदों में भावकर्मवाचक 'तवै' 'केन्' 'केन्य' 'त्वन्' ये प्रत्यय होते हैं। इससे 'परिधातवै' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं॥ [३२ ॥]

नित्यं संज्ञाछन्दसोः ॥ ३३ ॥ अ० ४।१।२९॥

अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात् संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां ङीप्प्रत्ययो भवति। गौः पञ्चदाम्नी; एकदाम्नी॥[३३॥]

नित्यं छन्दसि ॥ ३४ ॥ अ० ४।१।४६॥

बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। बह्वीषु हित्वा प्रपिबन्॥[३४॥]

भवे छन्दसि ॥ ३५ ॥ अ० ४।४।११०॥

सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत् प्रत्ययो भवति। अयमणादीनां घादीनां चापवादः। सति दर्शने तेऽपि भवन्ति। मेघ्याय च विद्युत्याय च नमः[5] ॥ [३५ ॥]

१. द्र०—अष्टा० ३।४।७०॥

२. अर्हार्थः, द्र०—३।३।१७९॥ आदि शब्देन प्रेषादयः, द्र०—३।३।१६१॥

३. तै० ब्रा० २।७।६।४॥

४. अथर्व० १।४।३॥

५. यजु० १६।३८॥

इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्य्यन्तानि वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति, तान्यत्र न लिख्यन्ते । कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र यत्र मन्त्रेष्वागमिष्यन्ति, तत्र तत्र तानि लेखिष्यामः ।

बहुलं छन्दसि ॥ ३६ ॥ अ० ५ । २ । १२२ ॥

वेदेषु समर्थानां प्रथमात् प्रातिपदिकमात्राद् भूमादिष्वर्थेषु[1] विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते । तद्यथा—भूमादयः[2]—

[3]तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप् ॥ ३७ ॥ अ० ५ । २ । ९४ ॥

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धे[4]ऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

अस्य[5] सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुबादयो भवन्तीति बोध्यम् ।

(बहुलं०[6]) अस्मिन् सूत्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहूनि वार्त्तिकानि सन्ति, तानि तत्तद्विषयेषु प्रकाशयिष्यामः ॥ [३६-३७ ॥]

अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ॥ ३८ ॥ अ० ५ । ४ । १०३ ॥

'अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि [टच् प्रत्ययो] वेति वक्तव्यम्' । ब्रह्मसामं, ब्रह्मसाम; देवच्छन्दसं, देवच्छन्दः ॥ [३८ ॥]

सन्यङोः ॥ ३९ ॥ अ० ६ । १ । ९ ॥

[7]'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति । तद्यथा—'वपिः' प्रकिरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्त्तते—केशान् वपति । 'ईडिः' स्तुतिचोदनायाच्ञासु दृष्टः, ईरणे चापि वर्त्तते—अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति । 'करोतिः' अयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि वर्त्तते—पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते । निक्षेपणेऽपि वर्त्तते—कटे कुरु, घटे कुरु, अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते ।'

एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विज्ञातव्यम्—धातुपाठे येऽर्था निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येऽपि बहवोऽर्था भवन्ति । त्रयाणामुपलक्षणमात्रस्य दर्शितत्वात् ॥ [३९॥]

१. मत्वर्थ इति वक्तव्ये भूमादिग्रहणं मतुप्प्रत्ययो येषु भूमादिष्वर्थेषु भवति तान् द्योतयितुम् ।

२. भूमाद्यर्थनिदर्शनार्थमुत्तरसूत्रमुपस्थापितम्, यत्र भूमादयोऽर्था भाष्यकारेणोच्यन्ते ।

३. द्र०—एतत्पृष्ठस्था टि० १ ।

४. महाभाष्ये 'संसर्गे' पाठः ।

५. 'तदस्यास्त्यस्मिन्नि०' (५ । २ । ९४) सूत्रस्येति भावः ।

६. ५ । २ । १२२ ॥

७. अस्मिन्नुद्ध्रियमाणे महाभाष्यपाठे क्वचित्क्वचिद् भेदो दृश्यते । यत्र तु लेखकप्रमादजन्याऽशुद्धिरासीत् यथा प्रकरणे, निर्मूलीकरणे इति, तत्र पाठः शोधितः ।

शेश्छन्दसि बहुलम् ॥ ४० ॥ अ० ६ । १ । ७० ॥

वेदेषु नपुंसके वर्त्तमानस्य शेर्लोपो बहुलं भवति । यथा—विश्वानि भुवनानीति प्राप्ते विश्वा भुवनानीति भवति ॥[४०॥]

बहुलं छन्दसि ॥ ४१ ॥ अ० ६ । १ । ३४ ॥

अस्मिन् सूत्रे वेदेषु एषां धातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते । यथा—हूमहे इत्यादिषु ॥[४१॥]

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ ४२ ॥ अ० ६ । १ । १२७ ॥

'ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ।' ईषा अक्षा, ईमिरे, इत्याद्यप्राप्तः[१] प्रकृतिभावो विहितः ॥[४२॥]

देवताद्वन्द्वे च ॥ ४३ ॥ अ० ६ । ३ । २६ ॥

देवतयोर्द्वन्द्वसमासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते । ङित्त्वादन्त्यस्य स्थाने भवति । उ०—सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्[२]; इन्द्राबृहस्पती, इत्यादीनि ।

अस्य सूत्रस्योपरि द्वे वार्त्तिके स्तः । तद्यथा—

'देवताद्वन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः ॥' अग्निवायू, वाय्वग्नी ।

'ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च ॥' ब्रह्मप्रजापती; शिववैश्रवणौ; स्कन्दविशाखौ ।

सूत्रेण विहित आनङादेशो वार्त्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते । सार्वत्रिको नियमः ॥[४३॥]

बहुलं छन्दसि ॥ ४४ ॥ अ० ७ । १ । ८ ॥

अनेनात्मनेपदसंज्ञस्य झकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते । उ०—देवा अदुह्र ॥[४४॥]

बहुलं छन्दसि ॥ ४५ ॥ अ० ७ । १ । १० ॥

अनेन वेदेषु भिसः स्थाने ऐस् बहुलं विधीयते । यथा—देवेभिर्मानुषे जने[३] ॥[४५॥]

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥ ४६ ॥ अ० ७ । १ । ३९ ॥

'सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् ।' 'तिङां च तिङो भवन्तीति वक्तव्यम् ।' 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् ।' इया—दार्विया परिज्मन् । डियाच्—सुमित्रिया न आप०[४],

---

१. अत्र सूत्रेण (६ । १ । १२७) ह्रस्वप्रकृतिभावौ विकल्पेन प्राप्तौ । तत्र प्रकृतिभाव एव स्यादित्यर्थं वार्तिकम् । तेन पक्षे ह्रस्वप्राप्त्या प्रकृतिभावो न प्राप्नोति, तत्रानेन प्रकृतिभावो विधीयते इति 'अप्राप्तः प्रकृतिभावो विधीयते' इत्यस्य तात्पर्यम् ।

२. ऋ० १० । १९० । ३ ॥

३. ऋ० ६ । १६ । १ ॥

४. एतद्विषये पूर्वत्र पृष्ठ २३७, टि० १ द्रष्टव्या ।

सुक्षेत्रिया, सुगात्रिया[1]। ईकार—दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्[2]। 'आङयाजयारां चोपसंख्यानम्'। आङ्—प्रबाहवा। अयाच्—स्वप्नया वाव सेचनम्। अयार्—स नः सिन्धुमिव नावया।

सुप्, लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल्, इया, डियाच्, ई, आङ्, अयाच्, अयार्, वैदिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थाने सुबाद्ययारन्ता षोडशादेशा विधीयन्ते। तिङां च तिङिति पृथङ् नियमः। सुप्—ऋजवः सन्तु पन्थाः, पन्थान इति प्राप्ते। लुक्—परमे व्योमन्[3], व्योम्नीति प्राप्ते। पूर्वसवर्ण—धीती मती, धीत्या मत्या इति प्राप्ते। आत्—उभा यन्तारा, उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते। शे—न युष्मे वाजबन्धवः[4], यूयमिति प्राप्ते। या—उरुया, उरुणा इति प्राप्ते। डा—नाभा पृथिव्याः[5], नाभौ इति प्राप्ते। ड्या—अनुष्टया, अनुष्टुभा इति प्राप्ते। याच्—साधुया, साधु इति प्राप्ते। आल्—वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते ॥[४६॥]

आज्जसेरसुक् ॥ ४७ ॥ अ० ७। १। ५० ॥

अनेन प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वम्[6] असुक् इत्ययमागमो विहितः। उ०—विश्वेदेवास आगतः[7], विश्वेदेवा इति प्राप्ते। एवं देव्यासः। तथैवान्यान्यपि ज्ञातव्यानि ॥[४७॥]

भाषार्थ—(नित्यं संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अन्नन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है ॥ [३३ ॥]

(नित्यं) इस सूत्र से बह्वादि प्रातिपदिकों से वेदों में ङीष् प्रत्यय नित्य होता है ॥[३४॥]

(भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिकमात्र से वेदों में यत् प्रत्यय होता है ॥[३५ ॥]

इस सूत्र से आगे पादपर्य्यन्त सब सूत्र वेदों ही में लगते हैं, सो यहां इसलिये नहीं लिखे कि वे एक-एक बात के विशेष हैं। सो जिस-जिस मन्त्र में [उन के] विषय आवेंगे, वहां-वहां लिखे जायंगे।

(बहुलं०) इस सूत्र से प्रातिपदिकमात्र से विन् प्रत्यय वेदों में मतुप के अर्थ में बहुल करके होता है। इस सूत्र के ऊपर वैदिक शब्दों के लिये वार्त्तिक बहुत हैं, परन्तु विशेष हैं, इसलिये नहीं लिखे ॥ [३६–३७ ॥]

(अनसन्ता०) इस सूत्र से वेदों में [अनन्त और असन्त से] समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके होता है ॥ [३८ ॥]

(बह्वर्था अपि०) महाभाष्यकार के इस वचन से यह बात समझनी चाहिये कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं, उनसे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं। जैसे ईड धातु का

१. 'सुगातुया' इति शुद्धः पाठो द्रष्टव्यः।
२. ऋ० ७। १०३। २ ॥
३. ऋ० १। १६४। ३९ ॥
४. ऋ० ८। ६८। १९ ॥
५. यजुः ११। ७६ ॥
६. कित्वादिति शेषः।
७. ऋ० १। ३। ७ ॥

स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पढ़ा है, और चोदना आदि भी समझे जाते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये ॥ [३९ ॥]

(शेश्छ०) इससे प्रथमा विभक्ति जो जस् [और शस्] के स्थान में नपुंसकलिङ्ग में 'शि' आदेश होता है, इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है ॥[४०॥]

(बहुलं०) इससे धातुओं को अप्राप्त संप्रसारण होता है ॥ [४१ ॥]

(ईषा०)इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है ॥ [४२ ॥]

(देवताद्व०) इस सूत्र से दो देवताओं के द्वन्द्व समास में पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है। जैसे—'सूर्य्याचन्द्रमसौ०' यहां सूर्या शब्द दीर्घ हो गया है। और इस सूत्र से जिस कार्य्य का विधान है, उसका प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वार्त्तिकों से विशेष शब्दों में दिखाते हैं। जैसे—'इन्द्रवायू' यहां इन्द्र शब्द को दीर्घ नहीं हुआ। यह नियम लोक और वेद में सर्वत्र घटता है ॥ [४३ ॥]

(बहुलं०) इस सूत्र से प्रथम पुरुष के बहुवचन आत्मनेपद में 'झ' प्रत्यय को 'रुट्' का आगम होता है ॥ [४४ ॥]

(बहुलं०) इससे भिस् के स्थान में 'ऐस्भाव' बहुल करके होता है ॥[४५॥]

(सुपां सु०) इससे सब विभक्तियों के सब वचनों के स्थान में 'सुप्' आदि १६ आदेश होते हैं ॥ [४६॥]

(आज्जसे०) इस सूत्र से वेदों में प्रथमा विभक्ति का बहुवचन जो जस् है, उसको असुक् का आगम होता है। जैसे—'दैव्याः' ऐसा होना चाहिये, वहां 'दैव्यासः' ऐसा हो जाता है। इत्यादि जान लेना चाहिये ॥ [४७ ॥]

बहुलं छन्दसि ॥ ४८ ॥ अ० ७ । ३ । ९७ ॥

वेदेषु यत्र क्वचिदीडागमो दृश्यते तत्रानेनैव भवतीति वेद्यम् ॥[४८॥]

बहुलं छन्दसि ॥ ४९ ॥ अ० ७ । ४ । ७८ ॥

अनेनाभ्यासस्य [भृञादीनाम्] इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं विधीयते ॥[४९॥]

छन्दसीरः ॥ ५० ॥ अ० ८ । २ । १५ ॥

अनेन मतुपो मकारस्याप्राप्तं वत्वं विधीयते । उ०—रेवान् इत्यादि ॥[५०॥]

कृपो रो लः ॥ ५१ ॥ अ० ८ । २ । १८ ॥

'संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम् ।' कपिलका; कपिरका[1], इत्यादीनि॥[५१॥]

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'कपरिका' इति लेखकप्रमादजोऽपपाठः ।

धि च ॥ ५२ ॥ अ० ८ । २ । २५ ॥

घसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सिज्ग्रहणं न तत् ।

छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्त्तारमध्वरे ॥

उ०—[इष्कर्त्तारमध्वरस्य,] निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते । अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्प्यते । अप्राप्तविभाषेयम् ॥[५२॥]

दादेर्धातोर्घः ॥ ५३ ॥ अ० ८ । २ । ३२ ॥

'हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य भत्वं वक्तव्यम् ।' उ०—गर्दभेन संभरति; मरुदस्य गृभ्णाति ॥[५३॥]

मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि ॥ ५४ ॥ अ० ८ । ३ । १ ॥

वेदविषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवति । गोमः; हरिवः; मीढ्वः ॥[५४॥]

वा शरि ॥ ५५ ॥ अ० ८ । ३ । ३६ ॥

वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्यः । वृक्षा स्थातारः, वृक्षाः स्थातारः । अनेन 'वायव स्थ'[1] इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते । अतः सामान्येनायं सार्वत्रिको नियमः ॥[५५॥]

भाषार्थ—(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में ईट् का आगम होता है ॥ [४८ ॥]

(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में धातु के अभ्यास को इकारादेश हो जाता है ॥ [४९ ॥]

(छन्दसीरः) इससे वेदों में मतुप् प्रत्यय के मकार को वकारादेश हो जाता है ॥ [५०॥]

(संज्ञा०) इससे वेदों में रेफ का लकार विकल्प करके होता है ॥ [५१ ॥]

(घसि०) इससे वेदों में किसी-किसी अक्षर का कहीं-कहीं लोप हो जाता है ॥[५२॥]

(हृग्रहो०) इससे वेदों में हृ और ग्रह धातु के हकार को भकार हो जाता है ॥[५३॥]

(मतु०) इससे वेदों में मतुप् और वसु के नकार को रु होता है ॥ [५४ ॥]

[(वा शरि) खर् परे हैं जिससे ऐसे शर् परे रहने पर विसर्जनीय का विकल्प से लोप होता है ॥ ५५ ॥]

उणादयो बहुलम् ॥ ५६ ॥ अ० ३ । ३ । १ ॥

बहुलवचनं किमर्थम् ? 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः'—तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते, न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते । 'प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्'—प्रायेण खल्वपि

१. यजुः १ । १ ॥

ते समुच्चिताः, न सर्वे समुच्चिताः। 'कार्य्यसशेषविधेश्च तदुक्तम्'—कार्य्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि, न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि। किं पुनः कारणं तन्त्रीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते, न सर्वाभ्यः। किञ्च कारणं प्रायेण समुच्चिता, न सर्वे समुच्चिताः? किञ्च कारणं कार्य्याणि सशेषाणि कृतानि, न पुनः सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि? 'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु'—नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चौणादिकाः सुसाधवः[1] कथं स्युः?

'नाम च धातुजमाह निरुक्ते'—नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः। 'व्याकरणे शकटस्य च तोकम्'—वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति। अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः, कथं तत्र भवितव्यम्? 'यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्'—प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्य्याद् विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥

(बाहुलकं०) उणादिपाठे अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योऽपि भवन्ति। एवं प्रत्यया अपि न सर्व एकीकृताः, किन्तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतम्। तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति। यथा फिडफिड्डौ भवतः[2]। तथा सूत्रैर्विहितानि कार्य्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति। यथा दण्ड इत्यत्र डप्रत्ययस्य डकारस्य इत्संज्ञा न भवति। एतदपि बाहुलकादेव।

(किं पुनः०) अनेनैतच्छङ्क्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रैः[3] कार्य्याणि विहितानि तावन्त्येव कथं न स्युः? अत्रोच्यते—

(नैगमः०) नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः। एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति। (नाम०) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः, (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः, तोकमित्यस्यापत्यनामसु[4] पठितत्वात्।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'रूढिशब्दाश्चावैदिकास्ते सुष्ठु साधवः' इति पाठः।

२ फिडफिड्डावविहितावप्यौणादिकौ प्रत्ययौ। तदुक्तं महाभाष्यकृता—'फिडफिड्डावौणादिकौ प्रत्ययौ' इति ऋलृक् सूत्रभाष्ये।

३. अयं प्रथमसंस्करणे शुद्धः पाठः। द्वितीयादारभ्य 'सूत्रे' इत्यपपाठो मुद्रयते।

४. निघं० २। २॥

(यन्न०) यद् विशेषात् पदार्थान्न सम्यगुत्थितमर्थात् प्रकृतिप्रत्ययविधानेन न व्युत्पन्नं, तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः, प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः। एतदूहनं क्व कथं च कर्तव्यमित्यत्राह—संज्ञाशब्देषु धातुरूपाणि पूर्वमूह्यानि परे च प्रत्ययाः। (कार्य्याद्वि०) कार्य्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात्, एतत् सर्वं कार्य्यमुणादिषु बोध्यम् ॥५६॥

भाषार्थ—(उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि उणादिपाठ की व्यवस्था बांधते हैं कि—(बाहुलकं०) उणादिपाठ में थोड़े से धातुओं से प्रत्ययविधान किया है, सो बहुल के होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यय भी उस ग्रन्थ में थोड़े से नमूने के लिये पढ़े हैं, इनसे अन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में देखकर समझ लेना चाहिये। जैसे 'ऋफिडः' इस शब्द में ऋ धातु से फिड प्रत्यय समझा जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते [हैं,] उनमें जितने कार्य्य सूत्रों करके होने चाहियें वे सब नहीं होते हैं, सो भी बहुल ही का प्रताप है।

(किं पुनः०) इसमें जो कोई ऐसी शंका करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किये, और जितने कार्य्य शब्दों की सिद्धि में सूत्रों से हो सकते हैं, उनसे अधिक क्यों होते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम०) वेदों मे जितने शब्द हैं, तथा संसार में असंख्य संज्ञाशब्द हैं, ये सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्य्य बहुलवचन से उणादि में होते हैं। जिसके होने से अनेक प्रकार के हजारह शब्द सिद्ध होते हैं।

(नाम०) अब इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने हैं, वे सब धातु और प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहियें। तथा वैयाकरण जितने ऋषि हैं, उनमें से शाकटायन ऋषि का मत निरुक्तकारों के समान है। और इनसे भिन्न ऋषियों का मत यह है कि संज्ञाशब्द जितने हैं, वे रूढि हैं।

अब इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु प्रत्यय मालूम कुछ भी नहीं होता, वहां क्या करना चाहिये? उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याकरण-शास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय हैं, इनमें से जो धातु मालूम पड़ जाय, तो नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी, और जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी। इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ विचार लेना चाहिये। और दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दों में जिस अनुबन्ध का कार्य्य दीखे, वैसा ही धातु वा प्रत्यय अनुबन्ध के सहित कल्पना करनी। जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो, उसमें 'ञ्' अथवा 'न्' अनुबन्ध के सहित प्रत्यय समझना। यह कल्पना सर्वत्र नहीं करने लगना, किन्तु जो संज्ञाशब्द लोक [में और जो वैदिक] वेद में प्रसिद्ध हों, उनके अर्थ जानने के लिए शब्द के आदि के अक्षरों में 'धातु की और अन्त में प्रत्यय'[1] की कल्पना करनी चाहिये।

---

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'धात्वर्थ की और अन्त में प्रत्ययार्थ की' अपपाठ है।

यह सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिये है कि शब्दसागर अथाह है, इसकी थाह व्याकरण से नहीं मिल सकती। जो कहें कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्दसागर के पार पहुंच जाते, तो यह समझना कि कितने ही पोथा बनाते और जन्म-जन्मान्तरों भर पढ़ते, तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता[1]। इसलिये यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है, जिससे शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाय ॥[५६॥]

❧ इति व्याकरणनियमविषयः ❧



१. द्र०—बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रं चाध्ययनकालः, न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति, वर्षशतं जीवति। महाभाष्य अ० १। पाद १। आ० १॥

अथालंकारविषयः संक्षेपतः

अथालङ्कारभेदाः संक्षेपतो लिख्यन्ते । तत्र तावदुपमालङ्कारो व्याख्यायते—पूर्णोपमा चतुर्भिरुपमेयोपमानवाचकसाधरणधर्मैर्भवति । अस्योदाहरणम्—स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव[1] ॥ १ ॥

उक्तानामेकैकशोऽनुपादानेऽष्टधा लुप्तोपमा—तत्र - वाचकलुप्तोदाहरणम्—भीम इव बली भीमबली ॥ [१॥] धर्मलुप्तोदाहरणम् - कमलनेत्रः ॥ २ ॥ धर्मवाचकलुप्तोदाहरणम्—व्याघ्र इव पुरुषः पुरुषव्याघ्रः ॥ ३ ॥ वाचकोपमेयलुप्तोदाहरणम्—विद्यया पण्डितायन्ते ॥ ४ ॥ उपमानलुप्ता ॥ ५ ॥ वाचकोपमानलुप्ता ॥ ६ ॥ धर्मोपमानलुप्ता ॥ ७ ॥ धर्मोपमानवाचकलुप्ता ॥ ८ ॥ आसामुदाहरणम्—काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः । एवमष्टविधा ॥ १ ॥

अतोऽग्रे रूपकालङ्कारः । स चोपमानस्याभेदताद्रूप्याभ्याम् अधिकन्यूनोभयगुणैरुपमेयस्य प्रकाशनं रूपकालङ्कारः । स च षड्धा—

तत्र अधिकाभेदरूपकोदाहरणम्—अयं हि सविता साक्षाद् येन ध्वान्तं विनाश्यते । पूर्णविद्य इति शेषः ॥ १ ॥

न्यूनाभेदरूपकोदाहरणम्—अयं पतञ्जलिः साक्षाद्भाष्यस्य कृतिना विना ॥ २ ॥

अनुभयाभेदरूपकोदाहरणम्—ईशः प्रजामवत्यद्य स्वीकृत्य समनीतिताम् ॥ ३ ॥

अधिकताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्—विद्यानन्दे हि सम्प्राप्ते राज्यानन्देन किं तदा ॥ ४ ॥

न्यूनताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्—साध्वीयं सुखदा नीतिरसूर्य्यप्रभवा मता ॥ ५ ॥

अनुभयाताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्—अयं घनावृतात् सूर्य्याद् विद्यासूर्य्यो विभज्यते ॥ ६ ॥

अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः । स च त्रिविधः—प्रकृतानेकविषयः, अप्रकृतानेकविषयः, प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च । तत्र—

प्रकृतविषयस्योदाहरणम्—यथा नवकम्बलोऽयं मनुष्यः । यत्र नव कम्बला यस्य, नवो नूतनो वा कम्बलो यस्येति द्वावर्थौ भवतः । यथा च, श्वेतो धावति, अलंबुसानां यातेति[2] । तथैव अग्निमीळे[3] इत्यादि ।

---

१. ऋ० १ । १ । ९ ॥ २. द्र०—महाभाष्यस्य प्रथमाह्निकस्यान्ते ।

३. ऋ० १ । १ । १ ॥ अत्र अग्निशब्दः श्लेषेण प्रकृतं भौतिकमीश्वरं च द्वावर्थौ ब्रवीतीति भावः ।

अप्रकृतविषयस्योदाहरणम्—हरिणा त्वद्बलं तुल्यं कृतिना हितशक्तिना ।

अथ प्रकृताप्रकृतविषयोदाहरणम्—उच्चरन्भूरियानाढ्यः शुशुभे वाहिनीपतिः ।

एवंविधा अन्येऽपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति । ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते । यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते ।

भाषार्थ—अब कुछ अलङ्कारों का विषय संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से पहिले 'उपमालङ्कार' के ८ आठ भेद हैं—वाचकलुप्ता १, धर्मलुप्ता २, धर्मवाचकलुप्ता ३, वाचकोपमेयलुप्ता ४, उपमानलुप्ता ५, वाचकोपमानलुप्ता ६, धर्मोपमानलुप्ता ७, और धर्मोपमानवाचकलुप्ता ८। इन आठों से पूर्णोपमालङ्कार पृथक् है, जिसमें ये सब बने रहते हैं। उसका लक्षण यह है कि वह चार पदार्थों से बनता है—एक तो उपमान, दूसरा उपमेय, तीसरा उपमावाचक और चौथा साधारणधर्म। इनमें से 'उपमान' उसको कहते हैं कि जिस पदार्थ की उपमा दी जाती है। 'उपमेय' वह कहाता है कि जिसको उपमान के तुल्य वर्णन करते हैं। 'उपमावाचक' उसको कहते हैं कि जो तुल्य, समान, सदृश, इव, वत् इत्यादि शब्दों के बीच में आने से किसी दूसरे पदार्थ के समान बोध करावे। 'साधारणधर्म' वह होता है कि जो धर्म उपमान और उपमेय इन दोनों में बराबर वर्त्तमान रहता है। इन चारों के वर्त्तमान होने से पूर्णोपमा। और इनमें से एक-एक के लोप हो जाने से पूर्वोक्त आठ भेद हो जाते हैं। पूर्णोपमा का उदाहरण यह है कि—'स नः पितेव०'। जैसे पिता अपने पुत्र की सब प्रकार से रक्षा करता है, वैसे ही परमेश्वर भी सबका पिता अर्थात् पालन करनेवाला है।

इसके आगे दूसरे 'रूपकालङ्कार' के छः भेद हैं—अधिकाभेदरूपक १, न्यूनाभेदरूपक २, अनुभयाभेदरूपक ३, अधिकताद्रूप्यरूपक ४, न्यूनताद्रूप्यरूपक ५, और अनुभयताद्रूप्यरूपक ६। इसका लक्षण यह है कि उपमेय को उपमान बना देना, और उसमें भेद नहीं रखना। जैसे—'यह मनुष्य साक्षात् सूर्य्य है, क्योंकि अपने विद्यारूप प्रकाश से अविद्यारूप अन्धकार का नाश नित्य करता है' इत्यादि।

तीसरा 'श्लेषालङ्कार' कहाता है। उसके तीन भेद हैं—१ प्रकृत, २ अप्रकृत, और ३ प्रकृताप्रकृतविषयक। जिसका लक्षण यह है कि किसी एक वाक्य वा शब्द से अनेक अर्थ निकलें, वह 'श्लेष' कहाता है। जैसे 'नवकम्बल' इस शब्द से दो अर्थ निकलते हैं। एक नव हैं कम्बल जिसके, दूसरा नवीन है कम्बल जिसका।

इसी प्रकार वेदों में अग्नि आदि शब्दों के कई-कई अर्थ होते हैं, सो श्लेषालङ्कार का ही विषय है। इस प्रकार के और भी बहुत अलंकार हैं। सो जहां-जहां वेदभाष्य में आवेंगे, वहां-वहां लिखे जायेंगे।

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १ ॥

ऋ० मं० १ । सू० ८९ । मं० १० ॥

भाष्यम्—अस्मिन् मन्त्रे अदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति। तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते। नैवास्य मन्त्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम्।

भाषार्थ—(अदिति०) इस मन्त्र में अदिति शब्द के बहुत अर्थ, और [भी] बहुतेरे अर्थ इस शब्द के हैं। परन्तु इस मन्त्र में जितने हैं, वे सब वेदभाष्य में अवश्य लिये जायेंगे। इस मन्त्र को वारम्वार न लिखेंगे, किन्तु वे सब अर्थ तो लिख दिये जायेंगे। वे अर्थ ये हैं—द्यौः, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वदेव, पञ्चजन, जात और जनित्व।

इत्यलङ्कारभेदविषयः संक्षेपतः



अथ ग्रन्थसंकेतविषयः

अथ वेदभाष्ये ये सङ्केताः करिष्यन्ते, त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। ऋग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां, षट्शास्त्राणां, षडङ्गानां, चतुर्णां ब्राह्मणानां, तैत्तिरीयारण्यकस्य च यत्र यत्र प्रमाणानि लेखिष्यन्ते, तत्र तत्रैते सङ्केता विज्ञेयाः—ऋग्वेदस्य ऋ०, मण्डलस्य प्रथमाङ्को, द्वितीयः सूक्तस्य, तृतीयो मन्त्रस्य विज्ञेयः। तद्यथा—'ऋ० १। १। १॥'

यजुर्वेदस्य य०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'य० १। १॥'

सामवेदस्य साम०, पूर्वार्चिकस्य पू०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो दशतेस्तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'साम० पू० १। १। १॥' पूर्वार्चिकस्यायं नियमः। उत्तरार्चिकस्य खलु—साम० उ०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य।

अत्रायं विशेषोऽस्ति—उत्तरार्चिके दशतयो न सन्ति, परन्त्वर्द्धप्रपाठके मन्त्रसंख्या[1] पूर्णा भवति। तेन प्रथमः पूर्वार्द्धप्रपाठको, द्वितीय उत्तरार्द्धप्रपाठकश्चेत्ययमपि सङ्केत उत्तरार्चिके ज्ञेयः। तद्यथा—'साम० उ० १। पू० १॥ साम० उ० १। उ० १॥' अत्र द्वौ सङ्केतौ भविष्यतः। उकारेणोत्तरार्चिकं ज्ञेयं, प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः, पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन मन्त्रसंख्या ज्ञेया। पुनर्द्वितीये सङ्केते द्वितीयोकारेण[2] उत्तरार्द्धः, प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन तदेव।

अथर्ववेदे अथर्व०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयो वर्गस्य[3], तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'अथर्व १। १। १॥'

भावार्थ—अब वेदभाष्य में चारों वेद के जहां-जहां प्रमाण लिखे जावेंगे, उनके संकेत दिखलाते हैं। देखो ऋग्वेद का जहां-जहां प्रमाण लिखेंगे, वहां[-वहां] ऋग्वेद का ऋ० और मण्डल १, सूक्त १, मन्त्र १। इनका पहिला दूसरा तीसरा क्रम से संकेत जानना चाहिये। जैसे—'ऋ० १।१।१॥' इसी प्रकार यजुर्वेद का य०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे—'य० १। १॥' सामवेद का नियम यह है कि साम०, पूर्वार्चिक का पू०, पहिला प्रपाठक का, दूसरा दशति का, और तीसरा मन्त्र का जानना चाहिये। जैसे—'साम० पू० १। १। १॥' यह नियम पूर्वार्चिक में है। उत्तरार्चिक में प्रपाठकों के भी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध होते हैं। अर्द्ध प्रपाठक पर्य्यन्त मन्त्रसंख्या चलती है। इसलिये प्रपाठक के अङ्क के आगे पू० वा उ० धरा जायगा। उस

---

१. त्रिकरूपेति शेषः। २. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'द्वितीय उकारेण' इत्यपपाठः।

३. वर्गशब्देनेह सूक्तं निर्दिष्टम्।

पू० से पूर्वार्द्ध प्रपाठक, और उ० से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा। इस प्रकार उत्तरार्चिक में दो संकेत होंगे। 'साम० उ० १। पू० १॥; साम० उ० १। उ० १॥' इसी प्रकार अथर्ववेद में अथर्व०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा वर्ग का, तीसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे—'अथर्व० १। १। १॥'

एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरेयस्य ऐ०, प्रथमांकः पञ्चिकायाः, द्वितीयः कण्डिकायाः। तद्यथा—'ऐ० १। १॥'

शतपथब्राह्मणे श०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयः प्रपाठकस्य[1], तृतीयो ब्राह्मणस्य, चतुर्थः कण्डिकायाः। तद्यथा—'श० १। १। १। १॥'

एवमेव सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति। तेषां मध्याद् यस्य यस्य प्रमाणमत्र लेखिष्यते, तस्य तस्य सङ्केतस्तत्रैव करिष्यते। तेष्वेवैकं छान्दोग्याख्यं, तस्य छां०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयः खण्डस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'छां० १। १। १॥'

एवं गोपथब्राह्मणस्य गो०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो ब्राह्मणस्य[2]। यथा—'गो० १।१॥'

एवं षट्शास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम्। तस्य मी०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—मी० १। १। १॥'

द्वितीयं वैशेषिकशास्त्रम्। तस्य वै०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीय आह्निकस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—'वै० १। १। १॥'

तृतीयं न्यायशास्त्रम्। तस्य न्या०, अन्यद्वैशेषिकवत्।

चतुर्थं योगशास्त्रम। तस्य यो०, प्रथमाङ्कः पादस्य, द्वितीयः सूत्रस्य—'यो० १। १॥'

पञ्चमं सांख्यशास्त्रम्। तस्य सां०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः सूत्रस्य—'सां० १। १॥'

षष्ठं वेदान्तशास्त्रम् उत्तरमीमांसाख्यम्। तस्य वे०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य—'वे० १। १। १॥'

तथाङ्गेषु प्रथमं व्याकरणम्, तत्राष्टाध्यायी। तस्या अ०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—'अ० १। १। १॥' एतेनैव कृतेन सूत्रसङ्केतेन व्याकरणमहाभाष्यस्य सङ्केतो विज्ञेयः। यस्य सूत्रस्योपरि तद्भाष्यमस्ति तद्व्याख्यानं लिखित्वा तत्सूत्रसङ्केतो धरिष्यते।

तथा निघण्टुनिरुक्तयोः प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः खण्डस्य। 'निघण्टौ—१। १॥' 'निरुक्ते—१। १॥' खण्डाध्यायौ द्वयोः समानौ।

तथा तैत्तिरीयारण्यके तै०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयोऽनुवाकस्य—'तै० १। १॥'

इत्थं सर्वेषां प्रमाणानां तेषु तेषु ग्रन्थेषु दर्शनार्थं सङ्केताः कृताः। तेन येषां मनुष्याणां द्रष्टुमिच्छा

१. अत्र भूमिकायां प्रायेणाध्यायब्राह्मणयोर्निर्देश उपलभ्यते, क्वचिदेव प्रपाठकब्राह्मणयोः।

२. गोपथब्राह्मणे पूर्वोत्तरौ द्वौ भागौ स्तः, तदर्थं पू० उ० संकेताभ्यामपि भवितव्यम्।

भवेदेतैरङ्कैस्तेषु ग्रन्थेषु लिखितसंकेतेन द्रष्टव्यम्। यत्रोक्तेभ्यो ग्रन्थेभ्यो भिन्नानां ग्रन्थानां प्रमाणं लेखिष्यते, तत्रैकवारं समग्रं दर्शयित्वा पुनरेवमेव संकेतेन लेखिष्यत इति ज्ञातव्यम्।

भाषार्थ—इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम ऐतरेय ब्राह्मण का ऐ०, पहिला अङ्क पञ्चिका का, दूसरा कण्डिका का—'ऐ० १। १।।' शतपथ ब्राह्मण का श०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा प्रपाठक का, तीसरा ब्राह्मण का, चौथा कण्डिका का—'श० १। १। १। १।।' सामब्राह्मण बहुत हैं, उनमें से जिस-जिस का प्रमाण जहां-जहां लिखेंगे, उस-उस का ठिकाना वहां धर देंगे। जैसे एक छान्दोग्य कहाता हैं। उसका छां०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा खण्ड का, तीसरा मन्त्र का। जैसे—'छां १। १। १।।' चौथा गोपथ ब्राह्मण कहाता है। उसका गो०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा ब्राह्मण का। जैसे—'गो० १। १।।' इस प्रकार का संकेत चारों ब्राह्मण में जानना होगा।

ऐसे ही छः शास्त्रों में प्रथम मीमांसा शास्त्र। उसका मी०, अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो—'मी० १। १। १।।' दूसरा वैशेषिक का वै०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा आह्निक का, तीसरा सूक्त का। जैसे—'वै० १। १। १।।' तीसरे न्यायशास्त्र का न्या० और तीन अङ्क वैशेषिक के समान जानो। चौथे योगशास्त्र का यो०, प्रथम अङ्क पाद का, दूसरा सूत्र का—'यो० १। १।।' पांचवें सांख्यशास्त्र का सां०, अध्याय और सूत्र के दो अङ्क क्रम से जानो। जैसे—'सां० १। १।।' छठे वेदान्त का वे०, अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से—'वे० १। १। १।।'

तथा अङ्गों में अष्टाध्यायी व्याकरण का अ०, अध्याय पाद सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो। जैसे—'अ० १। १। १।।' इसी प्रकार जिस सूत्र के ऊपर महाभाष्य हुआ करेगा, उस सूत्र का पता लिखके महाभाष्य का वचन लिखा करेंगे। उसी से उसका पता जान लेना चाहिये। तथा निघण्टु और निरुक्त में दो-दो अङ्क अध्याय और खण्ड के लिखेंगे। ये संकेत इसलिये लिखे हैं कि वारंवार पूरा नाम न लिखना पड़े, थोड़े से ही काम चल जाय। जिस-किसी को देखना पड़े, वह उन ग्रन्थों में देख ले। और जिन ग्रन्थों के संकेत यहां नहीं लिखे, उनके प्रमाणों का जहां-कहीं काम पड़ेगा, तो लिख दिया जायगा। परन्तु इन सब ग्रन्थों के संकेतों यो याद रखना सबको योग्य है कि जिससे देखने में परिश्रम न पड़े।

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः,
संक्षेपाद् भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता।
सम्पूर्णाकार्य्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः,
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम्॥ १॥

मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च।
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः॥ २॥

भाषार्थ—यह भूमिका जो वेदों के प्रयोजन अर्थात् वेद किसलिये और किसने बनाये, उनमें क्या-क्या विषय हैं, इत्यादि बातों की अच्छी प्रकार प्राप्ति करानेवाली है। इसको जो लोग ठीक-ठीक परिश्रम से पढ़ेंगे और विचारेंगे, उनका व्यवहार और परमार्थ का प्रकाश, संसार में मान्य और कामनासिद्धि अवश्य होगी। इस प्रकार जो निर्मल विषयों के विधान का कोश अर्थात् खजाना और सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से युक्त जो भूमिका है, इसको मैंने संक्षेप से पूर्ण किया। अब इसके आगे जो उत्तम बुद्धि देनेवाली परमात्मा की भक्ति, उसमें अपनी बुद्धि को दृढ़ करके प्रीति के बढ़ानेवाले मन्त्रभाष्य का प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूं ॥ १ ॥

इस मन्त्रभाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है, फिर मूल मन्त्र, उसका पदच्छेद, क्रम से प्रमाण सहित मन्त्र के पदों का अर्थ, अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना, और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है। इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है ॥ २ ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव ॥

य० ३० । ३ ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिता संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां सुभूषिता सुप्रमाणयुक्तर्ग्वेदादिचतुर्वेदभाष्यभूमिका समाप्तिमगमत् ॥



रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

वेद-विषयक ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदभाष्य**— प्रथमभाग — यन्त्रस्थ,
द्वितीयभाग — १३०.००, तृतीय भाग १५०.००

२. **Anthology of Vedic Hymns**—
स्वामी भूमानन्द सरस्वती २००.००

३. **भूमिकाभास्कर**—स्वा०विद्यानन्द सरस्वती —दो भागों में—प्रथमभाग ३००.००, द्वितीयभाग २००.००

४. **ऋग्वेदानुक्रमणी**—वेङ्कटमाधवकृत— व्याख्याकार— पं॰ विजयपाल जी ५०.००

५. **कात्यायनीया ऋक्सर्वानुक्रणी**—षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित १५०.००

६. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—यु०मी० ५.००

७. **ऋग्वेदपरिचय**—पं० विश्वनाथ ३५.००

८. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**— ऋषि दयानन्द कृत भाष्य पर पं॰ ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण। इसमें ऋषि दयानन्द के भाष्य का शुद्ध पाठ और उसकी पुष्टि में प्रतिमन्त्र प्रमाण दिये गए हैं। मन्त्रों के पदों की सस्वर व्याकरण प्रक्रिया लिखी गई है। ८००.००

९. **माध्यन्दिनपदपाठः** (यजुर्वेद—पदपाठ) २००.००

१०. **तैत्तिरीयसंहिता** (मूल) मन्त्रसूचीसहित १२०.००

११. **तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः** ३००.००

१२. **अथर्ववेदभाष्य**—पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय
१—३ काण्ड १००.००, ४—५ काण्ड १००.००, ६ काण्ड १००.००, ७—८ काण्ड १००.००, ९—१० काण्ड १००.००, ११—१३ काण्ड १००.००, १४—१७ काण्ड १००.००,१८—१९ काण्ड १००.००, २० काण्ड १००.००

१३. **अथर्ववेदीय-दन्त्योष्ठ्यविधि** अर्थात् अथर्ववेद का चतुर्थ लक्षण ग्रन्थ—पं० रामगोपाल शास्त्री ५.००

१४. **अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका**— भूमिका तथा सूचियों सहित—पं० रामगोपाल शास्त्री ६०.००

१५. **गोपथब्राह्मण** (मूल) ८०.००

१६. **वैदिक-निघण्टु-संग्रह**—डॉ० धर्मवीर १००.००

१७. **वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा**—यु०मी०— वेदविषयक सत्रह निबन्धों का संग्रह— प्रथमभाग १२०.००
द्वितीयभाग १००.००

१९. **वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञामीमांसा**—यु०मी०, ५.००

२०. **वैदिकछन्दोमीमांसा**—यु०मी०, १००.००

२१. **वैदिकस्वरमीमांसा**—यु०मी०, १००.००

२२. **वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वरांकन प्रकार**— युधिष्ठिर मीमांसक— २०.००

२३. **वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय**— युधिष्ठिर मीमांसक— २५.००

२४. **देवापि और शान्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप**—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ८.००

२५. **वेद और निरुक्त**—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु १०.००

२६. **निरुक्तकार और वेद में इतिहास** ५.००

२७. **त्वाष्ट्री-सरण्यू के आख्यान का वास्तविक स्वरूप**— पं० धर्मदेव निरुक्ताचार्य १०.००

२८. **वेद के आख्यानों का यथार्थ स्वरूप**— वैद्य रामगोपाल शास्त्री ८.००

२९. **वैदिक-जीवन** —पं० विश्वनाथ ६०.००

३०. **वैदिक-गृहस्थाश्रम**— पं॰ विश्वनाथ ५०.००

३१. **वैदिक-पीयूषधारा**—श्री देवेन्द्र कपूर ५०.००

३२. **क्या वेद में आर्यो और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है ?**—पं० रामगोपाल शास्त्री १५.००

३३. **उरु-ज्योतिः**—वासुदेवशरण अग्रवाल ७०.००

३४. **वेदों की प्रामाणिकता**—श्रीनिवास जी ४.००

कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थ

३५. **बौधायन-श्रौतसूत्रम्**—(दर्शपूर्णमास) १००.००

३६. **बौधायन-श्रौतसूत्रम्** (संस्कृत)आधान प्रकरण की व्याख्या एवं पद्धति सहित ६०.००

३७. **दर्शपूर्णमास-पद्धति**—पं० भीमसेन ५०.००

३८. **कात्यायन-गृह्यसूत्रम्** (मूल) ४०.००

३९. **श्रौतपदार्थनिर्वचनम्** (संस्कृत) १००.००

४०. **श्रौतयज्ञ-मीमांसा**—(संस्कृत—हिन्दी) १००.००

४१. **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय**— १००.००

४२. **यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा** २५.००

४४. **शतपथ ब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा**–
पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय ६०.००
४५. **संस्कार-विधि**–ऋषि दयानन्द कृत ३०.००
४६. **संस्कार-भास्कर**– स्वामी विद्यानन्द सरस्वती कृतसंस्कार–विधि की व्याख्या १५०.००
४७. **संस्कार-विधि-मण्डनम्**–पं० रामगोपाल– २०.००
४८. **वेदोक्त-संस्कारप्रकाश**–पं० बाला जी विट्ठल गावस्कर कृत मराठी का हिन्दी अनुवाद ३०.००
४९. **वैदिक-नित्यकर्मविधि**–(पञ्च महायज्ञविधि केमन्त्रों की पदार्थ व भावार्थ सहित व्याख्या) २०.००
५०. **वैदिक-नित्यकर्मविधि**–ऋ०द०कृत ४.००
५१. **पञ्चमहायज्ञविधि**–ऋ०द०कृत १५.००
५२. **सन्ध्योपासन-अग्निहोत्रविधि**–(हिन्दी–अंग्रेजी व्याख्यासहित) डॉ० विजयपाल १५.००
५३. **वैदिकयज्ञों का स्वरूप**–डॉ० कृष्णलाल ३०.००

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण-छन्दःशास्त्र-ज्योतिष विषयक ग्रन्थ

५४. **वर्णोच्चारण-शिक्षा** –ऋषि दयानन्द ४.००
५५. **शिक्षासूत्राणि-आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र** १५.००
५६. **शिक्षाशास्त्रम्**–उदयनाचार्य १५०.००
५७. **वृद्धशिक्षाशास्त्रम्**–जगदीशाचार्य ३०.००
५८. **निघण्टु-निर्वचनम्**–देवराजयज्वाकृत १५०.००
६६. **निरुक्त-समुच्चय**–वररुचिकृत ३०.००
६०. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः** १५.००
६१. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः** (गुटका–आकार) १०.००
६२. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः** (यतिबोधयुक्तः) ४०.००
६३. **अष्टाध्यायीभाष्य**–(संस्कृत–हिन्दी) प्रथमभाग १७०.००, द्वितीयभाग १३०.००, तृतीयभाग १६०.००
६४. **माधवीया-धातुवृत्ति**–आचार्य सायण रचित धातुपाठ की प्रामाणिक व्याख्या–सं०–विजयपाल विद्यावारिधि ६००.००
६५.**पारिभाषिकः**–व्याख्याकार–आचार्य प्रद्युम्न।व्याकरण की परिभाषाओं की प्रामाणिक व्याख्या– ६०.००
६६. **काशिका**–वामनजयादित्य– ६००.००
६७. **भागवृत्तिंकसलनम्**–अष्टाध्यायीवृत्ति ३०.००
६८. **महाभाष्य**–यु०मी०कृत हिन्दीव्याख्यासहित
प्रथमभाग(१) १५०.००, (२) १४०.००
द्वितीयभाग १५००.००, तृतीयभाग १००.००
चतुर्थभाग २००.००, पंचमभाग २००.००
६९. **काशिका-महापरिस्कार**–प्रथमभाग ७०.००
७०. **धातुपाठः** (धातुसूचीसहित) १२.००
७१. **क्षीरतरंगिणी** (धातुपाठ–व्याख्या) १५०.००
७२. **धातुप्रदीप-धातुपाठवृत्ति**– मैत्रेयरक्षित ६०.००
७३. **संस्कृत-धातु-कोष**–यु०मी० ४०.००
७४. **संस्कृतपठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**
प्रथमभाग ५०.००, द्वितीयभाग ६०.००
प्रथमभाग का अंग्रेजी अनुवाद १५०.००
७५. **उणादिकोष**–ऋषि दयानन्द ६०.००
७६. **गणरत्नावली**–भट्टयज्ञेश्वरकृत पाणिनीय गणपाठ की व्याख्या। सं०–चन्द्रदत्त शर्मा ७५.००
७७. **वामनीयं लिंगानुशासनम्** १५.००
७८. **दैवं पुरुषकार-वार्त्तिकोपेतम्** ३५.००
७९. **अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः**–
डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि ६०.००
८०. **शब्दरूपावली**–बिना रटे स्मरण करने योग्य ८.००
८१. **पिंगलनागछन्दोविचितिभाष्यम्**–यादव प्रकाश विरचित ६०.००
८२. **ध्यानयोग-प्रकाश**–स्वा० लक्ष्मणानन्द ४०.००

अध्यात्म-विषयक ग्रन्थ

८३. **ईश-केन-कठ-उपनिषद्**–हिन्दी–अंग्रेजी–पं०राम गोपाल वैद्य। क्रमशः– ३.००, ३.००, २०.००
८४. **गीताभाष्यम्**– तुलसीराम स्वामी २५.००
८५. **तत्त्वमसि**–स्वा० विद्यानन्द सरस्वती–द्वैत–अद्वैत–त्रैतवाद विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ १००.००

पुस्तक-प्राप्ति-स्थानः–

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट, ग्राम रेवली, पो॰ ई॰ सी॰ मुरथल, जि॰ सोनीपत–१३१०३९ (हरियाणा)
२. रामलाल कपूर एण्ड संस, पेपर मर्चेन्ट्स, २५६६, नई सड़क, दिल्ली।